प्रज्ञा प्रदीप

सम्पादक
डा० प्रभाकर माचवे
सह-सम्पादक
जयकिशनदास सादानी

भारतीय संस्कृति संसद
१०, जवाहरलाल नेहरू रोड, कलकत्ता-७०० ०१३

गगोत्री सा सतत प्रवाही,
पीयूष वर्षी,
चतुर्दिक आपूर्यमाण
अचल प्रतिष्ठ,
ज्योति भास्वरा
शाश्वती भारतीय सस्कृति
के
अनन्य अनुरागी
सांस्कृतिक चेतना पुरुष

श्री माधोदास मूँधडा

को

सादर समर्पित

—भारतीय सस्कृति ससद

भूमिका

भारतीय संस्कृति संसद के २५ वर्ष पूरे होने पर 'भारतीय संस्कृति' नामक, द्विखण्डात्मक, द्विभाषी लेख संग्रह, जिसमे भारत की मूर्धन्य मनीषा का संस्कृति के विभिन्न विभागो के अन्तर्गत विशिष्ट विचार वैभव संगृहीत किया गया था, हमने सम्पादित प्रकाशित किया था। उस विलक्षण ग्रन्थ की देश-विदेश मे जानकारो ने सराहना की। वह अब दुष्प्राप्य हो गया। इतनी उस ग्रंथ की मांग रही। दुख की बात है कि उस ग्रन्थ के सवा सौ सहभागियो मे से एक दजन से अधिक अब दिवगत हैं। सर्वश्री वा०वि० मिराशी, सी० शिवराममूर्ति, डी० सी० सरकार, तान-युन शान, घुर्ये, बी०सी० देव, भवानी भट्टाचार्य, नरहर कुरुंदकर, आदि हमारे बीच मे नही हैं। उनकी स्मृति को प्रणाम करके यह 'प्रज्ञा प्रदीप' पुन प्रस्तुत है, विद्वज्जन तथा रसज्ञो की सेवा मे, विनम्र भाव से।

इस ग्रन्थ मे भी भारत के चारो कोनो से जिन जिन विद्वानो और विचारको ने जिसमे कई अन्य भाषीय होकर भी हिन्दी मे विवेचन-विश्लेषणपूर्वक आलेख भेजकर सहयोग दिया, उन सबके हम अन्तस्तल से आभारी है।

'धर्म, दर्शन, संस्कृति' व राष्ट्रीय एकता ग्रन्थ की परिकल्पना के समय हमने यह पूर्ण ध्यान रखा है कि इन सकल्पनाओ या अवबोधो के पीछे सु-प्रचलित पाश्चात्य धारणाओ से भिन्न भारतीय अस्मिता से आप्राणित और आलोकित आस्थाओ को ही हम प्रधानता दें। सूत्रत 'धर्म' हमारे यहाँ ऋग्वेद मे 'श्लोक देव कृणुते स्वायधर्मणे' (देवो ने अपने आचारनियमों के लिये वे श्लोक रचे) या 'वरुणस्य धर्मणा' मे वरुण के नीतिनियम के लिये प्रयुक्त शब्द है। वाजसनेयी संहिता मे 'ध्रुवेन धर्मणा' कहा गया। अथर्ववेद मे धर्म से मिलने वाले 'पुण्य' को धर्म कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद मे 'चार आश्रमो के विशिष्ट कर्तव्य' धर्म है। तैत्तिरीय उपनिषद ने 'सत्य वद, धर्म चर' आदेश और गीता मे 'स्वधर्मे निधनश्रेय' कहा गया। तन्त्रवार्तिक मे 'सब धर्मसूत्रो मे वर्णाश्रम धर्म पालन ही धर्म है ऐसा माना गया था।

याज्ञवल्क्य, श्रुति, स्मृति, सदाचार, सज्जनो का व्यवहार और जहा सन्देह हो वहा उत्तम सकल्प से निर्मित शास्त्र विरुद्ध न हो ऐसा 'काम' या इच्छा ही धर्म मानते हैं। इन्द्रिय दमन, अहिंसा, दान आदि नैतिक मूल्य याज्ञवल्क्य की धर्म-परिभाषा मे आते हैं। जैमिनिने जब कहा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' तो उसमे अन्त प्रेरणा और आदेश से प्राप्त विधि आदि की श्रेयस्कर क्रियाएँ निहित थी। धर्म आचार का अग था, जैनो के लिए और बौद्ध भी 'धम्म' को —

'अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खो च संवरो'

अर्थात् निन्दा न करना, घात न करना, सयम से रहना, मिताहार और 'शयनासन' (मित विहार), एकांतवास, और चित्त योग मे लय—यह तत्त्व प्रधान मानते थे।

महाभारत के शांतिपर्व मे तो धर्म को

सर्वेषा य सुहृन्नित्य सर्वेषां च हिते रत।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले॥

यानी तुलाधार जाजलि से कहता है कि सबका मित्र सबके, हितकारी कम करने वाला, मन और वाणी से उसी मे रत जो है वही सच्चा 'धार्मिक' है। महाभारत मे 'वनपर्व' मे तो यहा तक कहा गया है कि इस लोक मे जीव की हिंसा न करता हो ऐसा कौन है ? बहुत विचार के बाद यह दिखाई देता है कि सम्पूर्ण अहिंसक कोई नही है। 'अहिंसाया तु निरता यत यो द्विजसत्तम—कुर्वन्त्येव हि हिंसा ते यत्नादल्पतरा भवेत' (वनपर्व-२०८ ३३-३४) (अहिंसा मे निरत द्विजोत्तम भी हिंसा करते हैं। अत यह देखना चाहिये कि अल्पतर हिंसा हो, वही अच्छा)। महाभारत काल मे 'धर्म' को सापेक्ष मान लिया गया था—'योग्य काल और योग्य देश मे जो धर्म हो, वही अयोग्यकाल या देश मे अधर्म हो जाता है।' धर्म को परिस्थिति के अनुरूप निश्चित करने की बात कही गई।

यह प्रमावादी विचार आदर्श प्राचीन भारतीयो का था। आज उसमे काफी विकृति आ गई, इसका कारण हमारी ज्ञान की सरस्वती और भक्ति गगा मे कर्म की यमुना का काफी मिश्रण होते-होते अनेक सस्कृतिया का मिश्रण प्रदूषण उसमे होता गया। गगा-सफाई अभियान पर हमारे सत्ताधारी करोडो रुपये व्यय करते हैं, पर मन की इस भागीरथी पतितपावनी धारा से प्रदूषण कैसे दूर हो, इसका विचार नही करते। सबसे अधिक चुनौती पश्चिम की औद्योगिक क्राति और यन्त्र युग के आगमन के बाद भारतीय चिन्तन, जो समग्र और अखण्ड था उसके 'साकल्य' मे पश्चिमी तर्कवादो ने काफी बुद्धि-भेद और 'विभक्ति' प्रत्यय पैदा किये। यहा 'कपरेटिव फिलासाफी' नामक निउ मेक्सिको के प्रोफेसर आर्ची बाह्य के ग्रथ से (जो उन्होने स्वयम हमे भेंट मे दिया) एक उद्धरण दे रहा हू। वे पृष्ठ ६९-७० पर यौरपीय, भारतीय और चीनी दष्टियो को 'रीजन, इटयूशन और एप्रिहन्शन' शब्दा से अभिहित करते हुए तीन आकृति चित्र देते हैं

आर्ची बाह्य के शब्दो मे—

WILL Differing emphasis can be summarized Europeans idealize willfulness Hindus idealize will-lessness Chinese idealize willingness

REASON A Europeans idealize reason Indians idealize intuition Chinese accept apprehension

B Europeans idealize being realistic Indians idealize being subjectivistic Chinese accept being participatory

दर्शन का विचार करते समय यह प्रश्न और तीव्र रूप से सामने आता है। पश्चिम के विचारक दर्शन को बौद्धिक व्यापार मानते रहे हैं। दकार्त के 'मैं सोचता हू इसलिए 'हू' (काजिटो अरगो सम) से लगाकर आधुनिकतम अस्तित्ववादियो की 'तथता' (Zın den sachen) तक वही 'बुद्धि' काम मे आती रही है। वह 'व्यवसायात्मिका' है, गीता के अनुसार। हमारे दर्शन मे बुद्धि को एक साधन मात्र माना गया है। उपनिषद कहते हैं—न मेधया, न बहुधा श्रुतेन। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य'। इसीलिए हमारे उपनिषद कहते हैं—

श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि
मत्वा तु सतत ध्येय एते दर्शनहेतव ॥

आत्मा का श्रवण श्रुतिवाक्यो से करें, मनन तार्किक युक्ति या 'उपपत्ति' से करें, निदिध्यासन योग प्रतिपादित ध्यान आदि से करें)

सगीत कला का उदाहरण लें तो उत्तम शास्त्रीय सगीत का श्रवण, नित्य अभ्यास और श्रुतियो का ज्ञान तीनो का परिपाक उत्तम गायक या वादक मे आवश्यक होता है। अच्छे और श्रेष्ठ कवि की महाकाव्यो का अध्ययन, श्रवण और छ दालकारादि काव्य-रीतियो पर अधिकार और 'प्रतिभा' अपूव वस्तु निर्माणक्षमा यायानथ्य ग्राहिणी शक्ति) आवश्यक होती है। आज दुर्भाग्य से भारत मे और विश्व मे ऐसे अनेक तथा-कथित गायक, गीतकार, कविकम करने वाले अज्ञजन अपने को सवज्ञ मानकर यत्र-तत्र सचार कर रहे हैं।

हमारी परम्परा मे आस्तिक और नास्तिक दोनो तरह के दर्शनो को स्थान रहा है। लौकिक और पारलौकिक का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध देखने वाले हमारे षड्दर्शन नीति निरपेक्ष नही रहे हैं। मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न माग विभिन्न दर्शनो द्वारा बताये गये हैं। पुरुष और प्रकृति एक ही तत्व के दो भिन्न गुणधर्मीय पदाथ मानने से नामरूपात्मक सृष्टि निर्मित होती है। हमारा दर्शन केवल उस विश्लेषण तक सीमित नही है, न वह भौतिक तत्वो तक ही सीमित है। वह केवल शब्दच्छल नही है, और वह केवल आत्म विस्तार और आत्म विश्लेषण तक मर्यादित नही है। पश्चिम के कई दार्शनिक मत-वाद इन सीमाओ से आविष्ट हैं। इसलिए उनमे समग्रता की कमी है। हमने इस ग्रथ मे भारतीय दर्शन के विभिन्न पक्षो को प्रस्तुत करके उसकी 'एकोऽह बहुस्याम' और 'अविभक्त विभक्तेषु' दोनो धाराओ और विश्वासो को अशत प्रेषित करने का यत्न किया है।

व्यास ने अध्यात्मशास्त्र को चिकित्साशास्त्र की तरह चतुर्व्यूह बताया है रोग, रोग हेतु, आरोग्य और औषध ये चार व्यूह होते हैं। अध्यात्मशास्त्र या दर्शन से भी ससार, ससार-हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय यह चार व्यूह इस ग्रथ मे चर्चित हैं। विभिन्न विचारो और अनुशासनो के विशेषज्ञो ने अलग-अलग वातायनो से इस सश्लिष्ट स्थित और प्रक्रिया को यहाँ देखा है। इस 'दर्शन' मे दृश्य द्रष्टा-दर्शन की त्रिपुटी समाग भी सूचित है। वैसे तो भारतीय धम और दर्शन महासागर की तरह हैं, उनका पूरा आकलन एक छोटे से ग्रन्थ मे सम्भव नही। परन्तु अपनी अपनी दूरबीन से इस महाव्योम के दर्शन कराने का यह छोटा प्रयास है।

'संस्कृति' शब्द भी उसी तरह से पूर्व और पश्चिम मे नृवंशशास्त्रियों, इतिहासकारो, समाज शास्त्रियों मनोवैज्ञानिकों और साहित्यसेवियो ने अनेक तरह से परिभाषित किया है। यहाँ उसकी कुछ परिभाषाओ का आकलन किया गया है। उदाहरणार्थ 'लोक-संस्कृति' शब्द लें। हमारे यहाँ प्राचीन काल से शास्त्र और सामान्य, महाचार और हीनाचार, मार्गी और देशी, दिव्य और मानवी, सात्विक और राजसी आदि शब्दावलियों मे 'उत्कृष्ट कल्चर और मास कल्चर' के भेद को आख्यायित किया गया था।

स्मृतिकारो, धर्मशास्त्रियों, अर्थशास्त्र-शिल्पशास्त्र आदि के रचयिताओ ने मानव व्यवहार की व्यक्तिगत और समूहगत मीमासा करके कुछ नियम बनाये, पर वहा भी 'सम्पूर्णता' की दृष्टि को नही छोडा। वाचिक को छोडकर केवल लिखित को आधार नही बनाया, न प्रत्येक लोक-सस्कार को अन्तिम सत्य मानकर विदेशी 'अर्थ्रोपोलोजिस्टो' की तरह उसे अपरिवर्तनीय 'पत्थर की लकीर' माना। साहित्य, कला, सस्कार, आचार आदि मे होते जानेवाले परिवर्तनो पर केवल ऐतिहासिक शल्य चिकित्सा नही की, उसमे स्पदित जीवन्त अनुभव का साक्षात्कार किया। आनन्दकुमार स्वामी या रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लोक कला और लोक सस्कृति पर विचार ध्यातव्य हैं। मनुष्य की सत्य, शिव, सुन्दर की निरन्तर टोह किस तरह से उसे नित्य ऊर्ध्व-मानस की ओर ले जाती है, यही सस्कृति विचार का मूल तत्त्व है। (इस ग्रन्थ मे कुछ लेख उन्ही लोकायत विषयो से सबद्ध है।

यह ग्रन्थ समर्पित है हमारे सस्थापक एव प्रेरणास्रोत श्री माधोदास मूँधडा को जिनकी जन्मतिथि के उपलक्ष्य मे आयोजित प्रकाशित किया जा रहा है। वे अत्यन्त विनम्र और आत्मविज्ञापन से दूर रहने वाले व्यक्ति हैं। परन्तु उनकी सास्कृतिक विषयो में रुचि और पैठ बहुत स्थायी और गहरी है।

अन्त मे, इस ग्रन्थ की कुछ विशिष्ट उपलब्धियों की ओर पाठको का ध्यान हम आकर्षित करना चाहते हैं —

१ मूलत यह कल्पना श्री माधोदासजी मूँधडा की ही थी। साहित्य पर तो अनेक ग्रन्थ हिन्दी मे है, परन्तु धर्म और दर्शन के विविध आम्नाओ को सस्कृति के पक्षो के साथ जोडनेवाले ग्रन्थ कम हैं। अत इस ग्रन्थ की पहली विशेषता यह है कि प्रज्ञावाद तथा मानवतावाद के समन्वय से भारतीय अस्मिता के 'समग्र' रूप मे दर्शन कराने का यह प्रयत्न है। जैसे सारा ब्रह्माण्ड एक साथ नही देख सकते, दूरबीन से उसके अश या भाग ही देखे जा सकते हैं, हमारे इन सताइस विद्वानो ने (लेख सख्या वैसे आमुख मिलाकर ३१ है, परन्तु दोनो सम्पादको और मूँधडाजी को मिलाकर चार लेखक इस सख्या मे कम किये हैं) अपनी-अपनी विशेषता का परिचय देते हुए इस भारतीय चिताधारा की आकाशगगा को देखा है।

२ यहाँ लेखक भारत के चारो कोना से यानी कई प्रदेशो से, विभिन्न हिन्दीतर मातृभाषाओ वाले, हिन्दी भाषा-भाषी, विभिन्न धर्मानुयायी, तथा विभिन्न प्रकार की ज्ञान-शाखाओ से और सस्कृति-कर्म से जुडे हुए हैं। कुछ अध्यापक आचार्य हैं, कुछ व्यवसायी हैं, कुछ पत्रकार हैं, कुछ सस्थाओ मे कार्यरत हैं, कुछ सृजनशील साहित्यकार हैं, कुछ समीक्षक और अनुवादक। इसमे अनेक विद्वान सेवानिवृत्त प्रोफेसर और शोधकर्त्ता रहे हैं, दो भूतपूर्व कुलपति हैं, एक पुरातत्त्व सग्रहालय के प्रधानाधिकारी, एक उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान और एक राष्ट्रभाषा परिषद (बिहार) से सम्बद्ध। एक प्रख्यात सगीतवेत्ता हैं, तो अनेक सस्कृतविद। महाराष्ट्र से मिथिला तक, असम से आन्ध्रप्रदेश तक, राजस्थान से कर्नाटक तक, अलीगढ से अहमदाबाद तक, और कोल्हापुर से कलकत्ता तक के लेखक इस सग्रह मे हैं। इस प्रकार से समूचे भारत का आशिक प्रतिनिधित्व, इस ग्रन्थ मे हो गया है।

३ विषयो का वैविध्य इस ग्रन्थ की और एक विशेषता है। 'सत्य, शिव, सुन्दर' इन तीन मूल्यों की हम सदा चर्चा करते हैं। परन्तु वे अमूर्त तत्त्व हमारे जीवन मे प्रत्यक्ष चाक्षुष वास्तव मे बनकर, ऐन्द्रिक सम्वेदनाएँ बनकर, उनसे निर्मित अवबोध और सज्ञाएँ बनकर आते हैं। कई शब्दो, पदाशो, बिम्बो, प्रतीको, सकेतो और मिथको का समेकन होकर हमारी सस्कृति, उसका मूलाधार दर्शन और आचरण का मेरुदण्ड धर्म निर्मित होता है। वह केवल कर्म धर्म-सयोग नही, वह समवाय और सश्लिष्टि है। उसकी ओर हर लेखक ने अपना विचार-निर्देश किया है।

दर्शन का विचार करते समय यह प्रश्न और तीव्र रूप से सामने आता है। पश्चिम के विचारक दर्शन को बौद्धिक व्यापार मानते रहे हैं। दकार्त के 'मैं सोचता हूँ इसलिए हूँ' (काजिटो अरगो सम) से लगाकर आधुनिकतम अस्तित्ववादियों की 'तथता' (Zu den sachen) तक यही 'बुद्धि' काम में आती रही है। वह 'व्यवसायात्मिका' है, गीता के अनुसार। हमारे दर्शन में बुद्धि को एक साधन मात्र माना गया है। उपनिषद कहते हैं—न मेधया, न बहुधा श्रुतेन। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य'। इसीलिए हमारे उपनिषद कहते हैं—

श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि
मत्या तु सतत ध्येय एते दर्शनहेतव ॥

आत्मा का श्रवण श्रुतिवाक्यों से करें, मनन तार्किक युक्ति या 'उपपत्ति' से करें, निदिध्यासन योग प्रतिपादित ध्यान आदि से करें)

संगीत कला का उदाहरण लें तो उत्तम शास्त्रीय संगीत का श्रवण, नित्य अभ्यास और श्रुतियों का ज्ञान तीनों का परिपाक उत्तम गायक या वादक में आवश्यक होता है। अच्छे और श्रेष्ठ कवि को महाकाव्यों का अध्ययन, श्रवण और छन्दालंकारादि काव्य-रीतियों पर अधिकार और 'प्रतिभा' अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा यायातथ्य ग्राहिणी शक्ति) आवश्यक होती है। आज दुर्भाग्य से भारत में और विश्व में ऐसे अनेक तथाकथित गायक, गीतकार, कविकर्म करने वाले अनजान अपने को साधक मानकर यत्र-तत्र संचार कर रहे हैं।

हमारी परम्परा में आस्तिक और नास्तिक दोनों तरह के दर्शनों को स्थान रहा है। लौकिक और पारलौकिक का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध देखने वाले हमारे षड्दर्शन नीति निरपेक्ष नहीं रहे हैं। मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न मार्ग विभिन्न दर्शनों द्वारा बताये गये हैं। पुरुष और प्रकृति एक ही तत्व के दो भिन्न गुणधर्मीय पदार्थ मानने से नामरूपात्मक सृष्टि निर्मित होती है। हमारा दर्शन केवल उस विश्लेषण तक सीमित नहीं है, न वह भौतिक तत्वों तक ही सीमित है। वह केवल शब्दच्छल नहीं है, और वह केवल आत्म विस्तार और आत्म विश्लेषण तक मर्यादित नहीं है। पश्चिम के कई दार्शनिक मत वाद इन सीमाओं से आविष्ट हैं। इसलिए उनमें समग्रता की कमी है। हमने इस ग्रंथ में भारतीय दर्शन के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करके उसकी 'एकोऽहं बहुस्याम' और 'अविभक्त विभक्तेषु' दोनों धाराओं और विश्वासों को अशत प्रेषित करने का यत्न किया है।

व्यास ने अध्यात्मशास्त्र को चिकित्साशास्त्र की तरह चतुर्व्यूह बताया है रोग, रोग हेतु, आरोग्य और औषध ये चार व्यूह होते हैं। अध्यात्मशास्त्र या दर्शन से भी संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय यह चार व्यूह इस ग्रंथ में चर्चित हैं। विभिन्न विचारों और अनुशासनों के विशेषज्ञों ने अलग-अलग वातायनों से इस संश्लिष्ट रिक्त और प्रक्रिया को यहाँ देखा है। इस 'दर्शन' में दृश्य द्रष्टा दर्शन का त्रिपुटी संयोग भी सूचित है। वैसे तो भारतीय धर्म और दर्शन महासागर की तरह हैं, उनका पूरा आकलन एक छोटे से ग्रंथ से सम्भव नहीं। परन्तु अपनी अपनी दूरबीन से इस महाव्योम के दर्शन कराने का यह छोटा प्रयास है।

'संस्कृति' शब्द भी उसी तरह से पूर्व और पश्चिम के नृवंशशास्त्रियों, इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों मनोवैज्ञानिकों और वाङ्मयसेवकों ने अनेक तरह से परिभाषित किया है। यहाँ उसकी कुछ कलाओं को जानने का यत्न किया गया है। उदाहरणार्थ 'लोक-संस्कृति' शब्द लें। हमारे यहाँ प्राचीन काल से आर्ष और सामान्य, महायान और हीनयान, मार्गी और देशी, दिव्य और मानवी, सात्विक और राजसी आदि शब्दावलियों में 'एलीट कल्चर' और 'मास कल्ट' के भेद को आख्यायित किया गया था।

स्मृतिकारो, धमशास्त्रियो, अथशास्त्र-शिल्पशास्त्र आदि के रचयिताओ ने मानव व्यवहार की व्यक्तिगत और समूहगत मीमासा करके कुछ नियम बनाये, पर वहा भी 'सम्पूणता' की दष्टि को नही छोडा। वाचिक को छोडकर केवल लिखित को आधार नही बनाया, न प्रत्येक लोक-सस्कार को अतिम सत्य मानकर विदेशी 'अथ्रोपोलोजिस्टो' की तरह उसे अपरिवतनीय 'पत्थर की लकीर' माना। साहित्य, कला, सस्कार, आचार आदि मे होते जानेवाले परिवर्तनो पर केवल ऐतिहासिक शल्य-चिकित्सा नही की, उसमे स्पदित जीवन्त अनुभव का साक्षात्कार किया। आनन्दकुमार स्वामी या रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लोककला और लोक-सस्कृति पर विचार ध्यातव्य हैं। मनुष्य की सत्य, शिव, सुन्दर की निरन्तर टोह किस तरह से उसे नित्य ऊध्व-मानस की ओर ले जाती है, यही सस्कृति विचार का मूल तत्व है। (इस ग्रन्थ मे कुछ लेख उन्ही लोकायत विषयो से सबद्ध है।

यह ग्रन्थ समर्पित है हमारे सस्थापक एव प्रेरणास्रोत श्री माधोदास मूँधडा को जिनकी जन्मतिथि के उपलक्ष्य मे आयोजित प्रकाशित किया जा रहा है। वे अत्यन्त विनम्र और आत्मविज्ञापन से दूर रहने वाले व्यक्ति हैं। परन्तु उनकी सास्कृतिक विषयो मे रुचि और पैठ बहुत स्थायी और गहरी है।

अन्त मे, इस ग्रन्थ की कुछ विशिष्ट उपलब्धियो की ओर पाठकों का ध्यान हम आकर्षित करना चाहते हैं —

१ मूलत यह कल्पना श्री माधोदासजी मूँधडा की ही थी। साहित्य पर तो अनेक ग्रन्थ हिन्दी मे है, परन्तु धम और दर्शन के विविध आम्नाओ को सस्कृति के पक्ष के साथ जोडनेवाले ग्रथ कम है। अत इस ग्रन्थ की पहली विशेषता यह है कि प्रज्ञावाद तथा मानवतावाद के समन्वय से भारतीय अस्मिता के 'समग्र' रूप मे दर्शन कराने का यह प्रयत्न है। जैसे सारा ब्रह्माण्ड एक साथ नही देख सकते, दूरबीन से उसके अश या भाग ही देखे जा सकते हैं, हमारे इन सताइस विद्वानो ने (लेख सख्या वैसे आमुख मिलाकर ३१ है, परन्तु दोनो सम्पादको और मूँधडाजी को मिलाकर चार लेखक इस सख्या मे कम किये है) अपनी-अपनी विशेषता का परिचय देते हुए इस भारतीय चिताधारा की आकाशगगा को देखा है।

२ यहाँ लेखक भारत के चारो कोनो से यानी कई प्रदेशो से, विभिन्न हिन्दीतर मातृभाषाओ वाले, हिन्दी भाषा-भाषी, विभिन्न धर्मानुयायी, तथा विभिन्न प्रकार की ज्ञान-शाखाओ से और सस्कृति-कम से जुडे हुए हैं। कुछ अध्यापक आचाय हैं, कुछ व्यवसायी है, कुछ पत्रकार हैं, कुछ सस्थाओ मे कायरत है, कुछ सृजनशील साहित्यकार हैं, कुछ समीक्षक और अनुवादक। इसमे अनेक विद्वान सेवानिवृत्त प्रोफेसर और शोधकर्त्ता रहे हैं, दो भूतपूव कुलपति हैं, एक पुरातत्त्व सग्रहालय के प्रधानाधिकारी, एक उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान और एक राष्ट्रभाषा परिषद (बिहार) से सम्बद्ध। एक प्रख्यात सगीतवेत्ता हैं, तो अनेक सस्कृतविद्। महाराष्ट्र से मिथिला तक, असम से आध्रप्रदेश तक, राजस्थान से कर्नाटक तक, अलीगढ से अहमदाबाद तक, और कोल्हापुर से कलकत्ता तक के लेखक इस सग्रह म हैं। इस प्रकार से समूचे भारत का आशिक प्रतिनिधित्व, इस ग्रथ मे हो गया है।

३ विषयो का वैविध्य इस ग्रथ की और एक विशेषता है। 'सत्य, शिव, सुन्दर' इन तीन मूल्यो की हम सदा चर्चा करते है। परन्तु वे अमूत तत्व हमारे जीवन मे प्रत्यक्ष चाक्षुष वास्तव मे बनकर, ऐन्द्रिक सम्वेदनाएँ बनकर, उनसे निर्मित अवबोध और सज्ञाएँ बनकर आते हैं। कई शब्दो, पदाशा, बिम्बो, प्रतीको, सकेतो और मिथको का समेकन होकर हमारी सस्कृति, उसका मूलाधार दशन और आचरण का मेरुदण्ड धम निर्मित होता है। वह केवल कम धम-सयोग नही, वह समवाय और सश्लिष्टि है। उसकी ओर हर लेखक ने अपना विचार निर्देश किया है।

४ 'प्र-ज्ञा' का अर्थ है विशेष ज्ञान। विभिन्न अनुशासनो के भीतर क्या अन्त सम्बन्ध हैं और परस्पर-सघात से निर्मित नई उद्भावनाएँ सामने आती हैं, उनकी ओर यह ग्रन्थ हमे ले जाता है। यह केवल प्राचीन विचारो का स्पष्टीकरण, उन पर भाष्य या सूक्ति-सग्रह नही है। नवीन युग मे, नयी चुनौतियो के परिप्रेक्ष्य मे उन सनातन और शाश्वत, 'आर्यसत्यों' का क्या नया अर्थ, कौनसा नया सन्दर्भ और स्वरूप हमारे जीवन के लिए प्रकाश पथगामी सिद्ध होगा, यह भी इन लेखो को पढने पर जाना जा सकता है।

५ यह ग्रन्थ जैसे प्राचीन या अर्वाचीन का केवल निरूपण नही है, वैसे ही क्षणिक और कालातीत, विगत और आगत के बीच जो जीवत और प्राणवान अविच्छिन्नता है, उसका द्योतन भी इन लेखो मे है। व्याकरण की दृष्टि क्या है, चारो आचार्यों और ब्रह्मसूत्र भाष्यकारो के प्रस्थानबिन्दु कहा है, भारतीय मनीषा की यात्रा किन सार्थक निगमागम धाराओ, मार्गी और देशी परम्पराओ और तन्त्र की और सवतन्त्र-स्वतन्त्र दिशाओ से गुजरी है, उसका भी एक सक्षिप्त आलेख यहाँ प्रस्तुत है।

६ यथासभव, हमारे विद्वान लेखको ने सामान्य पाठक का ध्यान रखा है। बहुत सूक्ष्म विवरणो या विषय की ऐसी शास्त्रीय या तकनीकी उलझनभरी वीथियो मे हमारे विचारो को नही भटकाया है, जहा कदम-कदम पर 'यक्ष-प्रश्न' उपस्थिति हो, या जहाँ रहस्य अधिक गूढ और गाढ बनता जाये। वाचनीयताको ध्यान मे रखकर लोकसाहित्य को भी इस विचार-यात्रामे आधार बनाया गया। विदुषी महिलाओ ने भी विद्वान पुरुष लेखको के समान बौद्धिक सतह पर अपना योगदान प्रस्तुत किया है।

७ जयशकर 'प्रसाद' की जन्मशतीका वर्ष होने से एक लेख हिन्दी के इस अध्यात्म और मनोविज्ञान को काव्य मे सहज पिरोनेवाले महाकवि के स्मरण मे भी जोड दिया गया है। कोई 'कामायनी' कार को स्पदकारिका से अनुप्रेरित काश्मीर शैवदर्शन का समर्थक मानता है, तो कोई आनन्दवादी। कोई उन्हे ऐतिहासिक नाटककार मानता है, तो कोई उपन्यासो मे सामाजिक यथार्थवाद का प्रवर्तक। 'प्रसाद' केवल अतीतो मुखी नही है, वे तो भारत की अजातशत्रु कामना के प्रेमपथिक हैं, वे प्रकृति की लहर कानन कुसुम और झरने मे ही नही देखते, वे आधी मे आकाशदीप और छाया-प्रतिध्वनि के चित्राधार हैं, वे भारत की ऊर्जस्विता के 'एक घूँट' हैं, वे 'रम्याणि वीक्ष्य' मे भी 'करुणालय' हैं। इस प्रकार से यह लघु ग्रथ शिव और शक्ति, वैष्णव चेतना और बौद्ध करुणा, वेदान्त का निरपेक्ष और जैनो का सापेक्ष, पुराणो की नानावर्णी व्याख्याएँ और दृश्य-श्रव्य कलाओ के अनेकआयामी 'इन्द्रजाल' की भी झलक या झाँकी दिखाता है। एक तरह से यह ग्रन्थ जानकारो के लिए और सोचने की सामग्री देता है, जो नौसिखुए हैं उन्हे और जानने की जिज्ञासा जगाने को प्रेरित करता है। एक ही ग्रन्थ मे इतनी विविधता मे एकता, भूँधडाजी के व्यक्तित्व व मृदु दृढ स्वभाव के अनुरूप ज्ञान-दान और भक्ति शक्ति की ही महत्ता अधोरेखित करता है।

इस ग्रथ को आप सहृदयो और सुबुद्ध पाठको के समक्ष रखते हुए हमे बडी प्रसन्नता है।

वसन्त पचमी
स० २०४५
दिनाक १० फरवरी १९८९

साभिवादन विनीत
प्रभाकर माचवे
जयकिशनदास सादानी

अनुक्रमणिका

सस्कृति

राष्ट्रीय एकता

अविभक्तं विभक्तेषु

डॉ० प्रभाकर माचवे

भारतवासी एक हैं या अनेक, या एक मे अनेक हैं, या अनेक मे एक, यह प्रश्न प्राचीन काल से आज तक भारतवासियो को, और उससे भी अधिक भारत मे जब बाहर के विभिन्न सस्कृतिया वाले प्रवासी, व्यापारी, प्रचारक, प्रशासक आने लगे, तो उनको चकित करता रहा है। और इस अखण्डता, एकता, एकात्मता, निरतरता, सनातनत्व, अन्त सलिला अभेद-भावना और अद्वैत का निरूपण और अथ शोधन अनेक विद्वान अपने-अपने ढग से करते आ रहे हैं। 'एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति', 'नाना विवाचसा', 'तत्त्वमसि' आदि अनेक वचन इसकी पुष्टि करते हैं कि जैसे अनेक नदियाँ एक समुद्र मे जाकर मिल जाती है (और पुन उसी समुद्र से मेघमार्ग से जल प्रवाहा मे नद नदी रूप ग्रहण करती है) वैसे ही सब देवो को नमस्कार पहुँच जाता है, जब हम एक देव की उपासना करते हैं, या 'सर्व देव नमस्कार केशव प्रतिगच्छति'। यह बात प्राचीन काल से हमारे मन मे सस्कार की तरह चली आ रही है कि नर और नारायण दो नहीं हैं, पिण्ड और ब्रह्माड एक हैं, जो घट मे है वही घट के बाहर है, इसलिए हमारे भगवान अवतार लेते हैं, और मनुष्य पचभूतो मे एकाकार हो जाता है, सदेह स्वग जाता है या प्रतीक रूप से कहे तो आत्मा ऊध्व सतरण कर परमात्म रूप हो जाता है। आनन्दयात्री रवीद्रनाथ इसी को 'आनदम् रूपम अमृतम्' कहते हैं, इसी को महात्मा गाँधी ने 'ईशावास्यमिदम सवम् यत्किच जगत्याजगत्' माना, और इसे ही योगी अरविंद पूर्णयोग (इन्टिग्रल योग) कहते हैं। शब्द अलग-अलग हो, परन्तु सब का आशय प्राय एक ही है।

इस अनेकता मे एकता की समस्या को हम भौगोलिक, भू भौतिकीय, ऐतिहासिक, सभ्यता के इतिहास म मानवी कृतिया की शाश्वत सम्पदा—भाषा साहित्य, कला-शिल्प आदि की दृष्टि से और समाज वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक-वैज्ञानिक दष्टियो से देख सकते है। सम्पूर्ण विचार तो एक ग्रथ के आकार मे भी नही समायेगा, चूँकि भारत तत्त्व की व्याप्ति देश और काल दोनो ही परिमाणो मे विशाल, *विस्तृत, विराट और विश्वव्यापी है, परन्तु एक लेख मे, सूत्ररूप मे, उस विलक्षण समन्वय, विरोधो* म भी अविरोध और सघर्षो म भी समवाय, द्वद्व मे भी द्वद्वातीत की झाँकी हम देने का यत्न करेंग।

(१)

सवप्रथम देश नाम ही लें। भारत, भारतवष, आर्यावत, जबूद्वीप, इण्डिया, हिंदुस्तान आदि अनेक अभिधान हमारी जन्मभूमि, मातृभूमि के हैं। भागवत पुराण मे इसे 'अजनाभ वष' नाम भी दिया गया। 'अज' अर्थात अज मा भगवान विष्णु के नाभिकमल म जो चतुर्मुख ब्रह्मदेव विराजमान है वे ही सृष्टिकर्ता या प्रजापति हैं। यानी भारत मानव की उत्पत्ति का प्रथम स्थान है—ऐसा पुराण का विश्वास है।

... दायरी ...
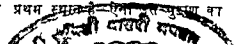
वायुपुराण मे इस देश को हैमवत वर्ष भी कहा गया है। यानी जिस देश की उत्तर की सीमा मे हिमवान् पवत है, वही यह देश है। तीसरा नाम कामुक वप भी था। कामुक का अथ है धनुष्य। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार हिमालय प्रत्यचा और समुद्र की ओर जो दक्षिण मे भारत का भू प्रदेश है वह खिचा हुआ धनुदड है। माक डेय पुराण मे भारत को कूमसस्थान कहा गया है। इस कछए का मुख पूव की ओर है। पीठ हिमालय है, और इसके नौ हिस्से है। यह जनपद सूची वराह मिहिर की 'बृहत्सहिता' के चौदहवें अध्याय मे दी गई है। अन्य कई ज्योतिषग्रथो मे, जैसे नरपति जयचर्या या पराशरादि मुनिकृत ग्रथो मे यह नाम पाये जाते हैं। घर के आगे रागोली मे कूम बनाते हैं।

एक व्युत्पत्ति यह है कि स्वायभुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के नाभि, नाभि के ऋषभ, और ऋषभ के सौ पुत्रो म ज्येष्ठ थे भरत। वायुपुराण मे इस भरत को महाभागवत और महापराक्रमी बताया गया है। उसे हैमवत के दक्षिण का देश राज्य करने के लिए दिया गया। उसी भरत के नाम से भारत बना। यही बात भागवत मे और माकण्डेय पुराण मे कही गई है। महाभारत मे दुष्यत के पुत्र भरत से भारतकुल और उसी के नाम पर भारत बना। इस प्रतापी राजा ने अनेक अश्वमेध किये, ऐतरेय ब्राह्मण कहता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यमुना किनारे ७८ यज्ञ और गगातटपर ५५ यज्ञ उस राजा भरत ने किये। इन यज्ञो से सारे भारत मे राजनैतिक एकता हुई, ऐसा भी कुछ कुछ लोगो का विश्वास है। ऋग्वेदकालीन भरत नामक एक पराक्रमी जाति ने विपाशा और शुतुद्री नदियो को पार कर भरत जनपद स्थापित किया, जो कुरुक्षेत्र था। ब्राह्मण काल मे कुरु पाचाल के क्षत्रियो मे इस जनपद का समावेश हुआ। पाणिनि के समय तक भरत जनपद को याद किया जाता रहा। यही नाम बाद मे पूरे भारत को व्याप्त करने लगा। आज के कुरुक्षेत्र (हरियाणा) और पाचाल (पजाब) को मिलाने और फिर भी दोनो नामो को अलग-अलग रखकर एक समास बनाने 'कुरु पाचाल' की समस्या ढाई तीन हजार बरस पुरानी लगती है।

कौषीतकि ब्राह्मण मे "अग्निर्वै भरत सर्वे देवेभ्यो हव्य भरति" (अग्नि ही भरत है, चूँकि यजमान ने दिया हुआ हविद्रव्य लेकर वह देवताओ के भाडार भरता है)। शतपथ ब्राह्मण मे अग्नि को विविध प्रजाओ का पालक माना गया। महाभारत मे भी कहा गया कि भरत अग्नि बनकर लोगो मे प्रसत हुआ। बाद मे जहा उस अग्नि को शुद्ध और निरतर रखने के लिए आर्यों मे अग्निपूजा अग्निहोत्र अग्नि साक्ष्य आदि चले। ध्यातव्य है कि अग्नि एकमात्र देवता है जिसे दाढी-मूँछ पारसीक शिल्प की तरह मिलती है और मेष उसका वाहन है। इसीलिए अग्नि पूजक पारसी भारत मे बस गये। उनका विरोध नही हुआ।

इस सारे विवेचन से एक बात सिद्ध हुई कि 'भारत' नाम मे ही भौगोलिक सीमाओ वाला राज्य, किसी जनपद के विशेष लोग और उनकी सम्मिश्र व्युत्पत्ति तथा उसके मत विश्वास लोकाचार आदि सास्कृतिक विकास के प्रतीक सब एकाकार हो गये। भारत एक देश का नाम हो गया, भारत जनता का नाम हुआ। भारत एक विचार-पद्धति का नाम हो गया यथा भारत सावित्री भारत सहिता। एक शकराचाय का नाम भारती कृष्णतीथ बना। सरस्वती को 'भारती' कहने लगे। वाग्देवी कुमारी है। भारत को 'कुमारी द्वीप' भी कहा जाता है। बौद्ध ग्रथो मे जम्बूद्वीप का एक हिस्सा भारत कहा गया। सासानी राजाओ का पहल्वी भाषा मे एक शिलालेख पैकुली मे मिला है। उसमे इसे हिंदू (सिधु) देश कहा गया। वही से यूनानियो ने यह शब्द उठा लिया और 'इदोस' कहने लगे। चीनी भाषा मे प्राचीन काल म 'चिन्-तू' देश के नाम से इसे सम्बोधित किया गया।

तब भारत की भौगालिक सीमाएँ वैसी नही थी, जैसी आज हैं। पुराणो के अनुसार जम्बूद्वीप के जो भूखण्ड गिनाये गय हैं उनम से कई स्वतन्त्र देश हो गये हैं। जैसे इन्द्रद्वीप तो अन्दमान

द्वीप समूह है। कसेरू मलयद्वीप है, ताम्रपर्ण श्रीलंका, नागद्वीप निकोबार द्वीप समूह है, वारुण बोर्निओ द्वीप है, गभस्तिमान (शायद सुवर्णद्वीप सुम्मत्र फुम्मो—'सुमात्रा' हो), 'सौम्य' और 'गधर्व' का पता नही लगता (शायद 'बाली' हो), और कुमारी द्वीप या भारत। तमिल माध्य में भी क्पाटपुरम् पता नही कहा समुद्र में लुप्त हो गया। गुप्तकाल यानी पुराणकाल के बाद धीरे-धीरे इस विशाल भूभाग के कई हिस्से अलग-अलग हो गये। जैसे सरस्वती नदी लुप्त हो गई, गाधार कदहार बन गया। भोट देश तिब्बत। और इसी प्रकार से कितने कितने अग बग कलिंग उपविभाजन होते चले गये। ब्रह्मावत से कुरक्षेत्र, मत्स्य, शूरसेन, पाचाल जनपद बने, जो मनु के समय मे 'मध्यदेश' कहलाता था। सौवीर (सिंध) और आनत (गुजरात), कबोज और कपिश, मूजवत और वाल्हीक कभी भारत के अग थे। परन्तु उस सारे इतिहास मे जाने से केवल यही मिलेगा कि अनागारी भाव से आज भी कई भारतीय प्रभाव, भग्नावशेष, जीवित लोक-नृत्य परपराएँ, उपासनापद्धतियाँ, भाषा सहवर्तित्त्व वहाँ मिलता है। चाहे वे इन्दोनेसिया के व्यक्ति नाम हो या बाली के नृत्य, अगकोरवाट और बोरोबुदीर के मन्दिर हो, या तिब्बती लिपि और बौद्ध भित्तिचित्र, बामियाँ (अफगानिस्तान) का विराट बुद्ध हो या नेपाल के पशुपतिनाथ—ऐसा बहुत कुछ मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व म ऐतिहासिक सास्कृतिक साक्ष्य फैला है जो सिद्ध करता है कि भारत से अलग-थलग होने पर भी वहाँ भारत के ततु अभी भी अवशिष्ट हैं। राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' म ठीक ही कहा कि "कन्याकुमारी से बिन्दु सरोवर तक (यानी मानसरोवर तक) भारत का चक्रवर्ति क्षेत्र था।"

अब स्थिति भिन्न है। मानसरोवर जाना हो तो चीनियो से अनुमति-पत्र लेना पडेगा। तक्ष-शिला के लिए पाकिस्तानियो से। बामियाँ के लिए अफगानियो से। सिंहगिरी या सिगिरिया के लिए श्री लका वालो से। डाकिन्य देवी क्षेत्र (ढाका) के लिए बागलादेशियो से। और यह सूची लबाई जा सकती है। यह तो हुआ राजनीति का भूगोल पर आक्रमण। पर हमारे देश के प्रवासी और उन (पडोसी) देश मे भारत मे आनेवाले प्रवासी लिखते और कहते नही अघाते कि लाओस मे रामकथा है, इन्दो नेसियाई मन्दिरो मे महाभारत के पात्रो के 'वायाग' (काष्ठ-पुत्तलिका नृत्य) होते हैं। सिंहल और नेपाल, बाली और सुमात्रा के नाम तक इतने भारतीय हैं भडारनायक, जयवर्द्धन, प्रेमदास, सुकर्ण, नरोत्तम, सिंहानुक, रामकान्ति, त्रिशक, महेन्द्र, त्रिभुवन आदि। यानी कुछ ऐसा है जो चाहे नाम रूपात्मक ही क्यो न हो परन्तु वह शेष है। बाग्ला देश की स्त्रियाँ शख की चूडियाँ पहनती है, और सिंदूर भी लगाती है। वहा के और भारत के लोकगीत और लोक नाटयो मे विलक्षण समानताएँ हैं। यानी हम विभक्त होकर भी पुन कही न कही एक ही हैं। सिर्फ हमारी तथाकथित 'राष्ट्रीयता' या 'नागरिकता' भिन्न कर दी गई है पर लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा (नेपाल) की कविता काजी नजरुल इस्लाम (जो बाग्ला देश मे मरे) से कैसे भिन्न है ? या फैज और फिराक मे क्या कोई समान सूत्र नही हैं ? भारत और बागला देश के राष्ट्रगीत एक ही महाकवि की लेखनी से नि सृत हुए जिसने अपनी 'गीताजलि' मे और प्रसिद्ध प्रार्थना म लिखा—

> हे मोर चित्त, पुण्यतीर्थे जागो रे धीरे
> एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे।
> केह नाहि जाने, कार आह्वाने, कत मानुषेर धारा
> दुर्वार स्रोते एलो कोथा हते, समुद्रे होलो हारा।
> हथाय आय, हेथाय अनाय, हेथाय द्राविड चीन
> शक हूण दल, पाठान, मोगल एक देहे होलो लीन।
> (रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'भारततीर्थ')

१९४७ के भयानक देश विभाजन के बाद हम 'विभाजन' शब्द से उसी तरह डरते हैं, जैसे 'आतंकवादी' शब्द से। परन्तु हम भारत / पाकिस्तान तक नही रुके। पाकिस्तान का अंग बांगलादेश भी स्वतन्त्र हुआ। हमने १९५६ मे भाषावार प्रांत बनाये। क्षेत्रीयता को बढावा मिला। अब परिदृश्य यह है कि कोई भी भारत का प्रदेश इस 'अलगाववाद' के भयानक प्रदूषण से बचा नही है। हर दो प्रदेशो की सीमा पर तनाव है। प्रदेश प्रदेश मे जातीय अल्पसंख्यकों (एथनिक माइनोरिटी) का संगठन है। वे विच्छिन्न होने की धमकियां दे रहे हैं। हिंसक घटनाओ से दबाव डालना चाहते हैं और पता नही यह प्रायद्वीप कितने उपखण्डो और उप-उप प्रदेशो, 'स्तानो' और 'लैंडो' मे बँट जायेगा।

२

भाषा मनुष्य मनुष्य के बीच मे भावो के आदान प्रदान का सबसे बडा वरदान था। पर धीरे-धीरे उसे हमने अभिशाप मे परिणत कर दिया। कुछ भाषाएँ वर्ग विशेष, जाति विशेष, स्थान विशेष की विशेषाधिकारवती हो गई और भाषिक अस्मिता का अहंकार हमे और संकीर्ण बनाता चला गया। हमारी पुरानी भाषाएँ, बडी भाषाएँ, व्यापक प्रदेशो मे फैली और बहुजन समाज जिन्हें समझता था वे भाषाएँ कितनी उदार थी, कितनी सर्वसंग्राहिका थी इसका उदाहरण संस्कृत से ही मैं देता हूँ। दुर्भाग्य से उस भाषा को हमने 'देववाणी' बनाकर एक अभिजात वर्ग की दासी बना डाला। संस्कृत मे अन्य भाषाओ से कितने शब्द लिये गये थे (जैसे कि संस्कृत के अनेक शब्द द्राविड कुल, मंगोल कुल दरद-कुल और ईरानी तथा स्लाव कुल की भाषाओ मे हैं) उनकी छोटी-सी तालिका नीचे दे रहा हूं।

कोल, मुण्डा आदिवासी भाषाओ से—उंदुरु (हिन्दी—चूहा)
कदली (,, केला)
कर्पास (,, कपास) ग्रीक कार्पासोस
तांबूल (,, पान)
मरीच (,, मिर्च)
लांगल (,, हल)
सर्षप (,, सरसो)
नारिकेल (,, नारियल)
गुवाक (,, सुपारी)
हरिद्रा (,, हल्दी)
शृंगवेर (,, अद्रख)
गंगा (तिब्बती—त्सोंग, थाई—खांग, चीनी—कियांग, अनामी—खोउंग)

द्राविड भाषाओ से—अनल (हिन्दी—आग)
उलूखल (,, ऊखल)
कज्जल (,, काजल)
कठिन, कलुष, कटु काक, कानन, कुटिल, कुंड, कैतव, कोण, खल गंड घदन, चिक्कन, घडा, तूल, दंड, नक्र, निबिड, नीर,

10522
19 सू 84

पटोल, पडित, पल्ली, पिंड, वक, बल, विडाल, बिल, बिल्व, मटची (अथ टिडडी—यह उपनिषद मे भी है) मयूर, मल्लिका, मति, महिला माला, मीन, मुकुट, मुक्ता, लाला (लाभ) वलय, वल्ली, शठ, शव, शूप आदि ।

चीनी, तिब्बती, सयामी, वर्मी भाषाओ से—कीचक (बांस), मुसार मसार (रत्न, नीलमणि), शय (कागज), सिदूर, तसर (कपडा) आदि ।

ईरानी, ग्रीक वश की भाषाओ से—लिपि (ईरानी दिपि)
वारबाण (,, वरोपन)
अश्ववार (,, असवार)
खलीन (अर्थ लगाम', मूल ग्रीक 'केलि[illegible]')
सुरु गा (अर्थ—'सुरग', मूल ग्रीक 'स्यूरिक्स')
क्रमलक (अर्थ—'ऊँट', मूल ग्रीक 'कामलाम')
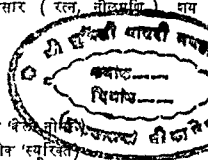
'लवग' इडोनेसी भाषा का शब्द है। इस प्रकार से केवल विदेशी शब्द ही 'सस्कृत' नही बन गये, आधुनिक काल मे ध्वनिमुद्रण, आकाशवाणी, चलचित्र, दूरदर्शन, दूरभाष विदेशी शब्दो के भावो से अनुवादित शब्द हैं, जो सुप्रचलित हो गये हैं।

यह प्रक्रिया जैसे भाषाओ से आत्मसात और उन्हे अविभक्त बनाने की चली, और वह केवल सस्कृतोत्पन्न भाषाओ मे ही नही, भारत की सभी भाषाओ मे परस्पर आदान प्रदान और व्यवहार और उपयोग से बढती गयी।

सस्कृत दूर-दूर के प्रदेशो और देशो तक फैलती गई। तमिल प्राचीन व्याकरण ग्रथ तोलकाप्पियर की एक टीका मे शिवज्ञान मुनिवर ने लिखा कि 'जो सस्कृत नही सीखा है, उसे तमिल भाषा का रूप भी ठीक से ज्ञात नही होगा।' सयाम (द्वारावती) मे सस्कृत शब्दो का उच्चारण उसी तरह से बदलता गया जैसे सुमात्रा, जावा, बाली, कम्बोडिया, तिब्बत, चीन आदि म—परन्तु उन शब्दो का मूल सस्कृत है।

सयामी	थोरोसप / यूरमप	दूरशब्द (टेलीफोन)
,,	आगात छान्	आकाश यान (हवाई जहाज)
,,	आराज् पथेत्	अरण्य प्रदेश (एक नगर नाम)
सुमात्री	सूरकृत	शूरकर्ता (नगरनाम)
	जकार्ता	योग्यकर्ता ,,
	ब्रोमो	ब्रह्मा ,,
	बोनोसोबो	वनसभा ,,
	स्मेरु	सुमेरु ,,
जावानी	सुरादिपुर	सुराधिपुर ,,
	आज आदिविजय	आर्य आदिविजय (नाम)
	शास्त्रोविय	शास्त्रवीय ,,
	बुद्धि उतोमो	बुद्धि उत्तम (एक सस्था का नाम)
	बानितो विरोमो	वनिता विराम ,,

तिब्बती चीनी एकाक्षरी भाषाओं मे सस्कृत नामो का इतना रूप बदल जाता है कि पता ही नही लगता। उदाहरणार्थ बुद्ध का भ्यवत्, फवाल, पलात, फा, फू बन जाता है। अमिताभ बुद्ध का 'ओमितो फू'। काश्यप का 'चिया येह्'। ब्राह्मण का 'पोलोमेन'। जापानी भाषा मे तो सस्कृत के शब्द चीनी से भी ज्यादह हैं यथा—बुत्सुनुतु (बुद्ध), बरमोन (ब्राह्मण), दरम (धम), पति (पात्र), विनयक (विनायक), येम (यम), सुतर (सूत्र), बिकु (भिक्षु), बिकुनी (भिक्षुणी), हुदरिके (पुडरीक) आदि।

यदि इस तरह से एक दूसरे के लिये हुए शब्दो का ही विचार किया जाये तो भारतीय भाषाओ का एक पूरा ग्रथ बन जायेगा। विश्वनाथ नरवणे के चौदह भाषाओ के कोश 'भारतीय व्यवहार कोश' (पुनर्प्राप्य अनिलकुमार मेहता, मेहता पब्लिसिंग हाउस, १२१६, सदाशिव पेठ, पुणे-३० से) मे देखिये। चौदह भाषाओ के सस्कृत मूलक और देशज भी समान शब्दो की कितनी बडी सम्पदा है। "एक हृदय है भारत जननी"—चाहे बोले चौदह वाणी! केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने भी पन्द्रह भाषा कोश प्रकाशित किया है।

मैं इन चौदह भाषाओ के प्रमुख साहित्यकारो चिन्तकों के बीच, पुरस्कार प्राप्त प्रतिभाओ के बीच चार दशको तक, सारे भारत मे घूम घूम कर, उनसे मिलकर (१९४८ से १९५४ तक आकाशवाणी नागपुर, इलाहाबाद, नई दिल्ली मे, उससे पहले 'शासन शब्द कोश' सम्पादन के लिये भारत के सात प्रातो म कोशकारो के साथ साक्षात्कार, १९५४ से १९७५ साहित्य अकादेमी के केन्द्रीय कार्यकर्ता के नाते, और उसी बीच १९६४ से १९६६ तक सघ लोक सेवा आयोग मे भाषाविशेषाधिकारी के नाते मानविकी के प्राध्यापको से, तथा १९७९ से १९८५ तक भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता मे) यह जानकारी जमा करता आ रहा हूँ कि इन विभिन्न भाषाओ के लेखको, साहित्यकारो, चिन्तको मे क्या समानताएँ हैं और वे किन बातो मे एक दूसरे से अलग हैं। इस निरीक्षण का निचोड, मैं इस लेख मे, धार्मिक विश्वासो, दार्शनिक मान्यताओ और सास्कृतिक आचार व्यवहारो के सन्दभ मे प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसी प्रयत्न मे विभिन्न लेखको की कलात्मक रुचियो, साहित्य और ललितकलाओ के अतसबध का भी विचार मेरे मन मे है।

३

दृश्य कलाओ म उदाहरण के लिए, हम भारतीय शिल्पकला को लें। हमारे लेखकबधु ही नही अनेक सवेदनशील पाठक, सामान्य नागरिक भी भारतीय शिल्पकला मे रुचि रखते होगे। उसके इतिहास मे हमे विभक्तता मे अविभक्तता कैसे दिखती है यह धम और धम के पीछे दाशनिक चिन्ताधारा के परिप्रेक्ष्य मे लक्षणीय विषय है। भारत मे 'शिल्प' शब्द व्यापक अथ मे प्रयुक्त होता था। आजकल, बगाली भाषा मे सभी तरह के कलाकारो को 'शिल्पी' कहते हैं, मराठी मे शिल्पकला शब्द केवल मूर्तिकला के अथ मे प्रयुक्त होता है। प्राचीन सस्कृत ग्रथो मे शिल्प शब्द कला, अद्भुत काय, कौशल्य, कारीगरी, कलाकृति इन सभी अर्थो म प्रयुक्त होता था। ऐतरेय ब्राह्मण मे तो यज्ञ म गाये जाने वाले स्तोत्रो को भी शिल्प कहा गया है। यह स्तोत्र देवताओ की स्तुति मे हो तो उसे देव शिल्प कहते थे। चूँकि भारत मे हर मनुष्य म दवत्व माना जाता था, इसीलिए मानुषशिल्प देवशिल्प से अलग नही था। सारी कलायें तब ईश्वरार्पित थी। बडे बडे मन्दिर बनते थे, या गुहाशिल्प, या भित्तिचित्र सब देवशिल्प या मिथक से सम्बद्ध थे। प्रतिमाएँ प्रस्तर की हो या धातु की, काष्ठ की तो बहुत कम बची हैं (सिवा नेपाल म और

पहाड़ी इलाकों में) या ईंटों की या मृण्मूर्तिरूप (टेरा कोटा, जैसे विष्णुपुर में) सब उसी धर्म दर्शन की भित्ति पर आश्रित थीं। श्रव्य और दृश्य श्रव्य कलाएँ भी उसी नवधाभक्ति का आविष्कार था (श्रवण कीर्तन चैव) और नाट्य को तो पंचम वेद ही कहा गया है।

'शिल्प' पहली बार मैत्रायणी उपनिषद में प्रयुक्त शब्द है। अथर्ववेद में 'शिल्पी' कारीगर के लिए प्रयुक्त शब्द है। पाणिनीय अष्टाध्यायी, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि में 'शिल्प', संगीत, नृत्य सबके लिए व्यवहृत है। भरत के नाट्यशास्त्र में आश्चर्यमय कृत्य, कौशल्य और ललितकला तीनों अर्थों में 'शिल्प' शब्द आता है। कलाप्रवीण स्त्री को 'शिल्पकारिका' कहा है। अभिनव गुप्त संगीत, नृत्य, वादन को कला कहते हैं, और माला गूंथना, चित्रांकन करना, लकड़ी मिट्टी की चीजें बनाना शिल्प है। बृहस्पति स्मृति में स्पष्ट रूप से सुवर्णालंकार बनाने वाला लकड़ी, पत्थर, चमड़े की चीजें बनाने वाला, कुशलकर्मी शिल्पी माना गया है —

हिरण्य कुप्य सूत्राणां काष्ठपाषाणचर्मणाम्
संस्कर्ता तु कलाभिज्ञ शिल्पी प्रोक्त मनीषिभि

शुक्रनीतिसार में प्रासाद रचना, मूर्ति निर्माण, गृह निर्माण आदि 'शिल्प' हैं तो वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' में शिल्प का अर्थ कला कौशल दिया है। ऐसा लगता है कि नौवीं शताब्दी के बाद भारत में दृश्य कलाओं से 'शिल्प' और संगीत, नृत्य, नाट्य को 'कला' कहने लगे। यहाँ भी ललितकला में विभिन्न शैलियों में एक ही अभिन्न सौंदर्यान्वेषण और आनन्द साधना को लक्ष्य माना।

'अविभक्त विभक्तेषु' का मूलाधार हमारा प्रकृति के प्रधान शक्ति स्रोतों को देवता रूप देना और उन अमृत ऊर्जा-स्रोतों को रूपायत्त करना रहा है। अग्नि, सूर्य, वर्षा, मेघ, तड़ित, उषा, निशा, सरिताओं और पर्वतों को वैदिक काल से दिव्य मानवीय रूप दिया गया। उन्हें देवता माना गया, उनकी प्रशस्ति की—'दिव्य शक्तया सपन्न मानव एव।' अग्नि, आप, अंतरिक्ष, अनिल, अवनी सब साकार हो गये। एक उदाहरण पृथ्वी का लें। 'प्रथते विस्तार पावति इति'—जो विस्तार पाती है पृथ्वी है। उसके अनेक गुण धर्मों को देखकर भू, भूमि, विश्वम्भरा, धरित्री, क्षिति, वसुधा, मेदिनी, मही आदि अनेक नाम उसे दिये गये हैं। गंध उसका प्रधान गुण है। नववर्षा के बाद सौंधी मिट्टी की बास का वर्णन कवियों ने किया है। पृथ्वी नानारूपवती है। उसका स्पर्श अनुष्ण अशीत और पाकज है। 'भाषापरिच्छेद' नामक न्यायग्रंथ में पृथ्वी को नित्य और अनित्य दोनों माना गया है। शिव की पार्थिव पूजा में मिट्टी का प्रयोग किया जाता है। काली, दुर्गा, गणपति आदि की मूर्तियाँ मिट्टी से बनाई जाती हैं और प्रतिवर्ष जल में विसर्जित भी की जाती है। देह, इन्द्रिय और विषय भेद से पृथ्वी त्रिविधा होती है। अणुरूप रजकण में वह नित्य है, परन्तु जारज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज उसके देहरूप होते हैं, प्राण उसका इन्द्रिय रूप है (आजकल 'बायोगैस' सारा मिट्टी से ही बनता है)। इस प्रकार पृथ्वी तिल से ताड़ तक पैदा करती है। अंग्रेजी कहावत है फ्राम मोल टु माउंटेन'—यह सब उसी के स्वरूप हैं। 'पृथ्वी को पांचवां भूत माना जाता है, घ्राण उसका अध्यात्म है, गंध अधिभूत है और वायु अधिदैवत'—यह महाभारत की मान्यता है। पृथ्वी को शतपथ ब्राह्मण प्रथमजा मानता है। उसी 'द्यौ' से सूर्य, ग्रह आदि बने। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि प्रजापति ने 'भू' कहा और उसी से भूमि बन गई। शतपथ में ही पृथ्वी के नौ रूप दिए हैं—फेन, मृत्काप, ऊष (क्षार द्रव्ययुक्त), सिकता, शर्करा (मोटी बालू), अश्मा (पत्थर), अयस (लोहा), हिरण्य (सोना) और औषधि वनस्पति। इस अग्निगर्भा पृथ्वी की यही 'नव सृष्टि है। शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी गोल, परिमण्डलरूपा और अपने आसपास घूमनेवाली और वातावरणयुक्त कहा गया था।

इसी पृथ्वी को लेकर अनेक पुराण रचाए पुराणों में मिथकों की तरह दी गई । उसकी उत्पत्ति, सप्तपाताल, और उसके डूबते समय मत्स्य, कच्छप, वराह बनकर उसे बचाने वाले विष्णु के दशावतारों की । पृथ्वी को इसीलिए वराह-पत्नी भी कहा गया है । विदिशा में उदयगिरि पर्वत में जिसने विशाल वराह मूर्ति देखी हो और उसकी जंघा पर बैठी डरी-सहमी छोटी सी धरती की—उसे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का स्तोत्र याद आयगा । भागवत पुराण में पृथु राजा और पृथ्वी का आख्यान है । वहाँ उसे गो रूप बताया गया । अथर्ववेद में पृथ्वी सूक्त आता है, जिसमें भारतीय धर्मदर्शन की अदभुत 'अ वित' के दर्शन होते हैं । अथर्ववेद (१२-१-१५) में जो पृथ्वी सूक्त है, उसका अर्थ दिया जाता है—

'सत्य, ऋत, उग्र, क्षात्रतेज, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ पृथ्वी का धारण करते हैं । भूत और भविष्यत सब पदार्थों की पालनकर्त्री तू ही है । पृथ्वी हमें महान कार्यक्षेत्र देती है ।

'हे पृथ्वी यह मनुष्य तुझसे ही उत्पन्न हुए और तुझीपर संचार करते हैं । द्विपाद, चतुष्पाद पशुओं का तू पालन पोषण करती है । हम पांच तरह के मानव, तुम हमारे लिए जो उगते हुए सूर्य की किरणों को फैलाती हो, तुम्हारे आभारी हैं । सूर्य हमें अमृतरूपी तेज देता है ।

'कई तरह की खदानों में पृथ्वी सोना, रत्न, खनिज धातुओं की निधि धारण करती वसुंधरा है । यह पृथ्वी हमें धन दे । दानकर्त्री और देवस्वरूपा है ! वह हम पर प्रसन्न हो ।''

इसी कारण से वाराणसी में जब बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने 'भारतमाता मंदिर' बनवाया, जिसमें कोई मूर्ति नहीं है, एक तरफ से खुले दरवाजोंवाले गोलाकार स्थान में भारत का एक उभरा हुआ मानचित्र मात्र है, और वहां गांधीजी को १९२७ में उदघाटन के लिए बुलाया तो उन्होंने पदम पुराण का वह प्रसिद्ध श्लोक अपने भाषण में कहा—जो अब 'आश्रम भजनावलि' में भी है—

समुद्रवसने देवी, पर्वतस्तनमंडले
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्य, पादस्पर्श क्षमस्व मे ।।

यदि इस 'पादस्पर्श' वाली भावना का ध्यान रखा जाता तो हमें पर्यावरण प्रदूषण के इतने सारे कार्यक्रम नहीं बनाने पड़ते । न वृक्षारोपण महोत्सव, न गंगा-शुद्धि योजना चलानी पड़ती । न इतने सूखे और बाढ के, अनावृष्टि और अतिवृष्टि के न समाप्त होनेवाले चक्कर में हम फँसते ।

पुन शिल्प शैलियों में 'अविभक्त विभक्तेषु' की ओर हम ध्यान दें तो यद्यपि हमारे दर्शनशास्त्रों में न्याय वैशेषिक चारभूतों—पृथ्वी, आप, तेज, वायु को अणुरूप मानता है और आकाश को विभु रूप, चार्वाक दर्शन केवल इंद्रियगम्य प्रथम चार भूतों को ही मानता । इन सब के स्थूल और सूक्ष्म भेद होते हैं । यही बात वैष्णवों के चैत्र शुद्ध पंचमी को उपवास करके विष्णु के पांच भूतस्वरूपों की उपासना में निहित है । पंच शब्द की भारतीय संस्कृति में बहुत बड़ी महत्ता है चाहे वह बौद्धों में पंचबुद्ध या जैनियों में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के रूप में । कर्नाटक में तो एक जैन मंदिर ग्यारहवीं सदी का मिलता है जिसका नाम है 'पंचकूट बसदी' । जैसे हाथ की पांच उंगलियां एक मुट्ठी बनाती है । सिक्खों में पंजा' साहब की पूजा की जाती है । महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ में 'पंचकृष्ण' की पूजा होती है जिनमें श्रीकृष्ण, दत्तात्रेय, गुंडमराउल, चांगदेव राउल और चक्रधर को देव मानकर पूजा की जाती है । चक्रधर गुजरात के राजपुत्र थे और मराठी के आद्य कवि चिंतक महानुभाव पंथ के संस्थापक माने गये ।

वस्तुत अन्नमय प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय, पंचकोशों से युक्त मानव ने जब शिल्प रूप में आकृति की कल्पना की तो वह 'पंचतत्व' थी । भारतीय मानव पंचगंगा की पूजा करके दक्षिण उत्तर की एकता को श्लोकों में पहले ही प्रतिष्ठा दे चुका था—भागीरथी, गोदावरी, कृष्णा, पिनाकिनी कावेरी ।। ''महा

राष्ट्रा महाराष्ट्रा प्रद्राविडा कर्णाटाश्चैव गुर्जरा । द्राविडा पचधा प्रोक्ता विध्यदक्षिण वासिन" विध्याचल के उत्तर मे सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड, उत्कल, मैथिल पचगौड थे। और महाराष्ट्र, आध्र, तमिल, द्राविड, गुजर तक पचद्राविड थे। तब केरल शायद स्वतन्त्र नही था, तमिलनाडु का ही कन्याकुमारी तक हिस्सा था। साहित्य के अध्येताओ को पचतन्त्र और नाटक की पाँच सधियो और ओडिसा के पचसखा कवि और पचशर और पचपल्लव नये नही हैं। वेदात दर्शन की एक बडी विद्यारण्य कृत टीका 'पचदशी' है। सगीतप्रिय लोगो को पचम स्वर मधुर है। पचवाद्यम अब भी केरल मे मदिरो के आगे आवश्यक होते हैं। तात्रिक उसे पचमकार तक ले गये और राजस्थान के लोकजीवन मे 'पचपीर' की पूजा होती है। यहाँ तक कि बाडुग मे प० नेहरू उसे पचशील तक ले आये। १९४५ मे, बौद्धो के पचशील अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य सत्य और अव्यसन मे सुधार कर डा० सुवर्ण ने अपने भाषण मे यह पाँच तत्त्व दिये—

१ राष्ट्रवाद
२ मानवता
३ स्वतत्रता
४ सामाजिक न्याय
५ परमात्मा पर श्रद्धा

१९४५ मे चाऊ एन लाय भारत आये तब नेहरू और चाऊ ने जिस 'पचशील' को घोषित किया, वे थे—
(१) परस्पर प्रादेशिक एकात्मता और सावभौमिकता को सम्मान
(२) परस्पर अनाक्रमण सधि
(३) *एक दूसरे के अतगत मामलो मे हस्तक्षेप न करना*
(४) परस्पर समानता और हितरक्षा
(५) शान्तिपूर्ण सहजीवन

अब इस पचाक्षरी मत्र और पचायतन पूजा को किसानो के पचायत राज और दोनो पक्षो को सहमति से कानून मे जिस 'पचाट' का मान्यता दी जाती है उसपर छोड दें। परन्तु वेदात मे 'पचीकरण' उन्ही पचमहाभूतो मे स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम से सूक्ष्म की ओर जाने को हम न भूलें।

आकाश मे शब्द
वायु मे शब्द और स्पर्श
अग्नि मे शब्द, स्पर्श और रूप
जल म शब्द, स्पर्श, रूप और रस
पृथ्वी म शब्द, स्पर्श, रूप रस, गध

इसी प्रक्रिया से हमारी इन्द्रियाँ मूत से अमूत और अमूत से मूत का आकलन, अवगाहन अधिग्रहण करती जाती हैं। इस बात को भूलने से दोनो ओर अतिवाद होते है, निर्गुण और सगुण दोनो प्रकार की भक्तियो मे। अविच्छेदकत्व वहाँ परस्पर निषेध मे नही है। तुलसीदास ने इसीलिये कबीर जैसी ही बात कही थी—'निर्गुण सगुण से परे देख्यो रूप अनूप', 'हद बेहद दोनो गया, कबिरा देखा नूर !'

शिल्प शैलियो मे यह समन्वय भावना अनेक तरह से मिलती है ग्रीक शिल्पकला देवताओ को मानवरूप दे रही थी, और भारतीय शिल्पकला नर को नारायण बना रही थी। जब शव वैष्णवा मे मतभेद तीव्र हुए एक 'हरिहर' देव बना दिया गया। पशु और मानव, पक्षी और मानव, मानव और अतिमानव के तो अनेक रूप है, नाग, हनुमान, गरुड यक्ष, किन्नर, गधर्व, विद्याधर प्रतिमाओ मे। नृत्य

की मुद्राओ मे प्रकृति और मनुष्य के राग विराग या नव-रसमय प्रतीक चित्रण है। भरहुत, सांची, नागार्जुनसागर, अमरावती के शिल्पावशेष यह सब कहानी खण्डित रूपो मे भी स्पष्टत कहते हैं राजप्रासाद, प्राकार, अट्टालय, चैत्य, मडप, तोरण, शिखर, वीथिका, स्तम, गवाक्ष, प्रदक्षिणापथ कितनी विविधता, कितनी एकरूपता लिये हुए हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन स्थापत्य शिल्प के अलग अलग 'लेबल' तो बाद म विदेशी कलालोचक ले आय। पर वहाँ धम सम्प्रदाय सारे एकाकार थे। यहाँ तक कि ताजमहल के शीष पर हिन्दू-राजमिस्त्रियो न उलटा हुआ कमल अकित किया। मीनार और विजयस्तम्भ एक रूप होते गये। हाथी, घोडा, बैल, कमल बुद्ध के जन्म से विद्ध प्रतीक बन गये। बोधिवृक्ष, धमचक्र आदि पुराने मडल और श्रीचक्र और स्वस्तिक वे ही 'एक ही तत्व विविध आकार' होते चले गये। प्राचीन शैलगृहा के उत्कीर्ण शिल्प, चाहे विहार की लोमश गुफा हो या उडीसा की उदयगिरि-खडगिरि या सीताबेंगा वाली हो या एलोरा इस बात के साक्षी हैं कि विविध मतो को मानने वाले कैसा सह अस्तित्व धार्मिक कला मे भी सदियो तक दिखाते रहे। तब न बाबरी मस्जिद, रामजन्मभूमि विवाद उठत थे, न कार सेवा करके अकाल तख्त को बनाया, मिटाया फिर बनाया जाता था। तब मन्दिर अपन वैभव प्रदर्शन के लिये नही बनते थे, जो भव्यता मे होड लें, और न वे अपनी अतिरिक्त अवध अनार्जित सम्पत्ति को 'सफेद' बनाने का सुरक्षित साधन थे।

मूर्ति-शिल्प के कुछ परस्पर-विरोध स्थूल दृष्टि से दिखाई देते हैं। परन्तु वे किसी आतरिक अपरिभाषेय मान्यता से जुडे हैं। बौद्धशिल्प मे एक ओर विराग से आसीन या काषाय ओढे खडे भूमिस्पर्श या अभय-हस्त मुद्रा मे बुद्ध तो दूसरी ओर त्रिभगावस्था मे यक्षिणियाँ और शालभजिकाएँ भी हैं। अनासक्ति और अनुरक्ति का ऐसा एक साथ चित्रण भर्तृहरि के शृगारशतक और वैराग्य शतक, या तिरुवल्लुवर के तिरुक्कुरल मे आरत्तुप्पाल और कामत्तुप्पाल जैसा लगता है। आदिशकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य और सौंदर्यलहरी की रचना एक साथ नही की? धम और काम तब परस्पर विरोधी नही थे। वे तो इस्लाम, ईसाई मत और तत्पश्चात् उन्ही की प्रतिक्रिया मे आयसमाज, गांधीवाद सकीण सैनिक राष्ट्रवाद आदि ने नर नारी सम्बन्धो को 'सकल पाप की खान', 'प्रथम पाप से निरन्तर शुद्धि', गुनाहे आदम और आरोपित शुद्धतावाद (जैसे रानी विक्टोरिया के जमाने का इग्लैंड का 'प्युरिटेनिज्म') से ढाक दिया। फ्रॉयड ही सबका चश्मा बन गया, जो एकागी था।

४

विभक्त होकर भी भक्त बने रहने की इस प्रक्रिया मे भारतीय सगीत साधना का साक्ष्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। याज्ञवल्क्य स्मृति मे तो यहा तक कह दिया था कि 'वीणा वादन तत्वज्ञ श्रुतिजाति विशारद तालज्ञ मनुष्य बिना प्रयास के मोक्ष प्राप्त करता है।' यानी हमारे सब देवी देवता सगीत से प्रसन्न ही नही होते, वे उसमे कुशल भी हैं। शिव के हाथ मे डमरू है। वह ताडव करते हैं और लास्य भी जानते हैं। ताडव के 'ता' और लास्य के 'ल' से ताल बना। मडेल सोहेन आदि आधुनिक वैज्ञानिक भी भौतिक रासायनिक सश्लिष्ट तत्व (कम्पाउण्ड्स) उतने ही मानते हैं जितनी श्रुतियाँ।

सगीत जिस धातु स बना है उसमे 'ग' का अर्थ कठ से गाना और गति दोनो अथ निहित हैं। सरस्वती वीणाधारिणी हैं। गणेश नतन करते हैं। एक शिल्प मे मैंने उन्हे बाँसुरी बजाते हुए देखा है। विष्णु शेषशायी हो तो उनके पास तुबुरु, नारद आदि वीणा लिये उनका रजन करते हैं। गीत, वाद्य, नृत्य का यह त्रिगुण मेल प्राचीन काल से चला आ रहा है। वाद्य यत्र वीणा की उत्पत्ति, निद्रित पार्वती

के रूपाकार से स्वयम शिव निर्मित मानी गई। उसी कारण से 'रुद्र वीणा' शब्द बना। एक सम्पूर्ण वेद ही 'साम' वेद है, जो सगीत का आदि ग्रथ है। वेदो की ऋचाओ की पाठपद्धति म ही उदात्त, अनुदात्त स्वरित शैलियो से 'स्वर-अभ्यास' (वॉइस कल्चर) कराया जाता था। प्रातकालीन प्रार्थनाएँ साधारण बोल-चाल के मध्यम स्वर म, मध्याह्न की ऊँचे और सायकालीन प्रार्थनाएँ और भी ऊँचे स्वर म की जाती थी। तब लाउडस्पीकरो की ईजाद नही हुई थी और अब तो सब धर्मस्थानो मे ये स्वरोच्चारण को स्वर विस्तार और कोलाहल तक पहुँचाने वाले यत्र लग गये है। वैसे कबीर के जमाने से ही बाँग देनेवाले मुल्ला से पूछा था उस सत ने—'क्या बहिरा हुआ खुदाय ?' ये मद्र मध्य तार स्वर ही सामगायन के 'सप्तस्वरा यमास्ते' के 'यम' थे। आरम्भ मे साम गायन के पाच भाग थे, वही ध्रुपद गायन मे यो बने

(साम) १ हिंकार २ प्रस्ताव ३ उदगीथ ४ प्रतिहार ५ निधन
(ध्रुपद) १ नोम २ तोम् ३ स्थायी ४ सचारी ५ आभोग

यह अभिजात ध्रुपद गायन परम्परा आज भी भारत मे प्रचलित है और डागर-बधु जैसे अहिंदू भी उसका प्रसार-प्रचार करते है। साम गायन के पाच 'मुकाम' बाद मे सप्तपदी' मे परिणत हुए। यह बताने की आवश्यकता नही कि स्वर सात होने पर भी, सगीत एक होता है। जैसे सात रगो से सफेद रग। उसी एक बूँद मे से प्रकाश के पृथक्करण से इन्द्रधनु।

सगीत की औत्तरीय और दाक्षिणात्य, हिंदुस्तानी और कर्नाटकी पद्धतियो के विवेचन करने वाले बारहवी शती के बाद के ग्रथो के नामो मे ही कितना साम्य है, यह दर्शनीय है।

हिंदुस्तानी	कर्नाटकी
रागार्णव	सगीतसार
रागरत्नाकर	स्वरमेल कलानिधि
नर्तननिर्णय	सगीतसुधा
मानसोल्लास	रागविबोध
सगीतराज	चतुर्दण्डि प्रकाशिका
षडरागचन्द्रोदय	सग्रहचूडामणि
सगीतदर्पण	सगीतसारामृत

आहत अनाहत ध्वनि, उच्च नीच नाद बाईस श्रुतिया, सप्तस्वर (कोमल, तीव्र और शुद्ध विकृत) यह सब तरह के कठ और वाद्य सगीत के प्राण है। उनका पूरा गणित है। रागरचना मे वादी सवादी आरोह अवरोह अल्पत्व बहुत्व, अस्ताई-अतरा, समस्थान क्रम सबसे सिद्ध होता है कि विविधता मे भी एकरूपता किस तरह इस ललित कला और भक्ति प्रकार मे गुँथी हुई है। निबद्ध अनिबद्ध गायन मे तान विस्तार आदि से और अलग अलग तालो से कितने रूप बनते जाते है, यह सब भारतीय सगीत की शाखा-प्रशाखाओ के साथ-साथ मूल वृक्ष के आधार के न्यग्रोध रूप के साक्षी है।

यजुर्वेद मे 'देवता गाते है' (अगायन देवा) और स्त्रियो को गानेवाला पुरुष पसद है (गायत स्त्रिय कामयत) ऐसे उल्लेख मिलते है। वाल्मीकि रामायण म जाति गायन की बात आती है और कथा गाकर सुनाने वाले लव-कुश से ही 'कुशीलव' एक जाति बनी। भरत के नाट्य शास्त्र म सगीत को गाधर्व वेद कहा गया। तात्रिक ग्रथो म यामल तत्र मे उन्नीसवें अध्याय में स्वरोत्पत्ति, रागभेद, रागकाल, ध्वनिभेद, ताल श्रुति लय मेल आदि का विस्तृत विवेचन है।

समुद्रगुप्त वीणा बजाते थे ऐसा उस समय के सिक्के से पता लगता है। दक्षिण मे शैव वैष्णव सप्रदायो म सगीत एक प्रधान अग था उपासना का। उनमे शुद्धा भिन्ना, गौडी वेसरा गीति शैलिया

चली। गोपाल नामक देवगिरि दरबार का सगीतशास्त्रकार था। चिदवरम के मंदिर द्वार पर नृत्य की मुद्राओ का शिल्प, या भुवनेश्वर मे नटमंदिर मे वाद्य-पटु नर्तकियाँ इस बात के प्रमाण है कि यह कला बहुत विकसित थी। सस्कृत साहित्य मे इसके विपुल प्रमाण मिलते हैं कालिदास के नाटको की नायिकाएँ अप्सरा पुत्री शकुन्तला या नर्तन प्रतिस्पर्धा मे भाग लेने वाली मालविका या स्वयम ऊर्वशी हैं। वाणभट्ट की महाश्वेता महाकाल मन्दिर म आरती के समय गान-रता है।

मध्ययुगीन सत और भक्त कवियो ने इसी परम्परा को और जनसुलभ बनाया। चैतन्य, वल्लभाचार्य, सूरदास और अष्टछाप के कवि, मीरा, विद्यापति, तुकाराम, चण्डीदास, त्यागराज, वसवेश्वर वेमना, कबीर, लल्लघेद, आलवार आदि सभी पद, गीत, भजन, अभग, वचन, वाख, गाथा, कीतन, गान, स्तोत्र, ध्रुपद, बाउल रचते रहे। इन सब मे भाषाएँ अलग अलग हो, चाहे गायन शैली मे विविधता हो, फिर भी हमारी धार्मिक, दार्शनिक, सास्कृतिक एकात्मता का स्वर स्पष्ट है। यहाँ तक कि मुस्लिम सूफी गायको ने अमीर खुसरो से शेख फरीद तक और बाद मे भी इस तरह के उपासना स्थान मे सामूहिक सगीत को अपनाया। कव्वाली, नात और मर्सिये उसी परम्परा के प्रमाण हैं। आधुनिक काल म चाहे रवी द्रनाथ ठाकुर के आनुष्ठानिक गीत हो या नजरुल इस्लाम के काली पूजा के गीत, फादर स्टीफेंस का मराठी 'खिस्तायन' हो या तुकडोजी महाराज के राष्ट्रीय भजन हो—विषयो की बहुलता और विभिन्नता म भी एक-सी आस्था और श्रद्धा के उनमे 'दर्शन' होते हैं। आज भी बोलपट या दूरदर्शन जैसे माध्यमो मे भारतीय जनसाधारण की यह सगीताभिरुचि, बुद्ध चित्रपटो और सीरियलो के नामो से ही स्पष्ट होगी—राजा हरिश्च द्र, तुकाराम, चडीदास, विद्यापति, आदाल, मीराबाई, नानक नाम जहाज, कबीर, सम्पूर्ण रामायण, रामायण धारावाहिक आदि।

दृश्य और श्रव्य कलाओ के इतिहास से भारतीय एकात्मता के जो दर्शन होते हैं, उनका और बडा प्रमाण रगमच और नाटको मे पौराणिक नाटको से अधिक नही मिल सकता। यदि मराठी नाट्य साहित्य के इतिहास ही को देखा जाय (सन १८४३ से सन १९५२ तक) तो निम्न नाटको के पौराणिक नाम ही मेरी बात की पुष्टि करेंगे। चुने हुए नाटको के आगे मै नाटककारो के नाम ब्रैकेट मे दे रहा हूँ।

१८४३—सीतास्वयवर (विष्णुदास भावे)
१८६०—श्रीकृष्ण लीला (दामोदर कवि)
१८७०—रावण वध (रा० बा० लेले)
१८७०—पार्थप्रतिज्ञा (वि० ना० ताटके)
१८७५—बाणासुर आख्यान (बापू कृष्णाजी)
१८७९—सुभद्रा हरण (म० वि० केल्कर)
१८५९—उत्तररामचरित (परशुरामतात्या गोडबोले)
१८६५—जानकी परिणय (गणेश शास्त्री)
१८८८—वेणी सहार (सी० म० माजरेकर)
१८७९—नल दमयती (सो० वा० त्रिलोकेकर)
१८८२—सौभद्र (किर्लोस्कर)
१८८४—रामराज्यवियोग (किर्लोस्कर)
१८८४—शालियामदन (स बा सरनाईक)

१९०९—कीचकवध (कृ० प्र० खाडिलकर)
१९१३—सगीतविद्याहरण (कृ प्र खाडिलकर)
१९१६—सगीत स्वयवर
१९२०—सगीत द्रौपदी ,,
१९२६—सगीत मेनका ,,
१९३३—सगीत सावित्री ,
१९१४—गवनिर्वाण (रा ग गडकरी)
१९०४—द्रोण सकोच (किरात)
१९२१—कुरुभग ,
१९०८—कु जविहारी (मामा वरेरकर)
१९५२—द्वारकेचा राजा ,,
१९२५—श्रीकृष्णदान (ग० कृ० फाटक)
१९२४—सगीत पटवर्धन (गो स टेंब)
१९३४—महारथी कण (वि० ह० औधकर)

यह नमूने के २७ नाटक दिये है। वैसे उनकी सख्या दो सौ से ऊपर होगी। वे सब नाटक श्रेष्ठ हैं या नाट्यगुणयुक्त हैं, या वे सब मचपर सफल हुए, यह मेरे लिखने का आशय नही है। मैं केवल यही बताना चाहता हूँ कि जैसे मराठी मे, वैसे ही बगाली, तमिल, कन्नड, हिन्दी आदि सभी भाषाओ मे जहा रगमच बहुत समृद्ध और विकासशील रहा, पुराकथाओ का आश्रय अवश्य लिया जाता रहा। आज भी हमारी दृश्य श्रव्य ललितकला परपरा में, चाहे व 'मार्गी हो या 'देशी' धार्मिक उपाख्यान जन मानस में सह सवेदन निर्माण करनेवाले प्रधान मिथक साधन हैं। आधुनिक भारतीय कितना ही 'आधुनिक' (यानी पश्चिमानुकरणवादी) हो जाये, अपने आपको कितना ही वैज्ञानिक कह उसकी आस्थाएँ गहरे में कहीं धर्म दर्शन से जुडी हैं। मैं तीन बडे वैज्ञानिको के उदाहरण देता हूँ। भौतिक शास्त्र में विश्वविख्यात नोबेल पुरस्कार विजेता चन्द्रशेखर वेंकट रमण से मैं उनके अतिम दिनो मे मिला था। उनकी पत्नी हिन्दी भजन सुन रही थी, और वे स्वयम बैंगलूर में उनकी प्रयागशाला में उगी हुई बडी घास के लान में सापा के उपद्रव के लिए मान्त्रिक की तलाश म थे। मैंने दूसरे भौतिक विज्ञान के प्रसिद्ध प्रो० कृष्णन को पुरानी दिल्ली स्टेशन से, नगे पैरा, किसी दाक्षिणात्य मदिर मे प्रतिष्ठित किये जाने-वाले विग्रह की प्रतिमा को अपने सिर पर उठाकर जुलूस मे चलते देखा है। अभी हाल में मैंने डा० डी० एस० कोठारी को जैन मुनि और 'अणुव्रत' आन्दोलन के प्रतिष्ठाता आचाय तुलसी की सम्मान गोष्ठी में, मुँहपर रूमाल रखकर जैन दर्शन के मूल्यो को शिक्षा में समाहित करने के आग्रह पर बोलते सुना है। दूसर बडे वैज्ञानिक राजा रामण्णा की भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित व्याख्यान पुस्तिका में सस्कृत के अध्ययन के महत्व को सुधी पाठको ने पढा ही होगा। ये थोडे से उदाहरण हैं। विज्ञान के इतिहास में ऐसे अनक चितक भारत में मिल जायेंग जो अध्यात्म और विज्ञान को परस्पर-विरोधी नही मानते थे।

(५)

ऊपर की सब भूमिका जैसी बातें यही सिद्ध करने के लिए सकलित की गई हैं कि हमारी यह समन्वय-परम्परा बडी पुरानी है। सन १०१८ मे भारत मे अल बरूनी आया और तेरह बरस यहा रहा। उसने 'किताब उल् हिंद नामक एक ग्रथ लिखा है। वैसे अरबी मे ज्योतिष, गणित, भूगोल, भूगर्भशास्त्र पर उसके १८३ ग्रथ हैं। उस समय 'ब्रह्मस्फुटसिद्धात' और 'खडखाद्यक' ग्रथा का ईस्वी ७५३-७७४ के बीच अरबी भाषा मे अनुवाद हो चुका था। हमारे गणितशास्त्र की दशमान पद्धति सख्याओ की जोड, गुणाकार आदि की प्रक्रियाएँ भारत मे ग्रीक की मारफत अरब देशो म पहुँच चुकी थी। एक अरबी विचारक ने सातवी शती मे ग्रीक पडिता के बारे म लिखा था—'ये ग्रीक पडित हिंदू शास्त्रा की चर्चा टालते है। हिंदुओ ने ज्योतिष शास्त्र म जितनी खाज की है, वह ग्रीक और बाबिलोनी ज्योतिष से कही अधिक मौलिक और गहरी है। हिंदुओ की गणनपद्धति की मैं कितनी तारीफ करूँ? नौ अको के सहारे वे इतनी तेजी से गणन करते हैं। जो लोग यह समझते हैं कि चूँकि वे ग्रीक भाषा बोलते हैं इसलिए हमे सब शास्त्रों का ज्ञान हो चुका है, वे जरा इन हिंदुओ के ज्ञान को समझें। तब हम पता लगेगा कि और लोगो को भी दुनिया मे ज्ञान है।' इस तरह से भारत का ज्ञान सिकन्दर के हमले के बाद ग्रीस म पहुँचा। वहा से अरब देशो मे।

भारत मे यह आदान प्रदान, विविधता म एकता की खोज बराबर चलती रही। डा० रा० द० रानडे का प्रसिद्ध शोध ग्रथ ही है कि षडदर्शन का मूल उपनिषद थे। परन्तु प्राचीन काल और मध्ययुगीन

काल से हटकर हमें आधुनिक काल के समाज सुधारकों और राष्ट्रीयता आन्दोलन के विविध मनावान जननेताओं और चिन्तकों की ओर आने पर यह भारत की 'अविभक्त विभक्तेषु' की अद्भुत और विलक्षण क्षमता अनेक रूपों में दिखाई देगी। अंग्रेज और उनके साथ ही फ्रेंच, पुर्तगाली, डच आदि विदेशी जब भारत में आये, तो भारतीयों ने उनकी भाषा को आत्मसात् किया। उस भाषा में समान अधिकार से लिखनेवाले, वक्तृता देनेवाले, कानूनी जिरह करनेवाले, पत्र-सम्पादन करनेवाले, अनुवाद करने वाले विविध क्षेत्रों के शिक्षा शास्त्री, दार्शनिक, इतिहासकार, समाजवैज्ञानिक, राजनैतिक विचारक और कवि उपन्यासकार हमें मिलते हैं। नीचे मैं एक तालिका इस उन्नीसवीं शती में (उत्तरार्द्ध में अधिक) जन्मे और सारे भारत को जिन्होंने अपनी चिन्ता का विषय बनाया उनके नाम और तिथियाँ दे रहा हूँ।

राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) को हम छोड़ भी दें, चूँकि उनका जन्म अट्ठारहवीं सदी में हुआ, पर उनका आधा परवर्ती जीवन उन्नीसवीं शती का था उनका प्रभाव दूरगामी था, तो भी अन्य २६ महापुरुष इस क्रम में हैं उन्नीसवीं शती पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध, इन दो खण्डों में महापुरुष का नाम, जन्मवर्ष-मृत्युवर्ष आयु और जिन्होंने विदेश यात्रा नहीं की, उनके नाम के आगे एक चिह्न, यह इस तालिका से स्पष्ट होगा। यह तालिका जन्मवर्षक्रमानुसार है।

ईसा की उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध

संख्या	नाम	जन्मवर्ष — निर्वाणवर्ष	आयु	विदेशयात्रा हाँ/नहीं
१	देवेन्द्रनाथ ठाकुर	१८१७ — १९०५	८८	हाँ
२	ईश्वरचन्द्र विद्यासागर	१८२० — १८९१	७१	नहीं
३	दयानंद सरस्वती	१८२४ — १८८३	५९	नहीं
४	रामकृष्ण परमहंस	१८३४ — १८८६	५२	नहीं
५	महादेव गोविन्द रानडे	१८४२ — १९०१	५९	नहीं
६	मदनमोहन मालवीय	१८६१ — १९४६	८५	हाँ

ईसा की उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध

संख्या	नाम	जन्मवर्ष — निर्वाणवर्ष	आयु	विदेशयात्रा हाँ/नहीं
७	बाल गंगाधर टिळक	१८५६ — १९२०	६४	हाँ
८	जगदीशचन्द्र बसु	१८५८ — १९३८	८०	हाँ
९	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१८६१ — १९४१	८०	हाँ
१०	स्वामी विवेकानन्द	१८६२ — १९०१	४०	हाँ
११	लाला लाजपतराय	१८६५ — १९२८	५३	हाँ
१२	गोपाल कृष्ण गोखले	१८६६ — १९१५	४९	हाँ
१३	अरविन्द घोष	१८७२ — १९५०	७८	हाँ
१४	ई वी-रामस्वामी नायक्कर	१८७९ — १९३३	५४	हाँ
१५	प्रेमचन्द	१८८० — १९३६	५६	नहीं
१६	सुब्रह्मण्य भारती	१८८२ — १९२१	३९	नहीं
१७	विनायक दामोदर सावरकर	१८८३ — १९६३	८०	हाँ
१८	चन्द्रशेखर वेंकटरमण	१८८८ — १९७२	८२	हाँ

१९	मानवेन्द्रनाथ राय	१८८७ — १९५४	६७	हाँ
२०	सर्वपल्ली राधाकृष्णन	१८८८ — १९७५	८७	हाँ
२१	जवाहरलाल नेहरू	१८८९ — १९६४	७५	हाँ
२२	स्वामी सहजानन्द	१८८९ — १९४९	६०	हाँ
२३	सुभाषचन्द्र बोस	१८८९ — १९४६	५६	हाँ
२४	भीमराव आम्बेडकर	१८९१ — १९५६	६५	हाँ
२५	विनोबा भावे	१८९५ — १९८२	८७	नहीं
२६	जिद्दू कृष्णमूर्ति	१८९५ — १९८५	९०	हाँ

और भी अनेक महापुरुष और चिंतक साहित्यकार इसमें लिए जा सकते हैं, परन्तु यह केवल एक नमूने के लिये सर्वमान्य सूची है। इससे पाँच बातों का पता लगता है कि इसमें से सात छोड़कर शेष उन्नीस ने विदेश यात्रा की, कुछ लोगों ने विदेश में शिक्षा पाई। ये सब पुरुष हैं, उनकी समतुल्य, कीर्ति अर्जित करने वाली महिलाएँ कोई नहीं है। ये सब हिन्दू हैं (आंबेडकर जीवन के अंतिम वर्षों में बौद्ध हो गये थे), अठारह ब्राह्मण हैं, शेष उच्चवर्णीय हैं कायस्थ, क्षत्रिय हैं, दो अवर्ण हैं (नामक्कल और आंबेडकर)। इनमें वैश्य कोई नहीं है। प्रदेशवार या भाषावार देखें तो इन छब्बीस में से नौ बंगाली छह मराठी-भाषी, पाँच दक्षिण भारतीय, चार हिन्दी भाषी, दो गुजराती और एक पंजाबी हैं। इसमें किसी का कम या अधिक बताने या तर-तमता का प्रश्न नहीं है, यह केवल ऐतिहासिक संयोग ही है। ब्रिटिश राज्य की स्थापना से राजधानी कलकत्ता रही, १९११ तक। पहले विश्वविद्यालय भी अंग्रेजों ने १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई बन्दरगाहों और महानगरों में बनाये, जिससे विदेशी शिक्षा के अच्छे बुरे परिणाम भी वहीं उपलब्ध हुए। एक नया मध्य वित्त वर्ग निर्मित हुआ, जिसे 'भद्रलोक' सफेदपोश (व्हाइट कालर), पांढरपेशा पेद्दमनुषलु (बड़े आदमी), भूरे साहब आदि कहा गया। यह नव शिक्षित, नव-अभिजात, नव धनाढ्य वर्ग शारीरिक श्रम करने वाले किसान मजूरों से कट गया। न उनमें वंश परम्परागत वृथाभिमान सामंती संस्कार और उच्चता ग्रंथि का अहम् ही कम हुआ, न उसने पाश्चात्यों के स्वावलंबन, घोर परिश्रम और औद्योगिक वैज्ञानिक सभ्यता की दृष्टि ही अपनाई। कुछ सुधारवादी आंदोलन चले—दयानन्द ने मूर्तिपूजा विरोध किया, 'पाखण्ड खण्डिनी सभा' और 'आर्य-समाज' चलाया। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ब्रह्म समाज' चलाया। महाराष्ट्र में 'परमहंस सभा' और 'प्रार्थना समाज' बने। पर ये फिर छोटे छोटे सम्प्रदाय या पंथ बन कर रह गये। एक मनोरंजक उदाहरण—हाल में यू० पी० में आंबेडकर की प्रतिमा पर यू० पी० के मुख्य मंत्री द्वारा जूता पहनकर माल्यार्पण करने से, नव बौद्धों ने उसे कितने लीटर दूध और गंगाजल से नहलाकर पवित्र बनाया। 'भारत छोड़ो' ९ अगस्त १९४७ के चालीसवें वर्ष स्मरण पर बम्बई के गोवालिया टैंक पर हुई सभा में अरुणा आसफ अली, राजीव गाँधी आदि ने पुनः ध्वजोत्तोलन किया तो उस अगस्त क्रांति के शहीद स्मारक पर 'असली' (यानी कांग्रेस दल द्वारा उपेक्षित) समाजवादियों ने उस स्मारक की शुद्धि की। (स्व०) राजनारायण, गाँधी जी की समाधि की भी शुद्धि का प्रस्ताव रखते थे। यह सब बातें इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान खींचती हैं कि हम चाहे जितने अपने आपको विदेश शिक्षा प्राप्त या संस्कार-युक्त मान लें कहीं न कहीं हमारे भीतर पुराने संस्कार प्रबल हो उठते हैं। शास्त्रों में कहा गया है—संस्कारोदुरतिक्रम। और यह बात दक्षिणपंथी और वामपंथी दोनों प्रकार के आंदोलनों और राजनैतिक कार्यक्रमों की सफलता या असफलता पर लागू होती है। हम 'सम्पूर्ण क्रांति'

की बात करने वाले लोकनायक की प्रतिमा का अनावरण भूतपूव राष्ट्रपति से कराते हैं। या आजीवन हिंदी सेवा करने वाली हिंदी आग्रही महान कवयित्री को 'भारतीय' ज्ञानपीठ पुरस्कार इंग्लैंड की कंजर्वेटिव पार्टी की प्रधान मत्री मार्गरिट थैचर से दिलवाते हैं, जो दक्षिण अफ्रिका म अश्वेतो पर गोरो के निरकुश शासन की समथक हैं। अजब नही कि हिन्दी के वडवोले शाब्दिक अग्नि-वर्षा करने वाले प्रगतिवादी चुपचाप श्रीमती इंदिरा गाधी के करकमलो से शिखर-सम्मान पुरस्कार आदि ले लेते हैं, और हमारे तथाकथित चरित्र-शुद्धता का जाप करने वाले ऐसे लेखक कवियो की प्रशसा करते नही अघाते जो आदर्शों से च्युत हैं। इस तरह की विसगतिया हमारे राष्ट्रीय-सामाजिक जीवन मे उभरती जाती है। इनसे द्योतन होता है कि हमने मूल और शाखाओ मे काय और कारण म, नित्य और अनित्य म, स्थिति और गति म जो मूलभूत द्वन्द्व है उसे समझने मे, और द्वैत म अद्वैत स्थापन के हमारे प्राचीन दार्शनिक विश्वासो को ग्रहण करने म कही भूल की है। हम छोटे छोटे समझौते जीवन मे करते जाते हैं, और बडे दम्भी ढग से औरो को समझौता न करने का उपदेश देते जाते हैं। घर मे अशाति है, सारे मोहल्ले और शहर को शाति का उपदेश देते फिरते हैं। अपने पक्ष या पार्टी मे एकता नही है, और सारी दुनिया म अखण्डता और सयुक्त मोर्चा का ढिढोरा पीटते हैं। देश म दगे हो रहे हैं जाफना मे शाति सेना भेजी जा रही है। आग कही है और दमकल कही। एक मराठी हास्य-नाटक म गाना था—

'आग रामेश्वरी, बब सोमेश्वरी।'

इसके लिए हम लेख के अन्त मे पुन हमारी अद्वैत दशन की मूल भारतीय भित्ति की च करेंगे। उसी से उपयुक्त छब्बीस महानुभावो म से अधिकतर लोगो ने अपनी प्रेरणा ली और चित्तवत्ति का सिचन तथा अभिक्रमण प्राप्त किया। तिलक, गाधी, अरविंद, राधाकृष्णन, विनोबा ने गीता भाष् लिखे। विवेकानन्द ने 'राजयोग' लिखा दयानन्द ने वेद को आधार माना, जवाहरलाल ने बुद्ध और अशोक से प्रेरणा ली। आबेडकर भी 'बुद्धम शरणम गच्छामि' कहते हुए निर्वाण प्राप्त कर गये। अन्य महापुरुषो म ईश्वरचन्द्र, मालवीयजी, महादव गोविन्द रानडे, रामकृष्ण परमहस, सुब्रह्मण्यम भारती परम आस्तिक थ और 'पराशक्ति' की भक्ति की, मुक्ति की उक्तियो से अपना आध्यात्मिक अधिष्ठान पाते थे। वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु पेड पौधो तक मे 'प्राण' का अनुसधान कर रहे थे, चन्द्रशेखर रमण उन्ही नक्षत्रो और रत्नो तक परम अनुप्रेरक अज्ञात किरणो की खोज म थे। सुभाष भी शक्तिपूजक थे। सावरकर तो हिंदुत्व को वीरत्व और सैनिकत्व से जोडना चाहते थे इसी कारण वे 'स्वातत्र्य वीर' कहलाये। हमारी जनता ने इसी कारण से इन महापुरुषो को देवर्षि, महात्मा, स्वामी, आचाय, महामना, गुरुदेव, योगी, परमहस जैसी पदविया प्रेम से दी। जिदद्दू कृष्णमूर्ति भी निर्ग्रंथ, निर्गुरु, विवेक और प्रज्ञा की पारमिता के पोषक थे।

शेष राष्ट्रीय कायकर्ताओ म पूण आस्तिक नही पर 'अज्ञेयवादी' (ऐग्नौस्टिक) थे। लाला लाजपत राय जवाहरलाल नेहरू स्वामी सहजानन्द और मानवेन्द्रनाथ राय अपने-अपने ढग से क्रमश आय समाज, फेवियन समाजवाद, समतावाद, क्रातिकारी मानववाद मे आस्था रखने वाले विचारक थे। ई० वी० रामस्वामी नायक्कर सोवियत यात्रा से लौटकर कट्टर नास्तिक और ब्राह्मण तथा उत्तर विरोधी हो गये। परन्तु एक बात स्मरणीय है कि कही भी इनकी आस्थाएँ भारत विरोधी, भारत के जनसाधारण की उन्नति की विरोधिनी नही थी। परन्तु बाद म कई नेता बीसवी सदी म भारत म आगे आये जो भारत की अखण्डता के विरोधी हो गये व अलगाववाद के समथक हो गये। सामाजिक और आर्थिक चिन्तन म उनकी पश्चिमाभिमुख स्वकल्पित मान्यताओ ने आग मे तेल डालने का काम किया।

परिणाम यह हुआ कि देश मे भाई भाई के रक्तपिपासु हो गये, हिंसा की आग 'बुझाये न बुझे' वाली स्थिति मे बढती चली गई, और अब राजनैतिक हत्याएं तो नित्य जीवन-क्रम का जैसे एक अग बन गई। एशिया म बीसवी सदी के उत्तरार्ध मे महात्मा गांधी, इंदिरा गांधी, मुजीबुर रहमान, लियाकत अली खां, भुट्टो, जिया, दाउद, भडारनायके, तराकी, हफीजल अमीर, जियाउर्रहमान की हत्याएं हुई ।

ऐसे समय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरुषार्थों मे अद्वैतसिद्धि और एकात्मता को आगे बढाना कितना आवश्यक हो गया है, यह अधोरेखित करने की आवश्यकता नही है। हमारी शिक्षा पद्धति मे अपनी मूल भित्ति पर, मातृभाषा और राष्ट्रभाषा पर कोई आग्रह नही है। समाज सेवा का कोई भी रूप हमारे नागर जीवन का अनिवार्य अग नही है।

मेरी मान्यता है कि ऐसी निर्नायक, अराजक, विशृखल, अनुत्तरदायी परिस्थितिया मे हमे अपने ऐतिह्य का, अपनी सास्कृतिक परम्परा और उसके नैरतर्य का भान बहुत अर्थपूर्ण होगा। यह माना कि *इतिहास उसी रूप मे लौटकर आता नही है। परन्तु एक उदाहरण से मैं यह अद्वय सिद्धि लेख के अत* मे सिद्ध करना चाहता हूँ। आकृति-मानचित्र मे अर्द्धवतुल और अनत (∝) के चिन्हों से सूर्य, चन्द्र (अर्ध बिंदु) के सहारे ॐ और गणेश का स्पष्ट विवेचन लिपि क्रम विकास म दर्शनीय है। सत ज्ञानेश्वर ने इसीलिए अ-उ-म को चरण, उदर, महामण्डल मस्तक माना। और शब्द ब्रह्म का आदि बीज भी उसी रूप में व्यक्त किया। गणपति अथर्वशीर्ष मे 'गकारो पूर्व रूप, अकारो मध्यम रूप, अनुस्वारश्चात्य रूप, बिंदुरुत्तर रूप' मानकर गणादि का उच्चार पहले करके वर्णादि तदन्तर और अनुस्वार सबसे आदि मे लिखने-बोलने का विधान दिया। वैदिक ओम, पौराणिक प्रणव और डमरू आहत मुद्रा और 'अर्धेदु-सिद्धात' मे 'ग', 'अ', 'अम्' का लेखन दर्शनीय है। 'गणाना त्वा गणपति गउ हवाम्यहे' का प्रथम पूजा मन्त्र ही अनेक म एक, विभक्त म अविभक्त की एक स्वर लिपि, एक आकृति-बंध और स्व-पर भेद नाशक 'वक्रतुड महाकाय' मगलाचरण था। पर हम विनायक बनाते हुए वानर बना बैठे, सुधाकर की जगह राहु लिखने लगे, तो उसम उन तत्वों का क्या दोष ?

'ओम' ऋग्वेद और अथर्ववेद मे नही मिलता। तैत्तरीय सहिता मे प्रणव नाम से वह वर्ण आता है। मॅक्समूलर इसकी व्युत्पत्ति 'अवम' से मानते हैं। रौथ और बोथलिंक इस विचार से मत-भेद रखते हैं। वे कहते हैं कि वेद मे 'ओश्रावय' 'आश्रावय' सम्बोधन रूप मे आते है। पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' (६ १ ९) मे 'ओंकार' मूल रूप मे था। उपनिषत्काल मे इसमे रहस्यमयता जोडी गई। ऐतरेय ब्राह्मण म 'अ-उ म' को 'भूर्भुव स्व' से समानार्थक माना गया। गोपथ ब्राह्मण के प्रणवोपनिषद मे 'ओम् से सब छन्द, इतिहास-पुराण, गीत नृत्य निकले' ऐसा कहा गया है। अ = जागृति, उ = स्वप्न, म = सुषुप्ति, ँ = तूर्या माने गये। अ विष्णु, उ परमेश्वर, म ब्रह्मा है। गौडपादाचार्य के अनुसार इस 'ओम्' मन्त्र मे विश्व, तेज, ज्ञान की परम तुरीय अवस्था एकरूप है। पातजल योगसूत्र मे प्रणव को ही ईश्वर माना गया। भारत मे छठी शती के बाद जो हस्तलिखित धर्मग्रन्थ मिलते है उनके आरम्भ मे मगलसूचक ॐ पाया जाता है। जैन और बौद्ध ग्रथो मे भी 'ॐ मणि पदमे हुँ' आता है। धीरे धीरे पुराणो ने अपने अपने ढग से इस 'ओम' पर कई अर्थों का आरोपण किया। वैष्णव पुराणो ने 'अ उ म' को 'विष्णु, श्री, भक्त' और तीन वेद, तीन लोक तीन अग्नि, विष्णु के तीन पद माना है। गीता के सत्रहवें अध्याय म 'ॐ तत्सत्' को ब्राह्मण, वेद और यज्ञ भी माना गया। वरदातन्त्र मे ह' = सौम्य शिव उ = शिव का भयानक रूप, अनुनासिक नाद बिंदु श्रेष्ठ और दु कारक रूप माने गये। हुम नीलवर्ण है नीलाकाश और अक्षोभ्य बुद्ध भी नील है शिव ने समुद्र मथन से हलाहल प्राशन किया वह नीला हुआ।

ज्ञानेश्वर का एक पूरा पद नीले रंग को लेकर है, जो मैंने श्याम परमार को दिया था। उन के 'अ-कविता और अन्य निबंध' ग्रंथ में आधुनिक कवियों की रंग संयोजना' लेख मे उद्धृत है।

आकाश के नील रंग और कृष्ण के नील वर्ण की एकात्मता से चैतन्य इतने विभोर हो जाते थे कि वे प्रेमोन्माद में अचेत हो जाते थे। यह एकात्मता या 'अद्वय' या अभेद भारतीय दर्शन का एक बड़ा ही सूक्ष्म परन्तु दृढ़ सूत्र है। इसे ही गीता 'समत्व योगमुच्यते' कहती है। भारतीय समाजशास्त्री इसे भारतीय समाज मानस मे परिव्याप्त 'रेमिनिसेन्स' कहते है। इसी गुण के कारण भारत मे कहावत चली 'सुनो सबकी करो मन की'। उपनिषदों मे इसी *आत्मतत्व को ब्रह्मतत्व माना,* उसीको द्यावापृथ्वी का 'स्कंभ' (नियन्त्रण शक्ति) कहा, वही 'यो भूतंच भव्यंच सर्वयश्चाधितिष्ठति' (भूत, भविष्य, वर्तमान उसी पर अधिष्ठित हैं) माना गया। देश और काल की 'अर्विनि' के बाद उपनिषद परमात्मा के आनंदस्वरूप सर्वशक्तिमान निर्विकार गुणों के साथ साथ आत्मा के दुःखमय अक्षय, विकारयुक्त होने के विरोध में अविरोध की चिंता करते है। *आत्मब्रह्मैक्य के साथ-साथ मनुष्य की बुद्धि और भावना की एकता पर* उपनिषद बल देते है। बृहदारण्यक मे सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में बुभुक्षारूपी मृत्यु ने मन और वाणी का जोड़ा बनाया। उनका रेत ही संवत्सर बना। वाणी से उसने ऋक्, यजु, साम, छंद, यज्ञ, प्रजा, पशु सब निर्मित किये। बाद मे वह उन सबका भक्षण करने लगा। यज्ञ बना। अश्व बन गया। *जीवात्मा और परमात्मा मे भोक्ता और साक्षी सम्बन्ध सुझाया गया।* उपनिषद में ही मुक्ति की सालोक्य सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य ये चार अवस्थाएँ और उनकी एकात्मता वर्णित की गई हैं। मुक्ति अभाव रूप न होकर भावरूप है। वह शून्यस्थिति न होकर पूर्णावस्था है। यह द्वन्द्व से ऊपर उठने की बात 'मैं' के पूर्ण विलय के बाद भी व्यक्ति का अस्तित्व तीन हजार वर्षों से भारतीय विचारधारा मे बार बार अलग अलग तरह से उभरता आ रहा है।

अद्वैत का यह सूत्र शैव और वैष्णव विचारों की एकाकारिता मे मिलता है। अप्पय दीक्षित (१५२० ९०) को पूछा कि आप शिव को बड़ा मानते हैं या विष्णु को, उन्होंने उत्तर दिया—

मुरारौ च पुरारौ च न भेदः पारमार्थिकः।
तथापि मामकी भक्तिश्चन्द्रचूडे प्रधावति॥

(विष्णु और शिव मे पारमार्थिक भेद नहीं है। परन्तु मेरी भक्ति चन्द्रशेखर शिव की ओर है)

तमिल संत अप्पर ने और बाद में अनेक संतों ने राजा की सत्ता को कभी श्रेष्ठ नहीं माना। ये संत अत्याचारी राजा का या नरक का भी भय नहीं मानते थे। वह कहता है कि आपदा विपदा हमारे सामने खड़ी नहीं रह सकती। हमारे जीवन में दुःख की छाया नहीं, क्योंकि हम राजाधिराज शंकर के दास है। उन्ही के चरणों पर हमने अपने आपको चढ़ा दिया है। यह जीव और शिव एक है। मूल तमिल पद यों है—

नाम आरक्कुम् कुडि अल्लोम् नामाक्कुन् कुडि अल्लोम्
नमनै अंजोम नरकातिल् इडरप्पडोम
नडलै इल्लोम एमाप्पोम
पिणि अरियोम पणिवोम अल्लोम्
इन्बं एन्नाकुम् तुन्बम इल्ल
तमाक्कुन कुडि अल्लात तन्मेयान
शंकरन् नरचगवेण् कुल्ल अवर कादिल्

भारतीय तत्त्वज्ञान मे अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति और नास्ति नास्ति इन चतुष्कोटि-विनिमुक्त को ही महायान बौद्धधम मे 'अद्वय' कहा गया। वस्तुत वेदात, उत्तरमीमासा या शाकर अद्वैत से ही वह दर्शन भी प्रभावित हुआ। द्विधा भाव विरहित होना ही अद्वैत था। उपनिषदो मे बृहदारण्यक ने ही प्रश्न पूछा था—"जिससे सब जाना जाये, जो स्वय ज्ञाता है, उसे और किस से जाना जा सकेगा ?" ज्ञाता ज्ञेय की यह एकाकारिता ही अद्वैत की भित्ति है। कारण मे ही काय निहित है, आकार से पदाथ भिन्न नही। विकार केवल 'वाचारभण' है। नाम के है। तत्त्व मे अतत्त्व देखना ही विवत है। रज्जु सप, रजत शुक्ति आदि प्रसिद्ध उदाहरणो से अध्यास समझाया जाता है। घडा नश्वर है, मृत्तिका सत्य है। मिट्टी भी मूल वस्तु नही। वह अनुस्यूत है। यानी सत्ता भी विशिष्ट और शुद्ध दो प्रकार की होती है। वह जब निराकार निरवयव होती है तो ब्रह्म है, जब वह सोपाधिक बनती है तो जगत का उपादान कारक है। दृग्दृश्यविवेक' मे शकराचाय ने कहा कि 'आवरणशक्ति ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप ढँक लेती है, और विक्षेपण शक्ति से ब्रह्म आकाशादि भौतिक जगत उत्पन्न करते हैं, ऐसी यह 'शक्ति द्वय हि मायया' है। छोटा सा मेघ सामने आने पर अनेक योजन दूर के सूयमण्डल को ढँक लेता है, बस ही यह अज्ञान से हमे 'नानात्व' दिखाई देता है। मूलत और, मुख्यत, बुनियादी तौर पर, वह सब 'एक' ही है।

माया परमात्मा की बीजशक्ति है। वह अविद्यात्मक और अव्यक्त है। माया सत और असत से अबाधित, विलक्षण और अनिवचनीय है। उसे सत कह तो ब्रह्मज्ञान बाधित होता है, और असत कहें तो उसकी प्रतीति होती है। इसलिए वह अनिर्वचनीय है। रामानुजाचार्य उसे ईश्वर की सृष्टि करने की शक्ति मानते हैं। शकर कहते हैं कि ब्रह्म मे कोई विकार नही होता, माया के कारण। रामानुज ब्रह्म मे अबाधित शरीर नामक अचिरतत्व मे माया के कारण विकार पैदा हाता है ऐसा मानते हैं। निर्विशेष ब्रह्म जब मायावृत्त होकर सविशेष और सगुण भाव धारण करता है तो ईश्वर कहलाता है। न्यायशास्त्र ईश्वर को जगत का निमित्तकारण मानता है वेदात निमित्त और उपादानकारण भी। भारतीय दर्शन मे जीव और ब्रह्म मे कोई भेद नही। विद्यारण्य के शब्दो म "जीव और ईश्वर मायारूपी कामधेनु के दो वत्स है। वे द्वैत का प्राशन स्वेच्छा से करें परन्तु तत्व तो अद्वैत ही है।" चैतन्य ही जीव और ईश्वर का सामान्य रूप है। नामरूप से केवल जग मिथ्या लगता है। 'नेह नानाऽस्ति किंचन 'इद सर्वं यदयमात्मा'।

प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता वस्तुत एक ही है। दही, दूध का विकार है, सप, रज्जु का विवत है। मुक्ति कोई खोई हुई चीज पुन पाना नहीं, भूली हुई चीज का पुन स्मरण मात्र है। अद्वैत वेदात वेद और उपनिषदो मे प्रस्थापित बीजरूप विचारा का ही पल्लवन और फलित है। कठोपनिषद म 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा' कहा, वही वेदात का आत्मज्ञान का परम बिन्दु है। भारतीय दर्शन मे 'मन' की स्थिति देखिये चार्वाक दशन मे मन को भी एक भौतिक पदाथ माना गया था (जैसे मार्क्स मानते है)। बौद्ध दर्शन मे विज्ञानवाद मे चित्त को ही प्रवृत्ति और मुक्ति का मूल कहा गया। चित्त ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान है। इसे ही वे आलय विज्ञान कहते हैं। मीमासा म भाट्ट मत मे मन भी आत्मा की तरह विभु है। वह अन्तरेंद्रिय और भौतिक है। द्वैत दर्शन मे मन तत्त्वरूप और तत्त्वभिन्न माना जाता है। तत्त्वरूप मन की व्युत्पत्ति वकारिक अहकार से होती है। 'चन्द्रमा मनसो जात'। तत्त्वभिन्न मन नित्य और अनित्य उभयविध इन्द्रिय है। वह स्वरूप और साक्षी है, बद्ध और मुक्त भी है। शुद्धाद्वैत दर्शनमे मन एक इन्द्रिय ह और वह सकल्पविकल्पात्मक है। वह बाह्य और आन्तर दोना तरह के काय करता है। न्यायदशन म वह अन्तरेंद्रिय है। योगदर्शन म उसे चित्त कहा है और उसकी पाँच अवस्थाएँ बताई है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। यही चित्तभूमि हैं। विशुद्ध सत्त्व से एकाग्रचित्त निर्वात

दीपशिखा की तरह है। वेदात मे मन पाँच कर्मेन्द्रियो और पाँच ज्ञानेन्द्रियो का प्रेरक है और वह हृदय कमल के गोलक मे है। वह अत करण भी है। स्वामी रामदास (मराठी सत कवि) कहते हैं कि 'अचपल मन माझे नावरे आवरीता'। यह मन अत्यन्त चचल है और वश मे नही रहता। इसीलिये उन्होंने 'मनाचे उपदेश' लिखे। अभ्यास से ही मन शात होता है और उसे ब्रह्मसुख लाभ होता है। विद्यारण्य स्वामी 'पचदशी' मे कहते हैं

मनो हि द्विविध प्रोक्त शुद्ध चा शुद्धमेव च।
अशुद्ध कामसम्पर्कच्छुद्ध कामविवर्जितम्।
मन एव मनुष्याणां कारण बधमोक्षयो।
बधाय विषयासक्त मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

अत सृष्टि, बहिसृष्टि मे मन अलग अलग कार्यों मे रत रहता है। योग वासिष्ठ के अनुसार मन की अट्ठारह अवस्थाओ का चार तरह से वर्गीकरण किया जा सकता है

१ मानसिक—मन, बुद्धि, चित्त, अहकार (अत करण चतुष्टय कहलाते हैं) कल्पना, स्मृति, वासना मानसिक क्रिया है।

२ धार्मिक या नैतिक—अविद्या और मल मन के मिथ्या विकल्प से पैदा होते हैं।

३ आध्यात्मिक—माया, प्रकृति, जीव, ब्रह्म (विराट, सनातन, नारायण या ईश) और अति वाहिक देह। अव्यक्त मन का व्यक्त स्वरूप ही जग है। जग और मन आत्मा की स्पदशक्ति के स्पष्ट स्वरूप हैं।

४ आधिभौतिक—इद्रिय, पुर्यष्टक और देह शारीरिक तत्व हैं जो मन पर प्रभाव डालते हैं।

यह सब विचार पाश्चात्य मनोविज्ञान की विविध मान्यताओ और खोजो के बहुत निकट आता है। तुलनात्मक दर्शन, तुलनात्मक मनोविज्ञान, तुलनात्मक धर्म विचार सब इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव सस्कृति मे भेद ऊपरी-ऊपरी दिखाई देते हैं, भीतर से सब ओर वही अभेद है।

भारतीय दर्शन शुष्क नही है, 'सर्ववेदातसार हि श्रीभागवतमिष्यते'। भागवत पुराण मे भक्ति को साधन और भगवान से अद्वैत को साध्य माना गया। सारा वेदात साख्य पर आधारित है। भागवत मे भी जहा तहाँ ज्ञानोपदेश है साख्यशास्त्र के प्रयोगो का ही उपयोग होता है। दूसरे स्कध मे जब जगत की उत्पत्ति की कथा ब्रह्म नारद को सुनाते है या शुक परीक्षित को ब्रह्माण्ड वर्णन सुनाते हैं, साख्य का ही आधार लेते है। तीसरे स्कध मे साख्य के प्रणेता कपिल देवभूति को शास्त्रबोध करते हैं। ग्यारहवें बाईस और चौबीसवें स्कध मे भी साख्यशास्त्र का विचार दिया गया है। पुरुष प्रकृति, तन्मात्रा, महत अहकार यह सब पारिभाषिक शब्द भागवत मे आते हैं। तीसरे स्कध मे विदुर, मैत्रेय सवाद मे मायावाद का विवेचन है। भागवत मे धर्म दर्शन और काव्य का अपूर्व समन्वय मिलता है। एक उदाहरण लें। शरदऋतु का वर्णन करते हुए भागवतपुराण कहता है—

खमशोभत निर्मेघ शरद्विमलतारकम्।
सत्वयुक्त यथा चित्त शब्द ब्रह्मार्थ दर्शनम्॥

(शरद ऋतु मे मेघरहित, निर्मल तारकयुक्त आकाश ऐसा है जैसे शब्दब्रह्म के द्वारा अर्थ दर्शन होने पर योगी का सात्विक चित्त है)

भागवत मे ऐसे अनन्त काव्यमय प्रसग हैं। भारतीय महाकाव्य और मुक्तक सब कवि के जीवन दर्शन के प्रस्फुटन मात्र हैं। आज लगता है कि जीवन दृष्टि के अभाव मे हमारी 'सस्कृति' केवल नृत्य

गान में ही सिमट आयी है। 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' शब्द के बाद, हमारे जन-सचार माध्यम, छोटे छोटे बच्चे और बच्चियां के बडो के अनुकरण मे उतारने श्रृंगारमय अभिनय और अगविन्यास प्रस्तुत करते हैं मानो देह के आगे कोई 'काम' नहीं है और विज्ञापन के अतिरिक्त कोई 'अर्थ' नहीं है। धर्म और मोक्ष दोनों गायब हैं। ऐसे शिल्प मे आत्मसस्कार कहाँ और धर्म और दर्शन के स्पर्श से विहीन यह तथाकथित 'सस्कृति' केवल व्यायाम, सर्कस और उत्सव मे परिणत हो जाती है।

धर्म (आचरण, भावना), दर्शन (ज्ञान, बुद्धि) और सस्कृति (कर्म शिल्प) इन तीनो हृदय, मस्तिष्क और कर्म इन्द्रियो मे तालमेल ही भारत का प्रधान लक्ष्य रहा है—प्राचीन काल से आजतक। जब जब इस अखण्डता मे खण्ड पडा है, इस भक्ति मे विभक्ति हुई है, लगाव मे अलगाव पैदा हुआ है, भारत की गति में बाधा आई है। हम इस ग्रन्थ के सभी विद्वज्जनो और विदुषियो के गवेषणापूर्ण और प्रेरणाप्रद लेखो को पढकर 'अनेकता में एकता' के सच्चे सूत्र को पहचानें। उस पर विचार करें और उन्हे हृदयगम कर वैसी ही कृति करें। उस एकात्मता के बिना सस्कृति निरी आकृति रह जायेगी।

अन्त में, स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' द्वारा रचित 'वेदालोक' ग्रथ से 'एकवृष' और 'एकनीड' नामक अथर्ववेद और यजुर्वेद में आये शब्दो पर अर्थटीका से यह लेख समाप्त करना चाहता हूँ।

(१) अथर्ववेद (६-८६-२) में आता है

समुद्र ईशे स्रवतामग्नि पृथिव्यावशी।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीश त्वमेकवृषोभव।

(चौथे चरण में 'एक वृष' पर टीका) "मानव ! तू भी अद्वितीय वृष्टिकर्ता बन' एकवृष बन और बरस। तू ऐसा अद्वितीय वृष बन कि समुद्र, सूर्य और चन्द्रमा तेरे सामने शर्मा जाएँ। ज्ञान-विज्ञान और विद्या मे युक्त, तथा आत्मज्योति और ब्रह्मदीप्ति से सुयुक्त होकर, तू ज्योति और प्रकाश की सुवृष्टि कर, तू सारी पृथिवी का वशयिता और पृथिवीभर के मानवमण्डल का हृदय सम्राट बन जायेगा। राजाओ और सम्राटो के मुकुट तेरे चरणो का चुम्बन करेंगे।

शीतल, शीत और पावन अन्त चन्द्रिका से चन्द्रित होकर, तू ससार में शीतलता, शान्ति और प्रसन्नता की दिव्य वृष्टि कर/नक्षत्रशिरोमणि बनकर, तू विश्वगगन में जगमगायेगा। तू समस्त भूमि का अधीश और सम्पूर्ण प्रजा का ईश बन जायेगा।

अत तू अद्वितीय आनन्दघन बन।"

(२) वेनस्तत् पश्यन् निहित गुहा सद् यत्र विश्व भवत्येकनीडम।
तस्मिन्निद स च वि चैति सर्व स ओत प्रोतश्च विभू प्रजासु।

(यजुर्वेद ३२ ८)

('एकनीडम्' पर टीका)—"एकनीड शब्द का प्रयोग यहा एकाकारिता के अर्थ में हुआ है। यह ब्रह्माण्डगुहा उस सत्स्वरूप में एकाकार हो रही है। वह गुहा से पृथक नहीं है, और गुहा उससे पृथक् नहीं है। यह सब, यह अखिल ब्रह्माण्ड, यह समष्टि, सृष्टि, यह समस्त अस्तित्व उसम, उसी में, तत् सत् मे सगमन कर रहा है, और सयोग को प्राप्त हो रहा है और वियोग को प्राप्त हो रही है।

परमाणुओ और तत्वो के सयोग से लोक लोकातरो की रचना होती है, और परमाणुओ अथवा तत्वो के वियोग से लोक लोकातर—प्रलय अवस्था को प्राप्त होते है। तत् सत् में ही, सयोगक्रम से, ये अनन्त सृष्टियाँ समृष्ट हो रही हैं, और उसी में ये प्रलय को प्राप्त हो रही है।"

ध्यातव्य है कि यह गुहा जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है वह प्लेटो के 'संवादों' के अंत में आती है, और पुनर्जन्म की प्रतिच्छाया उस यूनानी दार्शनिक को दिखाती है। यूनान के भारतीय राजदूत वटेकमन ने "प्लेटो और उपनिषद" में यह बात लिखी है।

हम इस सब चर्चा से पुनः उस सामाजिक सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक दार्शनिक, सृजनात्मक अध्यात्मवैज्ञानिक एकात्मता की ओर बढ़ें। वही हमें विभक्ति में संयुक्तता की ओर ले जायगा। ●

प्रज्ञा प्रदीप

धर्म

दर्शन
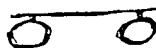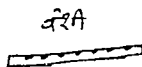
संस्कृति

राष्ट्रीय एकता

धर्म

'भारतीय इतिहास-चिन्तन के मौलिक सूत्र'

(महाकाव्यो के माध्यम से)

प्रो० कुबेर नाथ राय

(१)

इतिहास का प्रारम्भ उसी बिन्दु से होता है जहाँ पर मनुष्य अपनी भूमिका लेकर उपस्थित होता है। संहिताओ मे अन्दर मनुष्य उपस्थित है अवश्य, परन्तु उसकी भूमिका गौण है और मन्त्रो मे देवता की विभूति का एक अग मात्र वह है। उसकी सक्रिय भूमिका ब्राह्मणआरण्यक युग की नाराशसी गाथाओ से प्रारम्भ होती है और उन्ही गाथाओ का विकसित रूप है महाकाव्य। वस्तुत मनुष्य की सक्रिय भूमिका का सुचिन्तित रूप से प्रतिपादन महाकाव्यो से होता है। अत भारतीय इतिहास दृष्टि और इतिहास-चिन्ता का प्रस्थान बिन्दु महाकाव्यो से अर्थात राम-कथा और कृष्ण-कथा से ही मानना समीचीन है। इन्द्र वरुण आदि मिथकीय देवताओ को भारतीय इतिहास का अग अप्रत्यक्ष रूप से ही माना जा सकता है। परन्तु उन्हें अपौरुषेय दृष्टि से उपस्थित किया गया है और उनके सन्दर्भ मे 'दिव्यता-बोध' और 'विस्मय' को ही प्राधान्य दिया गया है। संहिताओ की इतिहास के सम्बन्ध मे एक ही केन्द्रीय स्थापना है और वह यह कि मनुष्य दिव्य शक्ति का एक अग है और उसका इतिहास दिव्य शक्तियों की ही इच्छाओ का प्रस्फुटन या विस्तार मात्र है। भारतीय महाकाव्यो मे उपस्थित अवतारवाद और लीलातत्व इसी मूल बीज का पल्लवन है। इसी अर्थ म महाकाव्यो को भी 'पचमवेद' की गरिमा प्रदान की गई है। महाकाव्यो की विशिष्टता यह है कि वे 'मनुष्य की, मनुष्य के लिये, मनुष्य द्वारा उपस्थित' गाथाएँ हैं जिनमे संहिता के उक्त मूल बीज का प्रतिपादन स्पष्टतर रूप से मानुषी क्रिया कलापो को आलम्बन और उद्दीपन बनाकर किया गया है। अत भारतीय इतिहास दृष्टि और इतिहास चिन्ता का सम्यक रूप उन्ही से लब्ध होता है। ये दोनो महाकाव्य इतिहास की सक्रान्ति या जोखिम के बिन्दु को उपस्थित करते हैं। राम और कृष्ण दोनो युग सधि के बिन्दु पर उपस्थित होते हैं। रामचन्द्र त्रेता के युगान्त मे अवतरित होते हैं और श्रीकृष्ण द्वापर के। श्रीकृष्ण और महाभारत के पात्रो की ऐतिहासिकता तो अब कमोवेश स्वीकृत हो चुकी है। विष्णु पुराण के अनुसार जनमेजय मगध सम्राट महापदम नन्द से १०५ पीढी पहले हुए थे। अत श्रीकृष्ण महापदमनद से १०८ पीढी पूर्व माने जा सकते हैं। आधुनिक विद्वानो द्वारा निर्धारित समय भी इसी के आसपास जाता है। डॉ० पी० वी० काणे ने त्रेता युग की अवधि निर्धारित की है मात्र बारह सौ साल (५५०० ईसापूव से ४३०० ईसा पूव तक)। श्री देवसहाय त्रिवेद ने 'वेदिक इण्डिया' (प्रकाशक विद्याभवन, बम्बई) मे सकलित अपने प्रबन्ध 'इण्डियन क्रोनोलाजी' रामावतार का समय निर्धारित किया है ४३३२ ई० पू०। रामावतार को ऐतिहासिक मानने का उतना

सबल प्रमाण अभी तक लब्ध नही हो सका है जितना कृष्णावतार के लिये है। परन्तु रामावतार की घटना के सम्बन्ध मे समस्त दक्षिण एशियाव्यापी राष्ट्रनिरपेक्ष, नस्लनिरपेक्ष व्यापक लोक-श्रुति और प्रबल लोक विश्वास भी कम मज़बूत दस्तावेज नही। यही घटना मात्र कल्पित होती तो लोक अनुस्मृति में इतनी गहराई तक जाकर प्रतिष्ठित नही हो पाती। इस काव्याश्रित मिथकीय अलकरण को छांट देने पर सत्य की मजबूत काठी स्पष्ट हो जाती है। मूल घटना पर्याप्त स्वाभाविक है और उस आदिम युग म सवथा सभाव्य है। 'स्वर्णमृग' वाली बात मात्र काव्य है। परन्तु मूल घटना कि मारीच राम को बहकाकर दूर ले गया पर्याप्त स्वाभाविक है। जयन्त प्रसग किसी अन्य लोक कथा का अश है जो बाद मे आकर जुडी है। रामायण की कोई भी घटना ऐसी नही जो उसके काव्यत्व का आवरण हटा देने पर असहज लगे। कुछ लोग तक देते है कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' म 'कृष्णाजु नी' शब्द है परन्तु 'राम' का कही भी उल्लेख नही है। परन्तु 'अष्टाध्यायी' व्याकरण की किताब है। श्री कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण मे 'जवाहरलाल' शब्द अनुपस्थित है, तो इसका अर्थ यह नही कि जवाहरलाल नेहरू पैदा ही नही हुए थे। श्रीयुत काशीनाथ तेलग के अनुसार उसमे 'ऐक्ष्वाकु' (६।१।१७४) 'कैकेयी' (४।१।१७१) 'कौशल्या' (४।१।१७१) तथा 'रावणि' (१।१।५७) शब्द मिलते हैं (देखिये तैलग महोदय की कृति 'Was Ramayan copied from Homer ?' पृष्ठ (४०-४६)। अन्तिम सदर्भ का उल्लेख पतजलि के महाभाष्य मे भी है परन्तु सम्बन्धित वाक्य का अथ अस्पष्ट है और तेलग जैसे विद्वान का भी कथन है 'रावणि' यहा पर 'रावण पुत्र' या 'मेघनाद' हो सकता है परन्तु पूरे उद्धरण का अथ मुझे स्पष्ट नहीं हो पाया।' पाणिनि के सूत्रो से जुडे गणपाठो में तो 'सौमित्र' 'रावण' आदि शब्द भी आते हैं। पाणिनि का व्याकरण ईसापूर्व पचमशती की रचना है और उनका क्षेत्र पश्चिम था। पश्चिम की लोक सस्कृति मे रामकथा का उतना प्राधान्य नही रहा होगा जितनी कृष्णकथा का। अत उसमे महाभारतीय सदभ ही ज्यादा मिलते हैं। वस्तुत रामकथा 'प्राच्य' से जुडी है और 'प्राच्य' मे उपजी और विकसित हुई है। वाल्मीकि 'प्राच्य' सस्कृत के आदि कवि हैं, समूची सस्कृत भाषा के नही। ईसा पूव चौथी शती का 'दशरथ जातक' रामकथा की व्यापकता का प्रमाण है। अन्यथा गौतमबुद्ध के भक्तो को 'राम' को भी बोधिसत्व का अवतार घोषित करने की जरूरत नही पडती। विमलसूरि (प्रथम शती) के समय मे रामायण का धार्मिक कृत्य के रूप मे समूहपाठ चालू था। ईसा से पूव ही यह कथा सभी सम्प्रदायो म व्यापक रूप से प्रचलित हो चुकी थी। अत 'महाभारत' तो परम्परा से इतिहास कहा ही जाता है 'रामायण' भी कोरा 'काव्य नही बल्कि काव्य से अलकृत इतिहास 'काव्येतिहास' है। इसीलिये महाभारत की ही तरह रामायण को भी भारतीय इतिहास-दृष्टि और इतिहास चिन्ता के अध्ययन मे समान महत्व देना चाहिये। स्वय 'महाभारत' ही रामकथा को 'घटित इतिहास' कह कर बार बार विज्ञापित करता है। दोनो की शैली मे भेद है। परन्तु दोनो की इतिहास-दृष्टि और इतिहास चिन्तन के भीतर 'काल' दृष्टिक्रम' (Perspective) एक किस्म का है।

(२)

दृष्टिक्रम चित्रकला का शब्द है जिसके अनुसार दूर की वस्तुएं छोटी और निकट की बडी मालूम होती हैं। यह दृष्टिक्रम चित्रकार के अवस्थान बिन्दु पर निभर करता है जिसके अनुसार विषय

वस्तु की आकृतियाँ चित्रफलक पर निर्धारित होती हैं। चित्रकला का यह दृष्टिक्रम 'देश' (Space) का दृष्टिक्रम है। वैसे ही काव्य, उपन्यास या आख्यान मे एक 'काल' का दृष्टिक्रम होता है और इस दृष्टिक्रम के अनुसार घटनाओ के स्वरूप और आकृति मे विवतन होता है। रचनाकार काल के किस बिन्दु पर खडा है, भूत, भविष्य, वतमान या शाश्वत के किस बिन्दु पर उसकी अवस्थिति है, इस बात पर निर्भर है घटनाओ का सक्लन, चुनाव और सयोजन तथा पात्रो की आकृति और उनका प्रतीकात्मक अथ। रामायण और महाभारत मे आयी घटनाओ की आकृति पद्धति सयोजन तथा उसमे व्यक्त इतिहास का स्वरूप इसी काल-दृष्टि से निर्धारित हुआ है। बिना इस तथ्य को सही सही ग्रहण किए भारतीय चिन्तन मे इतिहास बोध का स्वरूप स्पष्ट नही हो सकता और सब कुछ ऊल जलूल-सा लग सकता है।

वस्तुत भारतीय इतिहास दृष्टि आधुनिक इतिहास दृष्टि से भिन्न रही है। भारतीय इतिहास दृष्टि दार्शनिक स्वभाव की है जबकि आधुनिक इतिहास दृष्टि की प्रकृति वैज्ञानिक है। पहले की पद्धति है समन्वय प्रधान, तो दूसरे की विश्लेषण प्रधान। यही कारण है कि भारतीय इतिहास दृष्टि से प्रस्तुत 'काव्यतिहास' पर आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का आरोपण करने पर अनेक प्रकार की विसगतियाँ पैदा हो जाती हैं। भारतीय इतिहास दृष्टि के अनुसार इतिहास मे काव्य और दर्शन का अनुप्रवेश कोई बेमेल और विसगत तथ्य (anachronism) नही है, बल्कि एक अनिवाय आवश्यकता है। इस बात को ठीक से समझने के लिए भारतीय मनीषा की 'काल' की अवधारणा पर विचार करना होगा। 'काल' की भारतीय अवधारणा भी 'देश' की भारतीय अवधारणा के ही समनुरूप है। देश की भारतीय अवधारणा इस प्रकार है एक अचल कीली 'ध्रुव' पर सारा 'देश' (Space) छत्राकार रक्खा हुआ है। यह 'देश निरन्तर घूम रहा है इसी ध्रुव कीली पर। साथ ही यह ध्रुव-कीली भी निरन्तर, परन्तु अपनी ही जगह पर, गतिमान है। यह अपनी जगह नही छोडती अर्थात वह एक ही साथ अचल और गतिमान दोनो है। अब इसी पैटर्न को 'काल' के सन्दभ मे लागू करें। 'काल' के सदभ मे ध्रुव कील का समानधर्मी है शाश्वत काल का 'शान्तबिन्दु' (ईसाई दर्शन की भाषा मे ('Still Centre')। इसे ही बौद्ध रहस्यवादियो ने 'जगती का शिखर' कहा है। यह काल का शाश्वत चरमबिन्दु ('शांतबिन्दु') भी मुर्दा या जड नही। यह गतिमय है परन्तु अपने 'बिन्दु' (Centre) पर ही। शाश्वत के इस शातबिन्दु को केन्द्र बनाकर चारो ओर वत्ताकार गतिमय काल प्रवाह है जो निरन्तर 'भूत-वर्तमान-भविष्य' की चक्रीय गति मे चालू है और इस प्रवाह के किसी भी बिन्दु को शात होकर बैठने की फुरसत नही। केवल 'शातबिन्दु' अर्थात 'शात केन्द्र' (Still Centre) ही अचल और गतिमान दोनो है। इस प्रकार एक कालचक्र बनता है जिसकी परिधि पर भूत-भविष्य वर्तमान का प्रवाह है और केन्द्र मे शाश्वत का 'शान्त केन्द्र या शान्तबिन्दु। परन्तु इस परिधि पर का प्रत्येक कालबिन्दु भूत वत्तमान-भविष्य के पैटन पर गतिमान होने के साथ-साथ केन्द्र के शाश्वत शान्तबिन्दु से निरन्तर जुडा है और इस शान्त बिन्दु के आकषण से नित्य बँधे होने के कारण ही वह परिधि पर चक्राकार घूम रहा है। इस प्रकार हम देखते है कि जिस प्रकार 'देश' की दुहरी गति है कि सारा विराट देश ध्रुवकीली पर तो अचल है परन्तु कीली के बाहर प्रत्येक बिन्दु पर चलायमान है, वैसे ही काल की गति भी दुहरी है। एक है शाश्वत की अपने शान्तबिन्दु या स्थिर केन्द्र पर की गति। दूसरी है परिधि पर के प्रत्यक्षकाल यानी 'भूत-भविष्य वर्तमान' वाले खण्डकाल की परिधीय गति। प्रथम है महाकाल या कालातीत काल। दूसरी है खण्डकाल या प्रत्यक्षकाल। समय के प्रत्येक बिन्दु पर प्रत्येक क्षण मे यह 'महाकाल' और 'खण्डकाल' जिसे सुभीते के लिए हम मात्र 'काल' ही कहते हैं। दोनो ही साथ साथ विद्यमान हैं क्योकि खण्डकाल (परिधि) का प्रत्येक बिन्दु (क्षण) निरन्तर जुडा हुआ है

महाकाल (शान्त केन्द्र) के महाआकर्षण के अर्धव्यास से। हम महाकाल को 'निरवधिकाल' और खण्डकाल को 'सावधि' काल भी कह सकते हैं। निरवधिकाल कालचक्र का नेमि है तो सावधिकाल उसकी परिधि। परिधि पर का प्रत्येक बिन्दु नेमि के महा आकर्षण में सतत बद्ध है। नेमि से विच्छिन्न होने पर सावधि काल की सृष्टि ही बिखर जायेगी।

जिसे आधुनिक दृष्टि इतिहास कहती है वह सावधिकाल (यानी 'भूत, वर्तमान, भविष्य वाला खण्ड काल) की घटना है। परन्तु यह इतिहास सर्वदा ही महाकाल की नेमि (Still Centre) से जुड़ा है इस बात को दर्शन तो मंजूर करता है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में काल के चौथे आयाम को स्वीकार करते हुए भी इतिहास या मानविकी के कई अन्य क्षेत्रों में इसे स्वीकृत नहीं करती। यह आधुनिक यथार्थवादी वैज्ञानिक दृष्टि की सीमा है। भारतीय इतिहास दृष्टि या आर्ष इतिहास दृष्टि यहीं पर आधुनिक दृष्टि से पृथक् हो जाती है। आधुनिक इतिहास दृष्टि सावधिकाल से ही निबद्ध रहती है और घटनाओं का लेखा भूत-वर्तमान और भविष्य के विभाजन से युक्त सावधिकाल का दस्तावेज के रूप में करती है। वह यह नहीं मानती कि भूत वर्तमान और भविष्य का प्रत्येक 'क्षण' शाश्वत की 'नेमि' से जुड़ा है अत प्रत्येक 'क्षण' में शाश्वतकाल वर्तमान है क्योंकि वर्तमान वह 'क्षण' मात्र वर्तमान का ही ज्ञापक नहीं, शाश्वत का भी ज्ञापन करता है। अत प्रत्येक क्षण के मूल्य का सही आकलन तभी सम्भव है जब उसे वर्तमान के साथ-साथ शाश्वत का भी प्रतिनिधि माना जाय। परन्तु ऐसा करने से वैज्ञानिकता को हानि होती है और दर्शन का अनुप्रवेश होता है, इतिहास और उसका 'मधु' (निचोड़) मिथोलोजी दोनों परस्पर मिश्रित हो जाते हैं क्योंकि इतिहास की शाश्वतधर्मी मुद्राओं का ही रूपान्तर है मिथोलोजी। भारतीय दृष्टि सावधि निरवधि दोनों प्रकार के कालों का तालमेल एकसाथ बैठाकर चलती है। इसलिये उसकी प्रकृति 'दार्शनिक' है 'वैज्ञानिक' नहीं। उसमें मिथिलोजी तथा भूत और भविष्य का परस्पर अनुप्रवेश सर्वथा वैध है, यदि यह अनुप्रवेश कृति के घोषित उद्देश्य के लिये आवश्यक या सहायक हो सके। इस हालत में इतिहास 'ठेठ इतिहास' न होकर 'अलंकृत इतिहास' या 'काव्येतिहास' बन जाता है। भारतीय महाकाव्यों में अभिव्यक्त 'इतिहास' की प्रकृति को समझने के लिये हमें काल के इस द्विधा परन्तु एक ही साथ सक्रिय सावधि-निरवधि रूपों को स्मरण रखना चाहिये। अन्यथा बहुत सी बातें समझ न पाने के कारण फालतू और विसंगत लगेंगी। भारतीयकाल दृष्टि क्रम के अनुसार आज २४ सितम्बर '८७ है। परन्तु इसके भीतर शाश्वतकाल के रूप में सारा अतीत और सारा भविष्य भी मौजूद है। भारतीय दृष्टि प्रत्येक बिन्दु पर प्रत्यक्षकाल को स्वीकारते हुए उसमें शाश्वत का अस्तित्व भी मानती है। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि काल की इस दुहरी गति का बोध जो अनुभव लोक की निचली आधार भूमि में निवास करते हैं जो मात्र 'वास्तव' के तल से जुड़े हैं, वे नहीं पा सकते। काल की इस दुहरी गति का बोध उन्हें होता है जो अनुभव लोक के शिखर पर ध्यानस्थ होकर बैठे हैं। अनुभव लोक का यह ध्यान शिखर ही बौद्धों का 'जगती का शिखर' यानी अस्तित्व का चरम बिंदु' है। काल की परिधि में रहने वाला उस बिंदु का ही बोध प्राप्त कर सकता है जिसमें वह जी रहा है परन्तु काल के शिखर (शाश्वत बिन्दु) पर बैठकर बोध ग्रहण करने वाला ऋषि या कवि समस्त वृत्त प्रवाह को सारे सत्ययुग-त्रेता द्वापर को एक ही बिंदु पर अनुभूत कर लेता है। रामायण और महाभारत के कवियों ने अपने विषय का बोध इसी ध्यान शिखर पर बैठकर कालगत समग्रता के साथ किया है। रामकथा की घटना या कृष्णकथा की घटना एक ही साथ 'ऐतिहासिक' यानी खण्डकाल की घटना है और शाश्वतकालीन ऐतिहासिक अनुभव भी है। कवि, काल के इन दोनों आयामों के भीतर कथा

को रख कर 'मानवीय' और 'दिव्य' का परस्पर पूरक छन्द रचता चलता है। एक चित्र देखिये महाबाहु भीष्म शरशय्या पर लेटे हैं। देहोत्सर्ग की मुद्रा मे हैं। अद्भुत चित्र सामने आता है। सूर्य उत्तरायण में प्रवेश कर रहा है। भीष्म ने प्राण को मन मे, मन को आत्मा मे, आत्मा को परमात्मा मे खीच कर समाहित कर लिया है। वे स्वयं शाश्वतकाल की मनोभूमि मे पहुँच गये और उनका द्रष्टा कवि भी सारे दृश्य को स्वय ध्यान के शिखर पर स्थित करके देख रहा है। सहस्र सहस्र बाणो से विद्ध यातना भोगते हुए पितामह का तेज मलीन नही पडा है और वे उत्तम ब्राह्मणो और ऋषियो से घिरे हुए एक ब्राह्मीश्री से परिमण्डित हैं। उनके चारो ओर जो ऋषिमण्डल उपस्थित हुआ है उसमे सत्ययुग-त्रेता-द्वापर तीनो युगो के ऋषिगण आ गये हैं। न केवल व्यास, जैमिनी, शाण्डिल्य, देवल, पैल आदि बल्कि मार्कण्डेय मुनि के साथ साथ।

> "असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना
> हारीतलोमशाभ्यां च तथाऽऽत्रेयेण धीमता
> बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनि
> सनत्कुमार कपिलो वाल्मीकिस्तुम्बरु कुरु
> मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुमहामुनि
> पिप्पलादोऽथ वायुश्च सवर्त पुलह कच
> काश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्ष पराशर
> मरीचिरगिरा काश्यो गौतमो गालवो महामुनि"
>
> (भीष्मस्तवराज, शान्तिपर्व, अ० ४७/७-११)

श्रद्धा, शम, दम से वेष्टित मनसा वाचा-कर्मणा पुरुष व्याघ्र भीष्म इन सार्वकालिक ब्रह्मर्षिमण्डल से घिरे हुए ऐसे शोभित हो रहे हैं जैसे नक्षत्रमण्डल के बीच चन्द्रमा सुशोभित होता है। शरशय्या का यह महिमा मण्डित दृश्य कवि अपने ध्यान लोक के शिखर से शाश्वत के 'केन्द्र' पर अपने को स्थित करके देख रहा है जहा पर खण्डकाल के सत्ययुग त्रेता-द्वापर के विभाजन अर्थहीन हो जाते हैं और सारे काल महाकाल के अनुभव मे समाहित हो जाते हैं। इनमे से प्रत्येक चरित्र 'ऐतिहासिक' तो है ही साथ साथ शाश्वत भी है। इस विशिष्ट काल दृष्टि का फल होता है कि प्रत्यक्षकाल यानी द्वापर के 'वर्तमान' की ऐतिहासिकता गडबड हो जाती है, घटनाओ के तारतम्य मे विभ्रान्ति सी लगती है, आधुनिक दृष्टिवाली ऐतिहासिकता शुद्ध नही रह पाती और पूरे बोध मे दार्शनिकता और काव्य का अनुप्रवेश हो जाता है। भारतीय काल दृष्टि से यह अनुप्रवेश सही है। परन्तु आधुनिक इतिहास दृष्टि से यह दुष्प्रवेश है और तिथिगत तथा तथ्यगत विभ्रान्ति (anachronism) है।

जहाँ प्रत्येक चरित्र ही 'ऐतिहासिक पुरुष' और 'शाश्वत इकाई' दोनो ही हो, जहाँ वर्तमान के प्रत्येक क्षण मे 'शाश्वत' विद्यमान माना जाय वहाँ पर इतिहास मे काव्य और दर्शन का अनुप्रवेश अनिवार्य हो जाता है। रामायण को लें। इस मे राम अभिधा के स्तर पर ऐतिहासिक पुरुष और एक मनुष्य हैं। लक्षणा के स्तर पर वे 'इन्द्र-उपेन्द्र' के सम्मिलित रूप हैं। लाक्षणिक स्तर पर सारी रामकथा ही 'देवासुरम्'

(देवासुर द्वन्द्व) की ही एक 'काट' है। व्यंजना के स्तर रामकथा महाचैतन्य शक्ति द्वारा जीवन मधु के उद्धार के लिए जडता की तामसी शक्तियो के साथ की गई लडाई है। 'देवासुरम्' कई ऐतिहासिक घटनाओ का निचोड या मधु है। इतिहास का मधु होता है 'मिथ'। अत 'देवासुरम्' एक मिथ है और हद से हद यह 'काव्य' है, इससे अधिक नही। परन्तु चैतन्य द्वारा तमस् से सृष्टि एक 'प्राण-मधु' (या प्राण माधवी) का उद्धार मिथ' नही बल्कि अनेक ऐसे मिथो का 'मधु', एक दार्शनिक 'आइडिया' है। यह दार्शनिक आइडिया कोई घटित इतिहास नही, परन्तु एक शाश्वत 'तथ्य' अवश्य है। इतिहास (सावधिकाल का तथ्य) और दर्शन (निरवधि काल यानी शाश्वत का तथ्य), इन दोनो के बीच की कडी है काव्य का सत्य अर्थात 'मिथ'। मिथ भी मिथ्या कल्पना नही बल्कि अनेक ऐतिहासिक घटनाओ का सारभूत 'चेहरा' है। अथ वे ये तीनो 'पुर' इतिहास-मिथ और दर्शन, एक त्रिपुर रचते हैं, जो भारतीय मनीषा को एक ही बिन्दु या घटना मे दृष्टिगोचर होते हैं और उसकी दृष्टि मे ये तीनो सत्य हैं। पर आज इस पद्धति से घटनाओ पर दृष्टिपात नही किया जाता है। आज की इतिहास दृष्टि जुडी है सावधि काल या खण्डकाल से आज की दृष्टि मे 'वास्तव' या 'सत्य' वही है जो प्रत्यक्षकाल मे सद्यानुभूत हो। अत आज के पाठक को रामायण इतिहास जैसा नही लगता परन्तु आर्ष दृष्टि से, जो अर्थ के तीनों पुरों को एक ही साथ समेटती है, यह शत प्रतिशत इतिहास है। आधुनिक दृष्टि जिसे इतिहास कहती है, वह आर्ष दृष्टि से इतिहास का कच्चा माल' है (यानी अभिधा स्तर का तथ्य है) और 'तैयार माल' का रग रूप तो अथ के तीना पुरो के समाकषण-समायोजन के बाद कुछ और ही होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनो, आधुनिक और आर्ष (भारतीय), दृष्टियो से प्राप्त परिदृश्यो म भेद आ जाता है। शिखर पर खडे होकर जो दृश्य दिखाई देगा वह धरातल पर से लब्ध दृश्य से कुछ भिन्नतर होगा ही। शिखर पर से लब्ध दृश्य 'समग्र' होगा, परन्तु आकृतियाँ और रगो के ब्यौरे स्पष्ट नही होगे। दूसरी ओर धरती पर खडे होकर अवलोकन करने पर जो प्राप्त होगा वह एक टुकडा या पहलू मात्र होगा, खण्ड मात्र होगा, समस्त दृश्य कैसा है, दृश्य के पीछे का दृश्य कैसा है यह सब ज्ञात नही हो पायेगा। परन्तु आकृतियाँ और रग स्पष्टतर होंगे। भारतीय इतिहास दृष्टि ध्यानलोक के शिखर पर, शाश्वत केन्द्र से प्राप्त दृष्टि है और आधुनिक दृष्टि प्रत्यक्ष के धरातल के एक कोण पर से लब्ध है। दोनो दृष्टिया मे कुछ अपूर्णताएँ हैं तो कुछ विशिष्टताएँ भी हैं। एक के समथन मे दूसरी का सम्पूर्ण तिरस्कार करना समीचीन नही।

(३)

काल की अवधारणा के भेद पर आश्रित दृष्टिभेद की हमने चर्चा की। दूसरा भेद है उद्देश्य को लेकर। आर्ष इतिहास का उद्देश्य ही आधुनिक इतिहास से बहुत कुछ भिन्न है। आधुनिक इतिहास घटनाओ का लेखाजोखा प्रस्तुत करता है। परन्तु आर्ष अर्थात् भारतीय इतिहास का उद्देश्य है 'नर' के भीतर 'नरोत्तम' की स्थापना करना। इसमे सारा बोध ही एक दिव्य ऋत चक्र का अग बनाकर उतारा जाता है। इसी से भारतीय इतिहासकार कवि और दार्शनिक दोनो होता है। वैसे तो भारतीय इतिहासकार भी मानता है कि इतिहास का विषय 'जीवपुरुष या 'नर' ही होता है। रामायण-महाभारत या बौद्धो का 'ललित विस्तर' इसी अर्थ मे इतिहास कहे गये हैं। परन्तु तथ्य तो यह है कि मात्र इतिहास नहीं काव्येतिहास है। इसके विपरीत पुराणो मे, देवीभागवत या ब्रह्मपुराणादि मे 'देवलीला' का प्राधान्य है और

'नर' की बात महज हाशिये पर ही आती है। इसी से पुराणों के लिए 'इतिहास' संज्ञा नहीं चलती है, परन्तु महाकाव्यों को इतिहास माना जाता है। यह नारायणी कथा होते हुए भी 'नर' के साथ संयुक्त चलता है और ईश्वर मनुष्य बनकर मनुष्य के साथ खेलता है। साथ ही इसमें ईश्वर का प्रवेश भी सोद्देश्य है। इसका उद्देश्य ही है 'नर' को 'नार' (अप, जल, भावात्मक तरलता) में रूपान्तरित करके उसकी कठिनता, प्रस्तरता (पथरीलापन) और जड़िमा को नष्ट करना और उसे विमलता, तरलता, स्वाद और प्रक्षालन शक्ति से भरपूर करना जिससे वह नारायण का 'अयन' बन सके। दूसरे शब्दों में 'नर' के जीवन में नारायणत्व की स्थापना करना (जिसे चालू भाषा में 'धर्म-संस्थापनार्थाय ' कहा गया है)। इसी उद्देश्य से 'सम्भवामि युगेयुगे' वचन ईश्वर ने मनुष्य को दिया है। यही कारण है भारतीय दृष्टि से इतिहास की परिभाषा इस प्रकार की गयी है

"अर्थ धर्म काम मोक्षाणां उपदेश समन्वित
पूर्ववृत्त कथायुक्त इतिहास प्रचक्ष्यते।"

—'जो पूर्व घटित घटनाओं के वर्णन द्वारा अर्थ धर्म काम मोक्ष की शिक्षा दे वह इतिहास है।' अतः जो घटना या वृत्त इस उद्देश्य के अनुकूल नहीं वह भारतीय दृष्टि से कूड़ाकर्कट है। जिस घटना के माध्यम से पुरुषार्थ का उपदेश सम्भव है वही इतिहास का विषय हो सकता है। शेष को तिरस्कृत कर दिया जाता है। यदि इतिहास केवल नरलीला होती तो सब कुछ को समेटना पड़ता परन्तु इतिहास 'नर' के साथ जुड़े 'नरोत्तम' की लीला है। जिन कथाओं में प्रत्यक्षतः नारायण की अवतार कथा नहीं, वहाँ भी भारतीय लेखक एक दिव्यता का वातावरण रचता है और पुरुषार्थ का उपदेश देता चलता है। 'राजतरंगिणी' जैसे इतिहास ग्रंथ में भी पुरुषार्थ और दिव्यता का बोध प्रविष्ट कराने की चेष्टा देखी जाती है। दूसरे शब्दों में इतिहास लेखन एक 'सृजनात्मक इतिहास (Creative History) है। यह आधुनिक पद्धति पर प्रस्तुत घटनाओं की वैज्ञानिक रिपोर्ट मात्र नहीं। वस्तुतः यह दृष्टिकोण बहुत कुछ आधुनिक मार्क्सवादी इतिहास लेखन के समानान्तर जाता है, परन्तु विलोम दिशा में। मार्क्सवादी इतिहास पद्धति में केन्द्र में रहती है 'राजनीति', तो भारतीय पद्धति में 'धर्म' रहता है। परन्तु दोनों पद्धतियाँ इतिहास को घटनाओं का ब्यौरा मात्र नहीं मानती हैं और घटनाओं का चुनाव एक विशिष्ट उद्देश्य को लेकर करती हैं। मार्क्सवादी चिन्ता इतिहास को मार्क्सवादी मूल्यों के प्रचार का साधन बनाती है तो भारतीय चिन्ता अर्थ-धर्म काम मोक्ष के पुरुषार्थ के उपदेश की।

इस इतिहास चक्र की संचालक शक्ति क्या है? इसका उत्तर मार्क्सवादी देते हैं आर्थिक शक्तियाँ ही इतिहास का संचालन करती हैं। भारतीय जिज्ञासा अधिक गहरे में उतर कर एक भिन्न मौलिक प्रश्न उठाती है कि सृष्टि बनी ही क्यों? सृष्टि के जन्म का उद्देश्य क्या है? मार्क्सवाद एवं उस का गुरु विज्ञान दोनों को ही ज्ञात नहीं कि इस विश्वरचना के पीछे उद्देश्य क्या है। उनकी समझ से यह नितान्त निरुद्देश्य है। वेश्या योनि से उत्पन्न अवाञ्छनीय 'पुत्र' की तरह, अनचाहे और अपने आप। उनके अनुसार पहले जन्मा 'भूत' (Matter), तब 'चेतना' उससे निकली। उद्देश्य की बात तो तब उठती जब इसके जन्म के पूर्व किसी 'चेतना' का अस्तित्व रहता। अतः सृष्टि निरुद्देश्य ही जन्मी है। हो गयी, तो हो गयी बस, और क्या! परन्तु सृष्टि प्रक्रिया इतनी नियमबद्ध है, इसके ऋत चक्र का छन्द पतन कहीं नहीं होता है, तो ऐसी अवस्था में वह निरुद्देश्य हो ही नहीं सकती। जो निरुद्देश्य होता है वह 'गड्डमड्ड' (Chaos) होता है। भारतीय दृष्टि मानती है कि इसकी नियमबद्धता के पीछे कोई सोद्देश्य परिकल्पना है। इसके लिए इसके प्रस्थान बिन्दु पर किसी परम चेतन शक्ति का अस्तित्व अवश्य है। इसी से सृष्टि

की भारतीय कल्पना है 'उर्ध्वमूल अधोशाखा ' अर्थात् इसका मूल शुद्ध चैतन्य है और भौतिक विकार की 'अधोशाखा' बाद मे फूटती है। दूसरी बात यह कि इस सृष्टि के प्रसव का एक उद्देश्य है और वह है 'दिव्य लीला'। यह 'दिव्य लीला' भगवद इच्छा (Divine will) की पूर्ति है। लीला के लिए एक रगमच चाहिए और एक लीला सहचर। रगमच है विश्व और सहचर है 'जीवपुरुष'। नारायण को लीला करनी थी इसलिए सृष्टि जन्मी। अन्यथा इसकी कोई जरूरत नही। **उनको लीला इसलिए करनी थी कि उनकी मूलप्रकृति हैं 'सद्चिद् आनन्द' और आनन्द की उपलब्धि के लिए लीला आवश्यक हुई। अत यह सृष्टि प्रक्रिया ईश्वर की मूल प्रकृति की 'अभिव्यक्ति' है। ईश्वर द्वारा अपने को अभिव्यक्त करना ही इसका चरम लक्ष्य है।** सृष्टि विकास के एक विशेष स्तर पर मनुष्य का जन्म हुआ और मनुष्य के विकास के एक स्तर पर जाकर 'इतिहास' का समारम्भ हुआ। अत **सृष्टि, मनुष्य और इतिहास तीनों ईश्वर की मूलप्रकृति की अभिव्यक्ति हैं।** भारतीय इतिहास-दृष्टि का मौलिक उद्देश्य है इसी तथ्य का प्रतिपादन। इस लीला के नियम कानून को ही 'ऋत चक्र' कहते हैं। ऋत अर्थात् सद। इस 'ऋत-चक्र' मे जब ईश्वर की मूल प्रकृति 'सद' या 'ऋत' का विरोधी रूप 'अनत' का प्रवेश होता है और नर का ही एक रूप 'अनृत' की भूमिका लेकर प्रलुब्ध और बलात्कारकामी हो उठता है तो प्रभु की इच्छा शक्ति (Divine will) हस्तक्षेप करती है और 'नर' के ही दूसरे रूप को 'निमित्त' बनाकर (जिसे हम 'महापुरुष' या 'अवतार' कहते हैं) वह पुन 'ऋत' की स्थापना करता है। यह घटना घटित होती है किसी चरम क्षण (Critical Moment) में। भारतीय इतिहास दृष्टि इसी 'चरम क्षण' को पकडती है और इसकी ही गाथा द्वारा पुन अथधम काम मोक्ष के पुरुषाथ का (यानी 'ऋत' के कायदे कानून का) उपदेश देती है। प्रत्येक ऐसी घटना के बाद इतिहास (यानी 'दिव्यलीला') की विपथगामिनी गति दुरुस्त होकर ऋत पथ पर आ जाती है और सस्कृति सभ्यता का नया पग निक्षेप हो जाता है। इस प्रकार इतिहास चक्र आगे बढता है।

आखिरी बात यह कि जिस तरह देश काल दोनो ही एक अचल कीली पर वृत्ताकार गतिमान हैं, वसे ही इतिहास भी 'सृष्टि स्थिति प्रलय' के बँधे पैटन म घूम रहा है'। 'स्थिति भी चार युगा के बँधे छन्द म घूम रही है। हर एक चक्कर पूरा होने पर दूसरे चक्कर मे ही चार युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) आ जाते हैं। बार बार यही पैटन दुहराया जाता है। ठीक वैसे ही जैसे प्रतिदिन प्रात, मध्याह्न सध्या और रात्रि आते हैं। अथवा, हरएक सवत्सर मे वसन्त से लेकर शिशिर तक षट ऋतुएँ आती हैं। जो कुछ दिवसचक्र या सवत्सरचक्र मे घटित हो रहा है, उसे देखते हुए उसी वृत्तीय पैटर्न को खण्डकाल अथवा इतिहास चक्र पर भी लागू करना समीचीन है। पहले विश्व मे लोकतत्र था। उसका स्वरूप था 'जनजातीय गणतत्र'(tribal democracy)उसे ठेलकर आ गया राजतत्र। राजतत्र जब जराजीण हो गया तो आया १९वीं शती का 'गणतत्र' अर्थात लोकतत्र। पुन लोकतत्र का पतन होने लगा 'व्यक्तिवादी स्वैराचार ('लेसे फेअर') मे। तब पुन राजतत्र आ रहा है अधिनायकवाद की शक्ल मे। राजा और डिक्टेटर मे व्यवहारत अन्तर नही होता है। आज प्राय सभी विचारक स्वीकार करने लगे हैं कि वैज्ञानिक सभ्यता की यानी 'अति सगठनात्मक व्यवस्था' म प्रशासन और योजना (administration & Planning) म १९वी शती वाली व्यक्तिवादी 'डेमोक्रेसी' चल नही सकती। अत किसी न किसी रूप मे केन्द्रीकरण' आवश्यक होगा और एकात्मक शासन का आना अनिवार्य है। परन्तु इस बढते केन्द्रीकरण और एकात्मक व्यवस्था के दोष भी अब स्पष्ट होने लगे हैं और उत्तरकालीन समाज व्यवस्था का सकेत गाधीवादी चिन्तन और सर्वोदय म आ चुका है जिससे केन्द्रीकरण और एकात्मक व्यवस्था मे निहित मनुष्य के 'अवदमन' (Repression) को रोका जा सके। दूसरे शब्दों म 'आधुनिक राजतत्र या भविष्य म समाहार होगा

विकेन्द्रीकृत लोक शक्ति मे जो लोकतन्त्र का नवीनतम सस्करण होगा। इस प्रकार इतिहास का चक्र गतिमान है। इसके वृत्तीय छन्द को स्वीकार करते हुए भी दो बातो का स्मरण रखना आवश्यक है।

(१) इस वर्ष का वसन्त गतवर्ष के वसन्त जैसा ही था और आगामी वर्ष का वसन्त भी वैसा ही होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इस वर्ष के वसन्त और गत वर्ष या आगामी वर्ष के वसन्त मे कुछ फर्क ही नही होगा। सामान्य प्रकृति मे ये दोनो वसन्त एक जैसा होते हुए भी दैनन्दिन प्रकृति मे परस्पर भिन्न होगे। इसी तरह प्रत्येक कल्प का त्रेता (या द्वापर या कोई युग) अन्य कल्पो के त्रेतायुग से सामान्य प्रकृति के अनुरूप होगा। परन्तु अपनी विशिष्ट प्रकृति मे सर्वथा 'नया' त्रेता होगा। प्रत्येक त्रेता अपने मे 'नया' होगा साथ ही पुराने त्रेता की 'पुनरावृत्ति' भी होगा। सास्कृतिक विवर्तन की प्रकृति तो समान होती है साथ ही पात्रो की आकृति प्रकृति, भाषा भूषा सस्कार आदि में भेद होता है।

(२) यदि हमारा, जीवन-काल महज एक घण्टे का होता और हम वसन्त ऋतु में (या किसी अन्य ऋतु में) जन्म लेते तो यह ज्ञान हमारी मानसिक क्षमता के बाहर होता कि यह वसन्त ऋतु चली जायेगी और पुन लम्बे अन्तराल के बाद लौटेगी। उस अवस्था में हमारी धारणा रहती कि सृष्टि में सनातन वसन्त ऋतु ही रहती है और काल की गति 'एक रैखिक' (Rectilinear) है, यानी एक 'रेखा' में चलती है, वृत्तीय नहीं है। बोध के धरातल पर खडे होकर खण्डकाल के 'वर्तमान' या 'भूत' या 'भविष्य' में ही अपने को सीमित कर देखने वाले इतिहासकार को ऐसा ही लगता है। परन्तु ध्यान लोक के शिखर पर, निरवधि काल के शाश्वत केन्द्र पर मन को स्थित करके अवलोकन करने वाली ऋषि दृष्टि के सम्मुख देशकाल का विराट महाप्रवाह स्पष्ट था। वे अपने देश, अपनी शताब्दी या अपनी सहस्राब्दी ही नही, शाश्वत के महा-प्रवाह की लीला को भी एक ही साथ देख रहे थे। अत उन्होंने स्पष्ट देखा कि काल की गति दुहरी है, प्रत्यक्ष और शाश्वत तथा इतिहास चक्र वृत्तीय पथ पर घूमता है। इसी काल प्रवाह के चरम बिन्दुओं (Critical moments) को उन्होंने अपना विषय बनाया और अपने 'इतिहास' (काव्येतिहास) म उन्होंने चालू 'भवति' के वर्तमान के साथ साथ नित्य 'अस्ति' का सामजस्य स्थापित किया तथा 'भवति' (इतिहास) का लेखा जोखा 'अस्ति' (शाश्वत) के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया। अत उनके कृतित्व को ऐतिहासिक 'ऊलजलूल' न घोषित कर उनकी इतिहास दृष्टि को समझने की आवश्यकता है।

(४)

इस भारतीय इतिहास दृष्टि को समझने मे 'ब्रह्मसूत्र' के कुछ सूत्र बडे सहायक हैं। श्रीमदभागवत मे 'परोक्षप्रिया देवा' का उल्लेख है। देवता परोक्ष उपस्थिति, परोक्ष भाषा, परोक्ष नामरूप को इनके प्रत्यक्ष रूप से ज्यादा महत्व देते हैं। इसी से आर्षकाव्यो मे बहुत सी बातें ऐसी हैं जो गोपन हैं, मन्त्रात्मक हैं और जो भाषा के प्रत्यक्ष अर्थ पर नही खुलती हैं, बन्द ही रह जाती हैं। अभिधात्मक अर्थ एक सीमा तक ही वरेण्य है। चरम सीमा तक नही। सारी श्रुतियाँ लक्षणाप्रधान हैं। ब्रह्मसूत्र भी मानता है कि श्रुति 'लक्षणावती' होती है। सूत्र (१/१/२२) से सूत्र (१/१/३१) तक आकाश प्राण, गायत्री, इन्द्र आदि शब्दो के माध्यम से इस बात को स्पष्ट किया गया है। यदि आधिभौतिक प्रसग है तो इन्द्र का अर्थ होता है 'प्राण'। यदि आध्यात्मिक प्रसग है तो इसी इन्द्र का अर्थ होता है ब्रह्म। आधिदैविक प्रसग इन्द्र 'इन्द्र' ही रह जाता है। परन्तु यही इन्द्र प्राण का अधिदेवता है और ब्रह्म का एक रूप भी है। इस प्रकार अर्थ

ये तीन 'पुर' एक ही साथ चलते हैं। पुन यही स्थापना सूत्र (१/२/२३) में 'जठरानल' और 'वैश्वानर' के सम्बन्ध मे है। वैश्वानर का 'एक' अर्थ होता है 'जठरानल'। जिस अग्नि से पाचनक्रिया सम्भव होती है वह है जठरानल। मेघनाद वैश्वानर का उपासक था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह बहुभोजी और पेटू था, क्योंकि 'पेट की अग्नि' की उपासना करता था। यहाँ वैश्वानर से तात्पर्य उस जठरानल से है जो एक सार्वभौम प्रक्रिया (Metabolism) के रूप में पशुपक्षी मानव सब में चालू है, जो प्राणशक्ति का विश्वव्यापी स्रोत है, तथा सृष्टि की पुष्टि और विकास उस महाशक्ति पर निर्भर है। अत यह एक परमात्म शक्ति है और वैश्वानर का इस सन्दर्भ में अर्थ होगा 'परमेश्वर'। जो आधिभौतिक स्तर पर सार्वभौम 'जठरानल' शक्ति है, आधिदैविक स्तर पर वही 'वैश्वानर' है और आध्यात्मिक स्तर पर वही 'परमेश्वर' है। इस तरह आर्षदृष्टि अर्थ में तीनों पुरों पर विचार करती चलती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर हम देखें तो प्रत्येक काव्येतिहास (रामायण या महाभारत) में आर्ष के तीनों पुर साथ साथ विद्यमान हैं। 'रामायण' को लें।

(१) आधिभौतिक (अर्थात् कोरा ऐतिहासिक) स्तर रामकथा
(२) आधिदैविक अर्थात् मिथकीय) स्तर (अवतार कथा और देवासुरम्)
(३) आध्यात्मिक (अर्थात दार्शनिक) स्तर (चैतन्य और जडता का सद् और असद् का द्वन्द्व)

जो लोग रामयण को श्रुति मानते हैं उन्हें अर्थ के तीनों पुरों को स्वीकार करना पड़ता है। स्थूल ऐतिहासिक घटना का अर्थ प्रथम पुर से ही सम्बन्ध है और उनके लिए इसका कोई विशेष महत्व नहीं।

'ब्रह्मसूत्र' में ही एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है। श्रुतियाँ कभी कभी परस्पर विरोधी बातें या पूर्वापर क्रम से रहित बातें करती हैं। सृष्टि की उत्पत्ति कहीं असत और तम से कही गयी है, तो कहीं सत से, तो कहीं कुछ और से। ऐसी अवस्था में सत्य की जानकारी कैसे हो? इसके उत्तर में कहा गया है " समाकर्षात" (१/४/१४) अर्थात् सूत्रों और सिद्धान्तों को आगे पीछे खींचकर उन्हें एक दूसरे के समनुरूप खपाते हुए, 'सम्पूर्ण' के भीतर इन श्रुति खण्डों को रखकर, उसके परिवेश में सही अर्थ का आविष्कार किया जाता है। अभिधार्थ के दिये हुए क्रम से यह सही अर्थ पाना सम्भव ही नहीं है। पहले का चिन्तन और बिम्ब, फिर बाद का चिन्तन और बिम्ब दोनों को साथ साथ परस्पर समाकर्षित और समायोजित करने पर ही अर्थ खुलता है। कोरे अभिधात्मक या पूर्वापर सम्बन्ध के ऐतिहासिक क्रम द्वारा श्रुतियों का सही मर्म उपलब्ध होना कठिन है। आर्ष महाकाव्यों में ऐतिहासिकता को अर्थ के उपर्युक्त तीनों पुरों के परस्पर समाकर्षण और समायोजन द्वारा एक बिन्दु पर स्थापित करके उसके विशिष्ट स्वरूप का निरूपण हुआ है और ऐसी ऐतिहासिकता के आकलन और मूल्यांकन में इस सिद्धान्त को स्मरण रखना जरूरी है। कोरी सतही अभिधात्मक ऐतिहासिकता के आधार पर इनका मूल्यांकन तो हो ही नहीं सकता इनके स्वरूप और तात्पर्य के सम्बन्ध में भी कुछ भ्रान्तियाँ हो सकती हैं। डॉ० साकलिया और कोशाम्बी जैसे विद्वान इसी भ्रान्ति के शिकार हुए हैं। जिस कृति में अर्थ के तीनों पुरों का समाकर्षण करके उन्हें एक बिन्दु पर नियोजित किया गया हो, जिस कृति के अन्दर काल समायोजन, प्रत्यक्ष (सावधि) काल और शाश्वत (निरवधि) काल दोनों के परस्पर समाकर्षण द्वारा प्रस्तुत किया गया हो, उस कृति को कोरी अभिधात्मक, भौतिक ऐतिहासिकता के आधार पर कसना कहाँ तक न्याय संगत है?

भारतीय महाकाव्य और पुराण कोरे अभिधात्मक इतिहास को नहीं बल्कि इतिहास से बूँद-बूँद निचोड़े गये शाश्वत मर्म के 'मधु' को प्रस्तुत करते हैं। वस्तुत भारतीय और आधुनिक दृष्टियों में

'यथार्थ' और 'वास्तव' की परिभाषाएँ ही परस्पर विलोम है। 'वास्तव' या 'यथार्थ' तो नया शब्द है। विदेशी चिन्ता से उधार लिया गया शब्द है। जो 'है' उसके लिये भारतीय शब्द है 'सद'। भारतीय दृष्टि से जो नित्य है जो शाश्वत है वही 'है' और वही 'सद' है। वही भारतीय दृष्टि से यथार्थ और वास्तविक है। जो निरन्तर परिवर्तनशील मत्य और विनाशशील माया जगत है वह है 'असद'। अर्थात भारतीय दृष्टि से वह अ यथार्थ है। परन्तु आधुनिक दृष्टि से यही मत्य विनाशशील, परिवर्तनशील माया जगत 'वास्तव' और 'यथार्थ' है और भारतीय दृष्टि द्वारा घोषित 'सद' काल्पनिक 'आइडिया' मात्र है। अत दोनो दृष्टियो मे अस्तित्वबोध की आवृत्तियाँ परस्पर विलोम हैं, फलत इतिहास दृष्टियाँ भी परस्पर विलोम हैं। भारतीय दृष्टि से इतिहास 'स्मृति' का अग है अवश्य। परन्तु स्मृति सवदा 'श्रुति' की ही अनुगामिनी मानी गयी है। जो तथ्य श्रुति से अर्थात् शाश्वत और सावभौम से जुडा नही है उसे भारतीय दृष्टि छोट देती है। वह सब कुछ का ब्यौरा देने के फेर मे नही पडती, बल्कि उस सब कुछ के भीतर निहित 'सावभौम' और 'शाश्वत' सत्य को ही पकडती है। बाकी से उसका कोई मतलब नही। भारतीय इतिहासकार कालपुरुष का 'रिकाड कीपर' या समय देवता का मुशी नही। वह काल के भीतर शाश्वत की धडकती नाडी को ही पकडता है। यही कारण है कि भारतीय इतिहास को इतिहास नही 'काव्यतिहास' है। भारतीय मनीषा की सिसृक्षा घटना के पूर 'गुम्फ' या बाह्य अस्तित्व (Existence) से नही, बल्कि उस घटना की 'मूलप्रकृति' (Essence) स जुडी रहती है। उसकी यह निजी विशिष्टता है और उसके सदभ मे सवदा इस तथ्य को स्मरण रखना आवश्यक है। ●

धर्म—अध्यात्म की मानववादी अन्तः प्रकृति

डा० एन० के० देवराज

संस्कृत वाङमय मे 'धम' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे हुआ है, जिनमे दो मुख्य हैं। धमशास्त्रो मे 'धम' शब्द का प्रयोग प्राय नैतिकता या नैतिक आचरण के लिए किया गया है, यह आचरण जहा एक ओर सामाजिक जीवन से सम्बन्धित है, वहा दूसरी ओर उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन की शुचिता और साधुता से भी माना गया है। अपने देश मे मोक्ष साधना को अध्यात्म अथवा आध्यात्मिक जीवन स जोडा गया है, यह जीवन या साधना मुक्ति, निर्वाण आदि पदो से सकेतित चरम परिणति या लक्ष्य की ओर ले जानेवाली समझी गयी है। आध्यात्मिक खोज और उसे अनुप्राणित करने वाली दार्शनिक दृष्टि या बोध के स्रोत समझे जाने के कारण, ज्ञानी गुरुओ एव श्रुतिग्रन्थो को मान्यता दी गयी है। इस देश मे अनेक धार्मिक सम्प्रदायो का उदय और विकास हुआ जिसमे अलग-अलग श्रुति ग्रन्थ अथवा सवज्ञ गुरु स्वीकार किये गये। उदाहरण के लिए हिन्दू धम जहाँ वेदो, उपनिषदो और भगवदगीता को विशेष मान्यता देता है वहा जैन और बौद्ध धर्मों के अनुयायी क्रमश भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के उपदेशो को, आधुनिक काल मे श्री रामकृष्ण परमहस के अनुयायी उन्हे सवज्ञ अवतार पुरुष के रूप म मान्यता देते हैं।

यहा की परम्परा से भिन्न पश्चिमी धर्मो के इतिहास मे, और इसलाम मे भी धर्म का शब्द का अथ प्राय किसी महान शिक्षक द्वारा प्रवर्तित विश्वास पद्धति एव उसम निहित उपदेश समझ जाते है। इस दृष्टि से हजरत मूसा, महात्मा ईसा और पैगम्बर मोहम्मद क्रमश यहूदी, ईसाई और इसलाम धर्मों के प्रवतक हैं। इन धर्मों मे विश्वास पद्धति पर विशेष वल दिया जाता है, और मोक्ष साधना मे सलग्न आध्यात्मिक जीवन की अलग कल्पना प्राय नहीं है। ईसाई लोग ईसा की मध्यस्थता से भगवान तक पहुँचने मे आस्था रखते हैं, ईसाई धम म ईसा की ईश्वर - पुत्र के रूप मे स्वीकृति सब प्रकार के अनुयायियो और साधनो के लिए जरूरी समझी जाती है। वसे ही इसलाम और यहूदी धर्मों मे भी ईश्वर के दूतो और उनके द्वारा प्राप्त या लाये गये धर्म ग्रन्थो मे आस्था अत्यावश्यक समझी जाती है। उदाहरण के लिए ईसाइयो के एक शिक्षक काल्विन ने कहा, कि बाइबिल और ईसा मे विश्वास सत्कर्मो से भी अधिक महत्वपूर्ण है। यही नही, उसके अनुसार उक्त विश्वासो के बिना अच्छे कर्मो का आचरण भी सम्भव नही है।

जिसे हम मानववादी नैतिक विचारात्मक दृष्टि कहते है उसका उदय यूरोपीय इतिहासके पुनर्जागरण - युग (रेनेसा) में हुआ। उसके कुछ ही वाद, सत्रहवी शताब्दी में, विज्ञान की विशेष प्रगति हुयी जिसका आरम्भ कोपरनिकस (१४७३-१५४३) के इस क्रान्तिकारी खगोलशास्त्रीय सिद्धान्त से हुआ कि सूर्य धरती की परिक्रमा नही करता, वरन् धरती सूय की परिक्रमा करती है। यह सिद्धान्त ईसाई चच की स्वीकृत मान्यताओ का विरोधी था। इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलिओ (१५६४ १६४२)

को कोपरनिकस का समर्थन करने के कारण जीवन के अंतिम दस वर्ष जेल में बिताने पड़े। स्वयं गैलिलियो ने गति सम्बन्धी अनेक नियमों का अन्वेषण किया और भौतिक शास्त्र की नींव भी डाली, उसने और प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक डेकार्ट या देकार्त (१५९६-१६५०) ने विज्ञान के (और दर्शन के भी) क्षेत्र में यन्त्रवाद का प्रचार किया जिसके अनुसार बाह्य जगत और मानवदेह के अन्तर्गत सारी गतियां तथा परिवर्तन भूत तत्व के यान्त्रिक नियमों के अनुसार घटित होते हैं। इस मतव्य का एक निष्कर्ष यह था कि आत्मा नाम की किसी चेतन सत्ता को मानना जरूरी नहीं है—ऐसी आत्मा को जो शरीर की क्रियाओं का नियमन करती है। अठारहवीं शती यूरोप के सांस्कृतिक इतिहास में बुद्धिवाद की शताब्दी कही जाती है। धर्मग्रन्थों की मान्यता का एक आधार यह है कि वे हम कर्तव्याकर्तव्य, धर्म-अधर्म की जानकारी देते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रसिद्ध यूनानी विचारकों, सुकरात, अफलातून या प्लेटो तथा *अरस्तू के पास धर्मग्रन्थ नहीं थे फिर भी उन्होंने नैतिकता के क्षेत्र में उच्च कोटि का चिन्तन किया है* और उच्चतम नैतिक सिद्धान्त व विचार दिये हैं। इस स्थिति पर प्राचीन ईसाई शिक्षकों को भी आश्चर्य था। ज्ञातव्य है कि हमारे देश में भी मीमांसक आदि विचारक धर्म का मूल वेदों में देखते थे, उनके और मनु आदि स्मृतियों और धर्म शास्त्रों के आचार्यों के अनुसार धर्म-अधर्म का ज्ञान वेदों से ही हो सकता है। इसके विपरीत अठारहवीं शती के प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इम्मेनुअल कान्ट (१७२४-१८०४) ने प्रतिपादित किया कि धर्म-अधर्म, अथवा नैतिक अनैतिक के ज्ञान का स्रोत मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि अथवा कृत्य-बुद्धि (प्रैक्टिकल रीजन) है। तथाकथित धर्म के इतिहास को देखते हुए यह सिद्धान्त बड़ा ही क्रान्तिकारी था। इस सिद्धान्त के आलोक में धर्मज्ञान के स्रोत के रूप में ईश्वरीय ग्रन्थों की उपयोगिता खत्म हो जाती है। कान्ट एक बड़ा विज्ञानवेत्ता भी था। उसने यह भी प्रतिपादित किया कि तर्क द्वारा ईश्वर की सिद्धि सम्भव नहीं है।

ईश्वर का दूसरा और ज्यादा महत्वपूर्ण कार्य यह समझा जाता है कि उसने भौतिक विश्व और जीव जगत की सृष्टि की। निरन्तर प्रगति करता हुआ भौतिक विज्ञान यह सिद्ध करता जान पड़ता था कि दृढ़ नियमों द्वारा अनुशासित भूत जगत के गति परिचलना में कोई शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। उन्नीसवीं शती के मध्य में प्रसिद्ध जीवन शास्त्री चार्ल्स डार्विन १८०९-१८८२) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'जीवन योनियों की उत्पत्ति' (ओरिजिन आफ स्पीशज) प्रकाशित की जिससे* बाइबिल की इस मान्यता का खण्डन किया कि प्रारम्भ में भगवान ने प्रत्येक जीवन वर्ग का एक जोड़ा पैदा किया। इसके विपरीत डार्विन ने प्रतिपादित किया कि शुरू में किसी तरह जीवन का आरम्भ हो जाने के बाद तरह तरह की जीवयोनियां भौतिक परिवेश के आघातों और जीवों के परस्पर संघर्ष (दोनों सम्मिलित रूप 'अस्तित्व के लिए संघर्ष') द्वारा विकसित होती गयीं। इस सिद्धान्त ने ईसाई धर्म के समर्थकों के बीच भयंकर खलबली पैदा कर दी। कोपरनिकस के सिद्धान्त के बाद यह धार्मिक विश्वासों पर दूसरा बड़ा प्रहार था। तीसरा प्रहार या चुनौती-जैसा कि हमने संकेत किया—अठारहवीं शती के बुद्धिवाद से मिली थी।

हमने कहा कि ईसाई धर्म, जो पश्चिम का प्रचलित धर्म रहा है, ईश्वर परलोक आदि से सम्बद्ध विश्वासों को विशेष महत्व देता है, यूरोप में धार्मिक विचारों की विविधता भी नहीं रही है। वहाँ धर्म को दूर तक पवित्र ग्रन्थों के उपदेशों में निहित विश्वासों से समीकृत किया जाता रहा है। फलत विज्ञानों की प्रगति ने ईसाई धर्म की स्थिति को बड़ा डावांडोल कर दिया है।

ध्यातव्य है कि हमारे देश में धार्मिक विचारों और अध्यात्म साधना सम्बन्धी विचारों में भी अनेकात्मकता एवं विविधता रही है। हमारे दो प्राचीन धर्म अर्थात जैन धर्म और बौद्ध धर्म, सृष्टि-

कर्त्ता ईश्वर को स्वीकार नही करते, बौद्ध धर्म नित्य, स्थिर आत्मा या जीवात्मा को भी नही मानता। हिंदुओ का सांख्य दर्शन और मीमासा-दर्शन भी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार नही करते। योगशास्त्र का ईश्वर भी सृष्टिकर्त्ता नही है—वह केवल ध्यान का विषय और समाधि की प्राप्ति करानेवाला है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उक्त धर्म और दर्शन निरीश्वरवादी होते हुए भी आध्यात्मिक जीवन और मोक्ष या निर्वाण म आस्था रखते हैं। प्राय ये सभी जीवन्मुक्ति को भी स्वीकार करते हैं। हिंदुओ का दूसरा महत्वपूर्ण, विशुद्ध रूप मे उपनिषदो पर आधारित दर्शन अद्वैत वेदात है जो आत्मा और परमात्मा की एकता का समर्थन करता है। चूँकि उक्त वेदात जगत को माया की सृष्टि मानता है, वह ईश्वर के सृष्टि कतव्य को खास महत्व नही देता। शकराचार्य [और रामानुज भी] काट की भाति यह मानते हैं कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सिद्धि प्रमाणो द्वारा सभव नहीं।

जैसा कि हमने सकेत किया, अपने देश मे आध्यात्मिक जीवन के लिए ईश्वर का अस्तित्व उतना जरूरी नही समझा गया जितना कि पश्चिमी देशो मे, फलत वहा के मानववादियो का मुख्य सरोकार ईश्वर का खण्डन अथवा निरीश्वरवाद पर गौरव रहा है। किन्तु ईश्वर की सत्ता मे सदेह होने का अर्थ यह नही कि मनुष्य द्वारा देवत्व अथवा देवभाव की प्राप्ति की सभावना से इनकार किया जाए। स्मरणीय है कि भगवदगीता के सोलहवें अध्याय मे दैवी सम्पत और आसुरी सम्पत् का वर्णन है, वहाँ यह सकेतित है कि मुक्ति-कामी साधक को दैवी सम्पत के अन्तगत वर्णित शील तथा गुणो का सम्पादन करना चाहिए। हमारे देश की दृष्टि से अध्यात्म का सफल निषेध तब होगा जब हम इस सभावना से इनकार कर दें कि मनुष्य, ईश्वर की निरपेक्षता म स्वय अपने प्रयत्न से दैवी स्थिति (डिविनिटी) को प्राप्त कर सकता है। प्रस्तुत लेखक की हाल ही म प्रकाशित अग्रेजी पुस्तक 'भारतीय चितन मे मानववाद (Humanism in Indian Thought) के प्राक्कथन मे डा० इलियट डवाइच ने अमरीकी मानववादियो का हवाला देते हुए लिखा है कि व अध्यात्म धम का विरोध करते हुए एसा व्यवहार करते है मानो उक्त धम को स्वीकार करने वाले जनो के पक्ष मे कोई दम ही न हो—जैसे उस धम का प्रत्याख्यान करने के लिए ईश्वर का खण्डन कर देना पर्याप्त हो।

ईश्वर की चर्चा छोडते हुए, हम कुछ देर को विज्ञान पर ध्यान केंद्रित करें। मुख्य बात यह है कि विज्ञान का क्षेत्र प्रकृति जगत और उससे सम्बधित तथ्य हैं, मानवीय मूल्यो का ससार उसका विषय नही है। वह मानवीय मूल्यो के बारे मे कोई भी प्रामाणिक कथन नही कर सकता। यह तो जाहिर ही है कि नैतिक मूल्यो के आधार के बिना सभ्य सामाजिक जीवन सभव नही है। हमारा विश्वास है कि जिसे आध्यात्मिक खोज या अध्यात्म धर्म कहते हैं, उसके बिना भी वस्तुत सुखी, समृद्ध एव सतोषप्रद जीवन सम्भव नही है। जिसे पश्चिम मे 'रिलीजन' कहा जाता है उसकी दो मुख्य अवधारणाएँ हैं। प्रचलित अवधारणा यह है कि धार्मिक व्यक्ति ईश्वर, परलोक आदि म आस्था रखता है और जीवन यापन के लिये ईश्वर तथा देवताओ की स्तुति, भेंट आदि के द्वारा प्रसन्न करके वाछित वस्तुएँ पाता है।

प्रसिद्ध नर विज्ञानी जेम्स फ्रेजर न धम की कुछ ऐसी ही परिभाषा की है, उसके अनुसार, धम का अर्थ है मनुष्य से ऊँची शक्ति या शक्तियों का तुष्टिकरण या पूजा, ऐसी शक्तियो की जिन्हें प्रकृति और मानव जीवन की नियामक शक्ति समझा जाता है। [देखिए 'दि गोल्डन बाउ', सक्षिप्त सस्करण, १९६०, पृ० ५०] कहना नहीं होगा कि इस प्रकार की पूजा प्रार्थना प्राय स्वार्थवश किसी सासारिक वस्तु की अभिलाषा से की जाती है। कुछ प्राचीन जातियाँ ऐसी प्राप्ति के लिए भूत प्रेत जादू-टोना

आदि का आश्रय भी लेती थी। कहा जाता है कि वर्तमान युग मे जीवन-संघर्ष को मृदुल बनाने और आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन के लिए वैज्ञानिक तकनीक का अवलम्ब लिया जाता है, जादू-टोना का नहीं। किन्तु धर्म की उक्त परिभाषा धर्म को भी जीवन यापन एवं जीवन संघर्ष का उपकरण बना देती है। धर्म की यह परिभाषा उसके उन उच्चतर रूपो की व्याख्या नही कर पाती जो विश्व के महत् पुरुषो के जीवन मे प्रतिफलित होता है। हमारे देश मे अध्यात्म धर्म अथवा आध्यात्मिक साधना का आदर्श वीतराग संत रहे हैं, यह वक्तव्य जैन, बौद्ध, सांख्य आदि निरीश्वरवादी सम्प्रदायो और दर्शनो पर समान रूप से लागू होता है। धर्म सम्बन्धी फ्रेजर की अवधारणा केवल पश्चिम के धर्मों के प्रत्यालोचन द्वारा बनायी गई थी। यह जरूरी नही कि वह अपने देश के धर्म अध्यात्म की परंपरा को ठीक से समझा सके। तात्पर्य यह कि धर्म का एक साधारण और अपेक्षाकृत निम्न रूप है और दूसरा उच्चतर एवं असाधारण। अपने देश मे धर्म के उक्त दोनो रूप पाये जाते हैं, किन्तु आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में प्रायः उसके उच्चतर रूप पर गौरव दिया गया है।

यहाँ एक और बात ध्यातव्य है। भारत मे धर्म और दर्शन के बीच खाई नही खोदी गई। पश्चिमी विचारक प्रायः कहते पाये जाते हैं और यह बात इसलामी देशो, मिस्र आदि मे भी प्रचलित है कि जहाँ दर्शन तर्क का विषय है वहाँ धर्म विशुद्ध श्रद्धा की चीज है। किन्तु स्वयं हमारे देश में धर्म और दर्शन प्रायः साथ साथ चले, विशेषतः मोक्ष धर्म (या अध्यात्म धर्म) और दर्शन। हमारे उपनिषद् श्रुति अर्थात धर्म-ग्रंथ भी माने जाते हैं और विभिन्न हिन्दू दर्शनो के स्रोतभूत भी। हमारे दर्शनों की यह सामान्य मान्यता है कि जीवन का उद्देश्य दुःख निवृत्ति अथवा मोक्ष है। सांख्य दर्शन और बौद्ध धर्म समान रूप से सांसारिक जीवन को दुःखमय मानते हैं, न्यायदर्शन भी विविध दुःखों से छुटकारे को अपवर्ग या मोक्ष कहता है। प्रश्न है, इस दुःखवाद का वास्तविक रूप और रहस्य क्या है? सांख्य दर्शन में कहा गया है कि लोक में जो दुःखो का उपचार होता है वह अल्पकालिक होता है, सर्वकालिक नहीं। इसलिए दुःख निवृत्ति का आध्यात्मिक उपाय अपेक्षित है। यह भी स्मरणीय है कि हमारे यहाँ मोक्ष का अर्थ संसार निवृत्ति अर्थात् जन्म मरण से छुटकारा या उक्त स्थिति का अतिक्रमण (Transcendence) समझा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि दुनिया—संसार में जीवन यापन की क्रिया अपने में संघर्ष-परक अतएव दुःखमय, जान पड़ती है। यहाँ तरह-तरह के संघर्ष हैं जीविका के लिये, रोग शोक के लिए सामाजिक मान्यता के लिए। जीवन का लक्ष्य पुनर्जन्म से छुटकारा है, इसमें सन्देह किया जा सकता है क्योंकि पुनर्जन्म का सिद्धान्त अपने में अनिश्चित है। द्रष्टव्य है कि ईसाई धर्म और इसलाम हिन्दू धर्म जैसा पुनर्जन्म नहीं मानते। तब प्रश्न उठता है कि दूसरे जन्म की चिंता न करते हुए इसी जन्म मे यहीं के जीवन मे संघर्ष परक कष्टो से कैसे मुक्ति पाई जाए?

उक्त प्रश्न या प्रश्नो का मानववाद के अनुसार क्या उत्तर होगा, आगे हम इसी पर विचार करेंगे। मानववाद की मुख्य मान्यता और सिफारिश यह है कि हमे परलोक की और मनुष्येतर चेतन शक्तियो की कल्पना न करके अपना ध्यान यहीं इहलोक के जीवन पर केन्द्रित करना चाहिए। मानववादी यह भी मानकर चलता है कि हमारे कष्टो का उपचार स्वयं हमारे प्रयत्नो से होगा, किन्हीं देवताओं के अनुग्रह से नहीं। तीसरी मुख्य बात जो मानववादी मानता है, या उसे माननी चाहिए, वह यह है कि नैतिकता एवं आध्यात्मिक पिपासा आदि का स्रोत—समस्त सौन्दर्यबोध एवं तर्कात्मक बोध की भाँति- स्वयं मनुष्य में, उसके मन चित्त मे है और मानना चाहिए। नैतिक अनैतिक का बोध अन्ततः हमारी अन्त-रात्मा की प्रतीतियों मे निहित रहता है, उसे पाने के लिए धर्म ग्रंथो का आश्रय लेना आवश्यक नही है।

दुनिया का कोई भी धम ग्रन्थ कृत्रिम ढग से हमारी चेतना पर धर्म अधम अथवा नतिक अनैतिक का प्रभेद आरोपित नही कर सकता। मानना चाहिए कि भले-बुरे का भेद देखना और करना हमारी मानव प्रकृति का अग है। वैसे ही कोई भी धर्म ग्रथ हमारे मन चित्त और चेतना पर अध्यात्म धर्म, अर्थात पूर्णत्व की जिज्ञासा और आकाक्षा का आरोप नही कर सकता, आरोपित वृत्ति, कृत्रिम होने के कारण, हमारे जीवन की वास्तविक प्रेरणा नही बन सकती। प्रसिद्ध दाशनिक शकराचाय ने अपने 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' मे इसीलिये यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष आत्मा का निजी स्वरूप है—वह किसी भी अथ मे आरोपित नही है। वे कहते हैं यदि मोक्ष आत्मा का स्वभाव नही है, तो वह नित्य या शाश्वत उपलब्धि नही बन सकती। प्रत्येक वस्तु का निजी स्वभाव ही सदैव उसके साथ रहता है। चूकि उपनिषद मुक्तावस्था को नित्य कथित करते ह, इसीलिए मानना चाहिये कि मुक्ति या मोक्ष आत्मा का निजी स्वभाव है, और इस प्रकार वह हमारे अस्तित्व मे अन्तर्निहित है। अज्ञान का आवरण हटने पर आत्मा का शुद्ध-बुद्ध-मुक्त रूप स्वत प्रकाशित हो जाता है। वेदान्त मे आत्मा या आत्म चैतन्य के दो रूप माने गये हैं, उसका वास्तविक रूप साक्षि चैतन्य है, जब साक्षी अन्त करण की वृत्तिया के माध्यम से बाह्य जगत, इन्द्रियो आदि से सम्पक करता है, तब वह सुख-दु ख, मान अपमान आदि द्वन्द्वा का अनुभव करता है। इस प्रकार द्वन्द्व-ग्रस्त होना ही ब धन है। मूलत ऐसा ही मत साख्य दशन का भी है। जगत सम्बन्धी समस्त अनुभव सुख दु ख, रूप-रस ग्रथ आदि का अनुभव ये सब बुद्धि की अवस्थाएँ होते हैं जो पुरुष चैत य के सम्पक से जीव त्त अनुभव बन जाते हैं। पुरुष की मुक्ति का अथ है उसमे यह बोध उचित हो जाना कि वह बुद्धि वृत्तियो से (जो प्रकृति का विकार है) भिन्न है। इस बोध को विवेकज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार अद्वैत वेदात के अनुसार अनात्मा अर्थात अन्त करण, बुद्धि, मन, शरीर आदि म आत्मा का अध्यास और आत्मा मे शरीर तथा इन्द्रियो के सुख-दु ख आदि का अध्यास बन्धन है जो ज्ञान द्वारा कट जाता है। उस प्रकार के अज्ञान या अविद्या का विनाश ही मोक्ष है।

मानववादी के लिये वेदान्त या साख्य के दार्शनिक सिद्धान्तो को (समग्रतया या अशत भी) स्वीकार करना जरूरी नही है, उसके लिए मात्र इतना मानकर चलना पर्याप्त है कि मनुष्य म, कल्पना शक्ति की उपस्थिति के कारण, यह क्षमता है कि वह अपने सघर्ष के जीवन को साक्षी भाव से देखे—जसे हम विगत इतिहास के अभिनेताओ के जीवन को देखते हैं। अथवा कल्पना द्वारा अपने को हजार, दो हजार, दस बीस हजार वर्षो के बाद के किसी काल बिन्दु पर स्थापित करके वहा से यहाँ के, इस समय के जीवन का प्रत्यावलोकन करें। तब उसे लगेगा कि उसका वतमानकालिक जीवन एक ऐसी घटना परम्परा थी जिसमे सुख-दु ख, आकाक्षा, सफलता असफलता आदि का धूपछाही नाटक निरन्तर खला जाता रहा था। तब यह भी प्रतीत होगा कि उक्त नाटक म ग्रथित विशेप नामधारी व्यक्ति के मनोभाव कल्पनाएँ, सपने आदि दूर तक निरथक थे—कम से कम उतने अर्थवान नही जितने उस व्यक्ति द्वारा समझे जाते थे।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का इस जगत के रूप मे निवतन उसकी लीला या क्रीडा मात्र है, जिसे अनावश्यक गम्भीरता से नही लिया जाना चाहिए। हमारा सुझाव है कि हम अपने जीवन को जीते हुए कुछ वैसा ही मनोभाव बना सकते हैं यह जीवन प्राय काल और परिस्थितियों की क्रीडा जसा है। यहा जो सघष हमे कष्ट देते हैं उनके प्रति यदि हम साक्षी भाव बना लें और उन वस्तुओ तथा मूल्यों मे जो सघर्षों को जन्म दते है—जैसे धन, सम्पत्ति, पद, यश आदि आसक्ति कम कर दें तो सम्भवत हम अधिक सतुष्ट और सुखी रह सकते हैं।

किन्तु इसका अर्थ क्रियाहीनता या निष्क्रियता का जीवन नहीं है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि पूर्णतया कर्म त्याग देने पर तो शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने सुख का लक्षण किया है नैतिक सद्गुणों के साथ क्रियाशील होना। तात्पर्य यह कि सुखी जीवन कर्म या कर्मण्यता का ही जीवन होता है, कर्महीनता का नहीं। हमारा प्रस्ताव और सुझाव है कि यदि हम ऐसे मूल्यों के उत्पादन में विशेष रस लें जो सहभोज्य—सबके द्वारा साथ भोगने योग्य हैं, तो हम स्वयं भी सुखी रह सकते हैं और दूसरों को भी आनन्दित बना सकते हैं। प्रश्न है, इस तरह के मूल्य कौन से हैं? कहा गया है कि विद्या-धन देने से घटता नहीं, बढ़ता है। हम संकेत कर रहे हैं कि सत्य, सौंदर्य और जनकष्टों के निवारण के लिये किये गए सामाजिक प्रयत्न ऐसे कर्ममय जीवन का रूप ले सकते हैं जो दूर तक मुक्तावस्था कहा जा सकता है। उक्त मूल्यों का संधान करते हुए अपने दुनियावी संघर्षों के प्रति साक्षी भाव रखना, संघर्ष लक्ष्य वस्तुओं के प्रति क्रमशः लगाव कम करते जाना, यही मानववादी की आध्यात्मिक साधना है जो हमें जीवन-मुक्ति का आस्वाद करा सकती है। उक्त कोटि के लगाव जिस दर्जे तक कम होंगे, उसी अनुपात में हमारा आन्तरिक उल्लास और विश्व के हित-साधन की क्षमता बढ़ेगी। गीता में ऐसे कर्म कौशल को निष्काम कर्मयोग कहा है। इस धर्म या योग का थोड़ा भी अनुसरण कल्याण करने वाला सिद्ध होगा—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात्। ●

10522
19.7.89

गीता में पुरुषोत्तमयोग

डॉ० सुधाकर गोकाककर

दृष्टिकोण

गीता वस्तुत असुरक्षा, भय से आक्रात मानव मन को चेतना प्रदान करने का एक विराट प्रयास है। काल की अगम्यता, विविधता, विचित्रता एव रहस्यमयता के कारण मानव मन म—सचेतन, चिंतनशील मानव मे—असुरक्षाबोध की निर्मिति होती है। अर्जुन इस बोध से आक्रात है। यही कारण है कि युद्धस्थल पर उसके मन मे कई एक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। ये प्रश्न भयबोध के निदेशक हैं। किंकर्तव्यविमूढता की स्थिति मे हतोत्साहित, निष्क्रिय बन रहे मानव की क्रियाशक्ति को चेताने एव उस मनुष्यता के मार्ग पर अग्रसर कराने के हेतु गीता का उपदेश दिया गया है। इस अर्थ म यह प्रत्येक मानव के लिये सुयोग्य उपदेश है। प्रत्येक मनुष्य के मन मे इस प्रकार की स्थिति का, किसी-न किसी क्षण, निर्माण होता ही है। गीता ऐसे व्यक्ति के लिये प्रेरणास्थली है।

असुरक्षाबोध एव भयबोध मानव के आदिमबोध हैं। मानवजाति के विकासक्रम म ये आदिम बोध महत्व रखते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कतिपय बोध आदिम काल से मानव मे स्थित रहे हैं। ये मानव यात्रा के आर्चबिंब हैं। महान प्रतिभाशाली कवि चिंतको को इनसे सदा जूझना पडा है। वे इन आदिम भावनाओ की अभिव्यक्ति के लिए मिथको का निर्माण करते रहे हैं। महाभारत इस अर्थ म एक महामिथक है। इस मिथक की व्याख्या के हेतु छोटी छोटी कथाओ, आख्यानो आदि को आपने चुना है। ये सभी प्रतीक हैं। महाभारत मे वर्णित भावो का साररूप चिंतनप्रधान ललित रूप है गीता। अत गीता को समझ लेते समय स्थापित ईश्वरत्व, दर्शनप्रधानता के पार जाकर उसकी मानवीय स्तर पर व्याख्या आवश्यक है।

गीता एक श्रेष्ठ ग्रथ अवश्य है, एक महान ललित कृति अवश्य है किन्तु वह पारपरिक आध्यात्मिक बोध को अभिव्यक्त करने वाली कृति न होकर मानव ऊर्जा एव मानव की ऊर्ध्वगामी यात्रा की स्थापना करने वाली कृति है। आगे के पृष्ठो मे इसी दृष्टिकोण के आधार पर 'पुरुषोत्तमयोग' की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

गीता का स्वरूप

गीता के पुरुषोत्तमयोग के स्वरूप को समझ लेने से पूर्व भी हमे गीता के स्वरूप के सबध मे ज्ञान प्राप्त करा लेना चाहिए। यह सर्वविदित है कि गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक अश है। महाभारत के भीष्मपर्व के तेइसवें अध्याय से प्रारम्भ होकर चालीसवें अध्याय तक गीता का उपदेश वर्णित है। इसके अतिरिक्त महाभारत मे अश्वमेधिक पर्व मे एक अन्य गीता भी है, जो अनुगीता के नाम से जानी जाती है। हमारा लक्ष्य चूँकि भगवदगीता के पन्द्रहवें अध्याय मे वर्णित 'पुरुषोत्तमयोग' की

चर्चा करना है, अत भगवद्गीता एव अनुगीता की तुलना अथवा परस्पर सम्बन्धो पर यहा चर्चा करने की आवश्यकता नही है। अनुगीता के विषय से एक बात स्पष्ट होती है कि भगवदगीता मे विभिन्न विषयो की चर्चा करने के उपरान्त भी उसमे ब्राह्मणो की श्रेष्ठता की स्थापना अपर्याप्त प्रतीत हुई। इस तथ्य से, भगवदगीता की ओर देखने का सनातन दृष्टिकोण स्पष्ट होता है।

गीता का पाठ

यद्यपि गीता के पाठ निर्णय का प्रश्न हमारे विषय की परिधि मे नही आ जाता है, तथापि हमारी आगे की स्थापनाओ की दृष्टि से इस पर भी सक्षेप म सोचना आवश्यक प्रतीत होता है। महाराष्ट्र मे भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध सस्थान ने महाभारत की समीक्षात्मक प्रति निश्चित करने का गुरुभार सम्हाला है तथा इस दिशा मे पर्याप्त कार्य पूरा किया भी है। विभिन्न स्थानो एव काला की पाडुलिपियो के सूक्ष्म अध्ययन के उपरान्त महाभारत के यथासभव विशुद्ध पाठ का महान काय यहा सम्पन्न हो रहा है। इस कार्य के हतु सम्पादक-मण्डल ने कुछ सिद्धान्त भी स्थिर किए है। तथापि इस विराट परियोजना के अन्तर्गत प्रकाशित भीष्मपव मे भगवदगीता का जो पाठ स्वीकृत किया गया है उसका आधार शाकरभाष्य रहा है। भगवदगीता का पाठ निर्धारित करते समय अन्यान्य प्राप्त प्रतियो की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया है। अन्यान्य साक्ष्यो की अपेक्षा शाकरभाष्य की प्राचीनता का हवाला देकर उसके आधार पर भगवद्गीता का पाठ प्रस्तुत किया गया है। वास्तविकता यह है कि शाकरभाष्य की प्रति की प्राप्ति भी पर्याप्त बाद के काल की है। सम्भवत गीता के ऊपर सकेतित तथा स्थापित प्रभाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के हेतु ही अन्यान्य साक्ष्यो की अपेक्षा शाकरभाष्य का सहारा लेना सम्पादको को उचित प्रतीत हुआ होगा।[१] गीता का बहुप्रचलित पाठ यही है।

गीता के अध्याय

गीता के पाठ निर्धारण के साथ साथ उसके अध्यायो के सम्बन्ध मे सोचना आवश्यक प्रतीत होता है। ई० दसवी-ग्यारहवी शती मे प्राप्त जावा की महाभारत की प्रति मे पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ तथा सत्रहवा ये तीन अध्याय नही है तथा अठारहवें अध्याय के ६६ तथा ७३ क्रमाक के दो श्लोक मात्र हैं। मन्नय के आध्र महाभारत मे गीता के मात्र प्रथम ग्यारह अध्याय है तथा अठारहवें अध्याय ६६वें श्लोक के आगे की सामग्री है। एक परम्परा मे गीता चौदह अध्यायो की है, तो दूसरी परम्परा मे वह ग्यारह अध्याया की है। ई० आठवी शती के बाद की प्रतियो मे, वतमान काल मे प्रचलित अठारह अध्यायोवाली गीता प्राप्त होने लगती है। स्पष्ट है कि गीता की रचना एक समय मे नही हुई है। वास्तविकता तो यह है कि महाभारत की रचना भी एक व्यक्ति द्वारा तथा एक समय मे नही हुई है। इस महान ग्रथ मे समय समय पर नई बातें जुडती गई हैं। आज यह सवस्वीकृत हो चुका है कि महाभारत के शातिपर्व तथा अनुशासनपव पूर्णत प्रक्षिप्त हैं। प्रो० दामोदर कोसबीजी का उक्त विवरण ध्यातव्य है।

भूमिका

जो हो, परम्परा एव प्रतियो के काल के आधार पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि गीता का पन्द्रहवाँ अध्याय विवाद के घेरे मे है। यह एक विवाद्य प्रश्न है कि पन्द्रहवाँ अध्याय मूल गीता का

ही अश है अथवा वह उसमे बाद मे जोडा गया है। यहाँ हमे भगवद्गीता के मूल रूप को रेखांकित नहीं करना है, गीता मे विवेचित पुरुषोत्तमयोग की समीक्षा करनी है। अत गीता की मूल प्रति आदि की सत्यासत्यता की परीक्षा के विवाद मे न जाते हुए तथा वर्तमानकाल मे प्राप्त पाठ के आधार पर ही उसकी समीक्षा करनी चाहिए। प्रारम्भिक विवेचन मे गीता के पाठ, उसकी ऐतिहासिकता आदि का प्रश्न मात्र इस हेतु उठाया गया है कि प्रस्तुत अश को, और व्यापक रूप मे सम्पूर्ण ग्रथ को, मान्य तथा प्रचलित रूप मे ही ग्रहण करें तथा उसकी व्याख्या करने का प्रयास करें तो हाथ म बहुत कम बातें आएँगी। परम्परागत व्याख्या विवेचन तो पूर्वकालीनो ने कई बार किया है। उसम और कुछ जोडने अथवा नई व्याख्या प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयास नही है। अत बात बचती है नितात भिन्न भूमिका पर समीक्षा करने की। परम्परागत व्याख्या के प्रसग मे यह मत भी ध्यातव्य है कि 'मीमासा सिद्धातो के अधार पर गीता मे प्रतिपादित उपदेशो का निर्णय नही किया जाए।'[२] अत आगे की पक्तियो मे एक भिन्न भूमिका के परिप्रेक्ष्य मे गीता के पुरुषोत्तमयोग की समीक्षा करने का प्रयास किया गया है। आगे के लेखन के सम्बन्ध मे मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि वर्तमान स्वरूप मे प्राप्त गीता के सभी अठारह अध्याय एक ही व्यक्ति-व्यास द्वारा और एक ही समय में लिखे गए है।

गीता की प्रेरकता

भगवद्गीता की मूल प्रति, प्रक्षिप्तता आदि प्रश्नो से बचने के उपरान्त भी एक बात स्पष्ट होती है कि इस ग्रथ ने विभिन्न ही नहीं अपितु परस्पर विरुद्ध दृष्टिकोण रखनेवाले लोगो को प्रेरणा दी है। लोकमान्य तिलकजी को इसने स्वाधीनता की प्रेरणा दी, तो योगी अरविन्द बाबू को स्वाधीनता सग्राम से दूर होकर आध्यात्मिक मार्ग पर चलने का सकेत दिया। आद्य शकराचार्य इस ग्रन्थ से प्रभावित हुए, तो मध्वाचार्य भी इसके प्रभाव से अलग नही रहे। शैवमार्गियो एव वैष्णवमार्गियो को अपने-अपने मतो के सूत्र इसी ग्रथ से प्राप्त हुए तो सुधारवादी एव परम्परावादी व्यक्ति भी इससे मार्गदर्शन प्राप्त करते रहे। देश के स्वाधीनता आन्दोलन मे सशस्त्र क्रान्ति का रव चेतानेवाले इससे अभिभूत रहे, तो म० गाधीजी ने अहिंसक सघर्ष की दृष्टि इसी से प्राप्त की। सक्षेप मे यह ग्रथ विभिन्न दृष्टियो के चिन्तको को अपने अनुकूल सामग्री जुटाने मे सहायता करता रहा है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, या तो इसम ऐसी कुछ बातें हैं, जो प्रत्येक युग के विभिन्न मनोवृत्तियो वाले महानुभावो को आकृष्ट कर सकें अथवा फिर यह कृति इतनी सदिग्ध है कि पाठक उसमे से अपने लिए अनुकूल तात्पर्य सहज ही प्राप्त कर सकें।[३] इन प्रश्नो के रहते हुए भी एक बात सही है कि भगवद्गीता हमारी सस्कृति, सास्कृतिक विरासत तथा देश की चेतना पर छाई हुई है।

गीता एक धर्मशास्त्र ?

भगवद्गीता मे कर्मयोग, ज्ञानयोग, सन्यासयोग, भक्तियोग, साख्ययोग आदि भारत म प्रचलित सम्प्रदायो का समन्वय प्राप्त होता है। आदरणीय लक्ष्मणशास्त्री जोशीजी गीता मे विवेचित मतो के सबध म लिखते हैं, 'वैष्णव नारायणीय धर्म से प्रभाव ग्रहण करके गीता मे वर्णित एकेश्वरवादी कर्मयोग श्रमणमार्ग से श्रेष्ठ सिद्ध होता है। इसके साथ-साथ इसम यज्ञ, दान, तप प्रधान वैदिक कर्मयोग, उपनिषदो के ज्ञानयोग, श्रमणमार्ग के समाधियोग अथवा सन्यासयोग का समन्वय करने का प्रयास किया गया है'।[४] साख्यदर्शन मे विवेचित एकेश्वरवादी विचारधारा को भी इसमे समेट लिया गया है। इस

प्रकार पारपरिक रूप मे कर्मयोग गीता का प्रमुख विषय बनता है, तो जनसामान्य की दृष्टि से भक्तियोग। गीता म यद्यपि लोकप्रचलित नीतिनियमो के पालन के सकेत प्राप्त होते है, तथापि श्री० लक्ष्मणशास्त्री जोशीजी के मत मे भगवद्गीता मूलत धर्मशास्त्र है। नीतिशास्त्र मे न्यायान्याय के आधार पर बुद्धि के योग से करणीय काम प्रमुख माने जाते है किन्तु गीता दिव्यज्ञान है वह ईश्वरीय आदेश है, इसमे बुद्धि-वादी चर्चा को गौण स्थान प्राप्त है।५

गीता की बौद्धिक व्याख्या की सभावना

महामना लक्ष्मण शास्त्रीजी ने यद्यपि गीता की पारपरिक भित्ति को ही यहाँ प्रस्तुत किया है, तथापि हमारे मत मे गीता की बौद्धिक व्याख्या सभव है। आपने नीतिशास्त्र के सदर्भ म बौद्धिक चर्चा की अप्रासगिकता बताई है, पूरे ग्रथ की समीक्षा के सदर्भ मे नही। दूसरे, पुरुषोत्तमयोग मे कृष्ण ही कहते है कि 'एतदबुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत' (१५ २०)। पन्द्रहवें अध्याय की समीक्षा मे यह स्पष्ट किया गया है कि गीता के उत्तरार्ध के नौ अध्याय पूर्वार्ध के नौ अध्यायो से भिन्न है तथा गीता मे स्थापित विषय-सीमा की तुलना मे पुरुषोत्तमयोग वाला अध्याय भिन्न है। डा० द० का० सतजी ने 'गीता के पुरुषोत्तम एव मानव्यदर्शन' नामक ग्रथ मे इस विषय की विस्तार से चर्चा की है। आपने युगप्रणीत मिथक एव आदर्बिब सिद्धान्त के आधार पर गीता की साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत की है।६

गीता एक मिथक

मेरी दृष्टि म भी गीता एक मिथकीय रचना है। ससार की विविधता, विराटता, विचित्रता, अनाकलनीयता सदा मानव के सामने उलझन बनकर खडी रही है। मानव जहाँ एक ओर ससार की रहस्यमयता के तात्पर्य की खोज म रहता है, वहाँ दूसरी ओर वह अपने इस ससार म आगमन एव ससार से निर्गमन के रहस्य को भी खोलना चाहता है। जगत मे कर्मरत मानव के पास एक ओर अपनी शक्ति एव आत्मविश्वास का सबल है, वहा दूसरी ओर उसके ज्ञात परिप्रेक्ष्य के बाहर की बाधाएँ भी विद्यमान रहती है जो उसके सकल्पो की सिद्धि मे रुकावट खडी करती हैं। ऐसी स्थिति मे मन अपनी कल्पना से एक सृष्टि का निर्माण करता है जो इन बाधाओ का परिहार करने तथा मानव को अपने गतव्य तक पहुँचाने मे सक्षम रहती है। ईश्वर अथवा परमात्मा नामक मिथक की सृष्टि का यह मूल कारण है। इस सृष्टि के उपरान्त जीव उस परमात्मा से अपने रिश्ते की खोज करने लगता है, प्रकृति, विश्व तथा परमात्मा के अनुबधो तथा विश्व, स्व एव परमात्मा के तत्त्व को परखने का उपक्रम करने लगता है।

मिथक धार्मिक धुरी

मिथक की निर्मिति के कतिपय कारण बताए जाते है, उनमे से एक कारण धार्मिक भी है। इसके अनुसार परमात्मा अथवा ईश्वर का निर्माण किया जाता है, उसे नाम दिया जाता है उसकी वशावली भी दी जाती है, उसके निवासस्थान आदि से सबद्ध प्रदेश-विशेष का सदर्भ दिया जाता है उसके अलौकिक कार्यव्यापार की कहानिया प्रस्तुत की जाती है। ऐसा चरित अपने आप मे विशिष्ट होता है तथा कल्पना-तीत कर्तृत्वो का निर्माता भी होता है। उसे एक बार ईश्वरत्व प्रदान कर देने पर उसके कार्यों एव विचारो की तर्कसगत व्याख्या आवश्यक नही मानी जाती है। मिथको मे भविष्य की घटना मे, ईश्वर की कृति प्रबल एव अप्रत्याशित उथल पुथल मचा सकती है। उसके मूल स्थान, ईश्वर नामक सस्था की

प्रस्तुति आदि पर गभीर, चिंतनयुक्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। अलौकिक शक्ति के पुज ईश्वर का मिथक सपूण सस्कृति का नायक तथा सस्कृति निर्माता बन जाता है। ऐस मिथक से ऐसी कथाए जुडती है जो लक्ष्य विशेष से सबद्ध होती है तथा वे मात्र कहानिया नही होती।[७]

मिथक भारतीय सदभ

भारतीय स दभ मे मिथको पर सोचते समय विश्वोत्पत्ति अथवा ब्रह्माण्डशास्त्र (cosmogony) के स्वरूप को समझ लेना चाहिये। माया के पाश मे आवद्ध जीव को सत तथा असत का जब ज्ञान होता है तब उसकी मुक्ति सभव होती है। भारतीय चिंतन ने इस प्रकार जीव तथा परमात्मा के रास्ते की बाधा के प्रसग को, इस रूपक को अमूतता प्रदान की है जो वेदो मे परिलक्षित होती है तथा आगे चलकर उपनिषदो मे वह पूणत विकसित होती है। आगे चलकर विष्णु एव शिव के रूप मे इसे सगुणता प्राप्त होती है। विष्णु के अवतारो मे राम एव कृष्ण को प्रमुखता प्राप्त होती है। बलशाली, शूर, विवेकी, प्रेमी कृष्ण भगवद्गीता मे सृष्टि निर्माण मे निहित तत्वो एव उनके रूपो का सम्यक वर्णन प्रस्तुत करता है।[८] गीता मे चर्चित दाशनिक प्रश्नो का अमूर्तिकरण एव समूर्तिकरण तथा अतत उसके अमूत रूपक की स्थापना आदि बातो के कारण गीता के विवेचन मे विविधता, विराटता एव उलझन प्रतीत होती है। दार्शनिक विचारो पर अलग स्तर पर चर्चा हो सकती है, कितु उसे मिथक से पृथक् रूप मे ग्रहण करना चाहिए, उसके अविच्छिन्न अग के रूप मे नही।

भारतीय परिप्रेक्ष्य मे कृष्ण की मिथकीय नायक के रूप मे स्थापना के उपरात उसे धीरे धीरे पूण पुरुष का रूप प्राप्त होता गया। महाभारत ने इस प्रक्रिया को पूणता प्रदान की तथा गीता म उसे चिंतक, दार्शनिक, सवशक्तिमान, अनिर्वचनीय गुणसम्पन्न, उपदेशक एव मार्गदशक के रूप मे स्थापित किया गया। एक बार इस प्रकार की स्थापना हो जाने के उपरात उसकी प्रत्येक अवस्था, कृति तथा उक्ति मे अलौकिकता एव विश्वसनीयता आ गई। इस स्थान पर तार्किक सत्यासत्यता को स्थान नही रहा और उसके कथन को आप्त वचन का स्थान प्राप्त हो गया।

गीता मे अर्जुन एव कृष्ण

गीता मे अर्जुन ने अपने सत्रास को कृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत किया है तथा कृष्ण ने उसका समाधान दिया है। इस प्रकार सवाद शैली का प्रयोग करके इस दिग्दर्शन मे यथाथता की स्थापना का प्रयास किया गया है। कितु वस्तुत अजुन नामक जीव के सामने एक उलझन है। उलझन भरी मानसिक स्थिति मे वह आत्मविस्मृत हो गया है। अत वह अपने मे स्थित शक्तियो से भी अपरिचित बन गया है। उसे इस स्थिति से बाहर निकालकर क्रियमाण बनाने के लिये उसके अवचेतन मन के एक बिंब ने उसकी सहायता की है।

मानव किंकर्तव्यविमूढता की अवस्था मे जिस व्यक्ति से सलाह प्राप्त करता है, उसके प्रत्येक शब्द का वह विश्वास करता है। यहाँ तो अजुन के सम्मुख कृष्ण जैसा चिंतक उपस्थित है। अजुन उपदेशक कृष्ण के प्रति पूर्ण श्रद्धा एव भक्ति तथा विश्वास रखता है। महाभारत के प्रसगो से स्पष्ट है कि अजुन कृष्ण का पूर्ण विश्वास करता है। ऐसी विशिष्ट, आत्मनिरपेक्ष, तटस्थ अवस्था मे मनुष्य जीवन की ऊँचाइयो तक चढ सकता है। गीता का चित्र मूलत इस मानसिक अवस्था का चित्र है।

गीता के बिंब

कृष्ण का परमतत्व स्थापित है। वेदो, उपनिषदो के माध्यम से परमतत्व के सम्बन्धा की पर्याप्त चर्चा एव गौण बिंबो की स्थापना भी हो चुकी है। परमतत्व की अवधारणा का प्रारम्भिक बिम्ब महत्त्व का है। उसकी प्राप्ति के यज्ञ, ज्ञान, योग कर्म, भक्ति आदि गौण बिम्ब विकसित होते गए हैं। इन सब का समन्वय गीता मे हो चुका है। गीता के 'पुरुषोत्तम' का स्वरूप भी इसी परिप्रेक्ष्य मे द्रष्टव्य है। कवि अपने निर्मित अथवा स्वीकृत बिम्बो मे नई बातें जोडता अथवा पुराने सूत्रो के नए सन्दर्भ देता रहता है। अत आवश्यकता उसके मूल रूप के खोज की है, उसके बाह्य चित्र की व्याख्या की नही। बाह्य चित्र की व्याख्या से उसकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है। कवि तक पहुचकर बिम्ब नया रूप भी धारण करता है। अर्थात यह 'नयापन' कवि दृष्टि एव कवि-काल पर निर्भर करता है।

समाज मे जब कोई मिथक स्थिर हो जाता है तब उसके माध्यम से अपने कथ्य को प्रस्तुत करना सरल होता है। यहा मानव की द्वन्द्वावस्था का प्रतीक अर्जुन जब उस स्थिति से उबरने का रास्ता ढूँढता है तब कृष्ण का मिथक बिम्ब उसे उपदेश करने को प्रस्तुत है। कवि ने मन की उच्चावस्था मे यह कार्य सम्पन्न कराया है। इस सन्दर्भ मे प्रसग भी महत्त्व रखता है। प्रसग का प्रसगत्व यहाँ समाप्त हो जाता है तथा वह 'सत्य' के अन्वेषण का 'क्षण' बन जाता है। यहाँ आकर काल भी रूक जाता है। युद्धारम्भ का काल समीप आ गया है, दोनो ओर की सेना आमने सामने खडी है ऐसी अवस्था मे अर्जुन का किंकर्तव्यविमूढ होना और जीवन मृत्यु के सनातन प्रश्न से सत्रस्त होना तथा आक्रान्त जीव को शाश्वतता की आकाक्षा का कृष्णद्वारा उपदेश देना—यह पूरा प्रसग सचमुच काव्यात्म प्रसग है।

आद्यबिंब

शाश्वतता का प्रतीक कृष्ण ही स्वय उपदेशक है। कृष्ण का ईश्वर के रूप मे आद्यबिंब (आर्केटाइप) शतियो के प्रभाव के कारण भारत के भावविश्व मे सामूहिक अवचेतन मन (कलेक्टिव अनकॉन्शस माइड) मे सुप्त रूप मे स्थित है तथा वह समाज एव व्यक्ति के मन को प्रभावित करता है। ईश्वर नामक आद्यबिंब का सगुण रूप कृष्ण है। अत वह लोकोत्तर भाषा मे बातें करता हुआ दिखाई देता ह। मिथक की भाषा लोकोतर भाषा होती है। अत रूढार्थ एव बाह्यार्थ के पार पहुचा हुआ यह बिम्ब यहाँ विभिन्न रूप (ग्यारहवाँ अध्याय) धारण करता एव जीव को मोहित करता है, विकसित करता है तथा स्वय भी विकास को प्राप्त करता ह।

ईश्वर को अपने ईश्वररूप की पूर्णता की आवश्यकता होती है। अत वही अपने भक्त' को बार बार पुकारता है। 'भक्त' भी उसके अधीन रहता है। अत युगीन सभी पक्षो की स्थापना के उपरान्त ईश्वर जीव (भक्त) को अतिम आदेश के रूप मे 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज' (१८ ६६) वाला उपदेश करता है। बाह्य स्तर पर देखें तो यहाँ सभी चित्र ईश्वरीय अलौकिक आदि प्रतीत होते हैं। इनको अपनाकर ही अब तक की प्राय सभी व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई है—चाहे वे पक्ष मे अथवा विपक्ष मे हो। किन्तु यहा एक तथ्य यह भी है कि अपार, अनिर्वचनीय शक्तियुक्त परमात्मा अपने रूप को 'बुद्धि से' जान लेन का उपदेश करते है। यहा यह आश्वासन है कि अन्य किसी बात की बिना चिन्ता किए जो मेरी उपासना करते हैं उनके योगक्षेम का मैं वहन करता हूँ (९ २२)। इस

प्रकार चिंतारहित होकर उपासना करने, अपनी शरण में आने का उपदेश है, तो दूसरी ओर बुद्धियोग (१५ २०) का उपदेश है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

इतना समस्त चित्र प्रस्तुत करने के उपरान्त पन्द्रहवें अध्याय मे पुनश्च 'पुरुषोत्तमयोग' का वर्णन है। यहाँ 'योग' शब्द की व्याख्या आवश्यक है। गीता म योग शब्द का प्रयोग प्रत्यक अध्याय क प्रारम्भ म किया गया है तथा गीता के उपदेश के अन्तर्गत भी। गीता में आगत योग शब्द भिन्न भिन्न अर्थ सूचित करता है। 'योग' से तात्पय है आयुष्कमणा का माग, कल्याणभाव से सयोग अथवा निष्ठा। यहाँ पुरुषोतम नामक कल्याणभाव के प्रति अनन्य निष्ठा की स्थापना के हेतु पुरुषात्तम का चित्र प्रस्तुत किया गया है।

कृष्ण नामक मिथक के स्पष्टीकरण के पश्चात अब पन्द्रहवें अध्याय मे वर्णित 'पुरुषोत्तमयोग' की इसी दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत करना समीचीन होगा। इस समीक्षा के कारण, आशा है, एक नितात नया प्रकाश आलोकित होगा। इस अध्याय मे कुल बीस श्लोक हैं। अध्याय आकार म छोटा है। परम्परा की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्व रखता है, अत यह कठस्थ कराया जाता रहा है।

अक्षरब्रह्म का स्वरूप

इस अध्याय मे अक्षरब्रह्म का वणन है। (परपरागत रूप मे परमात्मा क्षर एव अक्षर स्वरूप से भिन्न है। किन्तु यह तात्पय ठीक प्रतीत नही होता है।) अक्षरब्रह्म प्रत्यक्ष परमात्मा ही हैं, श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण अपने रूप की स्वय व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं, अपने रूप का गुह्य स्वरूप अर्जुन को समझा रहे हैं—इति गुह्यतमशास्त्र, इदमुक्त मयाऽनघ (१५ २०)। आगे यह भी कहा गया है कि इसके ज्ञान से जीव बुद्धिमान बन जायगा, कृतकृत्य हो जाएगा—एतदबुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत (१५ २०)। कि तु वास्तविकता यह है कि इसमे वर्णित परब्रह्म का चित्र अन्यान्य अध्यायो के समान ही है। जिसमे यह बताया गया है कि सब मुझे भजते हैं, तुम भी भजो। पता नही इसमे 'गूढ, गुह्य, एव अनघ' तथा बुद्धि द्वारा ज्ञातव्य क्या है? अत उक्त शब्दावली के तात्पय की परीक्षा करनी है। कारण प्रस्तुत प्रशस्ति अन्य अध्यायो मे कही नही है। तात्पय यह है कि इस शब्दावली की गहराई म जाकर परीक्षा आवश्यक है।

पन्द्रहवें अध्याय का नामकरण

इस प्रकार की प्रशस्ति के साथ-साथ प्रस्तुत अध्याय के नामकरण मे विशेषता दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत अध्याय का नाम है 'पुरुषोत्तमयोग'। अन्यान्य अध्यायो के नाम विषयसबद्ध हैं वे इस नाम के समान नही हैं। यहा स्वय पुरुषोत्तम स्वय अपने रूप का गुह्य रूप उजागर कर रहा है जो बुद्धि द्वारा ध्यातव्य है। यहाँ का पुरुषोत्तम, सभव है, साख्यो के पुरुष प्रकृति का पुरुष हो सकता है।

मिथकीय रचना

गीता के अध्ययन की पारपरिक दृष्टि के अनुसार पुरुषोत्तमत्व अतिमानवीय स्तर का प्रतीक है। इस चित्र को बौद्धिक स्तर पर व्याख्यायित करके देखना आवश्यक है। हमारी धारणा तो स्पष्ट है कि

सम्पूर्ण गीता की समीक्षा मिथक एव उसके आद्यबिंब—इस सिद्धा त के आधार पर अधिक स्पष्ट एव मानवीय स्तर पर सभव हो सकती है। इसी हेतु अब तक कृष्ण के बिंब को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। वैसे गीता की समीक्षा—समस्त अध्यायो की समीक्षा—इस दृष्टि से की जा सकती है। कि तु यहाँ हम पुरुषोत्तमयोग को ही विश्लेषित कर रहे है। व्यास जैसे प्रतिभाशाली एव चिंतनसम्पन्न लेखक-दार्शनिक की कृति की श्रेष्ठता इस पद्धति से ही स्पष्ट की जा सकती है। यह सही है कि व्यास जी पर युगीन दार्शनिक एव नीतिविषयक विचारो का प्रभाव है, गीता मे इनका सम वय एव दिग्दर्शन भी हुआ है। तथापि यह रचना मूलत है मिथकीय। इसके आद्यबिंब की सम्यक् एव सविस्तार स्थापना से, सभव है, इस कृति के वास्तव एव श्रेष्ठ स्वरूप की पहचान हो सकेगी। इस दिशा म पुरुषोत्तमयोग की समीक्षा उपादेय सिद्ध होगी।

प्रतीकप्रधानता

गीता की प्रस्तुति ही प्रतीकप्रधान है। युद्ध के प्रसग म कृष्ण द्वारा गीतोपदेश का कथन एक प्रतीकीकरण की प्रक्रिया है जिसका सम्वादरूप उसकी कलात्मकता का सूचक है। इस पद्धति के कारण गीता मे विवेचित तत्वचिंतन युक्तियुक्त प्रतीत होता है जो व्यासजी की प्रतिभा एव ललित लेखन प्रक्रिया की श्रेष्ठता की सूचक बात है। *प द्रहवाँ अध्याय दिव्यदष्टि एव भविष्यदष्टि का सूचक (विजनरि) है।* दसवें एव ग्यारहवें अध्याय ऐसे ही हैं। अत पन्द्रहवें अध्याय के समान ही दसवें और ग्यारहवें अध्याय विवेचन प्रधान न होकर वर्णनप्रधान, दिग्दर्शनप्रधान हैं।

विश्वरूपदर्शन की समीचीनता ?

गीता का उपादेय यदि अजु न को युद्ध के लिये प्रस्तुत करना मात्र होता तो उसे विश्वरूप दर्शन कराने की आवश्यकता नही थी। ग्यारहवें अध्याय की भव्योदात्तता तथा दसवें अध्याय के मानव-प्रज्ञा-प्रतिभा के सम्मरणात्मक प्रारूप की गीता के अ य अध्यायो के विषय मे सगति नही बैठती है। प्रारम्भिक नौ अध्यायो की पद्धति एव विषयो की भूमिका की तुलना म दसवें अध्याय से आगे के अध्यायो की भूमिका भिन्न प्रतीत होती है। इसके विषयो एव इसकी आक्रामक 'अह' केंद्रित भूमिका पर दृष्टिपात करने पर यह तथ्य स्पष्ट होगा।

अवचेतन मन की अभिव्यक्ति

पन्द्रहवें 'पुरुषोत्तमयोग' अध्याय पर ध्यान केन्द्रित करने पर भी उक्त तथ्य स्पष्ट होगा। परब्रह्म का यह अहकेंद्रित कथन उतना सुयोग्य प्रतीत नही होता कि 'यो मामेवमसमूढो जानाति पुरुषोत्तमम, स सर्वविद्भजति मा सर्वभावेन भारत (१५ १९)।' कि तु यह पूरा अध्याय व्यासजी के अवचेतन मन का *सीधा उच्छलन है। अत उसका म तव्य बौद्धिक स्तर पर हृदयगम करना अधिक युक्तिसगत प्रतीत* होता है।

डॉ० दु० का० म तजी के अनुसार, "व्यासजी को मनुष्यत्व के सम्ब ध म जो अपार अत प्रेरणा प्राप्त हो गई है उसकी बिंबात्मक अभिव्यक्ति प द्रहवा अध्याय है। उसके शरीर, शरीर की विशेषताओ मनोरचना, उसकी विभिन्न शक्ति-प्रशक्तियो का अवचेतन मन को प्राप्त चित्र की यह अभिव्यक्ति है।।"[१]

अश्वत्थ वृक्ष का बिंब

पं० श्री दा० सातवलेकरजी ने मराठी में भगवद्‌गीता की विद्वत्ताप्रचुर तथा अध्यवसायपूर्ण 'पुरुषार्थ बोधिनी' टीका लिखी है। इसमें आपने ऋग्वेद से आरम्भ करके विभिन्न उपनिषदों तक के उद्धरण देकर श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व, परब्रह्मत्व एवं दर्शनों की गंभीर समीक्षा की है। अपने उक्त ग्रंथ में आपने अश्वत्थ वृक्ष की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'प्रस्तुत वृक्ष प्रत्येक मनुष्य के शरीर में निविष्ट है, तन्त्रिकासंस्थान (नर्वस सिस्टम) उसका नाम है। ऊपर मस्तिष्क में उसके मूल हैं तथा पूरे शरीर में उसकी शाखा प्रशाखाएं फैली हुई हैं। शरीर भर में ये शाखा-प्रशाखाएं इतनी फैली हुई हैं कि सुई के अग्र इतना भी स्थान यहाँ रिक्त नहीं है। इसका मूल (ऊर्ध्वमूल) ऊपर है, यह तीन गुणों से (गुण प्रवृद्धा) युक्त है तथा इसमें विषयरूप अंकुर (विषयप्रवाला) आते हैं। मानव के समस्त कर्मों से इसका सम्बन्ध है। मस्तिष्क में बिगाड़ होने पर शरीरद्वारा करणीय कर्म नहीं हो सकते हैं। छंद (छन्दांसि यस्य पर्णानि) से तात्पर्य है ज्ञान। तन्त्रिकासंस्थान का कार्य भी ज्ञान प्राप्त करना ही है। तन्त्रिकासंस्थान के कारण ही ज्ञानप्राप्ति संभव होती है। पूरे शरीर में व्याप्त तन्त्रिकाओं द्वारा ही ज्ञान ग्रहण, प्रेरकता तथा कर्म संभव होता है (कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके)। इस लोक के समस्त कर्म इस संस्थान पर निर्भर हैं।'१०

इस प्रकार 'ऊर्ध्वमूल' तथा 'अधःशाखाओं' वाला 'पुरुष' धरती पर बद्धमूल (सुविरूढ) हो गया है। इस वृक्ष का तटस्थ (असंगशस्त्रेण) अर्थात् वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने पर स्पष्ट होगा कि इस मार्ग से गया हुआ कोई लौटकर नहीं आता है। इस वर्णन में मानव जीवन की मर्त्यता संकेतित है (ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः १५.४)। पं० सातवलेकरजी ने भी शरीर की नश्वरता को 'अश्वत्थ' शब्द की व्याख्या के द्वारा विश्लेषित किया है। आप कहते हैं कि 'अश्वत्थ' अर्थात् जहाँ घोड़े बँधे हैं। इन्द्रियों को यहाँ घोड़े कहा गया है जो तन्त्रिकाओं से बँधे हुए हैं। प्रस्तुत वृक्ष अ श्व त्थ भी है अर्थात् इसके कल तक जीवित रहने की निश्चिति नहीं। इस प्रकार अ श्व त्थ शब्द शरीर के विनाश की अवस्था का वाचक भी है।११ तथापि इस वृक्ष का वर्द्धन सामान्यतः अखण्ड रूप में (अव्ययन) होता रहा है। वह आकाश से चैतन्य प्राप्त करता है तथा विनष्ट हो जाने पर वहीं पहुंच जाता है। वही उसका गंतव्य स्थान है। उसे शस्त्रों द्वारा बधा नहीं जा सकता, अग्नि से जलाया नहीं जा सकता, वह चन्द्रसूर्यादि के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त है। इस प्रकार स्पष्ट होगा कि 'ऊर्ध्वमूल अधःशाखा' बिंब व्यासजी के अवचेतन मन से निःसृत एक प्रभावशाली आदिम बिंब (प्रीमार्डियल इमेज) है जो मानुषता (मनुष्यता अथवा मानवता का नहीं) का प्रतीक है।

मानव देह का चित्र

आगे चलकर व्यासजी ने मानव देह का, अपनी दृष्टि के अनुसार वर्णन किया है, जो ध्यातव्य है। (श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च, अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते—१५.९) श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा मैं विषयों का सेवन करता हूँ—यह वर्णन भी मानव देह के योग्य ही है। सृष्टि के सब जीवभूत मेरे अंश हैं (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः, मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति—१५.७)—तथा मनादि छः इन्द्रियों में जीवभूत का कार्यव्यापार चलता है। वह जीव पृथ्वी के तेज का ग्रहण करता है। यही जीव का पाचनसंस्थान है। पाचनसंस्थान से चार प्रकार के अन्नों का पाचन होता है। इसमें मानव तथा अन्य प्राणियों के अंतःसंबंध को संकेतित किया गया है। पाचन

मस्थान मे ओपधिगुण होते हैं जिससे खाई हुई वस्तु का पाचन सभव होता है। इस प्रकार प्रस्तुत वणनक्रम म जीव के शरीरयन्त्र का चित्र प्रस्तुत किया गया है।

'द्वाविमौ' एव 'कूटस्थ

इस प्रकार 'पुरुषोत्तमयोग' के पहले पन्द्रह श्लोको तक मानव शरीर का ही चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'अश्वत्थ' शब्द द्वारा चित्रित मनुष्य के आर्यविद का यह शरीरवैज्ञानिक चित्र है। सोलहवें श्लोक का पहला शब्द 'द्वाविमौ' भी 'अश्वत्थ' के समान महत्वपूर्ण है। यहाँ का वर्णन शरीरसबद्ध वणन न होकर मानवत्व के बोध से सबद्ध है। इस श्लोक का रूढाथ है—इस ससार मे मैं क्षर एव अक्षर दो रूपो मे विद्यमान हू। क्षर रूप मे मैं जीव के माध्यम से जीवित रहता हूँ तथा अक्षर रूप मे मैं 'कूटस्थ' हूँ। किन्तु प्रस्तुत सोलहवा श्लोक मानव को प्राप्त स्मृति एव ज्ञान का वाचक है। स्मृति एव ज्ञान के कारण मानव को द्वन्द्वात्मक जीवन प्राप्त हुआ है। ज्ञानबोध मानव का अनन्य लक्षण है तथा ज्ञानबोध का अखण्ड विकास ही उसकी परिपूणता है अथवा पुरुषोत्तमत्व है।

दिक्‌बोध एव कालबोध

बुद्धि एव स्मृति के कारण मानव अन्य प्राणियो से अपनी पृथकता का परिज्ञान कर सका, अपन चतुर्दिक के विश्व को निहारता, परखता रहा, उनके गुणदोषो को जानता रहा। किन्तु बुद्धि के विकास के साथ उसे अपने अकेलेपन का अहसास हुआ होगा। इस अकेलेपन की भावना पर विजय प्राप्त करने के लिये उसे अतीन्द्रियता का सहारा लेना पडा होगा। इसके कारण ही परमात्मा की अवधारणा सिद्ध हुई होगी। *धीरे-धीरे परमतत्व बोध अधिकाधिक पृथगात्म होने लगा तथा विश्वरूप बन गया। गीता* के इसी विश्वतोमुखता का चित्र विश्वरूपदशन मे प्राप्त होता है [अध्याय ग्यारहवाँ]। इस दिकसवेदना [सेन्स आव स्पेस] के कारण ही सस्कृति विकास के काल का शुभारभ हुआ तथा कालबोध भी प्रत्यक्ष हो गया। परिणामत मानव एक समय तीनो कालो म जी सकने की शक्ति को प्राप्त कर सका। मानवत्व के इस पूण दर्शन का ही वस्तुत गीता मे चित्रित किया गया है।

स्पष्ट है कि अवकाशबोध की परिधि मे आनवाली प्रत्येक बात को व्यासजी न 'क्षर' कहा है कारण दश्य वस्तु का क्षरत्व उसका एक गुण है। तथापि कालबोध 'अक्षर' है। फलत वह गूढ, गुह्य प्रतीत होता है जिसे यहाँ 'कूटस्थ' कहा गया है।

दिकबोध का गणन, मापन सभव होता है। इसीसे 'विज्ञानो' की निर्मिति हो गई, किन्तु कालबोध का गणन, मापन सभव नही होता। दो कालबिंदुओ के बीच के अन्तर को कालसम्बद्ध शब्दावली की सहायता से प्रस्तुत नही किया जा सकता, भले ही मिनट, घण्टा, वर्षादि अवकाशबोधक शब्दो को मे उसे शब्दबद्ध किया जाये। "स्पेस' कणसयुक्त होने के कारण उसका गणन, मापन सभव है 'टाइम' के सम्बन्ध म यह सभव नही है। हम दस कि० मी० तक जाना हो तो इस अन्तर की परिधि के प्रत्येक बिंदु को लाँघकर जाना पडता है किन्तु भूतकाल मे पहुँचना हो तो बिंदुगत सयोग से पूव काल मे नही जाया जा सकता। हम इन बिंदुओ को बिना पार किए ही वहाँ पहुँच सकते है। अत कालबोध रहस्य का निर्माता सिद्ध होता है। तथापि मानव ज्ञान एव स्मृति के योग से तीनो कालो म जी सकता है। 'अश्वत्थ' शब्द भी सभवत इस तथ्य की ओर सकेत करता है। [अ = आज, श्व = कल (भविष्यत) त = अतीत तथा थ = रहने वाला।] कालबोध को व्यास जी सभवत 'स्मृति' के नाम मे अभिहित करते होगे। तथापि वह है रहस्यमय जिसे 'कूटस्थ' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है।

आदिम ललक

गूढत्व के बोध के उपरांत भी मानव की आदिम ललक (प्रीमॉडियल अर्ज) पूर्ण मानव [उत्तम पुरुष = पुरुषोत्तम] बनने की ओर है। पुरुषोत्तम शब्द द्वारा यह व्यंजित होता है। युगीन पद्धति के अनुसार पूर्णत्व का मार्ग पारमार्थिक ही हो सकता था। अतः यहाँ का पारमार्थिक चित्रण प्रतीकात्मक ही समझना चाहिए।

विभूतिविस्तार

व्यासजी ने इस प्रकार 'उत्तम पुरुष' बनने की विकासगामी यात्रा, जो प्रत्येक मनुष्य के लिये संभव है, यहां प्रस्तुत की है। इस पूर्णता का चित्र व्यासजी ने दसवें एवं ग्यारहवें अध्यायों में प्रस्तुत किया है। दसवें अध्याय 'विभूतिविस्तारयोग' में प्रस्तुत विभूतियाँ मानव के अवकाशबोध के विस्तार को स्पष्ट करती हैं। वे व्यास जी के युग तक ज्ञात ज्ञानपरिधि में आने वाली विभूतियाँ हैं। अतः वहां सांकेतिक, मानवीय, अमानवीय, अद्भुत विभूतियाँ आती हैं। उन सबका समान स्तर पर वर्णन प्राप्त होता है। इस अध्याय में विवेचित गुणसमुच्चय वस्तुतः मानव संस्कृति की आन्तरिक श्रेष्ठता से संबद्ध है। अतः यहां प्रस्तुत 'मैं' संस्कृति निर्माता मानव है। इस अध्याय की विभूतियों का चित्र वस्तुतः तत्कालीन मानव-ज्ञान की सीमाओं का प्रारूप प्रस्तुत करता है। ये विभूतियाँ मानवकर्तृत्व, ज्ञानशोध के अंगोपांग हैं। श्रीकृष्ण पूर्णत्व की ओर जाने की आदिम ललक रखने वाले मनुष्य 'पुरुषोत्तम' का प्रतीक हैं। स्पष्ट है कि दसवें अध्याय में वर्णित 'विभूतिविस्तार' मानव के अवकाशबोध का वाचक है जिसे पंद्रहवें अध्याय में 'क्षर' शब्द में ग्रथित किया गया है।

दसवें ग्यारहवें अध्यायों का संदर्भ

व्यासजी संभवतः दसवें-ग्यारहवें अध्यायों की भिन्नता से परिचित हैं। अतः दसवें अध्याय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'बुद्धियोगं ददामि तं', तो ग्यारहवें अध्याय में 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' कहते हैं। अन्य किसी भी अध्याय को जानने के हेतु इस प्रकार के पूर्वाभ्यास की आवश्यकता नहीं समझी गई है। पन्द्रहवें अध्याय के अंत में भी विवेचित सूत्रों को बुद्धि से जान लेने की आवश्यकता बताई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दसवें अध्याय का विवेचन बुद्धि के योग से, ग्यारहवें अध्याय का विवेचन दिव्य दृष्टि से अर्थात काल दृष्टि से तथा पन्द्रहवें अध्याय का विवेचन बुद्धि से ध्यातव्य कहा गया है।

दसवें अध्याय का विभूतिविस्तारयोग वस्तुतः तत्कालीन मानव-ज्ञान के विकास का प्रारूप प्रस्तुत करने वाला 'ज्ञानविस्तार योग' है। ग्यारहवें अध्याय के ३१ वें श्लोक में कृष्ण अपने आपको सब संहारक काल कहते हैं। स्पष्ट है कि यह अध्याय 'काल' रूप दर्शन का अध्याय है। कालबोध के योग से कृष्ण तीनों कालों, चराचर सृष्टि के ज्ञाता बन गए हैं। किन्तु इस बोध में विनाश बोध ही तीव्र है। कालबोध की रहस्यमयता के कारण इस अध्याय के वर्णन में रहस्यात्मकता आ गई है, यहां के चित्र भी दिव्यरूप में प्रस्तुत किए गए हैं जो मनोज्ञ बन पड़े हैं तथा ध्यातव्य भी हैं।

उत्तमपुरुष = पुरुषोत्तम

पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित पुरुषोत्तमयोग के आद्यबिंब को दसवें एवं ग्यारहवें अध्यायों की सहायता से अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। विस्तारभय से यहाँ मात्र संकेत

दिये गये है। श्रीकृष्ण के मानव रूप की इस स्थापना से स्पष्ट होगा कि पुरुषोत्तमयोग का पुरुषोत्तम उत्तम पुरुष का वाचक शब्द है। यह अध्याय उत्तमता की ओर बढने की आदिम ललक का सूचक है। प्रस्तुत बिंब ह्यूमैनिज्म-मनुष्यता का आद्यबिंब है। विकसित मानवतावादी अवधारणा का यह आद्यबिंब है।[१२]

एकत्व का प्रतीक

इस पद्धति से 'पुरुषोत्तमयोग' के आद्यबिंब की व्याख्या से स्पष्ट होगा कि यहा का पुरुषोत्तम वस्तुत 'उत्तम पुरुष' हैं। इस बिंब का पूरे भारतीयो पर प्रभाव है। मिथक समूहगत एव जातीय होते है जो पूरे समूह तथा देश को एक सूत्र मे बाध देते है। समाज मन की सामूहिक मानसिकता तथा आध्यात्मिक कृतिशीलता को वे व्यक्त करते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मिथक एकता की स्पष्ट एव प्रभावशाली अभिव्यक्ति है जो भावना, कृति एव जीवन की समग्रता को रूपायित करती है। देशकाल को वह व्याप देता है तथा मानव समाज मे वह सवत्र गतिशील रहता है। वह अतीत को वतमान स जोडता है तथा भविष्य की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार मिथक कालजयी होता है।[१३] सभवत यही कारण है कि भगवदगीता भारतीय मानस को घेरे हुए है। 'पुरुषोत्तमयोग' व्यासजी की अपार प्रतिभा की कालजयी अभिव्यक्ति है। किन्तु इसकी महात्मता को समझने के लिये हमे परम्परागत आध्यात्मिक माहौल को तोडना होगा, तभी इसके एकत्व का प्रभाव स्थापित हो सकता है।

सदभ एव स्पष्टीकरण

इस लेख मे आए हुए गीता के उद्धरण प० श्री दा० सातवलेकर की कृति पुरुषाथ बोधिनी [श्रीमद्‌भगवदगीता की टीका] भाग एक से तीन स्वाध्याय मडल, पारडी, जि० बल्साड १९६७ से लिए गए हैं। पन्द्रहवें अध्याय की समीक्षा मे डा० दु० का० सत जी की कृति 'गीता के पुरुषोत्तम एव मानव्यदर्शन]फडके बुक सेलस, कोल्हापुर १९८४] से विशेष सहायता प्राप्त की है। दोनो कृतियाँ मराठी मे लिखी गई है।

१ नरहर कुरुदकर अभिवादन इद्रायणी साहित्य, पुणे '१९८७ पृ० ४३
२ प्रा० श्री ह० दीक्षित भारतीय तत्वज्ञान सुविचार प्रकाशन, पुणे पृ० ६७
३ नरहर कुरुदकर अभिवादन पृ० ४३
४ लक्ष्मणशास्त्री जोशी लेख सग्रह ख० १ श्री विद्या, पुणे १९८२ पृ० २११-१२
५ वही पृ० ३१४
६ डा० दु० का० सन्त गीता के पुरुषोत्तम एव मानव्यदर्शन
७ G S Kirk Myth Its meaning & Functions in Ancient & Other Cultures Uni of California Press '970 PP 39 to 41
८ I bid PP 211-12
९ डा० दु० का० सत पृ० १७
१० प० सातवलेकर पृ० ८४८ ४९
११ वही पृ० ८४९
१२ डॉ० दु० का० सत पृ० २६
१३ Guerin, Labor & others A Handbook of Critical Approaches to Literature Harper & Row, New York 1979 PP 156-57 ●

पातञ्जल योग और आधुनिक विज्ञान

प्रा० डा० ना० वि० करबेलकर

पातञ्जल योग आध्यात्मिक उन्नति का एक साधन है। किन्तु आधुनिक विज्ञान की दृष्टि मे वह व्यक्तिमत्व बनाने का विज्ञान है। शरीर, मन और बुद्धि इन तीनो का सहविकास तथा समन्वय योगसाधना द्वारा किया जा सकता है। समग्र, बलयुक्त, प्रसन्न, समाजशील और मानवता-संपन्न व्यक्तिमत्व योगाभ्यास द्वारा प्राप्त होता है। योगदर्शन निवृत्तिपर तथा प्रवृत्तिपर, उभयविध है। हेयं दुःखमनागतम ।। (पा० यो० सू० २ १६) यह सूत्र—भविष्यकालीन दुःख दूर किया जा सकता है, और इसे दूर करना मनुष्य का कर्तव्य है, इस आशावाद और प्रयत्नवाद की घोषणा करता है। पातञ्जल योगदर्शन भारतीय मनोविज्ञान का उत्कृष्ट विलास माना गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बहिरंग साधना है और धारणा, ध्यान और समाधि अंतरंग साधना। दोनो मिलकर पतञ्जलि का अष्टांग योग होता है। आसन से उसकी प्रात्यक्षिक साधना प्रारम्भ होती है। शरीर और मन के स्थिरीकरण के लिये आसन का अभ्यास किया जाता है।

शरीर के जिस बैठक मे या आकृतिबन्ध मे सुखपूर्वक स्थिरता से बैठा जा सकता है उसे आसन कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने **स्थिरसुखमासनम** ।। (यो० सू० २ ४६) इन शब्दों मे आसन की परिभाषा की है। स्थिरता और सुखदता ये दो आसन के व्यवच्छेदक लक्षण हैं। सिद्धासन, पद्मासन आदि ध्यान के लिये उपयुक्त आसन इस परिभाषा के आदर्श उदाहरण हैं। पतञ्जलि ने किसी भी आसन का नामनिर्देश नही किया है। हठयौगिक आसनो के और दो वर्ग हैं। पश्चिमोत्तान, सर्वांग, हल आदि अनेक आसन शरीर के किसी न किसी अंगोपांग की अकार्यक्षमता दूर करने के लिये किये जाते हैं। इन्हे दोषहारक आसन कह सकते हैं। आरामदायी आसनो के वर्ग मे इने गिने शवासन मकरासन, जैसे आसन आते हैं। अकार्यक्षमता निवारक और आरामदायी आसनो के नियमित अभ्यास से तीन तीन घण्टे तक किसी ध्यानासन मे सुख से स्थिरतापूर्वक बैठने की योग्यता साधक प्राप्त कर लेता है। यह आसन **स्थैर्य** की अवस्था है। आगे चलकर बिना सायास, शरीर मासपेशियो के शक्याधिक शिथिलता के साथ दीर्घकाल सुखपूर्वक स्थिर बैठने मे चित्त के अवधान की लेशमात्र भी आवश्यकता नही रहती। इस **आसनजय** अवस्था मे आकाश जैसे किसी अनन्त व्यापक से मन का ऐकात्म्य किया जा सकता है। आसन के शतप्रतिशत पूर्णत्व का निरूपण पतञ्जलि ने **प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम** ।। २ ४७ ।। इन समर्पक शब्दो मे दिया है। अब आसन इतनी सहजता से किया जाता है, और बनाये रखा जाता है, कि प्रयत्न की आवश्यकता नही रहती। बडे मस्तिष्क (सेरेब्रम) के पृष्ठ पर होने वाली विचार, तर्क निश्चय आदि उच्च मानसिक बौद्धिक क्रियाएँ आसन स्थिति के लिये बिलकुल आवश्यक नही होती। पूर्णांगीण आदर्श आसनो से **ततो द्वन्द्वानाभिघात** ।। २ ४८ ।। यह फल मिलता है, ऐसा पातञ्जल योग सूत्र बताता है।

इसका वैज्ञानिक स्पष्टीकरण इस प्रकार है। (१) प्रारम्भ म बडे मस्तिष्क के मार्गदर्शन मे छोटा मस्तिष्क (सेरेबेलम) आसन करने और बनाये रखने म जुट जाता है। शरीर की जटिल से जटिल हलचल भी छोटे मस्तिष्क की सत्ता से होती है। आसनो का अभ्यास दीर्घकाल करने पर बिना बडे मस्तिष्क की सहायता छोटा मस्तिष्क पूर्ण उत्तरदायित्व से सहजता से आसन स्थिति लेना, आसन स्थिति बनाये रखना और उसे छोडना ये क्रियाएँ स्वतन्त्र सत्ता से कर लेता है। बडा मस्तिष्क अपने वैचारिक और ध्यानात्मक कार्य के लिये मुक्त हो जाता है। इस आसनजय अवस्था का वर्णन २ ४७ सूत्र मे ऊपर दिया है। साइकिल सीखने मे एव तैरना सीखने मे, प्रारम्भ मे, बडे मस्तिष्क का सहकार्य और मार्गदर्शन आवश्यक रहता है। किन्तु पर्याप्त अभ्यास के बाद ये क्रियाएँ सहजता से होने लगती हैं। छोटा मस्तिष्क ही आसानी से उन्हें कर लेता है। आसन के अभ्यास से भी ऐसा ही होता है। इसलिये आसन के पूर्णत्व की कसौटी प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। इन शब्दो म व्यक्त की गई है। (२) आसन स्थिति सुखपूर्वक स्थिरता से बनाये रखने के लिये शरीरान्तर्गत अनेक केन्द्रो से प्रेरित सवेदना यन्त्रणाएँ कार्यरूप लेती देखी जाती है। ये आसन स्थिरणकारी प्रक्रियाएँ नगण्यप्राय प्रसारक-रोधिता से लेकर विशेष जटिल प्रतिक्रियात्मक प्रक्रियाओ तक क्रमश बढते हुए बलयुक्त श्रेणी बनाती हैं। सामान्यत य प्रक्रियायें मस्तिष्क के निम्न केन्द्रो द्वारा ही निपट ली जाती हैं। (३) शरीर की कुछ क्रियाएँ ऐच्छिक चेता सस्था द्वारा उसमे सलग्न मासपेशियो के द्वारा की जाती हैं। जैसे हाथ पैरो से किये जाने वाले कार्य। किन्तु हृदयस्पदन, रोहिणियो की चौडाई की घटबढ, जठररस की निर्मिति, आँतो का कार्य आदि स्वायत्त चेता और उनसे सलग्न, मासपेशिया द्वारा होता रहता है। दोनो प्रकार के चेतनातन्तु जाल और मासपेशियाँ परस्पर गुँथी हुई पायी जाती हैं। आसनो द्वारा मासपेशियो और चेतासस्था मे सामजस्य स्थापित होता है। शरीर कम्पन (अगमेजयत्व पा० यो० सू० १ ३१) इनके सामजस्य का अभाव दर्शाता है। आसनो के अभ्यास से अगमेजयत्व हट जाता है, यह एक बडी उपलब्धि है। ऐच्छिक और अनैच्छिक (autonomous) चेता सस्थाओ म भी आसनो के अभ्यास से समन्वय आ जाता है। अनैच्छिक या स्वायत्त चेतासस्था की अनुकपी (सिपथैटिक) और परानुकपी (पैरासिपथैटिक) दो शाखाएँ होती हैं, जो मासपेशियो पर परस्पर विरोधी प्रभाव डालती हैं। आसनो द्वारा इन दो शाखाओ के कार्य म समन्वय स्थापित हो जाता है। मासपेशियो के समूह को कार्यप्रवत्त करना या पीछे हटा लेना या विशिष्ट दिशा मे कार्यप्रवृत्त करना इन सभी प्रक्रियाओ म आसनो से युक्त सतुलन आ जाता है। इस प्रकार (i) चेता-मासपेशिया मे सामजस्य (ii) ऐच्छिक स्वायत्त चेता सस्थाओ मे समन्वय (iii) स्वायत्त चेता सस्थाके अनुकम्पी-परानुकपी शाखाओ म सहकार्य और (iv) किसी मासपेशी समूह से सम्बन्धित चेता ततुओ के कार्य मे सतुलन, य सब कार्य आसनो द्वारा होते हैं। यही उनमे के द्वैत या द्वन्द्व का निराकरण होना कहलाता है। चेता सस्था और मासपेशीय ऐकात्म्य यह आसनो की एकसघ, समथ और सम्पन्न व्यक्तिमत्व निर्माण करने मे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसलिये तत द्वन्द्वानाभिघात यह पतञ्जलि का आसनो की फलनिष्पत्ति व्यक्त करनेवाला निष्कर्ष पूर्ण तक सगत है।

योगासन और अन्य व्यायाम, खेलकूद और कवायद म एक महत्त्वपूर्ण भेद है। योगासन विशेषकर वक्षोदर (कबध) स्थित अवयवो का मर्दन और पीठ, रीढ तथा गर्दन से सम्बन्धित मासपेशियो के व्यायाम पर अधिक जोर देते हैं। भुजग, शलभ, धनुष्य, मत्स्यासन आदि रीढ और पीठीयमासपेशियों को पीछे मोडते हैं। योगमुद्रा पश्चिमोत्तान और हल आदि आसन उन्हे आगे मोडते हैं। अर्धमत्स्येंद्रासन और वक्रासन रीढ को कुछ घुमा लेते हैं। मनुष्य की रीढ जितनी नीरोग और लचीली होती है उतना ही

वह यौवनपूर्ण रहता है। पीठ को आगे और पीछे मोड़नेवाले आसन जोड़ी में किये जाते हैं और एक के बाद एक करना उपयुक्त पाया गया है। फिर भी यह अनुकरणीय परम्परा अनिवार्य समझना जरूरी नहीं। आसनों की कुछ अन्य जोड़ियाँ भी उपयुक्त हैं। सर्वांगासन के बाद मत्स्यासन करना उनकी पूरकता के कारण उपयुक्त रहता है।

आसन की अन्तिम स्थिति अधिकाधिक कालावधि तक बनाए रखना किसी मर्यादा तक उपयुक्त पाया गया है। इसका कारण यह है कि मांसपेशियों के एक समूह में खिंचाव तथा तनावों की क्रिया में क्रमशः अधिकाधिक संख्या में मांसपेशियाँ शामिल होती जाती हैं, समूह की मध्यगत और गहरी मांसपेशियाँ कुछ समय के बाद ही कार्य में जुट जाती हैं। मांसपेशियों की सहकार वृत्ति का यह परिणाम है। साथ ही उन मांसपेशियों के समूह की सहन की शक्ति महत्तम हो जाती है। अतः आसन की अन्तिम स्थिति की कालावधि इष्ट मर्यादा तक बढ़ाया जाय। जैसा कि डॉ० वी० एस० एम० एम० राव ने बताया कि बहुत दीर्घकाल तक आसन स्थिति की कालावधि बढ़ाना हानिकारक हो सकता है। विपरीतकरणी आसन दीर्घकाल तक करने से आसन मुद्रा में बदल जाता है। पश्चिमोत्तान आसन प्रदीर्घ काल करने पर पेट की मांसपेशियों में अधिक तनाव पैदा होने के कारण महावेधमुद्रा में परिणत हो जाता है। अतः आसन में आवश्यकता से अधिक तनाव उत्पन्न न हो इस पर हमेशा ख्याल रखा जाय।

मांसपेशियों की हलचल के दो प्रकार होते हैं। समाकारी (isometric) हलचल और समतनाव (isotonic) हलचल। चलना, दौड़ना, तैरना आदि क्रियाओं में मांसपेशियों की समतनाव हलचल विशेष रूप में देखी जाती है। वजन उठाने में तथा दीवार पर जोर देने में सम्बन्धित मांसपेशियों के आकार में लक्षणीय परिवर्तन नहीं होता, किन्तु उनमें तनाव बढ़ता जाता है। अतः ये प्रक्रियाएँ समाकारी (isometric) कही जाती हैं। व्यायाम के भी, इसके अनुरूप समतनाव और समाकारी दो प्रकार होते हैं। आसन बहुत कुछ समाकारी से लगते हैं। किन्तु वे न समाकारी व्यायाम हैं, न समतनाव प्रक्रियाएँ हैं। आसन स्थिति लेने में और छोड़ने में समतनाव हलचल अवश्य करनी पड़ती है। आसन की अन्तिम स्थिति में कुछ मांसपेशियों के समूह में अक्रियात्मक खिंचाव (passive stretching) और संलग्न क्रियारत मांसपेशियों में कारणरूप तनाव रहता है। किन्तु खिंचाव के कारण और मन के स्फुरण से तनाव क्रमशः क्षीण होता जाता है। और उसकी जगह शिथिलता लेती जाती है। कुछ अभ्यास के बाद यह शिथिलता सहजता से स्थापित होने लगती है। शिथिलता आसन का प्राणभूत अंग है। साथ ही आसन मनोकायिक प्रक्रियाएँ हैं। उनके करने में अवचेतन (subconscious) का सहयोग रहता है, और उनका प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है। शरीर की स्थिरता द्वारा मन का स्थिरीकरण आसनों की मनोकायिकता का ही फल है।

आसनों के तीन वर्गों का निर्देश ऊपर आया है। आसनों में शरीर की सब संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ सतर्कता से काम करती हैं। आसन बिना झटके के, लघुतम प्रयास से, अति सावकाश कुछ लय के साथ किये जाते हैं। किसी प्रकार के कष्ट या दुःख होते ही आसन में वहीं रुक जाना चाहिये। आसन करने में और बनाये रखने में मांसपेशियाँ इतना अल्प कार्य करती हैं कि आसनों में प्रति मिनिट केवल ३ कैलोरी (ऊष्मा) उत्पन्न होती है। खेल कूद और व्यायामों में प्रतिमिनिट ३ से १४ कलोरी ऊष्मा निष्कासित होती है। आसन समाकारी व्यायामों जैसे हृदयगति और फेफड़ों पर अधिक बोझ नहीं डालते। आसन में सभी संधियाँ सुचारुता से चलायमान हो जाती हैं। आसन करते समय मन

श्वास पर अवधान रखें तो शरीर का और मन का स्थैर्य सहजता से स्थापित होता है, और शरीर-मन का समन्वय बढ़ता है।

शरीर-व्यापारों का नियन्त्रण चेतासंस्था द्वारा होता है। अंत स्रावी ग्रन्थियों के सूक्ष्म उत्तेजक रसद्रावग्रन्थियों (hormones) द्वारा भी शरीर का संगठन और नियन्त्रण होता है। शरीर व्यापार और चेतासंस्थाधारित व्यापार इनमें अंत स्रावी ग्रन्थियों के रसायन सहायक पाये गये हैं। अल्प मात्रा में होते हुए भी हार्मोन्स शरीर मन पर बहुत प्रभाव डालते हैं। कण्ठस्थ ग्रंथि (thyroid) साल भर में केवल एक चम्मच स्राव देती है जो चयापचय की गति और शरीर, मन और बुद्धि इन तीनों का विकास करने में समर्थ होता है। स्त्री का ३०-३५ वर्षों तक मातृत्व की क्षमता देने वाला रसायन केवल डाक-टिकिट के वजन का होता है। मूत्रपिंड के उपरिस्थित ग्रंथियों का एक स्राव हमें बहुत कठिन विपत्ति में उससे लड़ने के लिये शरीर-मन की समग्र तैयारी कर देता है। अंतःस्रावी ग्रंथियों के रसायन हमारी विचार-शीलता और भावनिकता का निर्माण करते हैं। काम, क्रोध, भय, उत्साह इन स्रावों के मेल का फल है। आसनों द्वारा कवचस्थित अवयवों का सौम्य मर्दन होता है। अतः आसनों द्वारा उनका उत्तेजन, उपशमन तथा समन्वय किया जाता है। आसनों के इस भावनिक संतुलन का खयाल तक सामान्यतः नहीं रखा जाता। विचारशीलता कम करने के लिये, मन की प्रसन्नता, शान्ति और उत्साह बढ़ाने के लिये और मांसपेशियाँ शक्ति संचालित करने के लिये आसनों से प्राप्त यह महत्वपूर्ण उपलब्धि है। सर्वांगासन और मत्स्यासन से कण्ठस्थग्रंथि, शीर्षासन से दिमाग के मूल की (pituitary) ग्रंथि, योगमुद्रा, पश्चिमोत्तान आदि से (तथा नौलि से) मूत्रपिंड ग्रंथियाँ (adrenals) और पद्मासन, सिद्धासन, शलभ द्वारा लैंगिक ग्रंथि संयमित की जा सकती है। आसनों के द्वारा भावावेश नष्ट कर हम भावनिक स्वास्थ्य और संतुलन प्राप्त कर लेते हैं। साथ ही साथ विपरीत (शीर्ष, सर्वांग, विपरीतकरणी) आसनों द्वारा नील शिराओं (veins) की सूजन और उनमें की रुकावट नष्ट करके हम नील प्रकोप (vericos veins) का निवारण कर सकते हैं।

मानवेतर प्राणी अपनी रीढ़ क्षितिजसमांतर रखते हुए चलते, बैठते और सोते हैं। फलतः उन्हें उच्च रक्तचाप का उपद्रव नहीं होता। शवासन और उससे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती प्रणीत योगनिद्रा नामक आविष्कार ऊँचे रक्तचाप को रोकते हैं। शवासनादि में रीढ़ कुछ समय के लिये क्षितिजसमान्तर रखते हुए उच्च रक्तचाप-युक्त स्तर तक उतर जाती है। शिथिलता जनक आसनों का मस्तिष्क पर भी शान्तिप्रद प्रभाव पड़ता है। चिंताएँ, निद्रानाश आदि भी कुछ हद तक रोके जाते हैं। आधुनिक युग के गतिशीलता से चित्त में पैदा होने वाले तनाव शवासनादि से क्षीण कर दिये जाते हैं। मन तनावरहित शांत, स्वस्थ रखना और मांसपेशियाँ शिथिलतम रखना बहुत स्वास्थ्यकर होता है। आहार-विहार भी हित मित-कारी रहे, और चिंता की प्रवृत्ति न रहे, स्वास्थ्य के लिये यह दोनों पथ्यकर हैं।

आसन पर स्वामी कुवलयानन्द (कैवल्यधाम, लोनावला, महाराष्ट्र) ने १९२६ में वैज्ञानिक शोध शुरू की। मत्स्यासन, सर्वांगासन और शीर्षासन से उन्होंने इसका प्रारम्भ किया। राव (१९६८) रँगन, करवेल्कर (१९६९), भोले, सलगर, गोपाल (१९७५), वैंगर और बाग्च, डॉ० के० दाते, धनराज, डि ह्वाइस, बरी, घराटे, गोरे आदि का आसनों के स्वरूप पर शोधकार्य लक्षणीय महत्व रखता है। आसनों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से भिन्न सन्दर्भों से किया जाता है। शरीर अकार्यक्षमता निवारक आसनों के प्रकार (i) उदरस्थ अवयवों और संलग्न मांसपेशियों पर प्रभाव डालने वाले (ii) रीढ़ और चेतनासंस्था पर प्रभाव डालने वाले (iii) अस्थि मांसपेशियों से सम्बंधित संवेदनाओं से निगडित (iv) शरीर का

तोलन जिनमे आवश्यक रहता है। ऐसे ये भिन्न प्रकार हैं। इन वर्गों के आसन श्वसन, रक्ताभिसरण, पाचन, उत्सजन, अत स्रावी ग्रन्थियो का स्रवण और चेतासस्था-स्नायविक सस्था मे सम वय आदि काय करते हैं। ऐच्छिक अनैच्छिक चेता और मासपेशियो का एक दृढ़ सघटन आसनो द्वारा स्थापित होता है और शरीर, मन, बुद्धि और चैतन्य के सुसवाद बढते जाते हैं। आगे की योगसाधना द्वारा मानसिक और चेतना के नये ऊँचे स्तर जगते जाते हैं। आसनो से इनका केवल प्रारम्भ होता है। योगी अरविन्द प्रणीत आध्यात्मिक सोपान की श्रेणिया सम्मुख आती जाती हैं। मानसिक शाति और तरल अनुभूति के लिये शवासन का योगनिद्रा मे विकास किया गया है। सत्यानन्द सरस्वती और डा० सम्प्रसाद विनोद का इस क्षेत्र मे काय उद्बोधक है।

ध्यान के लिये दीघकालिक बैठक सिद्ध, पद्म, स्वस्तिक या सम आसन म ली जाती हैं। इन आसनो मे व्यापक त्रिभुजाकार स्थायी बैठक लेकर पैरो का रक्तसचार धीमा किया जाता है। सिर, गदन और पीठ एक सीधी रेखा मे रखे जाते हैं। **त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीरम्।** ऐसा श्वेताश्वतर (२ ८) उपनिषद कहता है। **समकाय शिरोग्रीव धारयनचल स्थिर।** ऐसा गीता कहती है। मज्जा रज्जु (spinal cord) के ऊपर के अग्र पर तथा नीचे के सिरे मे तथा इस गस चेता मे ध्यानासनो म विशेष रक्तपोषण पहुँचाया जाता है। आसनो का तथा प्राणायामो का अभ्यास शरीर का नियन्त्रण धीरे धीरे स्वायत्त चेता की अनुकपी शाखा मे परानुकपी शाखा की ओर बढाते हैं। ध्यानात्मक आसनों म शरीरान्तगत शिथिलता इतनी बढती जाती है कि आगे प्राणायाम, प्रत्याहार द्वारा धारणा ध्यान मे आसानी से अग्रसर होता है। चित्त अतमु ख, निमल, शात और एकाग्र करने म ध्यानासन सहायता देते हैं।

स्थिर आसन मे बैठकर प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। शात, स्वच्छ पवित्र, उपद्रव रहित शुद्ध, अल्पशीतक और वातानुकूल स्थान मे (रोज उसी स्थान पर) नियोजित समय पर प्राणायाम करना लाभदायक होता है परम्परा से यह साधना प्राणशक्ति के नियन्त्रण द्वारा मन शान्त और स्थिर करने के लिये उपयोग मे लाते हैं। प्राणायाम श्वसन के नियोजन से किया जाता है। श्वसन का चेतासस्था से तथा चित्त से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। श्वसन मूलत अनैच्छिक चेता-नियन्त्रित काय है। किन्तु उसे नियन्त्रित और ऐच्छिक बनाते हुए मध्यवर्ती और स्वायत्त चेता सस्था मे समन्वय लाया जा सकता है। चेता सस्था की ये शाखाएँ ऐकात्म्य की जाती हैं और स्वायत्त सस्था के अनुकपी और परानुकपी शाखाओ म समन्वय लाया जाता है। प्राणायाम स्वेच्छा नियन्त्रित श्वसन है। आसन मे स्थिरता प्राप्त करने पर श्वास और प्रश्वास की गति रोककर (प्राणशक्ति का नियन्त्रण) प्राणायाम मे किया जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने **तस्मिनसति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेद प्राणायाम।** (यो० सू० २ ४९) यह परिभाषा प्राणायाम की दी है। हठयौगिक प्राणायाम मे श्वास फेफडा मे भरना (पूरक), हवा फेफडो मे रोककर कुभक करना, और दूषित हवा प्रश्वास रूप मे फेकना ये तीन अवस्थाएँ रहती हैं। नियन्त्रित श्वास, श्वासावरोध और नियन्त्रित प्रश्वास मिलकर **प्राणायाम** होता है। इन अवस्थाओ को क्रमश पूरक, कुम्भक और रेचक कहते हैं। युक्त रीति से श्वासावरोध करना हठयौगिक प्राणायाम की प्रमुख प्रक्रिया है। पातजल योग मे भी स्थिर आसन म बैठकर श्वास या प्रश्वास अल्पकालावधि के लिये रोकना (पा०यो० सू २ ४९) प्राणायाम की परिभाषा की गई है। प्राणायाम का मनोव्यापार पर प्रभाव पडता है। मनोनियन्त्रित श्वसनक्रिया के रूप में प्राणायाम स्वायत्त (अनिच्छावर्ती) चेतना प्रवाह पर तथा अनिच्छावर्ती सस्था पर प्रभाव डालता है। फलत मनोव्यापार भी प्राणायाम से नियन्त्रित होते जाते हैं। प्राणायाम पारगत प्राणायाम पटु के मागदशन मे सीखकर, उसकी निगरानी म करना चाहिये। प्रारम्भ मे कुभक न करे। पहले पूरक और रेचक सावकाश करने का अभ्यास

करे। धीरे-धीरे पूरक और रेचक के कालावधि का अनुपात १ २ के अनुपात मे बढाने की कोशिश करे। छह महीने के बाद एक दो सेकड के लिये कु भक करे और धीरे धीरे उसकी कालावधि बढाते जाय २०-२५ सेकड का कु भक पर्याप्त है। पूरक और रेचक धीरे धीरे, सम गति से, बिना झटके से, इस प्रकार करें कि रेचक धीरे करने पर पूरक करने मे जल्दबाजी न करनी पडे। प्राणयाम से श्वसन सयमित और दीर्घकालिक होते जाता है। प्राणायाम करते समय प्रारम्भ मे मूलबध, पूरक के उपरान्त कुम्भक प्रारम्भ करने पर जालधर बध, और पूरक समाप्ति से लेकर रेचक मे पेट धीरे धीरे पीछे खीचने तक उड्डियान बध रखा जाय। मूलबन्ध मे गुदाद्वार बन्द करते हुए गुदा को कुछ उपर खीचते हैं। उड्डियान बन्ध मे पेट थोडा सा ही अन्दर खिचा रखते हैं।

प्राणायाम मे एक या दोनो नथुनो से हवा लेते है (पूरक), फेफडो म जालधर बध द्वारा हवा रोककर कु भक करते हैं और फिर रेचक मे हवा धीरे धीरे छोडते हैं। पहिले पूरक और रेचक शक्याधिक धीरे करे, रेचक को पूरक से दुगुना और कुम्भक को पूरक के कालावधि से चौगुना तक समय दे। जालधर बध, मूलबध और उड्डियान बध लगावे। पतजलि प्रणीत बाह्य कुम्भक पूरक के बाद और अत कु भक रेचक के बाद करने का है। किन्तु पूरक, रेचक इस परिभाषा का उपयोग पतजलि ने नही किया है बाह्य और आभ्यन्तर प्राणायाम पतजलि प्रणीत प्राणायाम हमारे नियन्त्रण से होते हैं। स्तम्भ और चतुथ प्राणायाम आपसे आप स्वयमेव होते हैं। प्राणायाम को 'हठयोगप्रदीपिका' मे कु भक कहा है। हमारे नियन्त्रण मे होने वाले प्राणायाम सहित कु भक कहे जाते हैं और ये पूरक के बाद और रेचक के पूव किये जाते है। पूरक और रेचक के सन्दभ न रखते हुए आपसे आप जो हो जाते हैं वे केवल कु भक कहलाते हैं। बाह्य कु भक अब प्रचार मे नही है। हठयौगिक प्राणायाम आभ्यन्तर प्राणायाम के प्रकार हैं। स्वयमेव होने वाला केवल कु भक आपसे आप होने लगने तक सहित कु भक का अभ्यास करने को हठप्रदीपिका कहती है (ह० प्र० २ ७१)। हठप्रदीपिका सूयभेदन, उज्जायी, सित्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी (कु भक =) प्राणायाम बताती है। श्वसन यत्रणा मे अवरोध हो, शरीर मे मेद या श्लेष्मा अधिक हो तो हठयौगिक शुद्धि क्रियाओ मे से नेति, धौति और कपालभाति सीख लेना चाहिये। प्राणायाम सतक रह के ही किया जाय। **प्राणायामेन युक्तेन सवरोगक्षयो भवेत। अयुक्ताभ्यासयोगेन सवरोग समुदभव** योग्य प्रकार से प्राणायाम करने से सब व्याधियां नष्ट हो जाती है। लेकिन अयुक्त रीति से प्राणायाम करने से सभी रोगो का प्रादुर्भाव होता है। ह० प्र० २ १६ पतजलि ने (यो० सू० २ ५० और २ ५१ मे) प्राणायाम के प्रकार दिये हैं। **सतु बाह्याभ्यन्तर स्तम्भ वृत्तिर्देशकालसख्याभि परिदृष्टो दीघसूक्ष्म** । प्राणायाम नासिका द्वारा प्राणवायु बाहर छोडना (रेचक हठयोगानुसार) अन्दर लेना (पूरक) और कुछ समय के लिये फेफडा म रोके रखना प्राणायाम का स्वरूप है। **बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुथ** । पूरक आभ्यन्तर व रेचक (बाह्य) से सदभ के बिना स्वयमेव (निर्विचार मन के कारण) होने वाला प्राणायाम उसका चतुथ प्रकार है। प्राणायाम साधना से ज्ञान प्राप्ति मे जो विघ्न आ सकते है उनका नाश होता है और साधक धारणा करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है **तत क्षीयते प्रकाशावरणम। धारणासु च योग्यता मनस** । २ ५२ ५३ इन सूत्रो का सही आशय है।

प्राणायाम स्वेच्छया नियत्रित श्वसन है। धीरे धीरे पूरक, कु भक और रेचक करना, शरीर प्राणवायु सचित नही कर सकता। आवश्यकतानुसार ही प्राणवायु का शोषण फेफडों में रक्त द्वारा होता है। फेफडो मे पाच भागो मे और कुछ ३०-३५ करोड वायु कोशो के समूह को स्पज जैसी यत्रणा रहती है। प्राणायाम मे अधिकत्व से प्राणवायु का शोषण नही होता। सामान्य श्वसन की अपेक्षा

प्राणवायु का शोषण और कर्बाम्ल का निष्कासन मुख्य कम ही होता है। हवा फेफडा म रोके रहना अत कुभक है। रेचक के बाद हवा फेफडो मे नही घुसने देना वहिकुभक है। स्वयमेव केवल कुभक मे पूरक या रेचक आशिक हुआ हो तो भी श्वास-प्रश्वास रुक जाता है। इसमे फेफडों मे और बाहर हवा का निपीड एक सा होता है। अतकुभक मे फेफडो मे हवा अधिक निपीड पर और वहिकुभक म वाहर की हवा से कम निपीड पर होती है। प्राणायाम मे पूरक और रेचक की कालावधि बढाना महत्व का है। कुभक मे जालधर बध आवश्यक है। पद्मासन आदि मे सिर, गदन और पीठ एक सीध में रखके सुखपूवक स्थिर बैठना, आँखें हल्की सी बद रखना, पूरक रेचक दोना धीमे करना, समगति से करना और रेचक पूरक से दुगने समय मे करना आवश्यक है। वे विना झटके और सावकाश करना है। रोज दो या चार बार प्राणायाम करना और हरेक बैठक मे ८० प्राणायाम किये जाँय। श्वसन गति पर चित्त का अवधान लगातार रखना होता है। श्वसन गति धीमी होते ही मन की गति भी कम होती जाती है। श्वसन मे मन जोडना ही **प्राणधारणा है। चले वाते चल चित्त निश्चले निश्चल भवेत। योगीस्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरोधयेत् ॥** ह० प्र० २ २ ॥ श्वसन पूणरूप से रोकने पर मन भी स्थिर हो जाता है। अवधान, मन का प्रयत्न, भावावेग और वासना इनके द्वारा श्वसन गति अनियमित और जल्द हो जाते हैं। दीघ अभ्यास से मन शात और सतुलित हो जाता है। पूरक कुभक रेचक का अतिम अनुपात १ ४ २ करने का है। गोरक्ष-सहिता मे यह अनुपात ६ ८'५ दिया है।

पूरक अवस्था मे मज्जासेतु (medulla oblongata) मे स्थित श्वसन केन्द्र प्रेरणा देता है। फेफडे फूलते हैं। कधे ऊपर उठना, पसलिया ऊपर और आगे बढना और फेफडे और उदर के बीच म का श्वसन पटल नीचे धकेले जाना, इन तीन प्रकारो से फेफडो का आकार बढता है, और उनमें बाह्य वातावरण की अपेक्षा निपीड ऋण हो जाता है। वाहर की हवा नासिका द्वारा अन्दर घुसती है। मनोबल से रेचक की प्रेरणा रोक कर पूरक दीघ किया जाता है। ऐसा एक दो बार ही कर पाते हैं। आखिर पूरक समाप्त करके फेफडो में हवा रोक कर जालधर बध लगाया जाता है। फेफडों मे कर्बाम्ल की मात्रा बढने से रेचक की प्रेरणा होती है। मस्तिष्क में कर्बाम्ल की अधिकता और प्राणवायु की कमी में एकदम उनकी विरोधी प्रक्रियाओ का स्फुरण होता है। किन्तु मन के निश्चय से हम उसे रोकते हैं। और एक दो बार ऐसा करने पर कुभक अत्यन्त धीरे-धीरे छोडा जाता है। जालधर-बध कुम्भक दढता से रोके रहता है। रेचक मे बीच बीच मे पूरक के लिये प्रेरणा मिलती है कर्बाम्ल की फेफडो मे बढी हुई मात्रा रासायनिक सवेदना द्वारा रेचक की प्रेरणा देती है। वायु का फेफडो मे बढा हुआ निपीड नपिडिक प्रेरणा देता है। केवल मनोबल से एक दो बार इनका प्रतिकार किया जाता है। जालधर बध लगाने पर कुम्भक दृढता से रोका रहता है। बध से रक्ताभिसरण, चेता सवेदना वहन और कठस्थ ग्रथिका श्रवण पर भी प्रभाव पडता है। गले की वाह्य और आन्तर-कॅरोटिड रोहिणिया दब जाती हैं, कॅरोटिड अस्थिछिद्र भी बन्द सा हो जाता है फलत रक्तचाप कम होता है। हृदयगति घटती है, और एक अनोखी शाति पूरी चेतना को व्यापती है। मज्जा रज्जु (Spinal cord) के ऊपर अग्र मे रक्त पोषण अधिक पहुँचता है। ध्यानासन की बैठक के कारण श्रोणी(पेल्व्हिक) द्वारा मज्जारज्जु के नीचे के अग्र मे भी अधिक रक्त पोषण पहुँचता है। व्हेगस चेता भी सघटन काय मे प्रभावशील हो जाती है। फलत प्राणायाम द्वारा एक शान्तिमय और आनदमय अवस्था स्थापित हो जाती है। चित्त का अवधान श्वसन गति से बद्ध रहता है। प्राण शक्ति ऊँची उठकर शरीर मन को उच्च स्तर से देखने लगती है। मन सूक्ष्मता और सवेद्यता और बुद्धि की मूलगामिता बढती है और श्वसनारूढ मन सहजता से एकाग्र होने लगता है। फलत (२ ५२ ५३ मे

निर्देशित) ज्ञान के आकलन मे बीच मे आनेवाले परदे हट जाते है, बुद्धि प्रज्ञा जैसी तेज हो जाती है और शान्त निमल, एकाग्र मन धारणा के लिये योग्यता प्राप्त कर लेता है। कुम्भक से फेफड़े कर्बाम्ल का अधिकत्व सहने के लिये आदी हो जाते हैं। जालधर-बध के बिना न कुम्भक दढता से रोके रहेगा, मस्तिष्क मे कर्बाम्ल की अधिक मात्रा पहुचेगी तथा हृदय चित्त शरीर की धारणा ध्यान के लिये सिद्धता नही होगी।

रेचक शक्याधिक धीमा और सावकाश करते हैं। कर्बाम्ल की अधिक मात्रा बहुत देर मे आवश्यक, उतनी कम हो पाती है। प्रश्वास के साथ मन विमुक्त सा और बोझ रहित हो जाता है। तथापि रेचक इतना दीघ न करे कि साधक प्राणवायु की कमी से तडपने लगे। दीर्घ रेचक से सचित दूषित हवा अधिक से अधिक बाहर निष्कासित हो जाती है। फेफडों की धारणा शक्ति बढती है। दीघ रेचक द्वारा अधिक कर्बाम्ल सहने की शक्ति फेफडो मे आ जाती है। दीघ प्रश्वास से शरीर मन के तनाव घट जाते हैं। रेचक द्वारा पेट मे निपीड बढते हुए पाया गया है। प्राणायाम मे श्वसन की सवेदना यत्रणा, तथा सवेदना प्रतिक्रियात्मक यत्रणा अधिक क्षमता प्राप्त करती है। प्राणायाम का अभ्यास भी साधक का नियन्त्रण अनुकपी से कुछ घटाकर परानुकम्पी के चेता शाखा के अधिकत्व की ओर ले जाता है।

प्राणायाम दीर्घ श्वसन से बिलकुल भिन्न है। शरीर मे अधिक प्राणवायु शोषित करने हेतु दीघ श्वसन किया जाता है। कष्टा के बाद श्वसन आप से आप दीघ हो जाता है। स्वेच्छया भी दीघ श्वसन का सहारा लिया जाता है। दीघ श्वसन मे मन का श्वसन से सहकाय अनिवाय नही है। दीघ श्वसन मे कुभक अवस्था नही होती, न पूरक, कुभक, रेचक की कालावधि मे निश्चित अनुपात होता है। एक मिनिट मे चार या दो ही प्राणायाम तक सामान्य साधक पहुचता है। दीर्घ श्वसन प्रति मिनिट २० से ३० या अधिक बार भी किया जाता है। प्राणायाम जैसे बध दीघ श्वसन मे नही होते और पेट थोडा सा अन्दर खिचा हुआ नही रहता। थकान दूर करने के लिय दीघ श्वसन उपयुक्त है। कर्बाम्ल की बहुत कमी से, श्वसन के परिश्रम से, और जल्दबाजी से दीघ श्वसन हानि पहुँचा सकता है। मन की शाति के लिए तथा चित्त के उन्नयन म दीघश्वसन का कुछ मूल्य नही है।

प्राणायाम हठयोग का प्रमुख आधार है, मन का सयम राजयोग का आधार है। अष्टाग योग के धारणा, ध्यान, समाधि य अग राजयोग के हिस्से है। प्राणायाम आसन जसे ही मनोकायिक स्वरूप का है, और उसमे आसनो से कायिक अश कम और मानसिक अश ज्यादा है। प्राणायाम द्वारा रक्त मे प्राणवायु का शोषण अधिक क्षमता से कराने का उद्दिष्ट रहता है। अशुद्ध रक्त प्राणवायु से शुद्ध करके शरीर म सब दूर पहुँचाने से शरीर स्वस्थ रहता है। व्यायामो के द्वारा हृदय और फेफडो की गति बढाने के बदले प्राणायाम श्वसन से सीधा सम्बन्ध रख के उसके द्वारा प्राणवायु के शोषण की सापेक्ष क्षमता बढाता है। प्राणवायु शोषण नही बढाता, कुछ कम ही करता है। किन्तु शोषण की क्षमता बढाता है। रक्त की जो भी महत्तम शोषण क्षमता हो वहाँ तक पहुँचना चाहता है। फेफडो मे कुछ ३०-३५ करोड वायु कोश होते हैं। ८ वष की आयु मे कोश की सख्या महत्तम हो चुकी रहती है और उसके बाद वायुकोशा का आकार बढता है, सख्या नही। ८वें वष मे बालक को उपनयन विधि के साथ सध्या' द्वारा प्राणायाम की दीक्षा दी जाती थी। वायु कोशो के परदो का क्षेत्र कुछ ५० चौरस सेंटीमीटर यानी हमारे शरीर की त्वचा के क्षेत्र से कुछ २० गुना होता है। रक्त मे से कर्बाम्ल वायु वायु कोश मे घुसता है और वायुकोश मे का प्राणवायु रक्त मे प्रविष्ट होता है। रक्त और प्राणवायु वायु-कोश के परदे के दो बाजू म रहते है पूरक और कुम्भक के २० २५ सेकड के कालान्तर मे रक्त के कुछ २५-३० चक्कर वायुकोश परदे के रक्त वाहिनियो से हो जाते हैं। इस प्रकार रक्त थोडा थोडा सा प्राणवायु शोषते हुए आगे बढ जाता है। यह

गणित से बताया जा सकता है। इस प्रकार वायु से प्राणवायु का सापेक्षत अधिक अश रक्त मे ले लिया जाता है। हृदय गति पर भी इसका विश्रान्ति कारक प्रभाव पडता है। षट् क्रिया, कपालभाति और बाह्य कुम्भक से श्वसन मार्ग साफ होता है और श्वसन यत्रणा मजबूत होती है। नाडी शोधन (अनुलोम विलोम) नथुनो को विभाजित करने वाले परदे (Septum) का मध्य से विचलन और कुछ वक्रता ठीक देते हैं। उसे कुछ दुरुस्त भी करते हैं। उज्जायी प्राणायाम कठ और फुफ्फुस द्वार साफ करता है। सित्कारी प्राणायाम नासिका प्रविष्ट वायु को आवश्यक मात्रा मे आर्द्रतायुक्त कर देते हैं।

फेफडा के ऊपरी भाग मे जहाँ नलिकाओ मे वायुकोश नही रहते वहाँ बद्ध होने वाली हवा प्राणायामिक शोषण मे सहभाग नही लेती। भस्त्रिका प्राणायाम से इस विभाग म से बद्ध दूषित हवा का सापेक्ष प्रमाण घटा दिया जाता है। श्वसन पटल और पेट की सहायता से फेफडो का ऊर्ध्व विस्तार ज्यादा बढाया जा सकता है। और वायुकोशो की अधिकतम सख्या श्वसन मे योगदान देती है। केवल सीना अधिक फुलाकर फेफडो की चौडाई का विस्तार बढता है और बाँयें दायें सीमावर्ती वायुकोश अपना लचीलापन गँवाते है। वे फट जाते हैं और बेकार हो जाते हैं। इस व्याधि को एफिफ्सेमा कहते हैं। १२ १४ सें० मी० छाती फुलाने के बदले श्वसन-पटल की ऊपर-नीचे होने वाली केवल १ से० मी० की हलचल अगर ३ से० मी० बढायी जाय तो श्वशन-पटल का क्षेत्र कुछ ५८० चौ० से० मी० होने स फेफडो का विस्तार पहले से (३—१) × ५४० = १०८० घ० से० मी० हो जायेगा। साथ ही अधिक वायुकोश काम करेंगे और उनकी जरा भी सख्या बेकार नही होगी। प्राणायामिक 'श्वसन' श्वसन पटल की सहायता से करने से अधिक ऊर्ध्व दिशात्म और अधिक कार्यक्षम होता है। फेफडो का सार्वत्रिक और समरूप विस्तार सर्व दिशात्म होता है। अगर वायुकोश ऐसे विस्तार से नही फूलेंगे तो 'प्राणवायु कर्बाम्ल' की लेन देन मे भी वे सहभाग नही ले पायेंगे। केवल कुछ वायुकोश अधिक फुलाने से फायदा नही। रक्त सपृक्तता से अधिक प्राणवायु शोषण नही कर पाता। अत अधिक रक्त की मात्रा वायुकोश मे प्रविष्ट प्राणवायु के सान्निध्य मे लाना उसका अधिक साक्षेप क्षमता से शोषण करायेगी। श्वसन (पूरक) करने के पूर्व फेफडो मे जो ऋण निपीड होता है, वह जैसे बाहर की हवा नाक से खीच लेता है उसी प्रकार, ये ऋण निपीड बडी नीलशिरा से अधिक अशुद्ध रक्त हृदय से फेफडो मे खीच लेता है। रक्त सचरण चालक बल भी बढ जाता है। कुभक मे फेफडो मे हवा रोके रहने से श्वसन गति धीमी हो जाती है। फलत हृदयगति घटकर हृदय को अधिक विश्राम मिलता है। विश्राम काल (dystole) मे नीली शिरा प्रेषित रक्त फिर से अधिक प्रमाण मे हृदय मे और हृदय से फेफडो म आ पहुँचता है। दीर्घ विश्राम (dystole) काल के बाद मे होने वाला हृदय सकोचन (systole) अधिक जोर से होता है और शरीर सचारणार्थ अधिक रक्त देता है। शरीर मे और फेफडो मे रक्त पहुँचाने का प्रमाण बढाता है। कुछ अधिक देर कुम्भक (और रेचक) रखने मे मस्तिष्क मे प्राणवायु की कमी (hypoxia) जान पडती है। फलत मस्तिष्क की सूक्ष्म रोहिणियाँ (capillaries) खुल जाती है। कुभक मे इनका खुलना मस्तिष्क को अधिक रक्तपोषण और ताजगी देता है। रेचक अधिक धीमा होने से वायुकोश का सकोचन धीमे गति से होता है और वायुकोश के परदो का लचीलापन और कार्यक्षमता दोनो दीर्घीकृत रेचक से बनी रहती है। सामान्यत फेफडो की प्रवृत्ति जोर से रेचक का प्रतिकार करने की रहती है। किन्तु धीमे रेचक से इसका विरोध किया जाता है और सावकाश रेचक शातक का काम करता है। एक आत्मनिष्ठ शांति सी मस्तिष्क मे फैल जाती है। प्लाविनी और मूर्च्छा छोडकर ऐसा सुखद अनुभव अन्य प्राणायामो म आता है।

हठयौगिक प्राणायाम का अभ्यास ही अधिक होता है। पातजल प्राणायाम मे कुंभक अनिवार्य नही है। अर्थात १ ४ २ अनुपात भी अर्थ नही रखता। श्वसन और प्रश्वसन धीरे-धीरे करने से हठ प्राणायाम के आंशिक फल पातजल मे मिलते हैं। श्वास प्रश्वास पूर्ण रोकना प्राणायाम की एक कडी मात्र है। अधिक फायदेमन्द है, किन्तु सतर्कता से काम मे लाना आवश्यक है। पूरक, कुंभक, रेचक की परिभाषा पातजल प्राणायाम के सन्दर्भ मे अर्थ नही रखती। पातजल प्राणायाम कुछ अधिक सुरक्षित है। बाह्यवृत्ति प्राणायाम कालबाह्य हो चुका है। दीर्घकाल अभ्यास से धीमे गति के कारण पातजल प्राणायाम अधिक आध्यात्मिक मूल्य रखता है।

दीर्घकाल प्राणायाम के अभ्यास से प्रत्याहार की अवस्था प्राप्त की जाती है ऐसा स्वामी विवेकानन्द अपने 'राजयोग' पुस्तक मे लिखते हैं। प्राणायाम मे मन अवधान द्वारा श्वसन गति से जोडा जाता है। धीरे धीरे श्वसन गति धीमी धीमी होती जाती है। साथ साथ मन की गति घटते-घटते शून्यप्राय होती है। मन का केवल श्वसन से सम्बन्ध था। वह भी अब समाप्त होने लगता है। मन और इन्द्रियो का सम्बन्ध टूट सा जाता है। इन्द्रियाँ मन के बिना अपने अपने विषयो का न सन्निकर्ष कर पाती हैं और विषय पराङ्मुख होके मन मे विलीन सी हो जाती है। इन्द्रिया का ससार के विषयो से वापिस लौट आना ही प्रत्याहार है। इन्द्रिया का विषययुक्त आहार बन्द सा हो जाता है इन्द्रियाँ चित्त को अब बाहर खीच कर नही ले जाती। दीर्घ प्राणायाम से इन्द्रियाँ ससार सम्पर्क से वापिस लौट कर स्थिरप्राय मन मे एकात्म सी हो जाती है। घेरण्ड सहिता आदि मे प्रत्याहार की कुछ साधना दी है। वे सब मार्ग मनके विराग और कृतनिश्चयता के भाव हैं। उनके द्वारा मन का इन्द्रिया का सहारा तोड़ दिया जाता है। इसका मनोवैज्ञानिक मूल्य अवश्य है। लेकिन बहुत ही बलशील और आत्मनिश्चय पूर्ण मन ही इस सोपान को चढ चकेगा। **स्वविषयसम्प्रयोगेचित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहार** ॥ २ ५४। प्रत्याहार मे इन्द्रिया अपने विषयो की ओर नही जाती और उनका सन्निकर्ष नहीं करती। तो ससार के विषयो से मुडकर चित्त जैसे स्वरूप ले लेती हैं। चित्त मे लीन हो जाती हैं, ऐसा पतजलि लिखत हैं। फलत इन्द्रियाँ (चित्त का) पूर्ण वश हो गयी भी हो जाती हैं। **तत परमावश्यतेन्द्रियाणाम्** ॥ २ ५५

अन्तरग साधना धारणा, ध्यान और समाधि

प्रत्याहार तक की साधना साधक के शारीर-मानसिक प्रयत्नो द्वारा की जाती है। उनमे बाह्य प्रयत्नो का सहारा काफी रहता है। धारणा, ध्यान और समाधि आदि अन्तरग साधना मे मानसिक प्रयत्न तो रहते हैं। किन्तु ईश्वर की कृपा भी आवश्यक समझी जाती है। मन मे दृढ श्रद्धा और कैवल्य की आत इच्छा आवश्यक है। फिर आत्मबल से ही अपना आतरिक स्वरूप बदलते हुए क्लेश-कर्मादि रहित विशुद्ध विशेष पुरुष-ईश्वर जैसे दिन प्रतिदिन होते जाता है। वह खुद को पातजल-योग-प्रणीत ईश्वरत्व (यो०सू० १ २४-२६) के ढाँचे म ढालना है। ईश्वर मे खुद को लीन नही करना है। उसके जैसे होना है। ईश्वर की कृपा सही सही ईश्वरत्व का समझना और केवल वसे ही हो जाने म अपनी वासना, अहता और प्राकृतिक सब जडता त्याग देना है। समाधि ली नही जाती, लग जाती है। नीद के लिये हम तैयारी करते है। किन्तु मस्तिष्क के केन्द्र क्षीण हो गये हो और शरीर अच्छी तरह शिथिल हो चुका हो तभी नीद आयगी। हम बडो की कृपा की भाषा के आदी हो गये हैं इसलिये इसे भी कृपा मान लेते हैं। हमारी योग्यता न होते हुए भी ईश्वर हमे कैवल्य भेंट कर दे तो वह ईश्वर अन्यायी,

पक्षपाती होगा। योग दर्शन का ईश्वर ऐसा नही है। आदर्श चित्र जैसे वह स्फुरण मात्र है। हमारे मन की ही ईश्वरत्व की प्रतिमा मनोवैज्ञानिक स्फुरणमात्र हम देती है। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।। यो० सू० ३-१ ।। नाभिचक्र, हृदय पुण्डरीक जैसे शरीरस्थ स्थान पर हम चित्त केंद्रित करते हैं। धीरे धीरे अन्य विषय, भाव और विचार, हम उदासीन वृत्ति से हमारे अबोध मन से निकालकर बाहर फेंकते जाते हैं। केवल ध्यान के लिये चुना हुआ आदर्श ज्ञानचक्षुओं के सामने बच जाता है, और उसस हम एकरूपता पा लेते है। आदर्श ध्यय के प्रतीक मे हमारी अहता, 'मैं'-पन, और सभी इच्छाएँ घुल जाती है। हम ही आदर्श हो बैठते हैं। बाह्य या आन्तरिक स्थान या प्रतीक धारणा के लिय हम लते हैं और उससे एकता का प्रत्यय लेते लेते उससे भी परे उसके प्रेरणा स्रोत परम पुरुष चैतन्य म हम खुद को खो बैठते हैं। धारणा विषय का ही प्रतिक्षण अनुभव हमारे चित्त पटल पर होना, यही 'ध्यान' है और खुद को ही भूल जाना और अतिम पूर्ण विशुद्ध पुरुषचैतन्य रूप से पाना समाधि है। तत प्रत्ययकतानता ध्यानम् ।। ३ २ ध्यान मे एकमेव धारणा विषय का प्रत्यय आते रहता है। लोप पानेवाला प्रत्यय और उसकी जगह आने वाला प्रत्यय एक सा होता है तब 'ध्यान' लग जाने का अनुभव होना है। अन्त म **तदेवाथ मात्रनिर्भासे स्वरूप शून्यमिव समाधि** ।। ३ ३ पातजल योग के भाष्यकार व्यास लिखते हैं "ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासि प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधि रित्युच्यते।। "ध्येय से एकात्म्य पाकर ध्येय का ही प्रतिक्षण प्रत्यय आते आते चित्त शून्य सा हो जाना है तब ध्यय स्वभाव द्वारा प्रकाशित परम चैतन्य पुरुषतत्व ही बचता है। क्योकि हम ध्याता भी वही बन जाते है और खुद को पाते हैं। यही समाधि है। चित्त अपना स्वतन्त्र रूप गँवा देता है। ध्यय म लीन होता है। ध्येय भी स्वयप्रकाश शाश्वत चैतन्य ही रहता है। कोई नश्वर त्रिगुणात्मक वस्तु नही रहता।

किसी पद्मासन आदि मे ध्यान मे बैठने पर क्या होता है इसकी प्रक्रिया अन्तरग साधना म क्रमश प्रकट होती जाती है। प्रत्याहार द्वारा बाह्य ससार से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। हमारी चेतना पटल पर अब हमारा चित्त ही हमारे सम्मुख रहता है उसे हम निर्मल और एकाग्र करते जाते हैं। गणेश मूर्ति अन्य वस्तु मन्त्र या विचार हम धारणा के लिये लेते हैं। उसपर हमारी बोध शक्ति केंद्रित करते है। चित्त मे अन्य विरोधी या सलग्न विचार, भाव या प्रतिमाएँ उठती जाती हैं। उनको हम केवल अलिप्तता से, उदासीन दृष्टि से साक्षी भाव से देखते जाते हैं। अबोध मन के सब अन्य (वासनात्मक, अहता सम्बन्धित) विचार निष्कासित होते जाते हैं। चित्त की गन्दगी निकल जाती है। चित्त निर्मल होते जाता है एकाग्र होते जाता है, सूक्ष्मग्राही और मूलगामी होते जाता है। विशुद्ध पुरुष चैतन्य का द्रष्टुत्व हम मे जग जाता है। पहिले केवल ध्येय ही हम देखते रहते हैं। अन्त मे पुरुष चैतन्य जैसा ही हमारे अतिम रूप मे साक्षात होता है। ध्यान काल मे हम जागृत, सतर्क ही रहते हैं। किन्तु ध्येय से ध्याता एकता पाने पर उनमे ध्यानात्मक सक्रमण नही होता और ध्येय के वेश मे हमारे चैतन्य का ही हम साक्षात करते है।

हम प्रतिसेकड कुछ ग्यारह भिन्न भिन्न वस्तुओ के प्रत्यय मनपटल पर आते हैं। कोई गणेश मूर्ति जैसे ध्येय को उत्कटता से चर्मचक्षु द्वारा देखते आखें मूद लेने पर गणेश की मूर्ति बोधन चक्षु को दिखती है। बीच बीच मे अन्य अबोध मनस्थ विचार भी चेतना पटल पर उठते हैं। किन्तु उनके प्रति उदासीन रहने से वे क्षीण होकर तिरोहित हो जाते हैं। केवल ध्येय का ही प्रत्यय आता रहता है। जब ४०% ध्यय के प्रत्यय (प्रति सेकड ग्यारह प्रत्ययो मे से) आने लगते हैं तब धारणा शुरू हो जाती है। कुछ

महीने या वर्षो के बाद प्रति सेकेंड ग्यारह के ग्यारह प्रत्यय ध्येय के ही आते हैं। वहा धारणा ध्यान मे परिणत हो जाती है। फिर हम चित्त को और खुद को भी भूल जाते हैं। उद्बोधक चित्त को लाँघके उसके ऊपर उठ जाते हैं। हम हमारे विशुद्ध, मुक्त, बुद्ध चैतन्य मे स्थित अतिम 'स्व' को पा जाते हैं। यही समाधि है। निम्न आकृति मे प्रतिसेकेंड ११ प्रत्ययो का स्वरूप कैसे बदलते जाता है और क्रमश सामान्य मन→धारणारूप मन→ध्यानस्थ मन→ध्यानातीत चैतन्य स्थितत्व (समाधि) ये रूपान्तर कैसे घटते जाते है इसका कालिक आलेख दिया है। एक रेखा=कुछ दिनो का अन्तर, दो रेखा=बहुत दिनो का अन्तर तीन रेखा=दीर्घ कालान्तर, O अहता, चित्त की स्वत की चेतना, ग=गणेश, स्व=स्वकीय, प=पत्नी, पु=पुत्र, क=का या घ=घर, व्य=व्यवहार, श=शत्रु, भ=भविष्य चिता, स्म=गत स्मरण, कु=कुत्ता, प्र=प्रतिवेशी पडोसी, अ=अन्य कुछ इत्यादि।

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११(सेकंड के भाग
कालातर	(ग)	(ग)	(प)	(स्व)	(क)	(पु)	(अ)	(घ)	(पु)	(स्म)	(भ)
धारणा शुरू	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(घ)	(व्य)	(प)	(पु)	(क)	(प)	(स्म)
	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(प)	(घ)	(पु)	(ग)	(अ)
धारणा की ध्यान मे परिणति	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)	(ग)[सब प्रत्यय(ग) के
समाधि प्रारम्भ	(ग)	(ग)	ग	ग	ग	(ग)	ग	ग	ग	ग	(ग)
समाधि पूर्णत्व	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग

निर्बीज समाधि

धारणा का दृढ होना ध्यान है। ध्यान मे अहबोध तथा चित्त का भान गँवाना और द्रष्टृत्व का आत्मप्रत्यय=समाधि।

ध्यान मे अबोध मन की वासनात्मक, दबाये गये विचारो और भावो का चेतना स्तर पर आना और तक से उसको त्यागना पडता है। ध्येय के अतिरिक्त अन्य सभी विषय के प्रति अलिप्तता साक्षी भाव रहने से अन्य विचार क्षीण होके मन पटल छोड जाते हैं। पद्मासन में बैठना। प्राणायाम करना। फिर ॐकार जप या सोऽहम जप करना फिर धारणा वस्तु को स्थूल रूप मे देखना, उससे सम्बधित वितर्क के प्रति उदास रहना। पहिले वितर्क, ज्ञान और अर्थात्मक ध्येय रूप दिखाई देता है। यह **वितर्क समापत्ति**"। इसमे मे केवल स्थूल अर्थ रूप बचता है तब **निर्वितर्क समापत्ति** होती है। फिर उसका सूक्ष्म वचारिक रूप चेतना मे आता है जब तक उसमे शुद्ध अर्थ के सिवाय मिलावट है तब तक वह **सविचार समापत्ति** है बाद मे विचारो मे न पकडे जाने वाला उसका निर्विचार (विचारातीत शुद्ध) अर्थरूप दिखना **निर्विचार समापत्ति** है। वितर्क से निर्विचार का मानस प्रदेश=**सप्रज्ञात योग** का गहरे होते जाना है=यही कनिष्ठ समाधि है। बाद मे शुद्ध सात्त्विक आनदरूपता और उसके बाद शुद्ध अस्तित्वात्मक चैतन्य तत्त्व दर्शन। इसके बाद व्युत्थान मे भी इच्छाएँ वासनाएँ, अहता जडता मिट गयी दिखती है। यह निर्बीज समाधि है। इसका उत्कृष्ट पूर्ण रूप=धर्ममेघ समाधि=यही कैवल्य का प्रवेश द्वार=खुद को शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, रूप मे आत्मस्थित पाना है। क्लेशकर्मादि सुख दुख रहित यही कैवल्य है।

ध्यान से अव्यवस्थित और असंघटित मन एकाग्र, कौशल्यपूर्ण तथा शांत होता जाता है। हम अपने भावों तथा विचारों के उद्गम स्थान तक पहुँचकर उन सबको दूर हटाते जाते हैं। अन्तर्मुख होकर खुद का आत्म नित्य चैतन्य स्वरूप खोजना है। बहुत गहरे में गये धारणा-ध्यान एक ही समय में जा पहुँचते हैं। ध्यान द्वारा हम आत्मिक सुसंवाद और शांति को प्राप्त होते हैं। नाद पर, श्वास पर सोऽहम पर या अन्य किसी से भी अवधान जोड़ो और मन स्थिर और शांत करो। भय, दुष्ट विचार, वासना सभी का साक्षित्व अलिप्त भाव से क्षीण करो। सफल संकल्पों द्वारा एकाग्र होके उनको सतत टिके रहने की शक्ति और गति मत दो। यथा काल मन निर्मल होता जाता है। जब वह निर्मल होता है तब एकाग्र, सूक्ष्म, सूक्ष्मगामी, शांत होता जाता है। स्थिर होता है। चेतना व्यापक बनते जाती है। (अबाध) मन की वासनाएँ, गंदगी और अहंता जाती रहती है। परम शांति, सुसंवाद, आनंद प्राप्त होते हैं। ध्यान के अभ्यास से प्रज्ञायुक्त सूक्ष्म दृष्टि, सर्जनशील-सत्याचरणशीलता से हम एकात्म्य प्राप्त होता है।

यह नियम यद्यपि आसन के पहिले ही यम नियम इन दो अंगों का विचार पतंजलि करते हैं तो भी उनका स्वरूप समझना आसन से समाधि तक के प्रात्यक्षिक अंगों को सैद्धांतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से जानने पर ही यथार्थता से हो सकता है। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच (निषेधपर) यम हैं जो साधक को समाज से, नीतिबन्धनों से जोड़कर साधक को असामाजिकता से बचाते हैं। और समाज को उसके परम हित में सहानुभूति और सहकार सद्भावना देते हैं। व्यष्टि-व्यष्टि व्यष्टि समाज के सब संघर्ष यमों के पालन से मिट जाते हैं। अहिंसा = मन वाणी कृति से किसी को दुख नहीं देना हिंसा नहीं करना। विचार वाणी और कृति में प्रेम और आत्मीयता लाना। विचार उच्चार और आचार की एकता याने सत्याचरण। अस्तेय = चोरी नहीं करना। किसी के श्रम सेवा या श्रेय को नहीं छीनना। अपरिग्रह = अनावश्यक का संग्रह नहीं करना। ब्रह्मचर्य = कामवासना का शिकार नहीं होना किन्तु व्यापक अर्थ में अपनी ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ तथा मन की शक्ति व्यय सच नहीं करना। ब्रह्मचर्य से शक्ति-संचय होना है। मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से इस शक्ति का कला साहित्य, विज्ञान या अध्यात्म के लिये उन्नयन किया जा सकता है। अन्न से प्राप्त ऊर्जा ही ऊष्मा रासायनिक स्नायविक, शारीरिक, मानसिक बौद्धिक, सृजनात्मक आध्यात्मिक रूप ले सकती है और व्यक्तिमत्व उच्च श्रेणी का बना सकती है। हिंसा चोरी, असत्याचरण और संग्रहप्रियता शक्ति का व्ययमात्र है अत यम शक्तिसंचायक है। और साधक का समाज से सामंजस्य स्थापित करते हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह सत्याचरण के ही पहलू हैं। जैसे असत्य से नुकसान करना हिंसा तथा सत्याचार है और सत्याचरण की वचना है।

शौच, सन्तोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पांच नियम पतंजलि देते हैं। ये व्यक्तिमत्व निर्मल समाधानी, समर्थ, ज्ञानसम्पन्न करने का और वैश्विक उत्क्रांति से उसे बांधने का तरीका है। हमारा शरीर स्वच्छ रखना नेति धौति आदि से शरीर की आंतरिक सफाई करना। काम, क्रोध, आसक्ति अहंता छोड़कर मन निर्मल करना। फलेच्छा, ममता अहंता छोड़कर कुशलता से कर्म करके उसे ईश्वरार्पण करना। यों कर्मयोग से चित्तशुद्धि होगी, और आत्मज्ञान प्राप्ति का अधिकार उससे मिलेगा। मन की तृप्त समाधानपूर्ण वृत्ति ही सन्तोष है। शरीर मन, बुद्धि की पराकाष्ठा का विकास करते हुए इन तीनों की सामर्थ्य संयम और सहने की शक्ति बढ़ाना यही तप है। क्षमता बढाने में जो भी कष्ट पड़े वे स्वीकार करना सत्य सुंदर मधुर हितकर बोलना वाणी का तप है। चारित्र्य और विवेक ये

भी तप ही हैं। 'स्व' का अभ्यास करना स्वाध्याय है। ईश्वर के स्तोत्र-पठन से अंत ईश्वर तक पहुँचना ईश्वर प्रणिधान है। सब मे ईश्वर और ईश्वर मे सब देखना। विश्व का आध्यात्मिक उत्क्रांति का चक्र चलाना। ईश्वर के हस्तक बनाना और उसके लिये ही सब कुछ करना। योगी अरविंद 'पूर्ण योग' मे मन, उच्चतर मन, प्रकाशित मन, अन्त प्रज्ञमन, अधिमानस और अतिमानस द्वारा आध्यात्मिक उन्नति का चित्र खींचते हैं वह ईश्वर प्रणिधान का ही भाग है। यम नियमो पर अधिष्ठित योगसाधना करने से हम सत्य, शांति, सुसवाद की खोज मे निकले आनंद-यात्री बन जाते हैं। पातंजल के मन-शांति के उपाय (यो० सू० ३ २२-३८) अभ्यास और वैराग्य, उत्क्रांति और प्रतिप्रसव, अभ्यास और वैराग्य तथा क्लेशमीमासा इन सबका वैज्ञानिक अधिष्ठान है। ●

स्मृतियों में नीतिशास्त्र

डा० कें० रा० जोशी

आधुनिक युग में नीति शब्द कर्तव्य एवं अकर्तव्य का विचार प्रतिपादित करने के लिए प्रयुक्त होता है। किन्तु प्राचीनकाल में भारतीय विद्वान नीति अथवा नय इस शब्द का प्रधान रूप से राजनीति के अर्थ में उपयोग करते थे। जैसे कि कामन्दक एवं शुक्र के ग्रन्थ नीतिशास्त्र के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इतना ही नहीं अपितु सोमेश्वर, अ-ाभट्ट, चण्डेश्वर, नीलकण्ठ, मित्र मिश्र आदि राजनयज्ञों के ग्रन्थों के नाम नीति कल्पतरु, नीतिदीक्षा नीतिरत्नाकर, नीतिमयूख, राजनीतिप्रकाश एवं रहे हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में प्राप्त नीतिरस्मि जिगीषताम् [गी १०-३८], ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम [गी० १८-७८] आदि वचन से महाभारत के रचयिता नीति शब्द का अभिप्राय राजनीति पर ही मानते थे ऐसा स्पष्ट करते हैं। किन्तु व्यवहार में कर्तव्य तथा अकर्तव्य का विचार इस अर्थ में भी नीतिशास्त्र का प्रयोग भर्तृहरि प्रभृति द्वारा उपलब्ध होता है। बीसवीं सदी में नीतिशास्त्र यह शब्द पाश्चात्य पंडितों द्वारा प्रयुक्त 'एथिक्स' के पर्याय के रूप में प्रचलित है। एथिक्स आचारशास्त्र है। उसे 'सायन्स आफ मारल्स' के रूप में जाना जाता है। इस शास्त्र से अपना क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है। इस कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय का क्या निकष हो सकता है, इसका स्वरूप समझकर हम अपनी आचारसंहिता निश्चित कर सकते हैं। अंग्रेजी के Moral 'मोरल' शब्द के लिए हम हिंदी में 'नीतिविषयक' अथवा 'नैतिक शब्द' का उपयोग कर सकते हैं। भारतीय परम्परा में कर्तव्यता का निर्णय धर्मसूत्र, स्मृतिग्रंथ एवं निबंधग्रंथों के आधार पर किया जाता है। किन्तु धर्मसूत्र प्रभृति ग्रंथों में यह नीतिविचार 'वचनात् प्रवृत्ति,' 'वचनात् निवृत्ति,' 'धर्मशास्त्रने' करो कहा तो करना, और न करो कहा तो न करना, इस रूप में प्रतिपादित है, ऐसी जनसामान्य की भावना है किन्तु यह पूर्णसत्य नहीं है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकजी ने श्रीमद् भगवद्गीता रहस्य लिखकर भारतीय धर्मग्रन्थों के आधार पर कर्तव्याकर्तव्य विचार किस सूक्ष्मता से होता है इसे सुचारु रूप से प्रतिपादित किया है। इस निबन्ध में मूल स्मृतिग्रंथों में कर्तव्य एवं अकर्तव्य का विचार, नीतिविचार किस तरह से उपलब्ध है, इसे प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास है।

नीति का स्वरूप

"नीति" यह शब्द णीञ [प्रापणे] इस धातु से अधिकरण अथवा करण इस अर्थ में क्तिन प्रत्यय जोडकर व्युत्पन्न होता है। शब्द कल्पद्रुम में "नीयन्ते सलभ्यन्ते उपायादय ऐहिकामुष्मिकार्या वाऽस्याम अनया वा नी अधिकरणे करणे वा क्तिन" इस प्रकार से नीति शब्द का विवरण प्राप्त होता। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमे या जिसके द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के साधक उपायों का ज्ञान होता है उसे नीति कहा जाता है। जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस साध्य होते हैं—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म' इस वैशेषिक सूत्र मे प्रतिपादित धर्म के लक्षण को देखते हुए नीति एवं धर्म पर्याय जैसे लगते हैं। धर्म शब्द अनेक बार कर्तव्य अर्थ मे प्रयुक्त होता। मनु का वचन है "यः कश्चित् कस्यचिद

धर्मो मनुना परिकीर्तितः । [मनु २-७] इस दृष्टि से भर्तृहरिरचित नीतिशतक में नीति शब्दों से जिन कर्तव्यों का प्रतिपादन किया है उन्हें हमे समझना है। भर्तृहरि का वचन —

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः, सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥

किसी की हिंसा न करना किसी भी जीव को पीडा न देना, दूसरों के धन का अपहार न करना, सत्यभाषण, उचित अवसर पर यथाशक्ति दान देना, दूसरो की तरुण स्त्रियो के बारे मे चर्चा न करना लालसा का त्याग करना, गुरुजनो के विषय में नम्रता, सभी प्राणियो के विषय मे दयाभाव, इन बातो को व्यवहार में लाना यही सभी लोगो के लिये साधारण, सभी शास्त्रो को मान्य ऐसा मानव कल्याण का एक मात्र मार्ग है। भर्तृहरि के अनुसार यह सर्व-शास्त्रसम्मत, सामान्य कल्याण मार्ग, 'श्रेयसाम् एष पन्था' स्मृतियो मे वर्णित है।

मनुस्मृति के दशविध धर्मों मे उसका प्रतिपादन अधिक स्पष्ट रूप मे प्राप्त होता है। मनु का वचन है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥(मनु ६-९२)

आगे और भी सामान्य धर्मों का निरूपण एकबार मनुस्मृति मे दशम अध्याय मे प्राप्त होता है। जैसे—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥(मनु १०-६३)

मनु के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच एव इन्द्रियनिग्रह का पालन यह सामासिक धर्म अर्थात धर्म का संक्षिप्त स्वरूप है। 'सामासिक' यह शब्द धृतिप्रभृति पूर्वोक्त दशविध धर्मों की ओर ध्यान खीचकर उन्ही का यह संक्षेप है ऐसा सूचित करता है। दशविध धर्मों का पालन सभी द्विजो-उपनयनपूर्वक वेदग्रहण करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यो के कर्तव्यो का निरूपण करना आवश्यक था तो सभी चतुर्वर्णों के लिये, सम्पूर्ण समाज के लिये अहिंसादि सामान्य धर्म बताए गए। इस श्लोक के चातुर्वर्ण्य पद से चातुर्वर्ण्यबाह्य समाज से इस सामान्य धर्म का कोई सम्बन्ध नही, ऐसी भ्रांति उत्पन्न हो सकती है। किंतु पूर्वोक्त श्लोक मूलत चार वर्णों के अनुलोम प्रतिलोम विवाहो से उत्पन्न प्रजा का धर्म बताने के लिये आया है। इससे यह स्पष्ट है कि चातुवर्ण्यान्तगत समाज तथा बाहर का यच्चयावत समाज इन सब को सामान्य धर्मों का परिपालन अवश्य कर्तव्य है ऐसा अभिप्राय स्मृतिकार मनु ने अपना नाम श्लोक मे निवद्ध कर प्रकट किया है। टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने यह बात प्रकरण ध्यान मे रखते हुए चातुर्वर्ण्य के साथ यह संकरज प्रजा का भी धर्म है—प्रकरण सामर्थ्यात् संकीर्णानामप्ययं धर्मो वेदितव्यः *[मनु १०-६३] लिखकर स्पष्ट की है।*

दशलक्षणधर्म एवं सामाजिक धर्म

मनुस्मृति मे चार आश्रमो के निरूपण के प्रसग मे धृतिप्रभृति दशविध धर्म बताए हैं। आगे ऐसा भी लिखा है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यासी इन सभी आश्रमो का पालन करने वाले द्विजो को इस दशविध धर्म का आचरण परिश्रमपूर्वक नित्य करना है।

चतुर्भिरपि चैवतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥

(मनु ६-९१)

पश्चात जो ब्राह्मण दशविध धर्म का स्वरूप शास्त्र से जान लेते हैं। तथा उसका अनुष्ठान करते हैं, वे (मोक्षएव) श्रेष्ठगति को प्राप्त करते हैं ऐसा भी कहा है। आगे दशम अध्याय मे सभी समाज को परिपालनीय अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इंद्रियनिग्रह इस रूप मे धर्मस्वरूप प्रतिपादित किया है। इससे यह स्पष्ट है कि मौलिक न्यूनतम धर्मलक्षण अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रियनिग्रह इस रूप मे ही माना गया है। यह दशलक्षण धर्म का ही सक्षेप है। इसे इससे पूर्व ही निर्दिष्ट किया गया है। इन दशविध धर्म मे उल्लिखित क्षमा (किसी का उपकार करने के बाद भी प्रतिशोध न लेना) एवं अक्रोध (क्रोध का कारण होते हुए भी क्रोध उत्पन्न न होने देना)।

इन दोनो का समावेश अहिंसा मे होता है। कारण अहिंसा का अर्थ होता है प्राणीमात्र को पीडा न देना। क्षमा शारीरिक प्रवृत्ति से सम्बद्ध है तो अक्रोध मानसिक प्रवृत्ति से। इन दोना के द्वारा अहिंसा साध्य होती है। दम (विकार हेतु होते हुए भी विकार उत्पन्न न होना), धृति (सतोष) एवं इंद्रियनिग्रह उन्मार्गगामी (इंद्रियो पर काबू पाना) इन तीनो का समावेश सामासिक धर्मान्तर्गत इंद्रिय निग्रह मे होता है। (इन्द्रियनिग्रह के अभ्यास से दम साध्य होता है, उससे धृति (सतोष) बढती है। अस्तेय (दूसरो का धन अनुचित रूप से न लेना), सत्य (यथार्थ भाषण), शौच (देहशुद्धि एवं व्यवहारशुद्धि) इनका निर्देश स्वतन्त्र रूप से है। धी और विद्या ये दोनो धर्मलक्षण शेष आठ लक्षणो को धर्महेतुत्व प्राप्त होने के लिये उपयोगी होते हैं। कारण धी का तात्पर्य शास्त्रज्ञान से है और विद्या आत्मज्ञान की ओर सकेत करती है। इससे धर्म का अनुष्ठान करने के लिये शास्त्रज्ञान आवश्यक है तथा उस के फलस्वरूप आत्मदर्शन का लाभ होता है। इससे स्पष्ट होगा कि धृत्यादि दशविध धर्म एवं अहिंसादि सामान्यधर्म परस्पर अविरोधी हैं। इससे प्रश्न उपस्थित होगा कि फिर मनुष्यमात्र के लिये दशविध धर्म क्यो न बताए गए। इसका उत्तर स्मृति की भूमिका स्पष्ट लक्षित करने से मिलेगा। स्मृति मे दशविध धर्मों का निरूपण करने से पहले द्विजो के आश्रमधर्मों का निरूपण किया गया है। मानव किस क्रम से आत्महित निश्चित रूप से साध्य कर सकता है, इसका सुनिश्चित कालबद्ध कार्यक्रम हमे मिलता है। भारतीय स्मृतियो की यह विशेषता लक्षणीय है। 'विप्र इसका अध्ययन कर तथा आचरण कर अपना हित साध्य करे' इस वचन से विप्र यह आचार धर्म के आदर्श के रूप मे समाज के सम्मुख रखने का स्मृति का कर्तव्य स्पष्ट होता है। मनु की प्रसिद्ध उक्ति—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां, सर्वमानवाः ॥(मनु २)

कुरुक्षेत्रादि मे लब्धजन्मा विप्र से विश्व के सभी मानव चारित्र्य की शिक्षा प्राप्त करे ऐसा सदेश साभिमान देती है। इसका तात्पर्य यह दीखता है कि विप्र सदाचरण का आदर्श उपस्थित करें, क्षत्रिय वैश्य उसका अनुसरण करें और शूद्र तथा चातुर्वर्ण्य मे समाविष्ट तथा बाह्य सभी समाज उस मार्ग से चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करें, फलस्वरूप अन्ततोगत्वा सभी समाज उन्नत हो। क्यूँकि शूद्रो के कर्तव्यों के निरूपण के समय 'स्वधर्म को जाननेवाले, धर्मप्राप्ति के अभिलाषी, अन्य त्रैवर्णिको के अपने लिये अनिषिद्ध आचारो का अनुष्ठान करनेवाले जो शूद्र वैदिक मन्त्रो से रहित नमस्कार मन्त्रो से वैश्वदेव प्रभृति पचमहायज्ञादि कार्य करते हैं, उन्हें किसी प्रकार का दोष नही एवं सर्वत्र से प्रशसा के पात्र हैं।' वैसे ही

शूद्र असूयारहित द्विजातियो के सदाचरणो का जिस मात्रा मे अनुष्ठान करता है, वह उसी मात्रा मे इहलोक मे उत्कृष्ट बनकर स्वर्गलोक प्राप्त करता है' ऐसा कहा गया है।

धर्मेप्सवस्तु धमज्ञा सतां वत्तमनुष्ठिता ।
म त्रवज न दुष्यन्ति प्रशसां प्राप्नुवन्तिच ।।
यथा यथा हि सद्वृत्तनुतिष्ठ त्यनसूयक ।
तथा तथेम चामु च लोक प्राप्नोत्यनिन्दित ।। (मनु १०-१२)

इससे यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण समाज मे अपेक्षित धर्म जीवन स्मृतिया की दृष्टि मे अहिंसादि धर्मों के पालन से ही उत्पन्न होता है। 'धम प्रजा की धारणा करता है' 'धम नित्य है' आदि जितने वचन उपलब्ध हैं, वे सभी प्रधानत अहिंसादि सामान्य धर्मों को ही लक्षित करते हैं। इन सामान्य धर्मो को ही नीति या नीति धर्म के रूप म जाना जाता है। इस विचार मे लोकमान्य बाल गगाधर तिलकजी की भी सम्मति है। वण धर्म या आश्रम धर्म इनका समाज से सम्बन्ध सामान्य धम के आधार पर ही अवलम्बित है। यदि मनुष्य सामान्य धर्मों का पालन न करे तो उसका वर्णधम या आश्रमधम का पालन कोई मूल्य नही रखता। स्मृति यह मानती है कि यदि कोई मनुष्य सामान्य धम का पालन करता है तभी वह विशिष्ट वर्ण के घटक के रूप मे शोभा देता है वैसे ही विशिष्ट वर्ण का घटक तभी योग्य होता है जब वह अपने आश्रम धर्मों का ठीक तरह पालन करता है। इन धर्मो मे परस्पर विरोध कदापि नही होता अपितु सामजस्य होता है।

नीति का लक्ष्य

इन अहिंसादि सामान्य धर्मो के परिपालन से ही मनुष्य दूसरो की उन्नति मे या सुखोपभोग मे बाधा न डालते हुए अपना अभ्युदय तथा नि श्रेयस साध्य कर सकता है। आहार, निद्रा, भय एव मैथुन ये बातें विश्व मे सब प्राणियो मे समान रूप से लक्षित होती हैं। इनसे मनुष्य की कोई विशेषता सिद्ध नही होती। मनुष्य इन सहज प्रवृतियो के ऊपर उठकर कुछ अधिक विचार करता है, दूसरा के लिए हानि सहन करता है, विशिष्ट परिस्थिति में दु ख भी झेलता है। यह केवल उसकी धमप्रवृत्ति से ही सभव है। स्मृति द्वारा प्रतिपादित इन अहिंसादि सामान्य धर्मो के परिपालन से ही मानवता की सकल्पना सिद्ध होती है। अहिंसादि सामान्य धर्मों का समाज म समुचित परिपालन यही मानवता का स्वरूप है।

नीतिधर्मों के विषय मे स्मृति की भूमिका

मनुष्य समाज का अग है। समाज का अथ है समूह। किन्तु सामान्य प्राणियों के (पशुओ के) समूह को समज कहा जाता है, और धम सम्पन्नो के समूह को 'समाज' कहते हैं। पशूना समजोऽन्येषा समाजोऽथसधर्मिणाम्—यह अमरकोष का विवरण लक्षणीय है। किन्तु प्रश्न उठता है कि 'सधर्मिणाम्' इस शब्द मे धम शब्द मे से कौन सा धर्म लक्षित है। मनु ने धम के सामान्य धम और वर्णधर्म, आश्रम-धम, जातिधम, कुलधम, देशधम, युगधम आदि विशेष धम ऐसे अनेक प्रकार बताए हैं।

धम का ज्ञान श्रुति से होता है। मानव के कल्याण मे सक्षम श्रुतिप्रतिपादित उपाय ही धम कहलाता है। धम का सम्बन्ध न केवल अभ्युदय से है अपितु नि श्रेयस से भी है। अत इस तरह का उपाय कौनसा हो सकता है इसका ज्ञान मनुष्य के लिये सुतरा सुलभ नही है। पारलौकिक कल्याण का ज्ञान असभव है ही, किन्तु मनुष्य को अन्यान्य अनेक सामान्य ऐहिक बातें भी ज्ञानेन्द्रियो से जानना सभव नही। अत धम ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण पर्याप्त नही है। अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्षाश्रित होता है जब हम

धूम और वह्नि को वारवार चक्षुरिन्द्रिय से एकत्र देखते हैं तथा धूमवह्नि दोनो का साहचर्य सम्बन्ध हम जान पाते हैं। इसीसे ही हम धूमदर्शन से वह्नि का अनुमान कर सकते हैं। धर्म और धर्म का फल दोनो यदि हम बार बार एक साथ देख पाते तो धर्म का अनुमान सभव होता। जैसे कि 'यजेत स्वर्गकाम' यहा यज्ञ यह कारण है एव स्वर्ग यह फल है। यज्ञ इहलोक मे सम्पन्न होगा और स्वर्ग फल तो मृत्यु के पश्चात प्राप्त होगा। इससे यज्ञ और स्वर्ग इनका कार्यकारणभाव समझना मनुष्य के लिये असभव है। अत स्मृति का यह अभिप्राय विचारणीय है कि स्मृति से ही मनुष्य को अमुक आचरण का अमुक ऐहिक एव पारलौकिक फल है। इस कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है। किन्तु श्रुति ही प्रमाण क्या, तो स्मृति का उत्तर है कि वह अपौरुषेय है। पुरुष द्वारा की गई प्रत्येक बात मे पुरुष दोषो से अनेक प्रमाद उत्पन्न हो सकते हैं। पुरुष को भ्रम हो सकता है, अनवधान से गलती हो सकती है, कभी वचना की इच्छा उत्पन्न हो सकती है (विप्रलिप्सा), कभी नेत्रादि इन्द्रियो मे विकार के कारण अज्ञानवश वह अनुचित कर सकता है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एव करणापाटव इन शब्दो मे पुरुषदोषो की गणना शास्त्रकारों ने की है। इन्ही पुरुषदोषो से पौरुषेय रचना प्रमाण नही होती। श्रुति अपौरुषेय होने से इन दोषो से मुक्त है। अपौरुषेय यह शब्द श्रुति के विषय मे विशिष्ट अभिप्राय से प्रयुक्त होता है, केवल पुरुष विरचित न होना इतना ही अभिप्राय अपौरुषेय से नही है। जिसे सजातीय उच्चारण की अपेक्षा होती है वह है अपौरुषेय। उदाहरणस्वरूप कालिदासादि द्वारा विरचित रघुवशादि ग्रन्थ पौरुषेय हैं क्योकि रघुवश की रचना नई है। इसका अर्थ यह है कि कालिदास को रघुवश का प्रथम उच्चारण करते समय उसे उस रचना की सदृश्य सजातीय उच्चारण की आवश्यकता न थी। किंतु श्रुति का स्वरूप इससे भिन्न है।

प्राचीनकाल से लगातार जब-जब मनुष्य ने श्रुति का अध्ययन किया वह गुरुमुख से किया। उस का उच्चारण गुरुमुख के उच्चारण के अनुसार ही रहा। अपौरुषेयत्ववादी स्वपक्ष के समर्थन मे ऐसा भी कहते हैं कि भारतीय समाज मे वेदरक्षण की परम्परा प्राणपण से जीवित रखी गई है। पाश्चात्य विद्वान भी इस पद्धति को अलौकिक मानते हैं। तथा उसकी भारी प्रशसा करते हैं। वेद का प्रत्येक अक्षर गणना कर कण्ठस्थ रखा गया है। वेदो की इस परम्परा को देखते हुए यदि कोई उसका कर्ता पूर्वजों को मालूम होता तो उन्होने वेद शाखाओ के अध्ययन प्रवर्तक ऋषियो के तथा मन्त्रद्रष्टा ऋषियो के साथ उसकी भी स्मृति बडी कृतज्ञता से रखी होती। सभावना के होते हुए भी स्मृति नहीं है इससे श्रुति सजातीय उच्चारण की परम्परा से ही सुरक्षित रखी गई यह मानना आवश्यक होता है।

उनका दूसरा तर्क यह भी है कि मनुष्य के स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति के सभी अलौकिक यज्ञादि उपाय वेदो मे बताए गए हैं। उन्हे अलौकिक ज्ञान के बिना सामान्य मनुष्य बता नही सकता। उन उपायो का प्राचीन काल से विद्वान, विवेकी, प्रामाणिक एव शिष्ट पुरुषो ने अनुष्ठान किया है। वैसे ही समाजमान्य ज्ञानी पुरुषो ने प्रत्यक्ष, अनुमान जैसे लौकिक प्रमाणो से अज्ञात आत्मतत्व का स्वरूप वेदो से जानकर प्रयत्नपूर्वक उसका साक्षात्कार प्राप्त किया है ऐसी अपनी मान्यता स्वग्रन्थो मे निबद्ध की है। इसलिये उदात्तादि स्वरो से सम्पन्न, प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणो से अज्ञात, मानवता के कल्याण के अलौकिक उपाय बताने वाली श्रुति अपौरुषेय है ऐसा अभिप्राय स्मृतिकारो ने प्रकट किया है।

अहिंसादि सामान्य धर्म भी उन्ही उपायो के अन्तर्गत हैं। स्मृतियाँ श्रुति का ही अर्थ प्रतिपादित करती है। स्मृतिया ने सामान्य धर्मों के साथ वर्णधर्म, आश्रमधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म आदि धर्मों का भी विवरण किया है। इनमे से अहिंसादि सामान्य धर्मों का ग्रहण नीतिशब्द से होता है। इसका निर्देश इससे पूर्व किया जा चुका है। चूँकि नीति यह समाज के सभी घटको से सबद्ध होती है। यही स्वरूप

सामान्य धर्मो का है। अन्य धर्म समाज के विशिष्ट व्यक्तियों के लिये वर्णधर्म, जातिधर्म एवं कुलधर्मों के रूप में कहे गए हैं। इतना ही नहीं तो कुछ धर्म मनुष्य जीवन की बाल्य, तारुण्य, वार्द्धक्य काल की विशिष्ट अवस्थाओं में आचरणीय आश्रमधर्म के रूप में प्रतिपादित है। कुछ देशभेद से देशधर्म के रूप में मान्य किये गये हैं। इन सब के धर्मत्व का मूल आधार श्रुति में है ऐसा स्मृतिकार मानते हैं। अर्थात इनका सामान्य धर्मो से कोई विरोध नहीं। मानव का विश्वसमाज के अंग के रूप में कर्तव्य सामान्यधर्म कहलाते हैं। मानव जिस रचनाविशिष्ट भारतीय समाज का अंग है, उसके प्रति अपना कर्तव्य वर्णधर्म के रूप में निभाता है। वर्णों में भी जन्मगुण एवं व्यवसाय से सम्बन्धित विशिष्ट जाति में उत्पन्न होने से प्राप्त कर्तव्य जातिधर्म कहलाते हैं। जिस विशिष्ट कुल परंपरा में मानव उत्पन्न हुआ है उसके विशेष आचार जिनसे कुल की विशेषता प्रकट होती है, वे उसके कुलधर्म तथा विशिष्ट देश या विशिष्ट काल इसके अनुसार जिनका आचरण आवश्यक होता है वे उसके देशधर्म एवं काल धर्म होते हैं। प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य अपने जीवन को क्रमोन्नत बनाना है। उसको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास इनके द्वारा कैसे साध्य किया जाता है इसे आश्रम धर्म बताते हैं। उपरिर्निर्दिष्ट सभी धर्मों में सामान्य धर्म, वर्णधर्म, एवं आश्रमधर्म इनसे मानव का सर्वांगीण तथा समाजोपयोगी विकास साध्य कर उसको व्यक्तिगत अभ्युदय-निःश्रेयसरूप लक्ष्य प्राप्त करने के लिये योग्य बनाया जाए ऐसा स्मृतिकारों का लक्ष्य है। भारत में मनुष्य का मनुष्यत्व विकसित करने का प्रयोग सहस्र वर्षों से लगातार किया गया है। इसका महत्वपूर्ण विवरण स्मृतियों में उपलब्ध है।

स्मृतिकारों की सम्मति से मनुष्य का अंतिम लक्ष्य निःश्रेयस आत्मसाक्षात्कार जन्म-मरण की परम्परा से मुक्ति (मोक्ष) है। वह आत्मज्ञान से प्राप्त होता है। मनु ने दशलक्षणक सामान्य धर्म में विद्याशब्द से आत्मज्ञान का निर्देश किया है। याज्ञवल्क्य इसे परम धर्म मानते हैं।

अयंहि परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्, या० स्मृ० १-८, आत्मज्ञान के लिये बुद्धि की आवश्यकता होती है। बुद्धि की सिद्धता बुद्धिशुद्धि से होती है। बुद्धि की शुद्धता का अभिप्राय है कि बुद्धिस्थ रज एवं तम गुण का अभिभव होकर बुद्धि सत्वगुणप्रधान होना। इसके लिये शरीर की सिद्धता आवश्यक है। यह सिद्धता संस्कारों से होती है। संस्कारों से दोष नष्ट होते हैं तथा गुण प्रकट होते हैं। संस्कार गर्भावस्था से लेकर अन्त्येष्टि तक करना होता है। साथ ही मनुष्य को अपना जीवन जन्म से मृत्यु तक अनेक संकटों का सामना करते हुए बिताना होता है। मनुष्य का अंतिम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार प्राप्त हो इस दृष्टि से मनुष्य को अपने जीवन में अन्यान्य कर्तव्यों को निभाना होता है। इन कर्तव्यों का धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन विभागों में विभाजन होता है। स्मृति के अनुसार मोक्ष के साथ धर्म, अर्थ तथा काम भी पुरुषार्थ हैं तथा इन्हें साध्य करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। स्मृति की मनुष्य जीवन की संकल्पना बड़ी व्यापक तथा भव्य है। स्मृतियाँ चारों पुरुषार्थों का निरूपण करती हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि स्मृतियों ने अर्थ, काम तथा मोक्षोपायभूत आत्मज्ञान का निरूपण अर्थ कामों के नियम देकर किया है। अमुक मर्यादा में अर्थार्जन एवं कामप्राप्ति धर्म होती है ऐसा नियम स्मृतियाँ बताती हैं। इससे अर्थ काम भी धर्मान्तर्गत हो जाते हैं। आत्मज्ञान यह तो दशलक्षणक धर्म का अंश है। अतएव स्मृति धर्मविषयक तथा मोक्षोपदेशक शास्त्र है। ऐसा अभिप्राय मनुस्मृति के मान्य टीकाकार कुल्लुकभट्ट ने प्रकट किया है। [मनु० पृ० २] इससे यह स्पष्ट है कि धर्म अर्थ कामों की प्राप्ति साध्य करते हुए मोक्ष प्राप्ति के अनुकूल कैसे होगा इसे प्रकट करना ही स्मृति का लक्ष्य है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के बारे में विचार करते समय मनुष्य के समाज जीवन का विचार छोड़ा नहीं जा सकता। चूँकि वह समाज से पृथक नहीं

रह सकता। अतएव अहिंसादि सामान्य धर्मों का विचार मौलिक है, और वह स्मृतियो ने किया है। समाज का सवसाधारण जीवन सुस्थित हो इसलिए समाज घटको मे किसी को पीडा न देना, सत्यभाषण, शुचिता, इन्द्रिया का नियमन ये पाचो बातें समाज की धारणा के लिये आवश्यक है। इनसे समाजगत परस्पर सघष नष्ट होता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध होती है। इससे ही सुमस्कृत तथा सुशील नागरिक सिद्ध होता है।

नीति एव शील

हारीत नाम के प्राचीन विचारक ने शील की कल्पना स्पष्ट की है। वह शील के तेरह अग मानता है। (१) ब्रह्मण्यता ब्रह्म शब्द के तीन अथ होते है—शास्त्र, ईश्वर एव विश्व। ब्रह्मणि साधु ब्रह्मण्य। तस्य भाव ब्रह्मण्यता। ब्रह्मण्यता मे शास्त्रनिष्ठा, ईश्वरनिष्ठा एव विश्वहित निष्ठा समाविष्ट होनी है। (२) देवपितृभक्तता—देव, माता एव पिता की भक्ति। (३) सौम्यता (व्यवहारगत)। (४) अपरोपतापिता—दूसरो को बाधा न पहुचाना (५) अनसूयता—दूसरो का मत्सर न करना (६) मृदुता—हृदय की कोमलता। (७) अपारुष्य—कठोर भाषण न करना। (८) मित्रता—सभी के प्रति मित्रभाव (९) प्रियवादिता—मधुर भाषण (१०) कृतज्ञता—उपकारो का स्मरण रखना। (११) शरण्यता—दूसरो को आश्रय देने मे तत्परता। (१२) अनुकपा—पीडितो के विषय मे।

स्मृतियो की दष्टि मे सुसस्कृत नागरिक इन तेरह गुणो से सम्पन्न होता है। सहशील सामान्य धर्मों के आचरण से विकसित होता है।

नीतिधर्मों से इतर धर्मो की तुलना

अहिंसादि नीतिधम यद्यपि श्रुतिस्मृति प्रतिपादित है तथापि श्रुतिस्मृति प्रतिपादित अन्य विशेष धर्मों से उनका स्वरूप भिन्न प्रतीत होता है। चूंकि वेदप्रतिपादित यज्ञादि धम मनुष्य के कल्याण हेतु हम मानते हैं वह केवल वेदा के अर्थात शब्द प्रमाण के आधार पर। किन्तु अहिंसादि नीतिधम प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा भी मनुष्य कल्याण के लिए उपयोगी होते हैं इसका साक्षात अनुभव हमे होना है। अतएव प० राजेश्वर शास्त्री द्राविडजी ने धम और नीति इनका भेद बताते हुए "शब्दप्रमाण से ज्ञात कल्याण साधक उपाय धम होता है किंतु जिसकी हित साधकता शब्द प्रमाण के साथ प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से भी अनुभव योग्य होती है उस धम को नीति कहते हैं"। ऐसा बडा ही मार्मिक निरूपण किया है। अहिंसादि सामान्य धम सज्ञा को प्राप्त हुए इसका कारण उनका वेद प्रतिपादित्व है। किन्तु उनकी हितसाधकता इहलोक मे प्रत्यक्ष अनुमान से भी जानी जा सकती है यह इन धर्मों की विशेषता है। यद्यपि धमज्ञान के विषय मे श्रुति ही परम प्रमाण है तथापि धम का स्वरूप समझने के लिए अनुमान प्रमाण का उपयाग होना है ऐसी स्मृति की मान्यता है। मनु का वचन है कि धम का रहस्य समझने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान तथा विविध आगम (शब्द) इन तीनो का उत्तम ज्ञान आवश्यक है।

प्रत्यक्षमानुमान च शास्त्र च विविधागमम्।
त्रय सुविदित काय धमशुद्धिमभीप्सता॥

(मनु० १२-१०५)

आगे मनु का कहना है कि धमज्ञान के लिए तक (अनुमान) अत्यत आवश्यक है। तक से जो धर्म का ठीक स्वरूप निश्चित करता है वही धम जानता है।

आर्ष धर्मोपदेश च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतर ॥ (मनु० १२-१०६)

कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र मे आन्वीक्षिकी विद्या (अनुमान विद्या) को सभी धर्मों का शाश्वत आश्रय के रूप मे माना है । इससे धर्म यह केवल अंधश्रद्धा की वस्तु नही है अपितु उसे तर्क से समझना आवश्यक माना गया है । यह बात स्मृतियो ने बार बार दोहरायी है ।

नीति और शब्द प्रमाण

इस प्रकार नीतिधर्मो के पीछे प्रत्यक्ष एव अनुमान खडे हैं । तथापि उनका शब्द प्रमाण का (वेद) आधार ध्यान मे रखना आवश्यक है । चूँकि उसके बिना नीतिधर्मों का कुछ पारलौकिक फल भी हुआ करता है, यह बात समझ मे नही आती । अनेक बार जब अहिंसादि का परिपालन के अवसर पर उनका साक्षात् फल प्रत्यक्ष या अनुमान से जाना नही जा सकता तब अहिंसादि धर्मों का त्याग करने की बुद्धि हो सकती है । इसलिये अहिंसादि धर्म वेदप्रतिपादित हैं अतएव वे पारलौकिक फल देने वाले हैं ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है ।

नीतिलक्षण का परिष्कार

नीति और शब्दप्रमाण इनका सम्बन्ध ध्यान म रखने से प० राजेश्वर शास्त्री द्राविडजी का नीतिलक्षण जिन धर्मो की हितसाधकता प्रत्यक्ष एव अनुमान से भी पुष्ट होती है वे नीतिधम कहलाते हैं विचारणीय है । इसी से अहिंसादि धर्मों के परिपालन मे विशेष अवसर पर जो अपवाद बताए गए हैं उनका औचित्य सिद्ध होता है । जसे कि अहिंसादि धर्म सवमान्य है किन्तु आक्रमण पर उतारू आततायी की हत्या, कसाई द्वारा गोहत्या की आपत्ति मे असत्य भाषण आदि वर्तें दोषास्पद नही होती । चूँकि प्रत्यक्ष एव अनुमान से ऐसे प्रसगो पर अहिंसा एव सत्य प्रभृति का समर्थन नहीं हो सकता । इसलिये ये स्थल नीतिधम के योग्य नही होते ।

अहिंसादि नीतिधम जीवन मे साक्षात अनुष्ठेय/आचरणीय होते हैं । वे क्रियास्वरूप होते हैं । अत उनके विषय मे भारतीय राजनीति शास्त्र म उपलब्ध नीति का लक्षण विचारणीय है ।

कामन्दक नीतिसार पर उपलब्ध उपाध्याय निरपेक्षा टीका का कहना है कि प्रत्यक्ष शब्द और अनुमान इन प्रमाणो से फलसिद्धि निश्चित होने पर देश एव काल की अनुकूलता के अनुसार साध्य प्राप्ति के लिये उपायो की योजना करना यही नीति है ।"

—"प्रत्यक्षपरोक्षानुमान लक्षण प्रमाणत्रय निर्णीतायां फलसिद्धिदो देशकालानुकूल्ये सति यथासाध्यम उपाय साधन विनियोग लक्षणा क्रिया नीति ।" [कामन्दकीसारावरील उपाध्याय निरपक्षा टीका] जयमगला टीकाकार ने प्रस्तुत अर्थ सक्षेप मे बताकर अपना अभिप्राय व्यक्त किया है । जैसे ' प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाण—देशकालशक्ति पुरस्सरार्थसाधन विनियोग-लक्षणा क्रिया नीति ।" (कौटिलीय अर्थशास्त्र" जयमगला टीका) जयमगलाकार के नीति लक्षण मे—देशकाल के साथ आचरणकर्त्ता की शक्ति का भी विचार आवश्यक है" यह बडी मार्मिक वस्तु है । स्मृतिकारो ने प्रायश्चित्त के लघुगुरुत्व की चर्चा म या आपद्धम के विचार मे आचरणकर्ता की शक्ति का विचार कर अपना निर्णय दिया है । भले ही यह व्याख्या साक्षात राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित हो किन्तु नीतिधम के विचार के लिये यह समुचित है । चूँकि भारतीय राजनीति का विचार समाज की धारणा के लिये आवश्यक है और यह समाज धारणा प्रधानरूप

से नीति धर्मों के पालन से उत्पन्न होती है। अत राजनीतिशास्त्रगत नीति का लक्षण नीतिधम का स्वरूप विशद करने के लिये भी उपयोगी है। कौटिलीय अथशास्त्र मे अहिंसा, सत्य, शौच अनसूया, आनृशस्य, एव क्षमा इन सामान्य धर्मों का पालन सबके लिए आवश्यक बताया है।

"सर्वेषामहिंसा, सत्य, शौचमनसूयाऽ नृशस्य क्षमा च।"

(कौ० अथ, प्रथम अधि अ २ पृ० १४) कामन्दक ने तो इससे भी स्पष्ट शब्दो मे "अहिंसा, सत्य, तथा प्रिय वाणी, सत्य, शौच, दया एव क्षमा यह सब समाज का सामान्य धम बताया है"—

अहिंसा सूनृता वाणी सत्य शौच दया क्षमा।
वर्णिनां लिङ्गिनां चव सामान्यो धम उच्यते॥

(काम २-३२)

दण्डनीति का अर्थात राजनीति का जन्म ही सदाचार का पालन समाज मे हो इसीलिए हुआ है। शुक्रनीति कहती है—

निवृत्तिरसदाचाराद्दमन दण्डतश्च यत्।
येन सदम्य ते शत्रुरुपायो दण्ड एव स॥ शुक्रनीति ४-१०१

इससे अहिंसादि सामान्यधम और राजनीति इनका सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है इसे हम समझ सकते हैं। जगत्परिपालन यह राजनीति का लक्ष्य है। वह समाज द्वारा अहिंसादि धर्मों के यथावत पालन से ही सिद्ध होता है। अतएव आतर तथा बाह्य शत्रुओ से रक्षा होकर समाज का निश्चित जीवनयापन कैसे सम्भव होगा इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न राजनीति करती है। राजनीति अहिंसादि धर्मों का विचार जन कल्याण की कामना से करती है। अत परिस्थितिवश सारासार विचार कर राजनीति निश्चित की जाती है। इसीसे सामान्य धर्मो का विचार भी नीति मे समाविष्ट है। फलस्वरूप राजनीति के लक्षण का समन्वय राजनीत्यन्तर्गत अहिंसादि धर्मों मे होना उचित होगा। इसलिये "प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगमादि) प्रमाणो से फलसिद्धि निश्चित होने पर साध्य के अनुरूप देश, काल और निजी शक्ति के अनुसार की जानेवाली क्रिया नीति होती है" इस लक्षण के अनुसार अहिंसादि सामान्य धम भी नीतिधम होते हैं इससे अनेक बाधाओं का परिहार होता है।

नीति धर्म और ईश्वर

धम अदृष्ट द्वारा ही कल्याण साधक होता है। चूँकि धम काय वतमान काल मे होता है और फल भविष्य मे सुदीघकाल के बाद प्राप्त होता है अथवा मृत्यु के बाद भी प्राप्त हो सकता है। इसलिए धम और धम का फल इनका काय कारण भाव नही बैठता। और उसे न माने तो ससार मे प्राप्त अनुभवो की उपपत्ति नही जमती। इसीलिए धम के आचरण से अदृष्ट/अपूव उत्पन्न होता है। अदृष्ट का अथ है धर्माधर्मो के आचरण से जन्य जीवात्मगत विशेष सस्कार उसे ही कर्मानुरूप पुण्य या पाप कहते हैं। यह अदृष्ट विशिष्ट काल मे और विशिष्ट देश मे ही मनुष्य को अपना नियत फल देता है। धम अदृष्ट द्वारा जिस फल को देता है वह स्वय नही दे सकता। करनेवाला स्वय मन है। किन्तु स्वय कर्ता तो अपने को अपने धर्मो का दु खरूप फल देना नहीं चाहेगा। चूँकि धम चेतन नही है। अचेतन वस्तु चेतन का आश्रय कर ही सचेष्ट बनती है। अत धर्माधर्मो की जो भी व्यवस्था विश्व मे है उसका नियमन जिस शक्ति से होता है उसे ही ईश्वर कहते हैं। तदनुसार नीतिधर्मों के पालन से या अपालन से उत्पद्यमान अदृष्ट की फलदायिता के पीछे ईश्वर खड़ा है ऐसा स्मृति मानती है। कमफल विषयक विचार मनुस्मृति

के प्रथम एव दशम अध्याय मे वर्णित है। (मनु० न० १, २८, २८, ४१, मनु० २२ १२२-१२४) यह स्मृति नीतिपरिपालन के अधिष्ठाता, तज्ज्य कमफल एव कमफल के दाता के रूप मे ईश्वर की सकल्पना स्मृति ने मान्य की है। इससे अहिंसादि नीति धम केवल अभ्युदय के लिये ही नही—नि श्रेयस के लिए भी आवश्यक है ऐसी स्मृति की मान्यता है।

नीतिधम और न्याय व्यवस्था

मनुस्मृति में आठवें अध्याय मे वर्णित अठारह व्यवहारपद वादी प्रतिवादी मे उत्पन्न विविध विवाद सामान्यधम के अयथावत आचरण से उत्पन्न होते हैं। स्मृति मानती है कि नीतिधर्मों का परिपालन समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक होने से शासन मे प्रजा के द्वारा उसका परिपालन करवा लेना और पालन न करने पर दड की व्यवस्था करना यह अत्यन्त आवश्यक है। सम्पूण न्याय व्यवस्था मूलत सामान्य धर्मों का परिपालन की आवश्यकता ध्यान मे रखकर की गई है। पूर्वोक्त अठारह व्यवहार-पदो का विभाजन सामान्य नीतिधर्मो की दृष्टि से कैसे होता है इसे हम देख सकते हैं।

अस्तेय के अन्तर्गत

(१) ऋणादान—ऋण का शोधन न करना, (२) निक्षेप—न्यास रखना, (३) अस्वामिविक्रय—स्वामित्व के विना वस्तु का विक्रय करना, (४) स्तेय—चोरी, (५) साहस—जबरदस्ती से धनादि लूटना इतने विषय के विवाद आते हैं।

सत्य और शौच

इन दो के अन्तगत (१) सभूयसमुत्थान—मिलकर समूह रूप मे सहकार से किए जाने वाले काम, (२) क्रय विक्रयानुशय—क्रय विक्रय के करार तोडना, (३) दत्तानपकम—दिए हुए धन का प्रतिज्ञा के अनुसार उपयोग न करना, (४) सविदश्च व्यतिक्रम—करार तोडना, (५) स्वामिपालविवाद—स्वामी एव पशुपालक इनके परस्पर विवाद, (६) वेतनस्य अदानम—कमचारियो के वेतन के विवाद, (७) सीमा—विवाद, (८) स्त्रीपु धम—गृहस्थ जीवन के झगडे आते हैं।

इन्द्रियसयम के अन्तगत (१) द्यूत—सवसाधारण जुआ, (२) समाह्वय—घोडों की रेस जैसे कामो पर आधारित द्यूत, (३) स्त्रीसग्रह—महिलाओ की छेडखानी होते हैं।

अहिंसा के अन्तगत (१) दण्डपारुष्य—देहदण्ड और (२) वाक्पारुष्य—गालियाँ देना इनका समावेश होता है। राजदण्ड से अपराधियो का पाप दूर होकर वे शुद्ध होते हैं ऐसा स्मृति मानती है।

राजभि कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवा ।
निमला स्वगमायान्ति सन्त सुकृतिनो यथा ॥ (मनु० ८-३१८)

नीतिधम और प्रायश्चित्त विचार

केवल राजदड के भय से अहिंसादि नीतिधम का पालन होना इससे समाज की उन्नत स्थिति का सकेत नही मिलता। मनुष्य मे वैसी धमपालन की स्वाभाविक प्रवृत्ति नितात अभीष्ट है। स्मृतियाँ अच्छे नागरिक के विषय मे क्या धारणा रखती थी यह बात प्रायश्चित्त विचारो से स्पष्ट होती है। प्रायश्चित्तों को नाना प्रकारो से बिडम्बना की जाती है। किंतु स्मृतियो की प्रायश्चित्तो के विषय मे जो

धारणा है उसके अज्ञान मे यह उपहास होता है। मनुष्य अज्ञान से भी क्यो न हो यदि कुछ अपराध करता है, या उससे अपराध हो जाता है, वह भले ही राजदड की दृष्टि से अपराध न हो, किन्तु आत्म शाति के लिए एव फिर से ऐसा प्रमाद न हो इसलिए बुद्धिपूर्वक दृढ निश्चय प्रायश्चित्त मे अभिप्रेत होता है। अन्य धर्मों मे भी प्रायश्चित्त विचार है किंतु वह भारतीय स्मृतियो की तुलना मे उतना व्यापक तथा गम्भीर नही है। इच्छा से या अनिच्छा से अपरिपालन से उत्पन्न होनेवाले पातको को नष्ट करने के लिए स्मृतियो मे प्रायश्चित्तो का विधान है। उनका सम्बन्ध नीतिधर्मों के अपरिपालन से ही है। आत्मा ही आत्मा की साक्षी है। इस सर्वसाक्षी आत्मा की अवहेलना मनुष्य कदापि न करे। [मनु० ८ ८४] पापी यह समझता है कि अपने को कोई नही देखता। किंतु देवताएँ और मन मे जागरूक जीवात्मा ये उसपर से अपनी दृष्टि ओझल नही होने देते। मनुष्य बुरा व्यवहार करे या अच्छा व्यवहार करे स्मृति की सम्मति मे उस पर आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, प्रभात, साय दोनो समय के सधिकाल और धर्म (इनकी अधिष्ठात्री देवताओ) की सूक्ष्म दृष्टि होती है। मनुस्मृति म अत म कहा गया है कि 'विश्व में विद्यमान सभी सत् एव असत वस्तुएँ आत्ममय हैं ऐसा मनुष्य समझे।' इसके अनुसार सभी आत्मा मे निहित है इस दृष्टि को अपनाने से मनुष्य रागद्वेष रहित होता है तथा वह अधर्माभिमुख नही होता। [मनु० १२ ११८]

नीतिधर्मों की सार्वकालिकता

अहिंसादि नीतिधर्मों का मनुष्य के लिए सवदा और सर्वत्र पालन करना अपरिहार्य है ऐसा स्मृति मानती है। किन्तु सत्य भाषण के कुछ अपवादस्थल स्मृतियो में प्राप्त होते हैं। जैसे शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय एव ब्राह्मण इनमें से किसी की हत्या का यदि सम्भव है तो असत्य भाषण करने से दोष नही लगता। चूँकि ऐसी अवस्था मे अनृत ही सत्य से श्रेष्ठ होता है।

> शूद्र-विट् क्षत्र विप्राणा यत्रर्तोक्तौ भवेद वध ।
> तत्र वक्तव्यमनृत तद्धि सत्याद् विशिष्यते ॥

(मनु० ८ १०४)

अस्तेय का भी अपवाद स्मृति मे निर्दिष्ट है। (वृत्तिरहित)

लताएँ वनस्पति के मूल और फल, होम के लिए समिधाएँ गैया के लिए तृण लेना यह स्तेय नहीं होगा।"

> "वानस्पत्य मूलफल दार्वग्न्यर्थं तथैव च।
> तृण च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेय मनुरब्रवीत् ॥ (मनु० ८-३३९)

अन्य भी कुछ अपवाद है। इन बातो से स्मृतियो का मानवतावादी दृष्टिकोण सूचित होता है।

प्रथम अपवादस्थल मे असत्य भाषण से—मानवहत्या का पाप नहीं लगता, दूसरे स्थल म स्तेय अन्तत सर्वोपयोगी धर्मकार्य के लिए उपयोगी है। इससे यह स्पष्ट है कि गौरवलाघव का विचार कर नीति धम मे अपवाद दिये है। तथापि उन्होंने उनके प्रायश्चित्त भी बताए हैं।

(मनु० ८-१०५,१०६)

नीतिधम और आपद्धम

आपत्काल मे मनुष्य का जीना ही दुभर होता है। उस समय यदि उसके द्वारा धर्माचरण न हो तो उसे दोषपात्र कहना उचित नहीं होगा। किन्तु स्मृतिकारों ने उस अवस्था म भी अपना सतुलन न

सोचकर कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका मार्गदर्शन किया है। जब प्राणसंकट ही उपस्थित हो तो 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' मानकर अधिक विचार की आवश्यकता नहीं होती। तथापि भविष्य मे उचित समय पर सामान्य धर्म का पालन न करने से उत्पन्न दोष प्रायश्चित्त के अनुष्ठान से दूर करने का उपदेश स्मृतियाँ करती हैं। आपत्काल के बाद पुन पूर्ववत् नियमानुसरण आवश्यक कर्तव्य होता है। (मनु० ११-८१ से १३०-१९३) इससे यह स्पष्ट है कि धर्मानुष्ठान से ऐहिक एव पारलौकिक क्षेत्र की साधना अभिप्रेत होने से जब धर्माचरण करने वालो के प्राण सकट म हो अथवा वह निजी धर्माचरण से किसी निरपराध प्राणी का जीवन सकट मे डालता हो तो आचरणकर्ता अपना निर्णय कर सकता है। किन्तु ऐसे धर्माचरण के अपवादस्थल स्मृतियो ने विचारपूर्वक परिगणित किए हैं।

धर्मसशय के प्रसग मे निर्णय

किन्तु सनातन काल प्रवाह मे कई बार नए नए अवसर या बाधाएँ उपस्थित होने की सम्भावना है। उस समय भी धर्मनिर्णय की पद्धति क्या हो इसका विचार स्मृतियो मे लक्षित होता है। वह स्मृतिकारो की दूरदर्शिता का साक्षी है। ऐसी अवस्था मे जिन प्रश्नो का स्फुट निर्णय प्राप्त नही होता उनके बारे मे निर्णय करने के लिए जिन्होने साग एव सशास्त्र वेदाध्ययन किया है ऐसे शिष्ट ब्राह्मणो से उपदेश प्राप्त करना चाहिए। यदि उन ब्राह्मणो का सम्मेलन सम्भव न हो तो ऋग, यजु साम इन वेदो के तीन अध्ययनकर्त्ता, एक नैयायिक, एक मीमासक, एक निरुक्तज्ञ, एक धर्मशास्त्रज्ञ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ एव वानप्रस्थ इनका प्रत्येकना एक प्रतिनिधि ऐसे दस व्यक्तियो की दशावरा परिषद बुलाकर निर्णय करना चाहिए अथवा यदि यह सम्भव नही है तो ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ इन तीनो की त्र्यवरा परिषद बुलाकर निर्णय करना चाहिये। यह भी यदि नही हो सकता तो एक भी वेदज्ञ का निर्णय प्रमाण मानना चाहिये न तु दशसहस्र अज्ञानियो का निर्णय जिन्होंने धर्मी व्रतो का पालन किया नही, जिन्होने वेदाध्ययन किया नही, किन्तु जो केवल ब्राह्मण जाति म पैदा हुए हैं ऐसे परिषद के रूप मे सम्मिलित हजारो अज्ञानियो द्वारा किया निर्णय प्रमाण नही माना जा सकता। (मनु० १२ १०८ से ११४) इससे स्मृतिकारो की यह व्यवस्था सभी कालो मे, सर्वत्र तथा सभी प्रसगो म मार्गदर्शक हो सकती है।

उपसहार

उपर्युक्त विवेचन से स्मृति के अनुसार नीतिधर्मों का आचरण मानव की मानवता का परिचायक है। वह सर्वदा एव सर्वत्र अपरिहार्य है मानवजीवित ही जब सशयापन्न हो तब उनके कुछ अपवाद सम्भवनीय है। किन्तु पश्चात, उनका बुद्धिपूर्वक प्रायश्चित्त कर नीति धर्म का आचरण पुनरपि पूर्ववत करना आवश्यक है ऐसी स्मृति की मान्यता है। नीतिधर्म के कारण व्यक्तिगत जीवन मे मनुष्य धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष की साधना कर सकता है और सामूहिक रूप मे उनका आचरण करने से सम्पूर्ण समाज का जीवन चतुर्विध पुरुषार्थ करने मे सक्षम होता है। नीतिधर्मों की हितसाधकता श्रुतियो से प्रमाणित है इसीलिए वे प्रमाण हैं ऐसी बात नहीं। अपितु समाज का जीवन अहिंसादि धर्मनियमो से यदि बद्ध न हो तो ऐहिक जीवन भी सुख से कोसो दूर रहता है इसका हम अनुभव कर सकते हैं। अत प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द इन प्रमाणो से जिन उपायो से फलसिद्धि निश्चित है उन उपायो का साध्य के अनुरूप देशकालोचित अनुष्ठान यह नीति का लक्षण अहिंसादि नीतिधर्मो के विषय मे भी ठीक है। इसके अनुसार स्मृति की नीति विषयक सकल्पना तर्क की कसौटी योग्य तथा युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

सदर्भ ग्रन्थ सूची

(१) मनुस्मृति —म न्वथमुक्तविसी समेता, निर्णयसागर प्रेस मुम्बई, १९४६

(२) याज्ञवल्क्य स्मृति —मिताक्षरा समेता, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९६२

(३) कौटिलीय अथशास्त्र —स० वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा सस्कृतसिरीज, वाराणसी,

(४) शक्ति का अग्रदूत —(भारतीय राजनीतिशास्त्रका दिग्दशन)
प० राजेश्वर शास्त्री द्रविड, प्रकाशक—विशुद्ध सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी स० २०१३

10522
19.7.89

श्रीविद्या श्रीयन्त्र

प्रो० कल्याणमल लोढा

श्री विद्या, जिसे ब्रह्मविद्या या चन्द्रकला विद्या भी कहते हैं भारतीय तन्त्र-साधना की सर्वोपरि विद्या है। ऊर्ध्वाम्नाय से उपासित सभी विद्याएँ श्री विद्या के नाम से ही अभिहित हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के ललितोपाख्यान म कथन है —

इति मन्त्रेषु बहुधा विद्याया महिमोच्यते,
मोक्षैकहेतुविद्या तु श्री विद्या नात्र सशय ।

श्री विद्या के उपासक को साक्षात् शिव गिना गया है। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार जन्म-जन्मान्तर मे अनेक विद्याओ की उपासना के अनन्तर श्री विद्या का उपासक होना है। श्री विद्या के अनेक नाम हैं—ललिता, राजराजेश्वरी, महात्रिपुरसुन्दरी, षोडशी आदि। ये नाम अवस्था भेद के परिचायक हैं। दश महाविद्याओ मे तृतीय षोडशी विद्या श्री विद्या ही है।[१] काली, तारा व षोडशी ये ही तीन मुख्य विद्याएँ हैं, श्री विद्या ही इनमे मूल विद्या है। श्री विद्या से श्रीत्रिपुरसुन्दरी का मन्त्र और उसके देवता का बोध होता है। यथा—

कामराजाख्य मन्त्रान्ते श्री बीजेन समन्वता।
षोडशाक्षर विद्येय श्री विद्येति प्रकीर्तिता ॥[२]

अर्थात् कामराजोपामिता पचदशी मन्त्र के अन्त मे 'श्री' बीज लगाने से श्री विद्या कही जाती है। श्री विद्या से आत्मज्ञान व शोकोत्तीर्णता दोनो ही प्राप्त होते हैं 'पाशाकुशधनुर्बाणा य एना वेद स शोक तरति। यही नही श्री विद्या की उपासना से भोग और मोक्ष दोना ही सुलभ हैं।

'श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'

श्री विद्या को ही आचार्यों ने आत्म शक्ति गिना है—स्वतन्त्र तन्त्र के अनुसार स्वात्मा ही विश्वात्मिका श्री ललिता है। श्री विद्या का तन्त्र स्वतन्त्र है—इसी तन्त्र से कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर सहस्रार म ले जाया जाता है। अन्य तन्त्र धम, अथ और काम की सिद्धि दे सकते हैं, पर श्री विद्या चारो पुरुषाथ की। यही तथ्य भगवत्पाद शकराचाय ने सौन्दयलहरी म प्रतिपादित किया है—

चतुष्षष्ट्या तन्त्रैं सकलमति (भि) सधाय भुवन
स्थितस्तत्तत्सिद्धि प्रसवपरतन्त्रैं पशुपति ।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिल पुरुषार्थ क घटना
स्वतन्त्र ते तन्त्र क्षितितलमवातीतरदिदम ॥ (सौन्दय लहरी-३१)

पुन त्रिपुरोपनिषत के अनुसार यह आद्याशक्ति अरुणा 'विश्वचर्षणि' और अपने आयुधो (चार) से यह 'विश्वजन्या' आदिशक्ति सबका नियन्त्रण करती है। ये ही कामेश्वरी हैं, जो कामेश्वर के अक मे विराजमान हैं। इनका ध्यान रक्तवर्ण का है लौहित्यमेतस्य सवस्य विमश (भावनोपनिषद) और पच प्रेतासन पर ये अधिष्ठित हैं। श्री ललिता सहस्रनाम के अनुसार—

उद्यद्भानुसहस्राभा चतुर्बाहुसमन्विता
रागस्वरूप पाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायका
निजारुण प्रभापूरमज्जद्ब्रह्माण्डमण्डला (२-३)

भगवती के आयुध हैं पाश, अकुश, इक्षु धनु और पच पुष्प-वाण। इन आयुधो का अर्थ है 'राग पाश' द्वेषा ङ्कुश मन इक्षु धनु एवम शब्दादि तन्मात्रा पच पुष्प वाण (भावनोपनिषद) चतु शती के अनुसार पाश इच्छा शक्ति, अकुश ज्ञान, बाण व धनु क्रियाशक्ति हैं।[3] आचार्य विष्णुतीर्थ ने मोह को पाश, क्रोध को अकुश, मन को धनुष और शब्द, स्पर्श, रस गन्ध को पचबाण गिना है[4] भगवती के तीन रूप हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर। सहस्रिका के अनुसार पाच वर्ण ही मुख कमल हैं। ये ही भगवती त्रिपुरा हैं—त्रिपुरा अर्थात् इडा, पिंगला और सुषुम्णा, मन बुद्धि और चित्त, अथवा इच्छा, ज्ञान व क्रिया शक्ति।[5] हरियातन सहिता मे श्री दत्तात्रेय ने बताया कि श्री विद्या विच्छक्ति हैं—महाचिति। इन्होने ही भण्डासुर का वध किया था, जिसका आख्यान प्रसिद्ध और प्रतीकार्थ मनोवैज्ञानिक है।[6]

श्री विद्या श्री और विद्या से बना है। श्री शब्द का अर्थ सामान्यत लक्ष्मी होता है पर अनेक तन्त्रागमो मे श्री का अर्थ महात्रिपुरसुन्दरी है। मान्यता है कि श्री लक्ष्मी ने भगवती त्रिपुरा की आराधना कर अपने आगे श्री लगाने का वरदान प्राप्त किया था। श्री शब्द श्रेष्ठता का सूचक है। 'श्रयते या सा श्री' अर्थात् जो श्रयण करे वही श्री है। नित्य परब्रह्म का आश्रय ही श्री है।

श्री का अर्थ भिन्न भिन्न प्रसगानुसार लक्ष्मी, सरस्वती, शोभा, सम्पद आदि निर्दिष्ट है। दुर्गासप्तशती म 'त्व श्री त्वमीश्वरी' (१-७९) कहा गया है। श्री शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है 'श्रियते सर्वैरिति श्री 'श्रि' धातु से इसका तात्पर्य है 'सेवा करना' आङ् उपसर्ग के योग से इसका अर्थ होता है' आश्रय करना। आचार्यों ने इसके आधार पर ही इसका अर्थ आद्याशक्ति से गृहीत किया है। 'सर्वाश्रियाखिलमिद जगद्'। द्वितीय 'विद्या' शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'जानना'। विद्या का मुख्यार्थ ज्ञान है। कहा गया है 'सा विद्या या विमुक्तये'। विद्या का अर्थ सरस्वती के लिए भी प्रसिद्ध है। वेद पुराणादि और आगमों मे मन्त्र, वर्णात्मक देवता और उसकी उपासना को विद्या कहा है। दार्शनिक स्तर पर विद्या और अविद्या या परा और अपरा उपनिषदो मे वर्णित है। श्रुति कहती है कोई भी कार्य 'विद्यया' श्रद्धया उपनिषदा वा वीर्यवत्तर भवति'[7] प्राचीन काल मे प्रयोग पद्धति की दृष्टि से मधु विद्या, दहर विद्या पचाग्नि विद्या प्रसिद्ध थी। विद्या अर्थात् 'सही प्रविधि'। श्री जपसूत्रम के अनुसार विद्या से तात्पर्य केवल सैद्धान्तिक दिशा ही नही है, वरन् व्यावहारिक दिशा ज्ञान भी है। इस प्रकार विद्या सिद्धान्त और व्यवहार ज्ञान दोनो का सश्लिष्ट है।

श्री विद्या उस परम चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न है, वही साक्षात चिन्मयी आद्या प्रकृति है—वही श्री और मन्त्र वर्णात्मक देवता रूप मे अभिव्यक्त हो 'श्री विद्या' के नाम से उपास्य है। वह श्री की प्रदात्री विद्या है। इसी को परमा विद्या, महाविद्या कहा गया है 'या देवी सर्वभूतेषु विद्या रूपेण सस्थिता' यही सब देवमयी विद्या है। इसी को 'विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि' कहते हैं।[8] विश्व मे समस्त विद्याएँ इन्हीं के भेद हैं—'विद्या समस्तास्तव देविभेदा।' श्रीमच्छकराचार्य ने ललिता पञ्चरत्नम् म कहा है' विश्वस्य सृष्टि विलयस्थिति हेतुभूता विद्येश्वरी निगमवाड्मनसादि दूराम्' वही विद्येश्वरी है। इसी से मन्त्रों में श्री विद्या को श्रेष्ठ गिना है 'श्री विद्यैव हि मन्त्राणाम्'[9] पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द ने महाचिति का विवेचन करते हुए कहा है—

'चैतन्ये निष्क्रियेऽसौ शव शिव हृदि या प्रथते शक्ति रूपा ।
सा शाक्तश्चेतयित्री चितिरतिशयिता तामृते चिन्मृतवे' ।।११

भगवती चेतन की भी चेतयित्री व चैतन्य सम्पादन कारिणी है। वह सच्चिदानन्द समुद्र मे ज्ञान, इच्छा, क्रिया की लहरियाँ उठाती हैं। वही नाद बिन्दु और कला है। नाद रूप मे नित्य महाकाल, धारा के आधार रूप मे वत्तमान है—वह अक्रम व क्रमशून्य एव भग्नाश विहीन अखण्ड है और बैन्दव रूप मे बिन्दु है। वह त्रिनयनी है, अर्क, अग्नि और सोम, सृष्टि, स्थिति और सहार—नाभि, अर और नेमि-ये सभी इसके महाक्रम के सकेत हैं।१२ कला की पूर्णता लाभ होने पर बनती है पौर्णमासी रूपिणी उमा—श्री विदया या लक्ष्मी स्वरूपिणी और अपने गोपन, ध्रुव आलय म वह नित्य अमा रूपिणी है, जहा समूचा कला निचय विलय होता है। उमा और अमा—यह है परम की सीमा—इसके बीच यह अउम मात्रा त्रय लेकर असख्य कलन व परिणाम है। वाग्दोह रूप ओंकार का वह दोहन करती है—शान्त और शान्तातीता है। मत्र एवम् मत्राधीना होकर सव मन्त्रेश्वरी, सर्व यन्त्रेश्वरी व सव तन्त्रेश्वरी है (वही) यही श्री विद्या का स्वरूप है।१३

श्री विदया केवल आगम सम्मत ही नही निगम सम्मत—अर्थात निगमागम सम्मत है। आचार्यों ने इसे वेदोक्त प्रमाणित किया है। ऋग्वेदीय बहवृचोपनिषद मे स्पष्ट उल्लेख है कि एकमात्र देवी ही सृष्टि के पूर्व थी—वे ही कामकला हैं—शृगार कला भी। आदि। इन्ही से सभी देवता प्रादुर्भूत हुए, वे ही सकल विद्याओ की जननी हैं। अति प्राचीन काल म ही भारतवप म श्री विद्या की उपासना प्रचलित है। श्रीमत् शकराचाय के परमगुरु गौडपाद स्वामी, स्वयम शकराचाय तथा तदनुवर्ती सुरेश्वर, विद्यारण्य, पद्मपाद अनेक वेदान्ती श्री विद्या के उपासक थे। मीमासको म खण्ड देव के शिष्य शम्भु भट्ट, भास्करराय प्रभृति भी इसके आराधक थे। महाप्रभु चैतन्यदेव के सम्प्रदाय सिद्धान्त म इसी साधना का प्रभाव मूल मे स्पष्ट है। नित्यानन्द महाप्रभु श्री विद्या के उपासक थे। शैवाचाय अभिनव गुप्त श्री विद्या की भी उपासना करते थे।१४ श्री दुर्वासा मुनि विरचित त्रिपुरा महिम्न स्तोत्र मे तो स्पष्ट कहा गया है—

> वन्दे वागमवर्मैवक्षात्म सदृश वेदादि विद्या गिरो ।
> भाषा देश समुद्भवा पशुगताश्छन्दांसि सप्त स्वरान ।
> तालात पच्च महाध्वनीन् प्रकटयत्यात्म प्रसारेण यत्
> तद्बीज पद वाक्य मान जनक श्री मातृके ते परम् ।

श्री विद्या का वाग्भव बीज ऋग्वद यजुर्वेद के मत्राक्षरा से बना सिद्ध किया जाता है।१५ चण्डी (सवत २००४ चैत्र वैशाख अक) के 'वेद मे शक्ति तत्व' लेख मे श्री विद्या का वेद विहित होना प्रमाणित किया गया है। यजुर्वेद के मत्र (३२-५) म तो स्पष्ट उल्लेख है कि श्री विद्या सम्पूर्ण भुवनो का रूप लिये हुए है। षोडशी विद्या का श्रेष्ठत्व तन्त्र सिद्ध है। वेद मन्त्रा म निरूपित षोडशी ही आगम प्रसिद्ध षोडशी है। श्री शकराचाय ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या मे आदिशक्ति (जिससे यह ब्रह्माण्ड प्रसूत है) की व्याख्या की है। तत्तिरीय आरण्यक की एक आख्यायिका म पृश्नी नामक ऋषियो ने श्री चक्र के अचन द्वारा कुण्डलिनी को जागृत कर (योग) सिद्धि प्राप्त की थी। भास्करराय ने वरिवस्यारहस्य मे कादि विद्या की प्रधानता ऋग्वेद के मन्त्रों का आधार लेकर की है। त्रिपुरतापिनी उपनिषद मे कादि पचदशी का उद्धार गायत्री के आधार पर किया है।

श्री विद्या की उपासना के तीन मुख्य क्रम हैं—काली क्रम, सुन्दरी क्रम और तारा क्रम। काली क्रम को कादि विद्या भी कहते हैं—यह सत्वगुण प्रधान विद्या है और तारा क्रम को सादि विद्या जो, तमोगुण प्रधान है। ये तीनो क्रम ही दीक्षा है। कहा गया है—

सुन्दरी तारिणी काली क्रम दीक्षाभिगामिनी।
क्रमपूर्णो महेशानि क्रमाच्छाम्भुभविष्यति ॥

इस उपासना क्रम का सविस्तर वर्णन किया गया है। श्री विद्या के प्रधान छ आम्नाय हैं, जो दिशाओ के नाम से प्रसिद्ध है। मुख्यत उपासना के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद है, इनको क्रमश बहियाग और अन्तयाग कहा जाता है। बहियाग नियात्मक और अन्तयाग भावनात्मक होता है। इस उपासना क्रम मे उत्तरोत्तर शब्द योग, मन्त्र योग, भक्ति योग, ज्ञानयोग, कैवल्य अर्थात मोक्ष पुरुषार्थ प्राप्त होता है।[९६] अन्य देवता के उपासक भी इस देवता की श्री विद्या के रूप मे उपासना करते हैं—जसे श्रीराम भक्त राम सुन्दरी, श्री कृष्ण भक्त गोपाल सुन्दरी एव वराह सुन्दरी नृसिंह सुन्दरी आदि। श्री विद्या के उपासक श्री चक्र की भी पूजा करता है। श्री विद्या के लीला विग्रह हैं कुमारी, त्रिरूपा, गौरी, रमा, भारती, काली, चण्डिका, दुर्गा और ललिता (श्री ललिता ने ही भण्डासुर का वध किया था)। श्री विद्या के तीन स्वरूप स्थूलरूप कर चरणादि अवयवो से भूषित हैं। सूक्ष्म रूप मन्त्रात्मक है—ललिता सहस्र नाम के अनुसार श्रीमद् वाग्भवकूटैक स्वरूप मुख पकजा (पाच वण ही उसका मुख कमल है) और पर रूप वासनात्मक है जो मन इन्द्रियो से ग्रहीत है 'चत यमात्मनो' रूपम'। श्री विद्या के द्वादश उपासक प्रसिद्ध है।[९७]

श्री विद्या की साधना अभेदात्मक-सामरस्यात्मक साधना है। सामरस्य तन्त्र साधना का अत्यन्त गूढ और गहन तत्व है। सामरस्य के सम्यक निरूपण स ही श्री विद्या की अद्वयात्मक अभेदमूलक साधना शिव शक्ति प्रकाश विमर्श की व्यजना सम्भव है। श्री यन्त्र भी इसी का तात्विक विवेचन करता है, जो निष्कल और सकल अव्याप्त और व्याप्त, उच्छन्न-विच्छिन्न अवस्थाओ की व्याख्या है। अहम शिव का स्वरूप है और विमश शक्ति का। आद्या शक्ति ही शिव के स्वरूप ज्ञान के प्रकाश के लिए निर्मल दपण रूप है। अह नान ही शिव का स्वरूप ज्ञान है, इसीलिए काम और कामेश्वरी की समप्रधानता स्वीकृत ह दोनो एक ही तत्व हैं 'शिवशक्तिरिति ह्येक तत्वमाहुमनीषिण' पर श्री चक्र मे शक्ति की ही प्रधानता ह। निराकार शून्यरूप तत्वातीत शिव द्वितीय अवस्था म जिसे शिव और शक्ति का सामरस्य कहते हैं—बन्दव रूप है—तदुपरात इसका स्पन्दन या ससरण होता है। यह सामरास्यात्मक अवस्था बिन्दु रूप मे अग्निषोमात्मक ह। यही अद्वय अवस्था है क्योकि इसमे वैषम्य या भेद स्थिति नही रहती इसी को 'चिदानन्दमयी अद्वैत निष्ठा' कहा गया है। वस्तुत सामरस्य एक व्यापक सिद्धान्त है, जिसका महत्व साधना राज्य, अध्यात्म, सृष्टि विज्ञान और वाक आदि मे स्वत सिद्ध है। आधुनिक विज्ञान जिस द्रव्य और ऊर्जा को साम्य वैषम्य की अद्वयात्मक स्थिति सृष्टि विनष्टि के क्रम मे निर्धारित कर रहा है, वह इसे और भी प्रमाणित कर देता है। समस्त धर्मों म यह मान्य है। श्री विदया और उसके श्री यन्त्र मे इसका विस्तृत व प्रतीकात्मक विवेचन उपलब्ध है। गोपीनाथ कविराज के शब्दो म जीवन आत्मविस्मृत होन पर भी चित शक्ति का ही अश है यह चिदणु है। उसे प्रत्यभिज्ञ करना होगा। जीव की भक्तिरूपा शक्ति शिव की चित शक्ति के साथ जब समान रूप मे मिल जाती है—वही समरसा भक्ति है—श्रद्धा, निष्ठा अवधान, अनुभव और आनन्द के बाद यह समरसभाव उदित होता है—जीव शिव मे लीन नही होता, भक्ति भी शिव मे लीन नही होती, सभी रहते हैं। जीव शिव होता है फिर भी वह जीव है। भक्ति शक्ति होकर भी भक्ति है—इसी का नाम सामरस्य है। सामरस्य म सब कुछ रहता है पर एकमात्र रहता है। वह लय नही है, निर्वाण भी नहीं है। इस स्थिति म अहन्ता और इदन्ता का समानाधिकरण ही प्रकट होता है। शिव और शक्ति का अंगी और अंगाग सम्बन्ध ही समरसता है। सौन्दर्य लहरी म श्री शकराचाय कहते हैं—

शरीर त्व शम्भो शशि मिहिरवक्षोरुहयुग,
तवात्मान मन्येभगवति नव (भवा) त्मानमनघम् ।
अत शेष शेषीत्ययमुभयसाधारणतया,
स्थित सम्बन्धो वा समरस परानन्दपरयो । (३४)

यहा प्रमाता को मन्त्रेश्वर कहते है और ग्राह्य विश्व मे भेदप्रधान होकर वही प्रमाता मन्त्र होता है—इन सभी की अधिष्ठात्री शुद्ध विद्या है ।[१८] श्री विदया मे इसी सामरस्य या महामिलन का गूढार्थ व्याख्यायित है। सौभाग्यभास्कर मे श्री भास्कराचाय का वचन है, 'शिवशक्ति सामरस्य रूपत्वादुभयात्मतेति' पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द ने जपसूत्रम मे इस समरसता का विवेचन करते हुए लिखा है, सुतरा जो विष है, वह भी असल में अमृत है, जो भय है, वह भी अभय है—इस प्रकार के तादात्म्य एव सामरस्य की उपलब्धि से पूर्वोक्त आहुति चतुष्टय (अभ्यास योग, वैराग्य योग, अनासक्त योग, अस्पर्श योग) की समापन रूप पूर्णाहुति अन्त म करनी होती है – यह समापति या सामरस्य योग है ।[१९] अर्द्ध नारीश्वर का रूप भी दोनो की अद्वयावस्था का ही सूचक है—इसमे शक्ति तत्व की इतनी प्रधानता है कि शिवतत्व को अभिन्न होते हुए भी जानना दुष्कर है । यही तन्त्रोक्त सदाख्य तत्व है । जपसूत्रम् मे इसी सामरस्य की विवेचना अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द ने सेतुबन्ध मे प्रकारान्तर से की है । ऊर्ध्व शक्ति और अध शक्ति के व्यवधान का अभाव होने पर सामरस्य भाव होता है—शिव और शक्ति पृथकत अस्तित्व रखते हुए भी एकाकार होते हैं—इदन्ता और अहन्ता का भेद नही रहता । 'जाते समरसानन्द द्वैत द्वैतामृतोपम्' कहा गया है । सामरस्य के आधार पर ही हृल्लेखा का सिद्धान्त बुद्धिगम्य है । प्रपचसार मे 'द्वैताद्वैत विवर्जिते समरसे मौन पर समतम्' (मैं द्वैत अद्वैत से रहित समरस हू—इसीलिए मौन ही सवसम्मत है) पुन 'शान्तोऽस्मय पापोऽस्म्यहम्' यही ज्ञान की, शान्ति की पाप रहित अवस्था है । महाभारत कहता है शीत और उष्णता के बीच एक ऐसा बिन्दु है जो दोनो ही नही है—ठीक उसी प्रकार सुख और दु ख के बीच एक ऐसी सूक्ष्मतम स्थिति है जो दोनो ही नही है—वही ब्राह्मी स्थिति है—ब्रह्म है—सवव्यापी, सवचैतन्यपूण । सामरस्य का यह विवेचन आवश्यक है क्योकि श्री विदयोपासना और श्री चक्र के मूलभाव को समझाने के लिए साधना-क्रम का यह अनिवार्य अग है । परम तत्व को ही श्री विदया के उपासक ललिता महात्रिपुरसुन्दरी कहते है 'श्री शिवा शिवशक्त्यैक्य रूपिणी ललिताम्बिका ।'[२०] श्री शकराचाय कृत त्रिपुर सुन्दरी मानस स्तोत्र प्रसिद्ध है ही । उनके श्री ललिता पचकम मे देवी की स्तुति है—

प्रातर्वदामिललिते तव पुण्यनाम ।
कामेश्वरीति, कमलेति महेश्वरीति
श्री शाम्भवीति जगतां जननी परेति
वाग्देवतेति वचसा त्रिपुरेश्वरीति ।

वायु सहिता मे भी यही उल्लेख है—

शिवेच्छाया पराशक्ति शिवतत्त्वैकतागता
तत परिस्फुरत्यादौ सर्गे तलतिलादिव ।।[२१]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है श्री विद्या की मूल विद्या दो हैं—कादि विद्या और हादि विद्या इनके प्रथम अक्षर शिव और शक्ति के द्योतक हैं । इनके आधार पर ही पूण विदयाएँ सिद्ध होती हैं । शिव का अकेला अक्षर मन्त्र नही है, और न हो सकता है। तीसरा अक्षर सदाख्यतत्व, चतुथ महेश्वर, पचम शुद्ध विद्या

के द्योतक हैं। यह प्रथम कूट है। दूसरा कूट छ अक्षर का विद्या कला का सकेत है और तृतीय द्वारका प्रतिष्ठान और निवृति का प्रथम वाग्बीज, कूट दूसरा काम-कला और तृतीय शक्ति कूट है। षोडशी मन्त्र का १६वा अक्षर गुरमुख से ही प्राप्त होता है।२२ इनमे कामराजविद्या ही प्रमुख है—इसे ही कादि विद्या कहत हैं। लोपामुद्रा हादि विद्या है। कादि विद्या मे सृष्टि का प्रारम्भ काम (सकल्प) से और हादि विद्या मे आकाशवत अव्यक्त शिव की माया शक्ति से माना गया है। कादि विद्या मे काम से शक्ति, शक्ति से तुरीयावस्था और उससे पृथ्वी तक सारी सृष्टि कही गई है, जो माया शक्ति का ही रूप है। हादि मे अव्यक्त आकाश रूपी शिव से स्पन्दशक्ति और उससे कामपूर्वक पृथ्वी तक सारी सृष्टि का उदय दिखाया गया है। सौन्दर्य लहरी के श्लोक ३२-३३ म हादि व कादि विद्याओ का वर्णन है। श्री विद्या का मूल मन्त्र १५ अक्षरो का होने से उसे पचदशी भी कहते हैं। उसमें सोलहवा बीज लगा देने से षोडशी विद्या बन जाती है। यह भी मान्यता है कि पचदशी के १५ अक्षरो का सम्बन्ध १५ तिथियो से है—और षोडशी का निर्विकल्प समाधि से। इसके जप विधान का आध्यात्मिक महत्व मूलाधार से आज्ञा चक्र पर्यन्त माना जाता है। पहले कहा जा चुका है कि श्री विद्या के अनुसार भगवती का वर्ण लाल माना जाता है—इसीसे एक नाम 'अरुणा' भी है। तन्त्र मे अग्नि ही शक्ति का रूप है। 'अग्निमुख प्रथमो देवतानाम'—अग्नि ही सब मे प्रथम है। ललिता सहस्रनाम मे भी भगवती को 'चिदग्निकुण्ड' सम्भूता' कहा है। यह चिद्कुण्ड ही अग्नि है, जिससे भगवती का आविर्भाव होता है।

श्री विद्या के दो रूप है—मन्त्रात्मक और यन्त्रात्मक। दोनो मे परम ऐक्य है। मन्त्रात्मक रूप का सक्षिप्त विवेचन करने के पश्चात अब हम उसके यन्त्रात्मक पक्ष को देखें। श्री विद्या का यन्त्र है-श्री चक्र या श्री यन्त्र। श्री यन्त्र अर्थात् श्री का गृह। श्री विद्या की खोज उसके श्री गृह से ही सम्भव है। जो महत्व पचदशी या षोडशी मन्त्र का है, उतना ही श्री चक्र का भी। श्री चक्र श्री विद्या की उपासना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसकी रचना और लेखन पद्धति प्राचीन भारतीय ज्यामिति विज्ञान को प्रमाणित करती है। ज्यामिति का ज्ञान भी अध्यात्म विद्या का एक आवश्यक अग है। प्लेटो ने तो अपने विद्यार्थियो के लिए ज्यामिति का ज्ञान अनिवार्य बताते हुए कहा था कि ब्रह्म केवल ज्यामिति है। आइन्सटीन की मान्यता थी कि ज्यामिति दिक् काल मे न होकर एक मानसिक सरचना है। मन्त्र देवता की आत्मा है, तो यन्त्र उनका शरीर। श्री यन्त्र भगवती त्रिपुर सुन्दरी का यन्त्र है जिसे यन्त्र राज भी कहते हैं। यामल तन्त्र मे श्री यन्त्र का फल इस प्रकार दिया गया है—

साध त्रिकोटि तीर्थेषुस्नात्वा यत्फलमश्नुते।
लयते तत्फल भक्त्या कृत्वा श्री चक्र दर्शनम्॥

भारत मे श्री चक्र की उपासना प्राचीन काल से ही प्रचलित है। गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश उत्कल, काश्मीर, बगाल और विशेषत दक्षिण मे श्री चक्र की उपासना लोकप्रिय है। दक्षिण म शैव मत को प्रधानता और शैवालयो के कारण श्री चक्र भी महत्वपूर्ण हो गया है। श्रृङ्गेरी का शारदापीठ और काची का कामकोटि इसके प्रमाण हैं। नटराज की उपासना के पूर्व श्री चक्र की पूजा अत्यावश्यक है। चिदम्बरम के मन्दिर मे श्री चक्र स्थित मध्य बिन्दु की पूजा ही नटराज की पूजा की समापत्ति है। इसका कारण हैं नटराज की अर्द्धांगिनी चित्कला या पराशक्ति की स्थिति, जिसकी पूजा के बिना नटराज की पूजा अपूर्ण है। चिदम्बरम् के मदिर मे श्री चक्र एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। बडौदा के प्राच्य सस्थान मे श्री चक्र के अष्टादश प्रकार ताम्र पत्रो पर अकित है। उत्तर भारत मे श्री विन्ध्यवासिनी क्षेत्र के निकट अष्टभुजा मन्दिर के पास भैरव कुण्ड मे श्री यन्त्र रखा है। फर्रुखाबाद के तिरवा ग्राम म

भी यह उत्कीण है। टी ए० गोपीनाथ राव ने लिखा है कि—दक्षिण भारत के मध्यकालीन मन्दिरो मे, जिन्हें शक्ति पीठालय कहते हैं बलिपीठ के सदृश ही एक लघु मडप है जिन पर नियमानुसार प्रति दिन श्री चक्र की पूजा होती है। इन शिलाओ पर श्री चक्र ही उत्कीण है।

कुछ विद्वानो ने मन्त्र और चक्र मे अन्तर स्वीकार किया है। टी० ए० गोपीनाथ राव का मत है कि यन्त्र मे केवल कोण होते हैं और चक्र मे कोण एवम दल भी। चक्र का निर्माण केन्द्र बिन्दु के चारो ओर होता है, जिसमे नव त्रिभुज चार एव पाच की सख्या मे विभाजित होते हैं, जिनके ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी होने का भी एक क्रम है। चक्र मे मेरु, कैलाश और भू का होना आवश्यक है। डा० राव का यह मत सर्वसम्मत नही है। वस्तुत श्री विद्या मे यन्त्र को श्री चक्र के साथ साथ श्री यन्त्र भी कहा जाता है।

अब हम मन्त्र और यन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करें। जपसूत्रम के अनुसार मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र का ज्ञान सेतु ज्ञान है। सेतु अर्थात् सयोजक—एक स्तर से दूसरे स्तर तक जाने का। प्रणव मे अर्ध मात्रा और उकार सेतु हैं—पश्यन्ती और वैखरी का सेतु मध्यमा है। यन्त्र मे भूतशुद्धि, आपोमाजन आदि सेतु हैं—तन्त्र मे न्यास आदि। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र तीनो के लिए श्रद्धा, छन्द और स्वर आवश्यक सेतु हैं। श्रद्धा से एकभावता, छन्द से एक तानता और स्वर से एक वृत्तता आती है।[२३] मन्त्र स्वाभाविक शब्द है और यन्त्र स्वाभाविक रूप। साधक को मन्त्र के समान यन्त्र चाहिए। किसी भी तथ्य के वास्तविक होने के लिए उसका एक 'यान्त्रिक आदश' आवश्यक है। यन्त्र से तात्पय आकृति रूप, क्रिया रूप और शक्ति रूप से है। जड यन्त्र को आयत्त मे विज्ञान लाता है और प्राणादि यन्त्र को अध्यात्म विद्या। विराट के क्षेत्र मे भी दिक्, सान्तता, वक्रता और वस्तु का सम्पर्क है। वह भी एक यन्त्र है आवृत्ति, क्रिया व शक्ति रूप मे। पदाथ विज्ञान मे यन्त्र है और प्राण विज्ञान मे भी। यन्त्र मानवीय सभ्यता के साथ जुडा है और आदिम मानस से ही उसका प्रयोग प्राप्त है। वैदिक युग, मिस्र बैबीलोन व मोहजोदडो की प्राचीन सभ्यता मे यन्त्रो का प्रयोग होता था। 'बाह्य वस्तु खोल' के भीतर जो चैतन्य और आनन्द का अदश्य प्रवाह है—जो अन्तभवन है, वे यन्त्र मे सजे हैं। इस सन्दभ मे श्री चैतन्य महाप्रभु का कथन स्मरण रखने योग्य है जो उन्होंने रायरामानन्द को 'साध्य' के विषय के प्रश्न के उत्तर मे कहा था "एहो बाह्य, आगे कहो आर'। यन्त्र एक प्रकार से गुह्य चित्र है—रहस्यमय डाइग्राम। वह शक्तिकूट मूर्ति है (पावर पैटन) यन्त्र के तीन प्रकार हैं—वास्तविक, साकेतिक और तात्विक। यन्त्रम् शब्द मे 'यम्' अश वायुबीजात्मक है। वायु सवव्यापी सत्ता शक्ति के सजल भाव का नाम है—इसी से ब्रह्मा को भी श्रुति 'वायु' कहती है, तन्त्र की भाषा मे यह 'स्पन्द' है। यन्त्रम का अन्तिम 'र' अग्निबीज है। विश्व की पूरी सृष्टि मे वायु और अग्नि ही प्रमुख हैं, उसी का प्रतीक यन्त्र है। यन्त्रम के बीच वाले सन्धि हैं—सेतु। दूसरी ओर 'यम' को यमन या नियन्त्रण के अथ मे ले सकते हैं। कोई भी शक्ति जिसके द्वारा निर्दिष्ट आकृति या रूप ग्रहण करती है—वही यन्त्र है। पूज्यपाद कहते हैं 'शास्त्र मे चतुदश मनु, चतुदश यम एवम चतुदश भुवनो की बात है—यह एक रहस्य सख्या है। मनु से मन्त्र, यम से यन्त्र, भुवन से तन्त्र एक दूसरे से ग्रथित हैं। सब तन्त्रेश्वरी श्री श्री भुवनेश्वरी है। मूल आकृति ही हृल्लेखा है—उसका स्वाभाविक रूप अथवा यन्त्र।' पुन मूल आकृति क्रियाभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरो मे आकर बहुधा आवृत्त और सकीर्ण हो गई है—य हटाकर शुद्ध सम्पूण रूप तन्मात्र पाना होगा—शब्द तन्मात्र व मन्त्र की भाति रूप तन्मात्र का यन्त्र का भी अपनी वस्तु के साथ 'तदभावे तदभाव' का सम्बन्ध है। शक्ति की केन्द्रीभूत चरम, सूक्ष्म, परम कारण और परम अधिष्ठान रूप की जो अवस्था है उसी का नाम बिन्दु

है। सभी यन्त्र इसी बिन्दु की ही अभिव्यक्ति या उच्छून अवस्था है। बिन्दु तत्व ही मूल तत्व है—केवल श्री यन्त्र प्रभृति का ही नहीं, विश्व के समस्त चेतन अचेतन, सजीव निर्जीव, स्थूल सूक्ष्म सभी यन्त्रों का यही तत्व है। श्री यन्त्र सार्वभौम विश्व जनीन सत्य का दर्पण है। वृत्त के बीच वृत्त उसके बीच त्रिभुज, फिर त्रिभुज स्थूल यन्त्र के भीतर सूक्ष्म यन्त्र फिर सूक्ष्मतर। त्रिपुर सुन्दरी शक्ति की एक परम विशेष मूर्ति है—उसे प्रत्यक्ष करने के लिए सूक्ष्म शक्तिकूट यन्त्र ही श्री यन्त्र है। श्री यन्त्र सूक्ष्म यन्त्र है—स्थूल यन्त्र का कारण। मन्त्र और यन्त्र का सयोग मणिकाचन सयोग है। शक्ति भडार के बहि प्रकोष्ठ से अत प्रकोष्ठ मे प्रविष्ट होना तन्त्र की आध्यात्मिक व प्रतीकात्मक पद्धति है क्योंकि शक्ति की बाह्य आकृति अत प्रकोष्ठ मे और भी समृद्ध होती है। यो कहना सगत होगा कि स्थूल शक्ति कूट अथवा यन्त्र स्थूल रूपधर्मिता का आश्रय है तो सूक्ष्म शक्ति कूट यन्त्र का। एक प्रकार से वह ज्यामिति का फार्मूला है, जिसे शक्ति का ही प्रतिरूप कह सकते है। श्री चक्र की लेखन प्रविधि पर विचार करने से इस ज्यामिति का अदभुत प्रमाण मिलेगा—रेखा, कोण, बिन्दु, आकार, मोटाई, दीर्घता, लम्बाई, आदि यो श्री चक्र निराकार का साकार लीला क्रम है। ब्रह्माण्ड और पिंडाण्ड का समीकृत रूप। पुण्यानन्द ने अपने ग्रन्थ 'कामकला विलास' मे इसका विशद विवेचन किया है।

समस्त विश्व ही विराट चक्र है—यही श्री चक्र भी। वह भाव की सविशेष अवस्था है। सृष्टि ही विश्व या देह सृष्टि है और उसका ही प्रतीक श्री चक्र है। वह एक ओर अखिल ब्रह्माण्ड का रूप है तो दूसरी ओर शरीर और शरीरस्थ नव चक्र का भी। भैरव यामल तन्त्र मे लिखा है 'चक्रं त्रिपुर सुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरी' और भावनोपनिषद कहता है 'नवचक्रमयोदेह'। यही श्री चक्र का रहस्य है। चक्र जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, सूर्य, चन्द्र और अग्नि, सृष्टि, स्थिति और प्रलय—इसमे निरूपित हैं। सौन्दर्य लहरी मे श्रीमच्छकराचार्य ने कहा है कि मनुष्य का शरीर ही शिव का मदिर है—'देह देवालय प्रोक्त'। सौन्दर्य लहरी के ११वें श्लोक मे श्री चक्र का वर्णन है। श्री विद्या की बहि रुपासना श्री चक्र पर और अन्त उपासना देह मे ही श्री चक्र की भावना करने का विधान है। इसका अर्चन पूजन उपासना का कर्म काण्ड रूपी स्थूल अग है। शक्ति के जाग्रत होने पर षटचक्र भेद की क्रियाओ का योग साधन उसका सूक्ष्म अग है। यही स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण तक पहुँचने का मार्ग है, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। श्री चक्र मे चार शिवकोण और पाच शक्ति कोण होते हैं—दोनो के योग से ही सम्पूर्ण चक्र बनता है। 'चतुर्भि शिवचक्रैश्च शक्ति चक्रैश्चपचभि। शिवशक्त्यात्मकन्नय श्री चक्र शिवयोर्वपु।' इनके योगाभाव मे केन्द्रीय बिन्दु मात्र रह जाता है जो पराशिव का प्रतीक है—यही बैंदव स्थान है (सहस्रार बिन्दु का भी—शक्ति इसकी पीठ है)

आधार शक्ति व्यक्ता यथा विश्व प्रवर्तते।
सूक्ष्माभा पीठ रूपेण बिन्दु रूपेण वर्तते॥

श्री चक्र का रेखागणित रूपाधार दो दृष्टियो से विचारणीय है बाह्य और आभ्यतरिक। 'त्रिपुर सुन्दरी वेद पाद स्तोत्र' मे श्री शकराचार्य का कथन है कि साधक को अपनी देह का तादात्म्य चक्र से और आत्मा का देवी से करना चाहिए। परान्वित परम शिव के साथ नित्य और अभिन्न है। कहा भी है—

न शिवेन विना देवी न देव्या बिना शिव।
नान्योरन्तर शिन्विच्चन्द्र चन्द्रिकायोरिव॥

सृष्टि का उदय उसका स्फुरण या उसकी इच्छा शक्ति है—इसमे वह अभिव्यक्त रहती हुई भी विभक्त रूप प्रतीयमान है—यही तान्त्रिक विसर्ग क्रिया है। उसका अविभक्त रूप मे रहना ही बिन्दु व्यापार है।

समस्त सृष्टि विसर्ग व्यापार है। इसमे जितने स्तरो पर स्फुरण होता है उनमे प्रथम है बिन्दु, द्वितीय त्रिकोण, फिर अष्टकोण, तदुपरान्त आभ्यन्तरिक दश कोण और बाह्य दश कोण - फिर चतुर्दश कोण—अष्टदल और षोडशदल हैं। सबके अन्त मे है तीन वृत्त, एक चतुरस्र, जो सृष्टि के बाहर का प्राचीर है। यही सृष्टि का अवसान है। पिंड और ब्रह्माण्ड, क्षुद्र या विराट सृष्टि दोनो का यही नियम है। इस चतुरस्र को ही भूपुर कहते हैं। किसी भी सृष्टि मे बाहर चतुरस्र (चतुष्कोण) और भीतर मे बिन्दु रहेगा ही। बिन्दु से चतुरस्र और चतुरस्त्र से बिन्दु पर्यन्त विश्व का विस्तार है।[२५] यही श्री चक्र का क्रम है, जिस पर अभी विचार किया जाएगा।

श्री चक्र बनाने के तीन भेद हैं—मेरु, कैलाश और भू। इन तीनो भेदो मे अन्तर है। गोपीनाथ राव ने इनका भेदान्तर स्पष्ट किया है।[२६] स्वामी विष्णुतीर्थ के अनुसार मेरु से चक्र मे १६ नित्य कलाओ से, कैलाश मे अष्ट मातृका शक्तियो से और भू के प्रतीक स्वरूप श्री चक्र मे अष्ट वशिनी देवियो से सम्वर्धित चक्र ग्रहणीय है।[२७] इसकी रचना जिन चार श्री कठ (शिव त्रिकोण) और पाच शिव युवति (शक्ति त्रिकोण) के योग से होती है उनका मुख एक-दूसरे के विपरीत रहता है। सष्टि क्रम मे शक्ति कोण ऊर्ध्व मुख और शिव कोण अधोमुख होता है। अप्यय क्रम मे इसके विपरीत। प्रथम केन्द्रीय त्रिकोण शम्भु का स्थान है—इसे छोडकर शेष सख्या ४२ है। प्रथम मध्य त्रिकोण के बाहर चारो ओर ८ कोण बनते हैं, जिसे अष्टकोण कहते हैं। तृतीय और चतुर्थ स्तर पर दश दश कोण हैं, जिन्हें अन्तर्दशार और बहिर्दशार कहते हैं। उनके ऊपर चतुर्दश कोण बनते है, जो चतुर्दशार हैं। इस प्रकार सबका योग १+८+१०+१०+१४=४३ होता है। मध्य केन्द्रीय बिन्दु शभु का स्थान पूरे चक्र से पृथक् है। ४३ कोणो के बाहर प्रथम वृत्त पर अष्टदल पद्म, द्वितीय पर षोडश दल पद्म है। षोडश दल पद्म तीन वृत्तो से घिरा रहता है, जिन्हे भू गृह या या भूपुर कहते हैं। इसकी सभी भुजाएँ समान हैं। ऐसी भी मान्यता है कि चारो दिशाओ मे चार द्वार होते हैं (सौन्दर्य लहरी श्लोक ११ मे इन द्वारो का उल्लेख नही है।) उपर्युक्त चार शिव कोण सदाख्य, महेश्वर, महत्तत्व और पुरुष हैं (अथवा पुरुष, अव्यक्त, महत और अहकार) पाच शक्ति कोण शक्ति, शुद्ध विद्या, माया, कला और अशुद्ध विद्या हैं (अथवा पाचतन्मात्राएँ) ४३ की सख्या ३६ तत्व और सप्त धातुओ से बनती है (रक्त, मास, मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र)।[२८] उपरिलिखित नव चक्र का दार्शनिक निरूपण इस प्रकार किया गया है।[२९]

चक्र मे महाबिन्दु सहस्रार है। यही प्रलय की दशा है। यही शिव भाव पूर्ण अहन्ता है। तन्त्रशास्त्र मे इसका विवेचन उपलब्ध है। इसी को शिव विश्राम कहते हैं। सम्पूर्ण विश्व इसी मे अन्तर्भूत है। कामकला विलास और मातृका चक्र विवेक मे इसकी विशद व्याख्या उपलब्ध है।' सुप्तयाद्वय किमपि विश्रमण शिवस्य' की यह स्थिति है। इसी को सर्वानन्द चक्र कहते हैं। कामकला विलास के अनुसार—

चित्तमयोऽहङकार सुव्यक्ता हाण समरसाकार।
शिवशक्ति मिथुन पिण्ड कवलीकृत भुवन मडलो जयति॥

यहा विमर्श भाव अव्यक्त रहता है, जो उत्पन्न होकर विश्व की सृष्टि, स्थिति और सहार का कारण है, विमर्शो नाम विश्व कारेण'विश्व प्रकाशेन विश्व सहारेण वा अकृत्रिमो ऽहमिति स्फुरणम्।'

त्रिकोणचक्र

यह सर्व सिद्धिप्रद है। अन्तर्लीन जगत को अभिव्यक्त करने की इच्छा ही त्रिकोण है। इससे बाह्य सृष्टि का रहस्य स्पष्ट होता है। यही शब्द सृष्टि होती है। बिन्दु परावाक् है—त्रिकोण पश्यन्ती,

मध्यमा और बेखरी रूप है। यही 'ख' है। यही सृष्टि की कारणात्मक आद्याशक्ति है—विमर्श रूप। यही जीवन की अवस्था है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की।

अष्टारचक्र

यहा जीव सज्ञा को प्राप्त होता है। यह प्रधान चक्र सर्व रक्षा' चक्र है। इसकी अधिष्ठात्री श्री महात्रिपुरसुन्दरी है। यही शिव और जीव का समष्टिरूप है। इसमे भगवती के आयुध हैं—चार कामेश्वर के और चार कामेश्वरी के। यह चक्र अग्नि खड कहलाता है। यह चक्र सृष्टि सहार अर्थात क्रिया रूप है। बहुत से आचार्य इसको ही श्री चक्र गिनते हैं। यही नवयोन्यात्मक है। शास्त्र का कथन है—

अष्टाराख्यदेशाख्य चिन्निर्वाणपणादिकम्।
सूक्ष्म पुर्यष्टक देव्या मतिरेवा हि गौरवी॥

अन्तर्दशार व बहिर्दशार चक्र

अन्तदशार चक्र पाच ज्ञानेन्द्रियो व पाच कर्मेन्द्रियो से घटित है। यह इन्द्रिय वासनात्मक लिंग शरीर है—इसे ही सवरक्षाकर चक्र कहते हैं। पूर्व का कारण शरीर अन्तदशार मे लिंग शरीर हो जाता है। सुभगोदय के अनुसार, 'अन्तदशार व सुधाज्ञान कर्मेन्द्रियाणि च'। बहिदशार चक्र का सर्वार्थ साधक चक्र भी कहते हैं। इसमे चार तत्व एवम् चार मातृकाएँ हैं। यह गन्ध रसादि तथा वचनादानिव का आभ्यन्तर रूप है। ये ही सर्वार्थ साधक पच तन्मात्राए हैं—पच भूतात्मक।

चतुर्दशार चक्र

यह चक्र चतुदश शक्तियों का रूप है। "चतुदशार वसुधा करणानि चतुर्दश" (सुभगोदय) मातृकावण पिंड मे ये शक्तियाँ दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त' अहकार रूप मे अन्त करण मे रहती हैं। यह जाग्रत, स्थूल, शरीर का द्योतक है। इसे सवसौभाग्यदायक चक्र कहते हैं।

अष्टदल

यह सवसक्षोभणकारक चक्र है। सृष्टिमूलक होने से यह वासना का प्रतीक है। इसमें अष्ट देवियो की पूजा होती है। क्षोभ का अर्थ हैं सृष्टि, यह अष्टदल पद्म आठ कारणो से बना है—

'वसुच्छ दन पद्माङ्कदेशो यश्चक्रगोविम्।
अव्यक्ताद्य प्रकृतयो भूतात्मा निश्चिनोम्यहम्॥

षोडशदल

सर्वाशापरिपूरक (नित्यतादात्म्य) यह चक्र चन्द्र की षोडश कलाओं से युक्त है—यह दशारद्वय वासना है। इसे ही 'भूताक्षमानसम्' और 'विकारात्मकमापन्न' कहा जाता है। सोलह स्वर ही इसके षोडश दल है।

भूपुर चक्र

यही त्रैलोक्य मोहन चक्र है—इसे ही तन्त्र मे प्रयागराज कहा गया है। यह शिव और जीव दोनो की समष्टि है। यत्र पूजा पद्धति म यही सवप्रथम पूजनीय है। एक प्रकार से यह बिन्दु, त्रिकोण, अष्टदल और षोडश दल की समष्टि है। भूपुर के तीनों वृत्त अन्तर पीत, मध्य अरुण और बहिर शुक्ल रेखाए हैं। वस्तुत एक ही बिन्दु व्याधा होकर सवमय हो जाता है। कहा भी है—

दशधाभिद्यते बिन्दुरेक एव परात्मक
चतुर्धार कमले पोडशाधिष्ठान पकजे
उभयाकार रूपत्वावितरेषां तदात्मना ।

इन नवचक्रो की क्रमानुसार अधिष्ठात्री हैं, महात्रिपुर सुन्दरी, त्रिपुराम्बा, त्रिपुरसिद्धा, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुराश्री, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरेशी और त्रिपुरा । इन चक्रो के लिए रुद्रयामल तन्त्र का यह श्लोक प्राय उद्धृत किया जाता है—

बिन्दु त्रिकोण वसुकोण दशारयुग्म
मन्वस्त्रनागदल सयुत पोडशारम
वृत्तत्रय च धारिणी सदन त्रय
चक्रराज मुदित परदेवता या ।

मनुष्य के शरीर से श्री चक्र का ऐक्य निर्धारित किया गया है, वह इस प्रकार है । साधक का शरीर ही श्री चक्र है । योगिनी हृदय मे लिखा है—

पिण्ड ब्रह्माण्डयोर्ज्ञान श्री चक्रस्य विशेषत
ज्ञात्वा शम्भुफलावाप्तिनाल्पस्य तपस फलम् ।

शरीर का ब्रह्मरन्ध्र बिन्दुचक्र, मस्तक त्रिकोण, ललाट अष्टकोण, भ्रूमध्य अन्तर्दशार, कण्ठ बहिर्दशार, हृदय चतुर्दशार, कुक्षिवृत्त, नाभि अष्टदलकमल, कटि बाहर का वृत्त, स्वाधिष्ठान पोडशदल, मूलाधार पोडशदल का बाह्य वृत्त (त्रिवृत्त) जानु भूपुर की प्रथम जघा द्वितीय और पाद तृतीय रेखाए हैं । योग साधना यह क्रमश आज्ञा, लबिका (इन्द्र योनि) विशुद्ध, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान, मूलाधार, विषुव (कुल) और अकुल है । यही साधना क्रम मे शरीर और चक्र का साम्य हैं । इस प्रकार श्री चक्र ब्रह्माण्ड मे पिडाण्ड और पिण्डाण्ड मे ब्रह्माण्ड का ऐक्य प्रतिपादित करता है, जो भारतीय चिन्तन का मूल आधार है ।[२०] तत्र शास्त्र मे इन चक्रो की महत्ता कुण्डलिनी जागरण मे है वहा दूसरी ओर वाक् की दृष्टि से भी । आचार्यों ने परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी का विवेचन इनके आधार पर किया है, जो अत्यन्त गूढ है । मातृका विज्ञान की दृष्टि से भी यह विवेचन अत्यन्त महत्वपूण है । बीज मत्रो का भी श्री चक्र मे निरूपण है । यह सब ज्ञान योगियो को साधना क्रम मे स्पष्ट होता हैं । एक दृष्टान्त लें । अह भाव विमर्शमय है । अह का स्वभाविक स्फुरण या ज्ञान ही विमशमय हैं—कहा भी हैं 'बिनात्वात्मा त्वया नहि' महात्रिपुरसुन्दरी सभी विद्याओ के साथ परा वाक है—

'शब्दानां जननी त्वमत्त भुवने वाग्वादिनीत्युच्यते'

इस विमशमय अहभाव मे (शिव शक्ति सयुक्त) अ, ह् और अनुस्वार तीन वण हैं । इनमे अकार प्रकाश है—हकार विमश और अनुस्वार बिन्दु रूप—पार्थक्य के अभाव का सूचक ।

अकार सववर्णाग्र्य प्रकाश परम शिव
हकारोऽन्त्य कलारूपा विमर्शाख्य प्रकीर्तित

श्री रग गुरु ने श्री चक्र की व्याख्या शब्द ब्रह्म—या नादानुसधान के आधार पर की है । जिसकी अतिम भूमिका महाबिन्दु है ।[२१] परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी का निरूपण भी श्री चक्र के आधार पर शास्त्रज्ञो ने किया है, जिसमे नाद, बिन्दु, कला आदि का रहस्य भी निहित है । शिव शक्ति तादात्म्य ही (अर्धनारीश्वर रूप) परा तत्व है जो नाद बिन्दु कलातीत है—'नाद बिन्दु कलातीतम भगवन्तम् तत्वमिति सर्वागम रहस्यम्'—इस सर्वागम रहस्य का सधान श्री चक्र से सम्भव है । श्री चक्र एक प्रकार ब्रह्माण्ड

और पिण्डाण्ड का ही सृष्टि पद्म है—सामान्य दृष्टि से यह कोणात्मक है पर योगियों के लिए यह पद्म रूप बन जाता है। (कृपया श्री यन्त्र का चक्र देखें)
अध्यात्म योग विद्या में देह को श्री चक्र समझ कर भगवती की अन्तर्भावना द्वारा उपासना की जाती है। यही परा पूजा है, क्योंकि 'अन्तर्मुख समाराध्या बहिर्मुख सुदुर्लभा।'[३२]

श्री चक्र में चक्रों की गणना सृष्टि क्रम और संहारक्रम से भी की जाती है। सृष्टि क्रम में बिन्दु से भूपुर तक और संहारक्रम में भूपुर (त्रय) से बिन्दु पर्यन्त गणना का उल्लेख है। श्री चक्र का वर्णन आगमों में एक दिव्यद्वीप के रूप में भी किया है। चक्र शब्द का एक अर्थ नगर भी है। रत्नवर्ण सुधा समुद्र से आवेष्टित यह रत्नद्वीप है, जिसमें कल्पवृक्ष पारिजात, दिव्य नन्दन उद्यान विद्यमान हैं और इस नगर के मध्य में रत्नसिंहासन पर अनन्त प्रभायुक्त श्री महात्रिपुर सुन्दरी स्थित हैं। चक्राकार इस पुर का ही प्रतीक श्री चक्र है, जिसमें सभी देवताओं का आवास है। मेरु रूप में यह ब्रह्माण्ड को संभाले हुए हैं 'श्री चक्रमपि देवेशि मेरु रूप न संशय'[३३] तन्त्रागमों में सुधा सिन्धु और उसमें स्थित मणिद्वीप का उल्लेख मिलता है, जहां शिवशक्ति संयुक्त रूप में निवास करते हैं। –मनुष्यों में यही हृत्पुण्डरीक है। श्री चक्र के संदर्भ में दो श्री नगरों का उल्लेख ध्यातव्य है। देवी भागवत के प्रत्यक्ष दशन अध्याय में इसी सुधा सागर और मणिपुर का अत्यन्त प्रभावी वर्णन मिलता है—यथा 'सुधा समुद्र स प्राप्तो मिष्टवारि महाभिमान्।' वही रत्न जडित सिंहासन—

'पर वर पाशाङ्कुशाभीष्टधरा श्री भवनेश्वरी।
अदृष्टपूर्वा दृष्टा सा सुन्दरी स्मित भूषणा।'

ब्रह्माण्ड पुराण के ललितोपाख्यान और शिवरहस्य में भी इसका वर्णन है।[३४] योगियों के अनुसार यह सुधा समुद्र चिदाकाश के मध्य में स्थित है जिसके मध्य में नवरत्न मणियों से रचित एक मणिद्वीप है—जिसमें कदम्ब वन है। रुद्रयामल तंत्र में भी ब्रह्माण्ड के बाहर, सहस्र योजन में विस्तीर्ण रत्न द्वीप है। रत्नद्वीप के सदृश तान्त्रिक साहित्य में श्री पुरों का भी वर्णन है। भास्करराय तीन श्रीपुर मानते हैं—ब्रह्माण्ड के बाह्य, मेरु शिखर, और क्षीर सागर के मध्य। इसी प्रकार श्री नगर भी—जहां भगवती ललिता ने भण्डासुर का वध किया था।[३५] सौन्दर्य लहरी में श्री सुधा सिंधु और मणिद्वीप का वर्णन है।[३६]

श्री विद्या और श्री चक्र के सम्बन्ध में 'हृल्लेखा' का भी उल्लेख आवश्यक है। पूज्यपाद स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द ने हृल्लेखा की व्याख्या इस प्रकार की है—

हृद्याद्याया शयाना दहर सुविपुला मानमयाद् वविष्ठा।
हृल्लेखा या तनिष्ठा जगदुदयलया वत्ति हेतुवरिष्ठा॥
हृद्देशे या द्रढिष्ठेरयति च भुवन स्वाश्रिताय प्रविष्ठा।
योगक्षेमाय साऽम्बा शमयतु हृदय ग्रन्थिभेद पटिष्ठा॥[३७]

केन्द्र का आश्रय लेकर अणु या विराट में जो कुछ स्पन्दित है—वह है हृदि। यह स्थूल नहीं है—दहर है, सूक्ष्म की पराकाष्ठा। इस दहर में भी वह अवस्थित है—अणोरणीयसी। जो कुछ सृष्ट है उसकी हृल्लेखा—अर्थात् मूल शक्ति, चित्रलेखा के रूप में तनुतमा है—असंख्य शक्ति पुञ्जों का अविराम सतत इसी से है। तात्पर्य यह है शक्ति विन्यास की बहि प्रकोष्ठ में जो आकृति या पैटर्न है वह अन्त प्रकोष्ठ में भी विद्यमान रहती है—इस प्रकार हृत का आश्रय लेकर जो आकृति है—पैटर्न है वही है हृल्लेखा—यह मौलिक यन्त्र रूप है—स्वाभाविक। शक्ति का निरतिशय केन्द्रीय घनीभूत भाव हृल्लेखा है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में हृल्लेखा संख्या, परिमाण आदि की सम्भावना मात्र है—वह देश कालावच्छिन्न नहीं है—वह 'क्रोमोसोम नम्बर' भी नहीं है—तन्त्र विज्ञान में बीज हृल्लेखा के समानान्तर है—जैसे ह्रीं, जिसमें हकार

है शक्ति की विपुल नादावस्था। रकार है उसे स्थापित करने वाली अग्नि और ईकार है रूपान्तरण की क्रिया। इसी से यह भी, एक प्रकार से फार्मूला है, जिसके भीतर मन्त्र का निरूपण किया जा सकता है। श्री आद्य शंकराचार्य ने भगवती को 'तडिल्लेखातन्वी' कहा है, वह विद्युत रेखा जैसी पतली है, अन्य स्थान पर उन्होंने हृल्लेखा का भी प्रयोग किया है। योग शिखोपनिषद में कहा है, 'हृल्लेखे परमानन्दे तालुमूले व्यवस्थिते' अर्थात् तालु मूल स्थित (जिसे इन्द्र योनि भी कहते हैं) स्थान पर परमानन्द स्वरूपिणी हृल्लेखा ह्रीं—शक्ति अवस्थित है—यही ब्रह्मरन्ध्र में निवास करनेवाली पराशक्ति का उच्चारण होता है। 'ह्रीं' माया बीज है और इसे तान्त्रिक प्रणव कहते हैं। श्री विद्या एवम् श्री चक्र में हृल्लेखा आद्याशक्ति से ही सम्बद्ध है। यही हार्धकला है काम और रवि - सोम और अग्नि का समन्वय है—सृष्टि और संहार का खेल। इस दिशा में ही हार्धकला का उन्मेष होता है और तत्व रचना का कार्य भी।

श्री चक्र की रचना विधि भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य लहरी के भाष्यकार कैवल्य शर्मा के मतानुसार श्री चक्र मनुष्य देह का प्रतीक है और मानवदेह अपनी अंगुलियों के माप से ९६ प्रमाण होता है। इसलिए श्री चक्र का माप भी ९६ इकाइयों पर रखा जाता है। इसका विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। आचार्य भेद से श्री चक्र के लेखन भी नाना प्रकार के हैं। इनमें वामकेश्वर तन्त्र का आधार ही अधिक प्रचलित है। ज्ञानार्णव में ही इसकी रचना विधि बताई गई है। कादि और हादि विद्या की रचना प्रविधि में भी कुछ अन्तर है। इन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं।

इस प्रकार तन्त्र में श्री विद्या और श्री चक्र का महत्व सर्वोपरि गिना जाता है। श्री चक्र की पूजन विधि महत्वपूर्ण है। पूजा दो प्रकार की होती है। बाह्य और आभ्यन्तर। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है बाह्य पूजा दुर्लभ है और आभ्यन्तर पूजा समाराध्या। बाह्य पूजा गुरु उपदेशानुसार विधि विधान से ही की जाती है। आभ्यन्तर पूजा अभेद भावना परक है। भावना भी तीन प्रकार की कही गई है—सकल, निष्कल और सकल निष्कल। इनमें निष्कल भावना ही सर्वश्रेष्ठ है। श्री भास्कराचार्य ने इन भावनाओं का विशद विवेचन किया है। उपर्युक्त तीन पूजाओं को ही अपरा पूजा, परा पूजा और अपरापरा पूजा कहा जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने के अनन्तर परा पूजा का अधिकारी योगी होता है। सौन्दर्य लहरी (श्लोक २५) में इन पूजाओं का उल्लेख है। श्री मच्छंकराचार्य ने 'प्रणाम सर्वेण सुखमखिलमात्मापणदृशा' ही परा पूजा कहा है। महामुनि दुर्वासा के श्री त्रिपुर महिम्न स्तोत्र की स्तुति ही श्री विद्या और श्री चक्र का माहात्म्य स्पष्ट करती है। यही परा पूजा है—

> श्री चक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसार चक्रात्मकं
> विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवं ज्योतिर्मयं सर्वतः
> एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररुणं श्री सुन्दरीभिर्वृतं
> मध्ये बैन्दव सिद्धपीठ ललिते त्वं ब्रह्म विद्या शिवे ॥
> श्रीमाताललिताम्बा प्रीयताम् ।

---

(१) काली तारा षोडशी च बगला भुवनेश्वरी ।
धूमा छिन्ना च मातङ्गी भैरवी कमलात्मिका ॥ (सौभाग्य भास्कर)

(२) वही ।

(३) इच्छाशक्ति मयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम् ।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वलम् ॥

और पिण्डाण्ड का ही सृष्टि पथ है—सामान्य दृष्टि से यह
बन जाता है। (कृपया श्री यन्त्र का चत्र देखें)
अध्यात्म योग विद्या में देह को श्री चक्र समझ कर भगवती
यही परा पूजा है, क्योंकि 'अन्तर्मुख समाराध्या बहिर्मुख सु
श्री चक्र में चक्रों की गणना सृष्टि क्रम और संहा
से भूपुर तक और संहारक्रम में भूपुर (क्रम) से बिन्दु पर्य
आगमों में एक दिव्यद्वीप के रूप में भी किया है। चक्र
समुद्र से आवेष्टित यह रत्नद्वीप है जिसमें कल्पवृक्ष पारि
नगर के मध्य में रत्नसिंहासन पर अनन्त प्रभायुक्त श्री म
ही प्रतीक श्री चक्र है, जिसमें सभी देवताओं का आवास।
'श्री चक्रमपि देवेशि मेरु रूप न संशय'[३३] तन्त्रागमों में सु
मिलता है, जहां शिवशक्ति संयुक्त रूप में निवास करते हैं
संदर्भ में दो श्री नगरों का उल्लेख ध्यातव्य है। देवी
सागर और मणिपुर का अत्यन्त प्रभावी वर्णन मिल
महाभिमान्।' वहीं रत्न जड़ित सिंहासन—

'पर वर पाशाङ्कुशाभीष्ट

अदृष्टपूर्वा दृष्टा सा सुन्द

ब्रह्माण्ड पुराण के ललितोपाख्यान और शिवरहस्य में
समुद्र चिदाकाश के मध्य में स्थित है जिसके मध्य में
कदम्ब वन है। रुद्रयामल तंत्र में भी ब्रह्माण्ड के बा
के सदृश तान्त्रिक साहित्य में श्री पुरों का भी वर्णन है
बाह्य, मेरु शिखर, और क्षीर सागर के मध्य। इसी
का वध किया था।[३५] सौंदर्य लहरी में श्री सुधा सि
श्री विद्या और श्री चक्र के सम्बन्ध में 'हृ
श्री प्रत्यगात्मानन्द ने हृल्लेखा की व्याख्या इस प्रका

हृद्याद्याया शयाना दहर

हृल्लेखा या तन्निष्ठा जगद्

हृद्देशे या प्रतिष्ठेरयति

योगक्षेमाय साऽम्बा शम

केन्द्र का आश्रय लेकर अणु या विराट में
दहर है सूक्ष्म की पराकाष्ठा। इस दहर में भी
उसकी हृल्लेखा—अर्थात मूल शक्ति, चित्रलेखा के रू
इसी से है। तात्पर्य यह है शक्ति विन्यास की व
भी विद्यमान रहती है—इस प्रकार हृत का आश्रय
मौलिक यन्त्र रूप है—स्वाभाविक। शक्ति का निरति
की भाषा में हृल्लेखा संख्या, परिमाण आदि की
'क्रोमोसोम नम्बर' भी नहीं है—तन्त्र विज्ञान में

(२३) श्री जपसूत्रम ।
(२४) भावनोपनिषद (३) ।
(२५) सृष्टि का उन्मेष (गोपीनाथ कविराज) के आधार पर ।
(२६) हिन्दू आइकोनोग्राफी । पुन —

सृष्टि क्रम मेरु चक्र कैलास वाध्य मेरुक्रम ।
सहाराख्य महेशानि भूप्रस्तार स्थिति क्रमम् ।

इनमे शिलाओ पर श्री चक्र उत्कीण रहते हैं और उनकी प्रत्येक दिन दो बार पूजा होती है
(२७) सौन्दय लहरी की टीका—श्लोक ११ ।
(२८) वही
(२९) मातृ चक्र विवेक—सरस्वती भवन ग्रन्थमाला—वाराणसी ।
(३०) विशेष विवेचन के लिए मातृ चक्र विवेक, कामकला विलास, सौ दर्य लहरी की विभिन्न टीकाएँ द्रष्टव्य हैं ।
(३१) दि डिवाइन डासर—डा० एस० चम ।
(३२) ललिता सहस्रनाम ।
(३३) ज्ञानार्णव—कल्याण के शक्ति अक से उद्धृत ।
(३४) चण्डी—११वा खण्ड—श्री हरि प्रसाद शास्त्री का निबन्ध 'मणिद्वीप की सैर'—द्रष्टव्य है ।
(३५) गोपीनाथ कविराज—महाशक्ति श्री श्री मा—निबन्ध ।
(३६) सौन्दय लहरी—श्लोक ८

सुधासिंधोमध्ये सुरविटप वाटीपरिवृते
मणिद्वीप नीपोपवनवति चिन्तामणि गृहे ।
शिवाऽऽ कारे मचे परमशिव पयङ्क निलया
भजन्ति त्वा धन्या कतिचन चिदानन्द लहरीम् ।

(३७) श्री जप सूत्रम्—प्रथम खड श्लोक १२३ ।

सदभ ग्रन्थ

(१) कामकला विलास—पुण्यानद ।
(२) त्रिपुर तापिनी उपनिषद
(३) सौंदय लहरी – लक्ष्मीधर, स्वामी श्री विष्णुतीर्थ, श्री अनतकृष्ण शास्त्री (अग्रेजी) प० सुब्रह्मण्यशास्त्री (अग्रेजी) श्री कैवल्य शर्मा भाष्यकार ।
(४) श्री जपसूत्रम् —पूज्यपाद स्वामी श्री प्रत्यगात्मानद सरस्वती ।
(५) श्री सहस्रिका—डा० पाडुरग राव ।
(६) कल्याण—उपासना अक ।
(७) कल्याण—शक्ति अक ।
(८) दि डिवाइन डासर—ए० चम ।
(९) बह्वचोपनिषद्—कल्याण उपनिषद् अक
(१०) भावनोपनिषद् ।

(४) सौन्दर्य लहरी की टीका। पुन यही (सौन्दर्य लहरी की टीका)

(५) त्रिपुरा से तात्पय ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी ग्रहीत किया जाता है एवम् ऋक्, यजु और साम से भी। भास्कराचार्य ने यह व्याख्या दी है—अत्र त्रीणि पुराणि ब्रह्मा विष्णु शिव शरीराणि यस्मिन स त्रिपुर पर शिव तस्य सुन्दरी शक्ति।

(६) श्री 'भंडासुर वधोद्युक्त शक्ति सेना समन्विता'
श्री ललिता सहस्रनाम एवम् कल्याण शक्ति विशेषांक—भण्डासुर युद्ध का रहस्य।

(७) छान्दोग्य उपनिषद १-१-१०

(८) श्री जपसूत्रम

(९) श्री दुर्गा सप्तशती (४-९)।

(१०) कुलार्णव तन्त्र।

(११) श्री जपसूत्रम् प्रथम खंड १-११६।

(१२) वही, १-११७।

(१३) शक्ति के बिना शिव शव है—यह भाव स्कन्द पुराण, सौन्दर्य लहरी एवम अनेकानेक तन्त्रों में स्वत सिद्ध है—यथा

जगत्कारणापन्न शिवो यो मुनि सत्तम।
तस्यापि सोऽभवच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थक। (स्कन्द पुराण)

पुन —

शिव शक्तया युक्तो यदि भवति शक्त प्रभवितु
न चेदेव देवो न खलु कुशल स्पन्दितुमपि। (सौन्दर्य लहरी)

आचार्य शंकर ने अनेक स्तोत्रों मे यही प्रतिपादित किया है।

(१४) कल्याण शक्ति अंक—महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का वक्तव्य।

(१५) कल्याण—उपासना अंक—श्री श्री विद्या—प० योगीन्द्र दत्त शास्त्री का निबन्ध।

(१६) द्रष्टव्य मातृ चक्र विवेक, सरस्वती भवन, वाराणसी।

(१७) मनु चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्त्य, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और दुर्वासा। वर्तमान मे मन्मथ और लोपामुद्रा के सम्प्रदाय प्रचलित हैं।

(१८) गोपीनाथ कविराज—'सामरस्य या महामिलन' निबन्ध।

(१९) श्रीमद्भागवत मे भगवान वासुदेव का परमरूप समझने के लिए शून्यवत् कल्पना का निर्देश है—

यत्तद्ब्रह्म पर सूक्ष्मशून्य शून्यकल्पित।
भगवान् वासुदेवेति य गृणन्ति हि सात्वता। (९-९-३०)

(२०) ललिता सहस्रनाम

(२१) ललिता सहस्रनाम—

(।) श्री महावाग्भव कूटैक स्वरूप मुख पंकजा।
(।।) कण्ठाध कटि पर्यन्त मध्यकूट स्वरूपिणी।
शक्ति कूटैक तापन्न कट्यधो भाग धारिणी।।

(२२) कादि विद्या का मन्त्रारम्भ ककार से और हादि विद्या का 'हकार' से। कादि विद्या का मन्त्र है 'क ए ई ल ह्री ह स क ल ह्रीं सकल ह्री और हादि विद्या का है सकल ह्री ह सकल ह्रीं सकल ह्रीं। (अथर्ववेदीय देव्युपनिषद कल्याण उपनिषद अंक के आधार पर)।

(२३) श्री जपसूत्रम ।

(२४) भावनोपनिषद (३) ।

(२५) सृष्टि या उन्मेष (गोपीनाथ कविराज) के आधार पर ।

(२६) हिन्दू आइकोनोग्राफी । पुन —

सृष्टि क्रम मेरु चक्र कैलास धाम मेरुक्रम ।

सहाराध्य महेशानि भूप्रस्तार स्थिति क्रमम् ।

इनमें शिलाओं पर श्री चक्र उत्कीर्ण रहते हैं और उनकी प्रत्येक दिन दो बार पूजा होती है

(२७) सौन्दय लहरी की टीका—श्लोक ११ ।

(२८) वही

(२९) मातृ चक्र विवक—सरस्वती भवन ग्रन्थमाला—वाराणसी ।

(३०) विशेष विवेचन के लिए मातृ चक्र विवेक, कामकला विलास, सौ दर्य लहरी की विभिन्न टीकाएँ द्रष्टव्य हैं ।

(३१) दि डिवाइन डान्सर—डा० एस० चम ।

(३२) ललिता सहस्रनाम ।

(३३) ज्ञानार्णव—कल्याण के शक्ति अक से उद्धृत ।

(३४) चण्डी—११वा खण्ड—श्री हरि प्रसाद शास्त्री का निबन्ध 'मणिद्वीप की सैर'—द्रष्टव्य है ।

(३५) गोपीनाथ कविराज—महाशक्ति श्री श्री मा—निबन्ध ।

(३६) सौन्दय लहरी—श्लोक ८

सुधासिंधोमध्ये सुरविटप वाटीपरिवृते

मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणि गृहे ।

शिवाऽऽकारे मचे परमशिव पर्यङ्क निलया

भजन्ति त्वा धन्या कतिचन चिदानन्द लहरीम् ।

(३७) श्री जप सूत्रम्—प्रथम खड श्लोक १२३ ।

सदभ ग्रन्थ

(१) कामकला विलास—पुण्यानद ।

(२) त्रिपुर तापिनी उपनिषद

(३) सौंदय लहरी – लक्ष्मीधर, स्वामी श्री विष्णुतीर्थ, श्री अनतकृष्ण शास्त्री (अग्रेजी) प० सुब्रह्मण्यशास्त्री (अग्रेजी) श्री कैवल्य शर्मा भाष्यकार ।

(४) श्री जपसूत्रम् —पूज्यपाद स्वामी श्री प्रत्यगात्मानद सरस्वती ।

(५) श्री सहस्त्रिका—डा० पाडुरग राव ।

(६) कल्याण—उपासना अक ।

(७) कल्याण—शक्ति अक ।

(८) दि डिवाइन डासर—ए० चम ।

(९) बह्वृचोपनिषद्—कल्याण उपनिषद् अक

(१०) भावनोपनिषद ।

(११) तान्त्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि—गोपीनाथ कविराज ।
(१२) मातृचक्र विवेक—ललिता प्रसाद डबराल ।
(१३) हिदू तत्व विद्यानो इतिहास—श्री नमदाशकर देवशकर मेहता ।
(१४) शक्ति सगय तत्र (प्रथम भाग)—डा० बी० भट्टाचाय ।
(१५) चडी पत्रिका के अक ।
(१६) श्री दुर्गासप्तशती ।
(१७) कुलाणव तत्र प्रपचसार आदि ।
(१८) हिदू आइकोनोग्राफी—डा० गोपीनाथ राव ।●
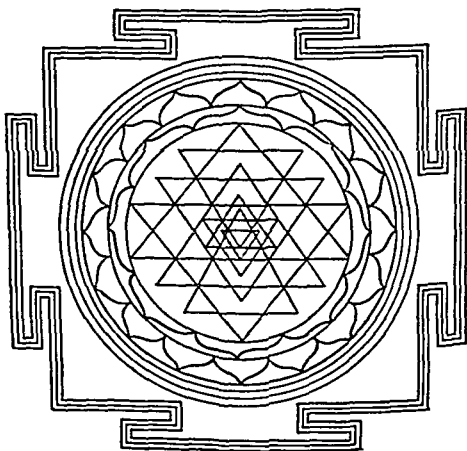
श्री यन्त्र

समग्र अवचेतन : धर्म एवं मनोविज्ञान का समन्वय

प्रो० भवानीशकर उपाध्याय

विज्ञान एव दर्शन के विकास से विश्वदृष्टि मे समग्रता का दिशाबोध

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के कुलपति मनीषी डॉ० दौलतसिंहजी कोठारी का जीवन विज्ञान एव शिक्षा के मध्य सामजस्य स्थापित करने का रहा है। उन्होने लेखक कृत 'काल गुस्ताव युग' विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' शीर्षक ग्रन्थ के आमुख म यह स्पष्ट किया है कि 'विज्ञान' विशेषत भौतिक शास्त्र एव सृष्टि विज्ञान तथा दर्शन एव मनोविज्ञान के नवीन दूरगामी विकास से मानव एव प्रकृति के बीच एक नई चर्चा प्रारम्भ हो गई है, जिससे विश्व दृष्टि मे अधिक समग्रता का दिशाबोध हो रहा है तथा इस कारण भौतिक वस्तु एव चित्त के मध्य एक प्रकार से पारस्परिक लेन-देन का सम्बन्ध स्थापित हो गया है।'

आधुनिक मानवीय चिन्तन पर मार्क्स, फ्रायड एव युग के विचारो का दूरगामी प्रभाव

उपर्युक्त डॉ० कोठारी के 'दो शब्द' के सन्दर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक मानवीय चिन्तन पर निस्सन्देह मार्क्स, फ्रायड एव युग के विचारो का बडा दूरगामी एव गहरा प्रभाव पडा है। कार्ल मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के सिद्धान्त मे सम्पूर्ण मानव समाज की अर्थव्यवस्था सामाजिक सरचना एव अनेक राष्ट्रो के प्रशासकीय तन्त्रो मे अभूतपूर्व बदलाव आ गया है। इसी तरह मार्क्स के बाद प्रसिद्ध मनोचिकित्सक डॉ० सिगमड फ्रायड ने यह नवीनतम खोज की है कि मानव मन एक अखण्ड इकाई नही है, अपितु मानवीय मन को 'चेतन एव अवचेतन' सज्ञक दो सभागो मे बाटा जा सकता है, जिसमे अवचेतन सभाग का विशेष महत्व है। मन के अवचेतन सभाग की खोज से न केवल चिकित्सा शास्त्र एव मनोविज्ञान के क्षेत्र मे ही, अपितु ज्ञान, विज्ञान, धर्म आचरण, साहित्य, सस्कृति, कला एव इतिहास आदि मानव जीवन सम्बन्धी सभी क्षेत्रो पर बहुत व्यापक एव गहरा प्रभाव पडा है और इस प्रकार मानवीय-व्यक्तित्व के सभी आधार ही अब बदल गए है। फ्रायड के बाद युग जो ज्यूरिख के मनोविश्लेषक एव मनोरोग चिकित्सक अपने लगभग २० वर्ष बुजुर्ग डा० फ्रायड के अनुवर्ती माने जाते हैं। युग ने अवचेतन की खोज के कार्य को फ्रायड से आगे बढाते हुए सन १९१२ ई० मे 'दि साइकोलॉजी आफ दि अनकाशस' शीर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन किया, जिससे फ्रायड द्वारा पूर्व निर्धारित स्वरूप एव उसकी उपादेयता के बाबत उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया है। फ्रायड की मान्यतानुसार चित्त का अवचेतन सभाग तो मानव समाज म अस्वीकृत विचारो वृत्तियो एव भावनाओ का एक निरर्थक कूडा करकट का ढेर था और जो चेतन स्तर से व्यक्ति द्वारा दमित, विस्मृत एव अवाछनीय विचारो, क्रियाओ एव भावनाओ का एक अकल्याणकारी अनियन्त्रित गोदाम माना जाता था, उसको युग ने मानवचित के उसी अवचेतन सभाग को अत्यन्त महत्वपूर्ण, बाह्य जगत एव अन्तजगत के बीच का एक 'सेतु' माना है तथा उसे चित्त के माध्यम से बाह्य जगत से अन्तजगत का मुख्य प्रवेश द्वार माना है। फ्रायड के अनुसार चित्त के अवचेतन सभाग को चेतन स्तर पर जो

विचार-प्रवृत्तियां एवं भावनाएं एवं इच्छायें मानव समाज द्वारा असगत एवं अकल्याणकारी एवं निरर्थक मानी जाती थीं, उन्हें युग ने मानव समाज की सृजनात्मक, सहज वृत्तियों, प्रवृत्तियां एवं आकांक्षाओं का एकमात्र सहज स्वत स्रोत एवं रत्न भंडार माना है। जहां पर व्यक्ति मानव समाज तथा व्यक्ति के मानवीय एवं पूर्व पुरुषाओं के अनुभव-गम्य ज्ञान-विज्ञान का जाने-अनजाने शाश्वत अनुभवों का भंडार है। इस दृष्टि से युग ने चित्त के अवचेतन समाग को मानवजीवन में स्वत विकास के लिये परम उपयोगी, कल्याणमय एवं शाश्वत सनातन खजाना या रत्न भण्डार माना, जिसकी सहज अभिव्यक्ति धर्म, संस्कृति, साहित्य काव्य एवं कलाकृतियों के माध्यम स्वत -प्रस्फुटित एवं विकसित होती रहती है।

कार्ल गुस्ताव युग के जीवन एवं लेखन का संक्षिप्त परिचय

यूरोप की रमणीय प्रकृति स्थली स्विट्जरलैण्ड के केसविल नामक एक छोटे से गांव में एक आदर्श पादरी परिवार में कार्ल गुस्ताव युग का जन्म दिनांक २६ जुलाई, १८७५ ई० में हुआ, जहां पर उसकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई और उसने सन १९०० में बेसल नगर में चिकित्सा शास्त्र में स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। बचपन से ही युग की अनहोनी एवं रहस्यमय घटनाओं के प्रति गहरी अभिरुचि थी। उन्होंने मेडिकल डिग्री प्राप्त करने के बाद 'रोगी के शरीर में पूर्वजों का आगमन' शीर्षक विषय पर डाक्टरेट के लिये एक थीसिस ज्यूरिख विश्वविद्यालय में लिखा। और चिकित्साशास्त्र में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के बाद ज्यूरिख के ही एक मानसिक चिकित्सालय में सहायक प्राध्यापक एवं मनोविश्लेषक के पद पर अपनी सेवाएं प्रारम्भ की और सन् १९६१ में मृत्युपर्यन्त ज्यूरिख में ही असख्य मनोरोगियों की चिकित्सा एवं तत्सम्बन्धी अनुसंधान कार्यों में पूरी निष्ठा एवं ईमानदारी से मानव समाज की सेवा एवं उपचार में अपना जीवन लगा दिया।

इस प्रकार युग ने एक भारतीय ऋषि की तरह अपना सम्पूर्ण जीवन मानव जाति की सेवा में, पूरी निष्ठा और लगन के साथ व्यतीत किया। सन् १९०२ में युग ने पेरिस जाकर डॉक्टर पीयरे जने तथा ज्यूरिख के ही मनोवैज्ञानिक डॉक्टर ई० ब्लूअनर के साथ अनुसंधान कार्य सम्पादित किया और १९०५ में वह ज्यूरिख विश्वविद्यालय में उच्च चिकित्सक के पद पर नियुक्त हुये, किन्तु १९०९ में युग ने जब यह अनुभव किया कि उच्च चिकित्सक के पद पर बने रहने से उनके अनुसंधान कार्य में बाधा उपस्थित होती है, तब उन्होंने यह पद त्याग दिया। सन् १९०७ में युग की भेंट वियना के यशस्वी मनोचिकित्सक डॉ० सिगमंड फ्रायड से हुई जो गहरी मैत्री में, फ्रायड के निधन तक निरन्तर बनी रही। सन १९११ में फ्रायड की सहमति से इन्टरनेशनल साइकोअनेलेटिकल सोसायटी की स्थापना की गई और युग को इस संस्थान का अध्यक्ष चुना गया। सन् १९१२ में युग ने अवचेतन सम्बन्धी अपने अनुसंधान कार्य को आगे बढ़ाया और १९१२ में युग ने 'दि साइकोलॉजी आफ दि अनकान्शस' शीर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जिससे समूचे यूरोप एवं विश्व में एक अजीब सा तहलका मच गया। इस पुस्तक से फ्रायड एवं युग के अवचेतन सम्बन्धी विचारों का मौलिक मतभेद सर्वत्र जग जाहिर हो गया। युग ने फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मन का अवचेतन तथा चेतन इन दो सभागों में विभाजन को तो यथावत् स्वीकार किया किन्तु अवचेतन के स्वरूप के बारे में फ्रायड तथा युग के विचारों में मतभेद सुस्पष्ट हो गया। फ्रायड ने काम (सेक्स) को ही मानवीय मूल सहजवृत्ति माना जिसको युग ने उसे फ्रायड का प्रतिवाद मानते हुए 'लिबिडो' यानी जीवनेच्छा को ही मानवीय जीवन का मूलाधार एवं प्रमुख सहजवृत्ति माना और इस प्रकार युग ने फ्रायड प्रतिपादित मनोविश्लेषण पद्धति के समान्तर विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान पद्धति को स्थापित एवं

सचालित किया, अत फ्रायड के स्कूल को 'वियना स्कूल' तथा युग की पद्धति को 'ज्यूरिख' स्कूल कहा जाता है। सन् १९२० मे युग ने 'साइकोलौजिक टाइप्स' शीर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जिसके अन्तर्गत मानव समाज को वृत्ति एव स्वभाव के आधार पर आठ वर्गों मे बाँटा गया है। इसके बाद तो युग ने अपने अध्ययन, उपचार, सगत अनुभवो एव अन्य मौलिक अनुसधाना के आधार पर लगभग १४० रिमर्च पेपस या ग्रन्थो का प्रणयन किया। फ्रायड और युग ने क्रमश वियना एव ज्यूरिख के अलावा अन्य यूरोपियन देशो एव सयुक्त राज्य अमेरिका के विशिष्ट विश्वविद्यालयो, महाविदयालयो एव विद्वानो के समूहों मे कभी साथ-साथ अथवा कभी अलग-अलग भाषण दिये है। युग के कुछ ग्रन्थ सीधे अग्रेजी भाषा मे भी प्रकाशित हो चुके हैं। फ्रायड एव युग के मूल जमन रिसच निबधो के अग्रेजी भाषा मे प्रमाणित अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९६१ म युग की अतिम रचना 'दि मेमोरीज, ड्रीम्स एण्ड रिफ्लेक्शन्स ऐज रेकॉर्डेड बाई अनिल जैफी प्रकाशित की गई है। युग कृत लगभग १४० ग्रन्थो मे से लगभग ५० पुस्तको का अँग्रेजी मे अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। जो 'सी जी जुग के समग्र ग्रन्थ' शीर्षक बीस जिल्दो मे पेंथोन बुकाज या बोलीनगन सीरीज मे प्रकाशित हुई है। युग ने सुदूरवर्ती दक्षिण अफ्रीका, अमेरिका एव भारत की भी यात्राएँ की। युग ने अनेक आदिम जातिया की बस्तिया मे जाकर, उनके रहन सहन, स्वभाव,आचरण, रुचि परम्पराओ, रिवाजो, धार्मिक आस्थाओ, तथा उनके अन्ध विश्वासो, मिथको तथा उनमे प्रचलित दन्तकथाओ पर भी उल्लेखनीय अनुसन्धान काय किया। १९३७ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्वणजयन्ती के अवसर भारत सरकार के निमन्त्रण पर युग का आगमन भारतवष मे भी हुआ, और उन्हे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ मुस्लिम युनिवर्सिटी तथा कलकत्ता विश्वविदयालय म आमन्त्रित कर डाक्टरेट की मानद उपाधि से यथाविधि सम्मानित किया गया। इस लेखक का भी बनारस विश्व-विदयालय मे आयोजित युग के सम्मान समारोह मे शरीक होने का सद्भाग्य है।

सन् १९५८ म युग को ऑक्सफोड विश्वविदयालय से मानद डाक्टर आफ साइन्स की उपाधि से सम्मानित किया गया। सन १९४५ मे युग की ७०वी वषगाँठ के प्रसग पर ज्यूरिख विश्वविद्यालय ने भी उन्हें मानद डाक्टरेट की सर्वोच्च उपाधि से अलकृत कर सम्मानित एव पुरस्कृत किया।

युग ने प्रसिद्ध भारतविद श्री हेनरिख जिमर के साथ अध्ययन करते हुए भारतीय कलाकृतिया की अनुपम व्याख्याएँ प्रकाशित की हैं तथा सन १९४३ मे उनके सहयोगी जिमर की असामयिक मृत्यु के बाद उन्होने उनकी कृतियो के सम्बन्ध मे प्रस्तावना के रूप मे उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। युग ने प्रसिद्ध हगेरियन भाषाविद तथा पुराणविशारद डाक्टर काल केरेनयी के सह सम्पादन मे 'मिथक-विज्ञान पर निबध' का सन १९४२-४३, मे दो भागो मे, प्रकाशन किया है। सन् १९४८ मे युग ने ज्यूरिख मे ही 'सी० जी० युग सस्था' की स्थापना करते हुए सन् १९६१ मे अपनी मृत्यु तक इस महान सस्था का काय सचालन सम्पन्न करते अपने अनुसन्धान कार्यों को समूचे विश्व म प्रसारित किया है।

निस्सन्देह काल गुस्ताव युग का सम्पूण जीवन एक भारतीय ऋषि की तरह व्यतीत हुआ है। युग ने अपनी मृत्यु तक सदैव एव सवत्र भारत के प्रति अपनी गहरी समझ एव विनययुक्त सही निष्ठा को ही अभिव्यक्त किया है।

युगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान मानवीय अनुभवो की व्याख्या है

युगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान मानवीय अनुभवो की व्याख्या है। स्वय युग लगभग ६० वर्षों तक हजारो लाखो व्यक्तियो के सम्पक मे आये, उन्होंने हजारो, लाखो अपने रोगियो के दुख दद एव

उनके सुख दुख एव उनकी जीवन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ को गुनने समझने तथा उनके निराकरण, उपचार और चिकित्सा करने मे अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया है। वह केवल एक सफल मनोविश्लेषक एव सहृदय मनोरोग चिकित्सक ही नही थे, अपितु वह गम्भीर अध्येता, बहुश्रुत अध्ययन कर्ता, एव एक ईमानदार अनुसन्धानकर्ता भी थे। उन्होने ज्यूरिख स्थित चिकित्सालय मे अपने जीवन का अधिकाश काल व्यतीत किया और यदा कदा अवसर निकालकर उन्होने यूरोप के अन्य देशो तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के सुदूरवर्ती प्रदेशो तथा दक्षिण अमेरिका एव भारत के विभिन्न नगरो मे जाकर वहाँ के जनसाधारण, विद्वानो एव चिकित्सको से प्रत्यक्ष भेंट कर उनके साथ गम्भीर विचार विमर्श करते हुए, मानवीय अनुभव ज्ञान सम्पादित किया। इस प्रकार युग द्वारा सम्पादित ज्ञान एव अनुभव अत्यन्त विस्तृत, असीम, गहन एव जटिल है जिसकी सक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत करना बडा कठिन काय है। फिर भी जिस प्रकार सम्पूर्ण दुनिया का नक्शा एक कागज मे दर्शाया जा सकता है, उसी प्रकार युगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के मानवीय अनुभवो के आधार पर व्याख्या या विवेचन किया जा सकता है। युग ने बडे मौलिक ढग से मानवीय अनुभवो के विभिन्न अर्थो को समझने एव उन्ह वस्तुनिष्ठ रूप से वर्णित करने की वज्ञानिक परम्परा का ही निर्वाह किया है। इस क्रम मे किसी नए सिद्धान्त, धम, सम्प्रदाय या किसी बौद्धिक अथवा नैतिक अथवा आध्यात्मिक नए माग का प्रणयन नही किया है, और उन्होंने अपने निष्कर्षो को भी अन्तिम सत्य माने जाने का न कोई आग्रह ही व्यक्त किया है। इसलिये युगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान किसी वग, जाति, देश अथवा किसी काल विशेष की किसी रूढि, परम्परा, सम्प्रदाय या विचार से बाधित नही है, अपितु युगीय लेखन मे प्राचीन आदिमकालीन एव अर्वाचीन तथा पूर्वीय व पाश्चात्य अनेक जातियो के जीवन व्यवहारो, आचरणगत स्वभावो, धार्मिक विधियो एव उनके क्रियाकलापो की सहज सरल व्याख्या मात्र हैं, जिसमे किसी प्रकार की कट्टरता, रूढिग्रस्तता या दुराग्रह के लिए कोई स्थान ही नही हैं। युगीय मनोविज्ञान का उद्देश्य या प्रयोजन सभी मानव समूहो, जातियो एव समग्र जनता के बीच परस्पर आपसी साहचय, सहयोग एव एक दूसरे के बीच आपसी समझ एव सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न ही रहा है ताकि समाज एव मानव समूहो और राष्ट्रो के बीच सह-अस्तित्व तथा एक दूसरे के भिन्न भिन्न विचारो के बावजूद उनके बीच पारस्परिक मैत्री, समझ, सौहाद एव भाईचारे की भावनाओ का सहज विकास हो सके।

युग ने अपनी पद्धति को स्पष्ट करते हुए फ्रायड द्वारा प्रयुक्त शब्द 'मन' एव 'मानसिक' के बजाय नवीन सज्ञा चित्त (साइके) एव 'चित्तीय' का उपयोग किया है। युग द्वारा प्रयुक्त शब्द चित्त पतञ्जलि के योग-सूत्र के प्रथम चरण 'चित्तवृत्ति निरोध योग' के अनुरूप या सादृश्य-सूचक है। युग की मान्यता है कि चित्त के दो सभाग अवचेतन एव चेतन हैं, जो यद्यपि परस्पर विरोधधर्मी हैं किन्तु इनके बीच कोई अभेद्य दीवार नही है, अत चेतन और अवचेतन के बीच चित्तीय प्रवाह निरन्तर स्वत बना रहता है, जो परस्पर अदला-बदली करता रहता है। युग की यह मान्यता है कि चेतन एव अवचेतन दोनो का पृथक अस्तित्व होने पर भी इनको एक दूसरे का पूरक या प्रतिपूरक ही माना जाना योग्य है। चित्त के चेतन एव अवचेतन सभाग की अन्तर्वस्तु लिबिडो (जीवनेच्छा या जिजीविषा) का स्वत निरन्तर प्रवाह बना रहता है तथा इनके बीच अदला-बदली होने से चित्त की इकाई बनी रह पाती है। युग ने फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मन के चेतन एव अवचेतन सज्ञक दो विभागो मे विभाजित होने के सिद्धान्त को यथावत स्वीकार किया है। किन्तु फ्रायड द्वारा प्रतिपादित 'लिबिडो को कामजन्य सुख माने जाने के बजाय युग ने 'लिबिडो' चित्तीय प्रवाह को जीवनेच्छा के रूप मे परिभाषित किए जाने पर आग्रह किया है। इस प्रकार चित्त के

निरन्तर बने रहने के चित्तीय प्रवाह को, ऊर्जा, जीवनेच्छा या जीवन शक्ति प्रवाह कहा जाना अधिक उपयुक्त है।

जिस प्रकार समुद्र में ज्वारभाटे का स्वत सहज क्रम है, उसी तरह चित्तीय स्तर पर जीवनेच्छा या ऊर्जा का स्वत प्रवाह निरन्तर होता रहता है और चेतन की अंतर्वस्तु अवचेतन की ओर तथा अवचेतन अन्तर्वस्तु चेतन की ओर स्वत सहज प्रवाहित होती रहती है। जब चेतन का प्रवाह समुद्र के किनारे की ओर होता है तो उसे बहिर्मुखी अभिवृत्ति कहते हैं तथा जब चित्तीय प्रवाह की अभिवृत्ति समुद्र के अन्दर की ओर होती है तब उसे अन्तर्मुखी अभिवृत्ति कहते हैं। और यह दोनो अभिवत्तियां स्वत सहज क्रम मे बनी रहती हैं। इसी तरह चित्त मे चेतन सभाग मे चार प्रकार की क्रियाएं होना पाया जाता है। जिन्हें चिन्तन, भावना सवेदन तथा अन्तप्रज्ञा कहा गया है। युग ने दो अभिवत्तियां एव चार क्रियाओ के आधार पर सम्पूर्ण मानव-समूह का विभाजन आठ वर्गो मे किया है। युग द्वारा सन् १९१२ मे यह मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण यो किया गया—

१ बहिर्मुखी चिन्तन प्रधान व्यक्तित्व वर्ग
२ अन्तर्मुखी चिन्तन प्रधान व्यक्तित्व वर्ग
३ बहिर्मुखी भावना प्रधान व्यक्तित्व वर्ग
४ अन्तर्मुखी भावना प्रधान व्यक्तित्व वर्ग
५ बहिर्मुखी सवेदन-प्रधान व्यक्तित्व वर्ग
६ अन्तर्मुखी सवेदन प्रधान व्यक्तित्व वर्ग
७ बहिर्मुखी अन्त प्रज्ञा प्रधान व्यक्तित्व वर्ग
८ अन्तर्मुखी अन्त प्रज्ञा प्रधान व्यक्तित्व वर्ग

युग ने आगे जाकर दृढतापूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि जीवनेच्छा एक प्राकृतिक शक्ति या ऊर्जा है जिसके कारण व्यक्ति मात्र के जीवन की स्थिति तथा गति बनी रह पाती है और इस जीवनेच्छा शक्ति का उपयोग स्वत सहज रूप से बना ही रहता है। किन्तु जीवनेच्छा के उपयोग के अलावा यदा-कदा जो जीवन शक्ति अतिरिक्त अवशेष बची रहती है, उसका उपयोग सृजनात्मक प्रकार से कला, साहित्य और सास्कृतिक कार्यों मे यदा-कदा किया जाता रहा है। कला, सस्कृति, दर्शन एव धर्म को अवचेतन स्तरीय अन्तप्रज्ञा का स्वत सहज परिणाम कहा जा सकता है।

श्री कार्ल गुस्ताव युग ने चित्त के चेतन सभाग को समुद्र मे उभरे हुए एक टापू की तरह व्याख्यायित किया है। पानी पर उभरे सभाग को चेतन तथा जल मे डूबे सभाग को अवचेतन सभाग कहा जा सकता है। वृहदाकार अवचेतन सभाग को युग ने आगे जाकर पुन दो खडो मे विभाजित किया है। वृहदाकार अवचेतन के ऊपरी हिस्से को युग ने व्यक्तिगत अवचेतन कहा है जो व्यक्ति विशेष के भूत कालीन अनुभवो, स्मृतियो या विस्मृति का रूप है। युग ने यह प्रमाणित किया है कि व्यक्तिगत अवचेतन के मूलाधार मे सामूहिक अवचेतन का रहस्यमय विराट गहन स्तर है। जिसमे व्यक्ति ही नही अपितु उसके माता पिता, पूर्वज, परिवार, जाति, राष्ट्र तथा उसके आदिम मानव—पुरखे तथा उसके पशु पुरखो आदि के जीवन अनुभवो की छाप या निशान है। युग ने व्यक्तित्व के गहनमय मूलाधार की शक्ति को 'आर्केटाइपल' प्रारूप कहा है, जिसके प्रथम मूलाधार को आद्य मातृशक्ति (शिवा) तथा इसके भी निचले स्तर पर स्थित शक्ति को सनातन ज्ञान पुरुष (शिव) कहा है, जो आत्मा का ही सगुणात्मक रूप है।

धर्म एव मनोविज्ञान

कतिपय विद्वान धर्म को मनोवैज्ञानिक खोज की दृष्टि से महत्वहीन मानते हैं। उनका यह तर्क है कि धम जो एक ईश्वर या सव-व्यापक सत्य या शक्ति के प्रति आस्था पर आधारित है, उसका विवेचन तक सगत विज्ञान से हो ही नही सकता। और किसी अज्ञात शक्ति के प्रति विश्वास या आस्था रखा जाना तो विज्ञान की दृष्टि से सहज एक अ धविश्वास ग्रस्त विचार मात्र है। फ्रायड तथा अल्फ्रेड एडलर की मा यतानुसार धम को क्रमश सहज काम वृत्ति एव सहज जैविक वृत्ति का केवल उदात (सब्लीमेटेड) स्वरूप माना गया है। कि तु यु ग ने धर्म को न तो शैशव कालीन कामज य वृति के दमन का परिणाम माना है, और न धम को एडलर द्वारा प्रतिपादित किसी हीन अथवा उच्च मानवीय ग्र थियों की अभिव्यक्ति या उजागर स्वरूप ही माना है। यु ग ने तो धम या अध्यात्म को मानवीय अवचेतन स्तरीय क्रियात्मक एव सृजनात्मक शक्ति की स्वत सहज उच्छल अभिव्यक्ति ही माना है। इस प्रकार यु ग ने यह सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि धर्म न तो जैविक वृत्ति का कोई परिणाम है और न किसी दमन का ही प्रतिफल है। यु ग ने यह प्रतिपादित किया है कि धम न तो किसी दमित भाव या सविशेष वृत्ति की अभिव्यक्ति है। अध्यात्म एव सृजन प्रत्येक व्यक्ति की सहज क्षमता है, जो न तो उसकी कोई बचाव वृत्ति है और न इसे कोई रूपा तरण प्रक्रिया या बदलाव ही माना जा सकता है। यु ग की मा यतानुसार धम एव अध्यात्म वृत्ति मानवीय चित्त की सर्वोत्कृष्ट उपज या सहज ज्वार है जिससे स्वत सहज व्यक्तित्व का विकास होते हुए मानव ईश्वरत्व की ओर आगे बढता ही रहता है। और इस प्रकार व्यक्ति का यह क्षण-भगुर नश्वर शरीर या तन मन और चित्त स्वत सहज विकसित होते हुए शाश्वत सनातन आत्मा मे ही रूपा तरित हो जाता है।

यु ग ने फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मन के दो सभाग चेतन एव अवचेतन की स्थिति को यथावत स्वीकार करते हुए पूव प्रयुक्त शब्द 'मन' के बजाय चित्त का उपयोग किया है कि तु मन या चित्त के अवचेतन सभाग की अ तवस्तु के स्वरूप या प्रकृति के बारे मे फ्रायड एव यु ग के बीच गहरा मतभेद रहा है। जहाँ फ्रायड ने अवचेतन को केवल निरथक कूडा-करकट का ढेर माना है वहा यु ग द्वारा अवचेतन सभाग को मानवीय अनुभवो से पुष्ट अत्य त उपयोगी, सृजनात्मक एव कल्याणकारी तत्वो का रत्न भडार ही कहा गया है। जो समूची मानव जाति की शक्ति, श्री एव समृद्धि का द्योतक है। धम, सस्कृति कला, साहित्य एव काव्य को यु ग ने अवचेतन की ही सहज अभिव्यक्तियाँ माना है। व्यक्ति के ही अवचेतन सभाग को धम से ओत प्रोत माना गया है जो शाश्वत सनातन कालीन होने के साथ ही साथ निर तर स्वत विकसित रूप मे ही रूपातरित होता है। अवचेतन चित्त के भी यु ग ने दो स्तर या खण्ड होना माना है। अवचेतन की ऊपरी सतह या स्तर को उसने वैयक्तिक या व्यक्तिगत अवचेतन कहा है तथा इसके गहन एव तिचली सतह या स्तर को सामूहिक या समग्र अवचेतन के नाम से व्याख्यायित किया है। सामूहिक अवचेतन की ही अभिव्यक्ति धम, दर्शन, काव्य, कला अथवा सृजनात्मक क्रिया शक्ति के रूप मे होती है जो बडी उपयोगी एव कल्याणकारी होती है। वस्तुत चेतन तो अवचेतन का प्रतिफल या परिणाम मात्र है। यु ग ने अवचेतन के मूलाधार को 'आर्कटाइप' माना है और इस मूल प्रारूप मे भी दो रूप हैं जिनको यु ग ने आद्य मातृशक्ति (शिवा) तथा सनातन ज्ञान पुरुष (शिव) कहा है। आर्कटाइपल अनुभव को ही ईश्वर कहा जा सकता है जिसको भारतीय चि तन परम्परा मे ब्रह्मा (जनक) विष्णु (रक्षक) एव महेश्वर या महेश या महादेव (सहारकर्ता) कहा गया है। यु ग ने अ त मे जाकर यह भी व्याख्यायित किया है कि ईश्वर के रूप में आर्कटाइपल अनुभव म ता चेतन एव अवचेतन का सारा भेद ही मिट जाता है तथा चेतन अवचेतन का

द्वैत ही अद्वैत मे रूपान्तरित हो जाता है जिसको आत्मा कहा गया है। इस प्रकार स्वत सहज विकास के क्रम मे आत्मा की स्थिति है, जो मानवीय जीवन की अन्तिम परिणति है। निस्सन्देह कतिपय विद्वान युग को एक चिकित्सक एव मनोविश्लेषक के बजाय एक दार्शनिक मानते हैं जबकि युग स्वय को एक विनम्र वैज्ञानिक ही मानता है। निस्सन्देह काल गुस्ताव युग एक दार्शनिक हैं, जिन्होंने दुनियाँ के सामने एक वैज्ञानिक होने का मुखौटा अपने चित्त मे चेतन स्तर पर जाने अनजाने अपना लिया है।

युग एव भारतीय चिन्तन मे सादृश्य

भारतीय ऋषि तुल्य काल गुस्ताव युग का यद्यपि जन्म स्विटजरलैंड मे हुआ किन्तु उनका समूचा व्यक्तित्व भारतीयता से ओत प्रोत था और युग ने भारतीय चिन्तन के प्रति गहरी श्रद्धा एव सही समझ का परिचय दिया है। युग की भारत के प्रति बचपन से अन्त समय तक न केवल श्रद्धा एव गहरी समझ ही रही है अपितु युग की भारत के सम्बन्ध म जो रचनाएँ प्रकाश मे आयी हैं, जिनमे युग का भारतीय वातावरण, सस्कृति, दर्शन, धम, परम्परा एव चिन्तन का गहरा परिचय प्राप्त होता है और युगीय चिन्तन एव भारतीय चिन्तन मे एक गहरी सादश्यता या समानता भी दृष्टिगोचर होती है। युग द्वारा रचित भारत सम्बन्धी ६ लेखो का सक्षिप्त साराश निम्नानुसार है —

योग एव पश्चिम (योग एण्ड दि वेस्ट) शीषक लेख युग की भारत सम्बन्धी प्रथम रचना है जिसका प्रकाशन 'प्रबुद्ध भारत' कलकत्ता के फरवरी, १९३६ के अक मे श्री रामकृष्ण शताब्दी समारोह के अवसर पर किया गया। इस आलेख मे चिन्तन के क्षेत्र मे यूरोप तथा भारत के बीच पारम्परिक सम्बन्धो पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। युग ने यह प्रतिपादित किया है कि यद्यपि पिछले करीब दो हजार वर्षों से यूरोप एव भारत का सम्बन्ध रहा है। और यूरोप भारतीय योग के अदभुत करिश्मो एव उसकी दन्त कथाओ से परिचित रहा है किन्तु पिछले सौ वर्षों से पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय चिन्तन के प्रति व्यवस्थित रुचि लेना शुरु किया। इस क्रम मे फ्रेंच विद्वान पूर्सा द्वारा भारतीय उपनिषदो की व्याख्या का प्रकाशन तथा ऑक्सफोड के विद्वान मैक्समूलर द्वारा अनूदित ग्रन्थो का प्रकाशन, तथा मैडम ब्लावत्स्की द्वारा सचालित थियोसोफिकल सोसाइटी के आन्दोलन की सविशेष भूमिका रही है।

काल गुस्ताव युग ने यह स्वीकार किया है कि वतमानकालीन यूरोपियन राष्ट्रो ने यद्यपि विज्ञान एव तकनीकी क्षेत्रो मे अभूतपूव तरक्की की है किन्तु इसके साथ समूचे यूरोपियन राष्ट्रो मे नैतिकता, आचरण एव धम के क्षेत्रो मे निम्न स्तरीय गिरावट भी नजर आती है जिससे समूचे विश्व मे आपसी ईर्ष्या एव स्वाथ-वृत्ति के बढ जाने से सम्पूण विश्व एक भीषण ज्वालामुखी के मुँह पर बैठ गया है और सवत्र भीषण नर सहार और सम्पूण मानव समाज के सवनाश की जो गम्भीर आशका हो गई है उसमे युग की मान्यता है कि केवल भारतीय योग से ही इस विनाशकारी समस्या का नियन्त्रण या निपटारा किया जा सकता है। इस प्रसग मे युग ने भारतीय योग को समझने तथा उसे समझाने की कोशिश की है। योग निस्सन्देह तन तथा मन का सम्यक मिलन है इस सम्बन्ध मे युग ने श्री पातजल योगसूत्र एव श्री भगवद-गीता का भी सहारा लेना आवश्यक समझा है। (सम्पूण ग्रन्थावली पृ० ५२९-३७)

युग कृत भारत सम्बन्धी दूसरा निबन्ध 'भारत की स्वप्नवत दुनिया' प्रकाशन सन १९३८ म युग के भारत आगमन के प्रसग मे हुआ, और यह निबन्ध सन् १९३८ में एशिया न्यूयाक के अक से उद्धृत किया गया है। इस लघु निबन्ध मे युग ने यह प्रतिपादित किया है कि एक भारतीय ही सच्ची दुनिया का निवासी है। जिसका सम्पूण जीवन ही जीवन्त एव प्रयोजनीय है। जबकि आज पाश्चात्य जगत का प्राणी

तो एक अभाव ग्रस्त पागलखाने का बन्दी है जो अपने ही अभावो की प्रतिपूर्ति हेतु बेहद परेशान एव भटकन मे पडा हुआ है। सन १९३८ की भारत यात्रा के दौरान मे युग ने यहाँ के अनेक विद्वानो एव सुसस्कृत महिलाओ से भेंट कर उनकी सहज वेशभूषा तथा सरल व्यवहार एव उच्चतम आचरण के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा एव प्रशसा व्यक्त की है। (सम्पूर्ण ग्रन्थावली, पृ० ५१५-५२५)

'भारत से हम क्या सीखें' शीर्षक तीसरा लेख भी 'यूयार्क' से प्रकाशित एशिया के फरवरी, १९३९ अक से उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत लेख मे युग ने भगवान बुद्ध को भारत का सबसे तेजस्वी देदीप्यमान प्रकाश माना है जिन्होने सम्पूर्ण मानवजाति के उद्धार हेतु ज्ञान एव दर्शन का अद्भुत सामजस्य प्रस्तुत किया, किन्तु इस दिव्यतम प्रकाश को कुछ वर्षों मे बाद ही भारत से सर्वथा विलुप्त हो जाना पडा और बौद्ध मत भारत से अन्यत्र फैल गया। युग ने इस गम्भीरतम दुखद घटना के कारणो की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। (सम्पूर्ण ग्रथावली, पृ० ५२५-३०)

'भारत के ऋषि' शीर्षक, से युग का चौथा लेख है जिसका प्रकाशन युग के परम आत्मीय मित्र स्वर्गीय डाक्टर हेनरिख जिमर द्वारा दक्षिण भारत के सन्त श्रेष्ठ श्री रमण महर्षि सम्बन्धी उनकी १६७ पृष्ठीय पुस्तक की भूमिका के रूप मे लिखे गए लेख का पुन प्रकाशन है। प्रस्तुत लेख मे युग ने अपने १९३८ मे भारत आगमन के अवसर उनकी रमण महर्षि के साथ भेंट नही कर पाने का पश्चाताप प्रकट किया है। और युग ने भारत भूमि के दिव्य वातावरण मे पले भारतीय सन्तो, योगियो, ऋषियो एव अध्यात्म पुरुषो के प्रति बडी श्रद्धा के साथ प्रशसा व्यक्त की है तथा श्री रमण महर्षि के प्रति तथा भारतीय आध्यात्मिक जीवन (The spiritual life of India) के प्रति सम्मान एव बडी आस्था प्रकट की है।

'पूर्वीय ध्यान योग का मनोविज्ञान' शीर्षक लेख का आधार सन १९४३ मे श्री कार्ल गुस्ताव युग के तीन भाषण हैं जिनका योग्य सशोधन एक लेख के रूप मे एक जर्मन पत्रिका मे प्रकाशित किया गया था, जिसका अँग्रेजी मे रूपातर करोल बाउमन द्वारा किया जाकर इसका प्रकाशन प्रसिद्ध भारतीय विद्यामर्मज्ञ श्री आनन्द कुमार स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ (१९४८) मे किया गया है। (सम्पूर्ण ग्रन्थावली पृ० ५७६-८७)

प्रस्तुत लेख मे उल्लेख किया है कि युग अपने स्वर्गीय मित्र श्री हेनरिख जिमर कृत 'दि मिथ्स एण्ड सिबल्स आफ इण्डिया' तथा 'दि आर्ट एण्ड सिविलाइजेशन आफ इण्डिया' शीर्षक ग्रन्थो से बडे प्रभावित हुए थे और श्री जिमर द्वारा योग एव धर्मानुशासित भारतीय स्थापत्य कला के प्रगाढ सम्बन्धो के बारे मे जो विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है उसमे भारतीय अन्तर्दृष्टि एव पाश्चात्य दृष्टिकोण का अतर सुस्पष्ट किया है। युग ने इस धारणा का समर्थन किया है कि एक पाश्चात्य समीक्षक तो अपने चर्मचक्षुओ से भारतीय कृतियो मे केवल आकृति और रूपरग मात्र ही देखता है जबकि एक भारतीय समीक्षक तो भारतीय कला का 'दर्शन' करता है। जो उक्त कला की प्रत्यक्ष अनुभूति है। भारतीय समीक्षक की मान्यता मे कला मे आत्मा की झलक देखा जाना ही महत्वपूर्ण है। और इस प्रकार कला मे आत्मा की झलक के दर्शन करना ही सही जानकारी है और इस दर्शन से ही व्यक्तित्व का सही अर्थो मे विकास हो सकता है।

युग ने इस सम्बन्ध मे अपने एक लेख मे कला विषयक पाश्चात्य नजरिये एव भारतीय अनुभूति के अन्तर को भी सुस्पष्ट किया है। प्रस्तुत लेख मे युग ने यह प्रतिपादित किया है कि पाश्चात्य नजरिया बहिर्मुखी है जबकि भारतीय दृष्टि की अभिवृत्ति अन्तर्मुखी है। अत भारत मे मानवीय चित्त के गहनतम स्तर मे स्थित अवचेतन स्तरीय सामूहिक अवचेतन जिसको समग्र अवचेतन भी कहा जाना अधिक

उपयुक्त है, उसका ही सर्वोपरि महत्व है। नि सन्देह समग्र अवचेतन से ही सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन अथवा अनुभूति हो सकती है। इसलिए पाश्चात्य अभिवृत्ति से सत्य के पूर्ण दर्शन नही हो सकते किन्तु इसका केवल आभास मात्र होता है। सत्यानुभूति मे ही निस्सन्देह समग्रता, पूर्णत्व एव अभेदत्व है।

अन्त मे, प्रस्तुत लेख मे पाश्चात्य प्रेक्षण एव भारतीय आत्मानुभूति का अन्तर स्पष्ट करते हुए धर्म एव नियन्ता ईश्वर के विषय मे गम्भीर विवेचना प्रस्तुत करते हुए मानव को अपनी खुदी मिटाकर ही खुदा बनने का मार्ग-दर्शन प्रदान किया गया है। ताकि खुदी या पृथक् अस्तित्व आत्मा या परमात्मा मे इस तरह घुल मिल जाए जैसे पानी म शक्कर घुलमिलकर मीठा शरबत बन जाती है। चेतन एव अवचेतन की परिणति समग्रता मे ही तो है। इस प्रसग मे कार्ल गुस्ताव युग ने ध्यान योग सम्बधी अमित यून ध्यान सूत्र का भी उल्लेख किया है, जिसका बौद्ध धर्मावलम्बियो मे सविशेष महत्व है। यह मूल ग्रन्थ सस्कृत मे रचित है तथा इस मूल सस्कृत ग्रन्थ का चीनी भाषा मे अनुवाद सन् ४२४ ईस्वी मे किया गया था। 'प्रतीकवाद' इस मूल ग्रन्थ की उपज है।

उपसहार समग्र अवचेतन

जिस प्रकार फ्रायड द्वारा अवचेतन सम्बन्धी प्राक्कल्पना सामान्य मनोवैज्ञानिको के लिए दुरूह एव कम बोधगम्य थी, उसी प्रकार फ्रायड के अनुवर्ती युग द्वारा सामूहिक या समग्र अवचेतन की प्राक्कल्पना एव नवीनतम खोज, पूववर्ती विश्लेषणात्मक मनोविज्ञानिको के लिए भी सवथा नवीन खोज होने से कठिन दुरूह एव कम बोधगम्य रही है। फ्रायड द्वारा प्रतिपादित अवचेतन तत्कालीन मनोविश्लेषको की अवधारणाएँ जब युगीय विश्लेपणात्मक मनोविज्ञानवेत्ताओ द्वारा बदली एव रूपान्तरित की गई, तब, उन्हे ठीक ढग से सही परिप्रेक्ष्य मे आत्मसात किए जाने मे निस्स देह बडी कठिनाइयाँ महसूस की गई। युग ने अवचेतन सभाग को भी आगे जाकर पुन दो उप सभागो मे बाट कर उन्हे वैयक्तिक या व्यक्तिगत अवचेतन तथा समग्र या सामूहिक अवचेतन की सज्ञाओ से विवेचित किया है। प्रारम्भ मे अवचेतन दमित एव विस्मृत सामग्री मानी जाती थी। फ्रायड के मतानुसार अवचेतन का स्वरूप केवल वैयक्तिक अर्थात व्यक्तिगत माना जाता था। अवचेतन के ऊपरी स्तर को व्यक्तिगत माना गया है किन्तु युग ने यह अनुभव किया कि अवचेतन की ऊपरी सतह के नीचे भी एक और गहरी सतह है जिसको उन्होने सामूहिक अवचेतन की सज्ञा से विवेचित किया है। युग ने यह सुस्पष्ट किया कि इस अवचेतन की गहरी सतह का स्वरूप वस्तुत न केवल व्यक्ति है, अपितु गहराई मे स्थित इस गहन स्तर का स्वरूप समष्टिगत है जो केवल एक व्यक्ति विशेष तक मर्यादित होने के बजाय सव व्यापक भी है। इस प्रकार अवचेतन की सतहो के विषय म फ्रायड, तथा युग के विचारो मे बडा गम्भीर एव मौलिक मतभेद है। पद 'आर्कटाइप' (मूल प्रारूप) का शुरू मे जिसको मानव मे स्थित देवाश या देव प्रतिमा की स्थिति माना गया। युग ने सामूहिक अवचेतन को सव-व्यापक या समष्टिगत माना है। आदिम जातियो म मूल प्रारूप की अभिव्यक्ति मिथको (प्रतीको आख्यानो) अथवा परिकथाओ के रूप में पायी जाती है। निस्सन्देह मूल प्रारूप का स्वरूप अवचेतन स्तरीय है और मूल स्वरूप तथा मूल प्रारूपीय विचारो के बीच भी फर्क है किन्तु इस फर्क की व्याख्या किया जाना बडा कठिन है।

सामूहिक अथवा समग्र अवचेतन चित्त का ही एक सभाग है और व्यक्तिगत अवचेतन तथा सामूहिक अवचेतन के अन्तर को समझना बडा आवश्यक है।

युग ने आगे जाकर 'मूल प्रारूप' मूर्ति (अनिमा) तथा पुरुष के चित्त म स्थित नारी की अवधारणा एव उनके सम्बन्धो का भी विवेचन प्रस्तुत किया है और इसी तरह मातृ प्रारूप तथा मातृ ग्रन्थि के

अन्तर को भी सुस्पष्ट किया है। युग ने आद्या मातृशक्ति (शिवा) तथा सनातन ज्ञान पुरुष (शिव) के स्वरूप एवं उनके बीच सम्बन्धों का विवेचन प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड ७, पृ० ३ से ६ ४२,५४,७५,८१।

निस्सन्देह युगीय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की अंतिम परिणति सामूहिक अवचेतन सम्बन्धी अवधारणा है, जिसमें धर्म एवं मनोविज्ञान का सामंजस्य है।

अंत में यह भी सुस्पष्ट है कि ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्रों में स्वतः सहज विकास के क्रम में युग के लेखन एवं विचारों का एक सविशेष महत्व है।

युग द्वारा प्रतिपादित 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' का उद्देश्य, प्रयोजन एवं उसका 'दर्शन' वस्तुतः परस्पर विरोधी विचारों के बीच सामंजस्य एवं समन्वय किया जाना है, क्योंकि भिन्नत्व की तह में मूलतः जो एकत्व (अद्वैत) की स्थिति है, समन्वयदृष्टि है जहाँ भिन्नत्व या विरोधत्व भी एक दूसरे के प्रतिपूरक हैं। इसी तरह धर्म (ज्ञान) एवं मनोविज्ञान परस्पर एक दूसरे के प्रतिपूरक हैं। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में समन्वय एवं सामंजस्य का ही स्वर मुखरित एवं प्रस्फुटित है। ●

पुराण-तंत्र : एक नवीन दृष्टि

डा० जनार्दन राव चेलेर

यह प्रकट है कि पुराणो का स्वरूप विश्वकोषीय है, परन्तु जीवनमूल्य विषयक सनातन चेतना का पोषण करना पुराणों का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। इस प्रसग मे यह स्मरण किया जा सकता है कि आरम्भ मे आर्यो के समाज मे द्विजत्व का अधिकार तीनो वर्णों के लिए था। परन्तु जैसे-जैसे भारतीय समाज मे विभिन्न समुदायो का सम्मिश्रण होने लगा तो उस समाज मे मानसिक स्तर-भेद उत्पन्न होता गया। विभिन्न मानसिक स्तरवाले समुदायो के लिए सनातन धर्म की शिक्षा प्रदान करना, उनमे सनातन धम की चेतना पैदा करने का काम कठिनतर होता गया। समाज के विभिन्न मानसिक स्तरवाले समुदायो के बीच सनातन धम की चेतना फैलाने का दायित्व मुख्यतया पुराणो ने ही उठाया। इन पुराणो का विकास क्रम बहुत ही रोचक है, और बदलते समय के साथ इन पुराणो ने अपने शिल्प तत्र मे भी क्रान्तिकारी परिवतन किया था। पुराणो का यह तत्र विधान अत्यन्त जटिल एव बहु-आयामी है। सम्प्रति, मध्यकालीन भक्तिसाहित्य मे प्रयुक्त कतिपय शिल्पगत रूढ़ियो एव अभिप्रायो के सन्दर्भ मे पुराण तन्त्र का यत्किंचित विश्लेषण करने का प्रयास किया जाता है।

'गीता' और पुराण विधा

आरम्भ मे स्मृतियो मे धम, अथ और काम तीन ही पुरुषाथ स्वीकृत थे। धर्म किंवा मानव कतव्यो का विवेचन धम शास्त्रो म किया जाता था। तथा मोक्ष दशनशास्त्र का विषय था। इतिहास वा इतिहासाश्रित काव्य भी त्रिवग साधक ही थे। इसी दृष्टि से आदिकाव्य रामायण की रचना हुई थी जिसमे राम के रूप मे आदर्श नप के गुणो एव कार्यो का वर्णन हुआ है। पश्चात कुरु पाडवो की घटना हुई थी। जिसको आधार बनाकर 'जयाख्य' नामक इतिहास काव्य का सृजन हुआ। परन्तु धर्माधम के विषय मे राम का आख्यान जिस प्रकार निर्णायक था वैसा यह कौरवाख्यान नही था। राम के आख्यान मे धम-अधर्म का स्वरूप अत्यन्त सुस्पष्ट था। वही कौरवो के आख्यान मे धर्म-अधम का स्वरूप उस प्रकार स्पष्ट एव निर्णायक नही है। बल्कि उलझा हुआ है। सम्भवत कौरवो के आख्यान से धम विषयक विवेचन मे एक सवथा भिन्न एव नवीन आयाम का उद्घाटन हुआ था। मुझे लगता है कि पुराणो का—पुराणो की विशिष्ट विधा का—श्री गणेश बस यही से हुआ था। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है पुरा नव भवति। कथ भवति ? पुरा का अर्थात इतिहास का पुनराख्यान करने से पुरा इतिहास नवीन बनता है। इतिहास की युग युग मे युगानुरूप नवीन व्याख्या करते रहने से वही इतिहास का तत्व नवीन युगोपयोगी होता है। इसलिए समय समय पर इतिहास की युगानुकूल व्याख्या, पुनराख्यान-प्रवचन करते रहना चाहिए। 'जयाख्यान' पुराण कब बना ? जब बना होगा तब भी युग बदला होगा। इसी से युगानुरूप नवीन व्याख्या करने की आवश्यकता बनी होगी। तभी जयाख्यान के 'भारत' के रूप मे सस्करण के समय एक बार इतिहास की व्याख्या हुई, फिर 'महाभारत' के रूप मे सस्करण के समय दुबारा व्याख्या हुई।

इतिहास की व्याख्या नवीन पीढियो के लिए आवश्यक होती है। अगली पीढियों से सवाद करने के लिए, पीढियो के बीच सुसवाद बनाये रखने के लिए सवाद की आवश्यकता होती है। जयाख्यान नामक काव्य इतिहासाश्रित काव्य था। इस काव्य ने मुनियो को मानव व्यवहार के विवेचन के लिए पुन प्रेरित किया। इस आख्यान के आधार पर धर्माधम का विवेचन हुआ। वही शुक शौनक सवाद के रूप म प्रगट हुआ, जिसके कारण वह इतिहास काव्य 'भारत' के रूप मे प्रकट हुआ। इस मे मनुष्य का स्वभाव, उसकी कमजोरियो तथा मानव शक्ति की सम्भावनाआ आदि का विश्लेषण कौरवाख्यान के आधार पर हुआ। यह पाया गया कि मनुष्य अपने कतृत्व के बल पर कितना महान हो सकता है, कितना ऊँचा उठ सकता है। पश्चात तीसरी पीढी मे वैशम्पायन-जनमेजय के सवादो मे और आगे धर्माधम की मीमासा की गई। अनेकानेक धम जिज्ञासाएँ की गई और पाया कि धम का तत्त्व अत्यन्त गहन है—

तर्कोऽप्रतिष्ठ , श्रुतयो विभिन्ना, नैको ऋषियस्य मत प्रमाणम् ।

धमस्य तत्व निहित गुहायाम्, महाजनो येन गत स पथा ॥

आख्यान (दृष्टार्थ), उपाख्यान—(श्रुताथ) तथा विविध गाथाओ (कल्पिताथ) के आधार पर धर्म मीमासा का काय जारी रहा, और वह सब 'भारत' के कलेवर मे जुडता जाकर उसको 'महाभारत' का रूप दे दिया। महाभारत के पीछे भी धम-मीमासा का काय बराबर चलता रहा। परन्तु उसका अब महाभारत म जुडना बन्द हो गया। तभी 'न देव चरित समाचरेत्', 'धर्मस्य गहना गति', आदि निष्कप सामने आते गये। पर वे महाभारत के बाहर रहे। अस्तु।

कौरवाख्यान से कृष्ण के सम्बन्ध का विषय बहुत रोचक है। प्रो० आर० एन० दाडेकर ने 'इण्डियन मायथालोजी'[१] नामक लेख मे कृष्ण रिलीजेन' पर लिखते हुए कहा है कि आरम्भ मे कौरवाख्यान से कृष्ण का सम्बन्ध नही था। कृष्ण आरम्भ मे यादव जाति के मात्र क्षेत्रीय नेता थे। उन्होने ब्राह्मणो की यज्ञ परम्परा के विरुद्ध नवीन विचारधारा का प्रवतन किया था। प्रो० दाडेकर ने कृष्ण के प्रमुख कतृत्व को इस रूप मे गिनाया है—

१—इन्द्र वरुण के स्थान पर गोवधन जैसे नये इष्ट देवता
२—जटिल यज्ञ विधान के स्थान पर सीधा सरल भक्ति मार्ग
३—दार्शनिक अमूत चितन के स्थान पर नीति और सदाचार
४—वैराग्य और निवत्ति के स्थान पर कमठता
५—व्यक्तिगत मोक्ष के स्थान पर लोक सग्रह
६—साम्प्रदायिक मतवाद के स्थान पर सम वयवाद।

इस आधार पर कृष्ण क्षेत्रीय नेता के द्वारा जातीय नायक बने और पश्चात जातीय देवता बनें।

परवर्ती कालो मे कृष्ण के साथ अनेक गाथाएँ जुडती गई और इस प्रकार कृष्ण का चरित्र जटिल होता गया। उसी लेख मे प्रो० दाडेकर ने आगे लिखा है कि कृष्ण सम्प्रदाय का उदभव उस समय हुआ था जब सूत जयाख्यान गाने लगे थे। कृष्ण सम्प्रदाय के अभिभावको ने जयाख्यान का लाभ उठाकर कृष्ण को उसमे प्रक्षिप्त किया, और कृष्ण को केन्द्रीय भूमिका प्रदान करते हुए पूरे आख्यान का नवीन सस्करण किया। सम्भवत जयाख्यान के दूसरे सस्करण के 'भारत' मे कृष्ण पुरुषोत्तम के रूप मे प्रकट हुए थे, तथा इसी सस्करण मे गीता' का अश भी जुडा था। तब तक कृष्ण का देवत्व प्रसिद्ध हो चुका था।

Cultural Heritage of India Vol II P 233 Ramkrishna Mission

तभी गीता मे वेदोपनिषद के चिन्तन का सार कृष्ण के मुख से कहलवाया गया है। गीता मे जहाँ एक ओर भारत की सम्पूर्ण चिन्तन परम्परा का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है वहाँ दूसरी ओर भगवान के रूप मे समुपस्थित कृष्ण के मुख से उस चिन्तन का सार कथन कराकर मानो भारतकार उस दर्शन को वेदतुल्य प्रामाणिकता प्रदान करना चाहता है। किसी इतिहास-प्रसिद्ध शलाका-पुरुष के भावी पीढी की चेतना मे दिव्य महापुरुष के रूप मे बिंब निर्माण का कार्य किसी महाकवि की लोकोत्तर प्रतिभा ही कर सकती है। लोक-चेतना मे कृष्ण के लोकोत्तर दिव्य भगवत्कल्प बिंब निर्माण का श्रेय निश्चित ही महाकवि व्यास को है। इस दृष्टि से देखा जाय तो गीता की शब्द रचना महर्षि व्यास की हो सकती है। जो हो, गीता मे कृष्ण का अपने को ही 'ब्रह्म' बतलाना वेदात के 'अहं ब्रह्मास्मि' का काव्यानुवाद दिखायी देता है।

महाभारत का पुराण रूप नई पीढियो से सम्वाद स्थापित करने का प्रयास करता है। गीता मे अर्जुन के ज्ञाति-मोह के बहाने उस पीढी को कर्मठता का सदेश दिया जाता है। और 'सही' प्रकार की कर्मठता के लिए विराट दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। अर्जुन को ऐसा ही विराट जीवन दर्शन दिया गया है। एक विराट विश्व सत्ता के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य का कर्तृत्व 'सही' होता है। मनुष्य कर्म तो करता ही है, अकर्मकृत कभी कोई रह नही सकता, परन्तु एक विराट दृष्टिकोण के साथ किया हुआ कर्म निष्काम कर्म ही होता है। विराट विश्व सत्ता के बोध के साथ किये हुए कर्म का फल मनुष्य को बाधित नही करता। विराट विश्व बोध सम्पन्न व्यक्ति सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी उन कर्मो से बधता नही, उन कर्मों का फल उसे भोगना नही पडता, वह तब मात्र साधन किंवा निमित्त बना रहता है, वह करता नही है, उसके हाथो कर्म किए जाते हैं। उसे कर्तापन का बोध नही होता। उसकी चेतना किंवा भावना हमेशा विराट व्यापक होती है। सकीर्ण या सामयिक नहीं। यही निष्काम कर्म है, यही गीता का कर्म सन्देश है। जीवन जगत के प्रति भारतीय सस्कृति की यही अत्यन्त सही एव सटीक दृष्टि है। मनुष्य का अस्तित्व विराट सत्ता के साथ अविच्छेद्य रूप से जुडा हुआ है। वस्तुत सभी गोचर भासमान सत्ताएँ विराट विश्व सत्ता की ही विशिष्ट अभिव्यक्तिया हैं। अव्यक्त सत्ता की गोचराभिव्यक्ति केवल सामयिक है, वह फिर अव्यक्त अगोचर सत्ता मे विलीन होती है। "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत, अव्यक्त निधनान्यव।" सब समय इस विराट दृष्टिबोध को किंवा दृष्टिचेतना को बनाये रखना वस्तुत मनुष्य का मोक्ष है। ऐसी चेतना के प्राप्त होने के बाद फिर तो सब कुछ भौतिक जैव धर्म मात्र रह जाता है। भूत प्रकृति की कारण परम्परा अविराम चलती ही रहती है। विश्व सत्ता की विशिष्ट अभिव्यक्ति रूप मनुष्य उस समय निरन्तर क्रियमाण भूत प्रक्रिया का मात्र निमित्त बना रहता है, उस प्रक्रिया का वह साक्षीभूत होता है, केवलो निर्गुणश्च। गीतोपदेशक कृष्ण ने इसी वैश्विक चेतना से कर्म-शक्ति अर्जुन को सम्यक् जीवनदृष्टि प्रदान करते हुये विराट सत्ता की चेतना से युक्त होकर कर्म करने का आदेश दिया था। उस विराट चेतना को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। यज्ञ द्वारा ? नही। यज्ञ माने भौतिक टैक्नॉलॅजी। तुम दवताओ को प्रसन्न करो, देवता तुम्हारा कल्याण करें। देवता माने भूत शक्ति। उस यज्ञ की टैक्नॉलॅजी से भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती है, पर तु निष्कामता नही। टैक्नॉलॅजी से दृष्टि परिष्कार नही होता। दृष्टि, बोध किंवा चैतन्य तो सायन्स का, दर्शन का विषय है। तो क्या सायन्स किंवा दर्शन शास्त्र किंवा 'ज्ञान' से वह दृष्टिबोध किंवा चेतना प्राप्त की जा सकती है ? हाँ सम्भव तो है, परन्तु इससे उस बोध का किंवा चेतना का स्थायी रूप से बने रहना निश्चित नही। वह तो उस विराट की भक्ति किंवा उपासना द्वारा ही सम्भव है। उपासना अर्थात उस चेतना का, विराट विश्वसत्ता का निरन्तर ध्यान, सब समय सर्वावस्थासु विराट व्यापकतर

चित्तवृत्तियो को उन्मुख करके सब कर्मों को भगवदर्पण करने के लिए कहता है। इस प्रकार दर्शनशास्त्रों के ज्ञान मार्ग के जवाब मे पुराणो ने भक्तिमार्ग का प्रवर्तन किया था। यज्ञों का सर्वोलापन, योग का निरोध तथा ज्ञानमार्ग का वैराग्य असुकर पाकर सगुण ईश्वर की भक्ति और विग्रह पूजन का प्रतिपादन हुआ। विग्रहार्चा विधान को आगम तन्त्रो से स्वीकारा गया। विग्रहार्चा भक्ति का प्रायोगिक कमरूप है।

वस्तुत दर्शन और पुराणो की उद्भावनाओ का मूल आधार यह गोचर विश्व और मानव जीवन तथा उसका समाज ही है। जिस प्रकार दर्शन के ब्रह्म की कल्पना का आधार अगोचर अप्रमेय अनन्त विराट विस्तृत ब्रह्माण्ड है, उसी प्रकार पुराणो की देव और दानव स्वर्ग और नरक यहा तक कि भगवान और उसके अवतार की कल्पना का आधार मनुष्य का जीवन और उसका समाज है। तथा सगुण ईश्वर के रूप गुण की कल्पना का आधार मानव चरित्र और उसके गुण ही हैं। 'कथ विद्यामह त्वा, केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि'—अर्जुन के इस प्रकार पूछने पर कृष्ण ने जिन विभूतियो का कथन किया है, वे प्रकृति तथा प्राणधारियो की असाधारण शक्तिमत्ता के द्योतक हैं। सक्षेप मे, कृष्ण स्वत कहते हैं कि जीवन में जो कुछ ऊर्जस्वित, सत्वसम्पन्न, और श्रीयुक्त दिखाई देता है उसे मेरी ही विभूति अर्थात ईश्वरत्व किवा भगवत्ता समझो। बस, भगवान की कल्पना और उसके रूप निर्माण का मूल आधार प्रकृति मे दृष्ट असाधारण गुण अर्थात विभूतिया हैं।

पौराणिक शिल्प

मध्यकालीन भक्ति साहित्य मे प्रयुक्त शिल्पगत कतिपय अभिप्राय एव रूढिया पुराण-तत्र से प्रभावित रही हैं। इस कारण उस साहित्य के रचना विधान के अतर्गत एक स्वतन्त्र शिल्प विकसित हुआ है जिसे पौराणिक शिल्प की सज्ञा दी जा सकती है। अब नीचे इस पौराणिक शिल्प के कतिपय तत्वों का विवेचन किया जा रहा है।

पौराणिक शिल्प के अतर्गत मुख्य रूप से निम्न तत्त्व विवेचनीय हैं—

१—सवाद और गीताएँ
२—देवतत्त्व का प्रयोग
३—अवतारवाद
४—उद्धार का अभिप्राय
५—धार्मिक कथा सदर्भ
६—शाप और वरदान

सवाद और गीताएँ —

गीता की शैली पुराणो की एक अत्यधिक प्रतिष्ठित शैली है जो कदाचित उनकी सवाद शैली का ही विकसित रूप है। वैदिक काल के मत्र द्रष्टाओ के आप्त वचनों के आधार पर उपनिषद काल में गुरु शिष्य को प्रश्नानुप्रश्न पद्धति से आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा देता था (परिप्रश्नेन उपासितव्यम्)। परन्तु वह तो ज्ञान का आरक्षित भाग था जिस पर अधिकारी साधक ही चल सकता था। जन सामान्य के लिए वेदों का विषय जब दुरूह पड़ने लगा तब पुराणो का आविर्भाव हुआ। परम्परागत मान्यता के अनुसार इतिहास पुराण वस्तुत वैदिक ज्ञान के दृष्टान्त स्वरूप हैं। जन सामान्य के लिए वेदोक्त ज्ञान के विषयो को सुबोध और सुगम बनाने के हेतु पुराणों ने सवाद शैली

प्रारम्भ मे कहा गया है कि बदलते समय के साथ पुराणो ने अपने शिक्षा-तन्त्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किया था। वास्तव मे कालान्तर मे जैसे जैसे समाज की आत्मनिष्ठा एव आत्मविश्वास क्षीण होता गया, तथा मानवीय कर्तृत्व का ह्रास होता गया, पूव युग के महापुरुषो का कर्तृत्व अतिमानवीय एव देवता-कल्प दिखने लगा। महाभारत के कृष्ण के अलोकसामान्य चरित्र ने सम्भवत ईश्वर की धारणा को अत्यधिक बढ़ावा दिया था। उसके पूर्व राम के वृत्त ने भी मनुष्य के उदात्त चरित्र की कल्पना को प्रेरित किया था। परन्तु ईश्वर की कल्पना को शायद आधार नहीं दे पाया था। इसलिए ईश्वर की धारणा पुराणों मे आकर एक व्यवस्थित रूप ग्रहण करती है।

मानवीय कर्तृत्व के ह्रास के युगो मे मनुष्य के पुरुष् कार का स्थान नियति ले लेती है, कमठता के स्थान पर प्रपत्ति का भाव प्रमुख हो जाता है, मोक्ष के पुरुषाथ के बदले उद्धार की भावना बल पकडने लगती है। इस प्रकार मनुष्य का स्थान ईश्वर ले लेता है, मानव-केंद्रित जीवन-दृष्टि के स्थान पर ईश्वर-केंद्रित जीवन दृष्टि प्रमुख हो जाती है, तथा अपौरुषेय वेद प्रामाण्य के स्थान पर पौरुषेय भगवद् गीता का प्रामाण्य स्वीकार किया जाने लगता है।

भक्ति का प्रकृत क्षेत्र वास्तव मे पुराण ही है। ज्ञानमाग के जवाब मे पुराणो ने भक्ति माग का प्रवर्तन किया। इस काय मे पुराणो ने ज्ञान माग के कुछ तत्वो का अनुकूलन किया, तथा वैदिक कमकाण्ड एव योग साधना की कतिपय बातो को भी अपना लिया। एक साधना पद्धति के रूप मे पुराणों का भक्ति माग योग यज्ञ एव ज्ञान मार्ग का परवर्ती विकास लक्षित होता है। कारण भक्ति मार्ग मे योग यज्ञ एव ज्ञानमाग के तत्वो का अनुकूलन किया गया है। यथा, यज्ञ कर्म की पूजन-क्रम मे परिणति, योग के यम-नियम-आसन ध्यान आदि की स्वीकृति, तथा ज्ञानमाग के जवाब मे नवीन तत्वो की उद भावना। यथा, दर्शन ग्रथ प्रामाण्य के विषय म वेद प्रमाण को सर्वोपरि मानते हैं, तो पुराण वेदो के स्थान पर स्वय भगवान की किंवा भगवद् वचन 'गीता' को प्रमाण मानते हैं, और ऐसा करते हुए वे वेदो को भी गौण बना देते हैं। वेद, ऋषि, ज्ञानी सभी उनके 'भगवान' के सामने विनत दिखाये जाते हैं। दर्शन ग्रन्थ लोकानुभव को गौण प्रमाण मानते हैं, पुराण सिद्धो के स्वानुभव को अधिक प्रामाणिक मानते हैं। दर्शनशास्त्र की तरह पुराण भी गुरु की महिमा स्वीकारते हैं, परन्तु वे गुरु से अधिक स तो की महिमा बखानते हैं। दशनशास्त्र सृष्टि के कर्तृत्व के लिए ईश्वर की सम्भावना को सोचते हुए अन्तत निर्गुण ब्रह्म तक पहुचते हैं। परन्तु पुराण सगुण ईश्वर की धारणा को मूल आधार बनाकर उसका एक ओर निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्ध जोडते हैं—जो निर्गुण है वही सगुण बनता है, तत्वत उनमे कोई अन्तर नही है—दूसरी ओर, निर्गुण के सगुण अवतार धारण करने के हेतुओ पर विचार करते हुए दुष्ट शिक्षण, शिष्ट रक्षण, धम सस्थापन किंवा शाप एव वरदान की पूर्ति आदि की कल्पना करते है। आगे चलकर दुष्ट शिष्ट का हेतु भी छूट जाता है, दुष्टो का नाश तो उनके अपने कम फल से ही होता है, इसके लिए भगवान को अवतार लेने की आवश्यकता नही है। वस्तुत भगवान के अवतार का प्रयोजन है—लीला! लीला दशन एक विकसित दर्शन है जो सृष्टि की आनन्दपरक व्याख्या करता है। लीला दर्शन भक्ति शास्त्र की उदभावना है या भागवत पुराण की? दर्शन-शास्त्र मे मोक्ष अज्ञान ग्रंथि-नाश है। इससे जीव अपने मूल रूप, साख्य दर्शन के अनुसार साक्षी चैतन्य रूप को प्राप्त करता है, वेदात के अनुसार चिदानन्द रूप को पाता है। यह मोक्षस्थ चिदानन्द रूपता ही पुराणो की वैकुण्ठ कल्पना को जन्म देती है, जो वैदिक स्वग से भी बढकर है। दशनशास्त्र वैराग्य और कम त्याग का आग्रह करते हैं, और इसके लिये योगशास्त्र की सहायता लेकर चित्तवृत्ति निरोध के लिए कहते हैं जो आयास साध्य है। पुराणो का भक्तिमाग दमन की अपेक्षा उन्नयन का माग दिखाता है भगवान के प्रति

दष्टिबोध को बनाये रखना। ऐसा दृष्टिबोध योग किंवा ज्ञान के द्वारा कठिन है। उपासना या भक्ति के द्वारा सुगम हो सकता है।

इस प्रकार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य निष्काम कर्म है। उस कर्म के लिये समुचित भूमिका स्वरूप चेतना या दष्टि के परिष्कार के लिये यज्ञ योग ज्ञान और भक्ति के स्वरूप, सीमा एव उपादेयता की समीक्षा की गई है। यज्ञ तो हुआ टेक्नॉलॅजी, योग की कम, कौशल रहा गया है। ज्ञान से चेतना की विस्तृति तो हो सकती है, परन्तु उसको स्थायित्व विराट की उपासना अर्थात निरन्तर ध्यान से ही मिल सकता है।

इस प्रकार स्वय गीता मे इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे मनुष्य के कतव्यो की, धर्माधर्म की, जीवन मूल्यो की समीक्षा है।

परन्तु गीता मे सबसे विलक्षण बात जो हुई वह यह है कि कृष्ण अपने को भगवान घोषित करते हैं। सव धर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज, अह त्वा सव पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच। "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु, मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मान मत्परायण। अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पयु पासते, तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्। यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा, तत्तदेवाव गच्छ त्व मम तेजोऽशसम्भवम्। अह सर्वस्य प्रभवो, मत्त सव प्रवतते।" इत्यादि वचनों द्वारा कृष्ण अपने को ही भगवान के रूप मे जो घोषित करते हैं, वह आत्मतत्व की काव्यात्मक अभिव्यक्ति स्वरूप प्रतीत होती है। अत उपयुक्त श्लोको मे मैं वाची पदो का अथ 'आत्म' लिया जा सकता है। मैं का अथ व्यक्ति बोधक कृष्ण न होकर आत्मार्थ-बोधक तत्व है। परन्तु उस शैली के काव्यच्छल को भुलाकर कृष्ण जनमानस की चेतना मे वास्तविक देवता के रूप मे प्रतिष्ठित हो गये। काव्यच्छल के कारण कविता की कथावस्तु मात्र अथवाद होती है। इसी से प्रस्थान-त्रयी के भाष्यकार गीता के कृष्णार्जुन प्रसग को अथवाद मात्र मानकर उसके तत्त्ववाद को ही ग्रहण करते हैं। परन्तु सामान्य जनमानस की चेतना मे तत्व सीधे नही पहुच पाता, वह अर्थवाद के द्वारा, उसके आश्रय से ही पहुच पाता है।

पुराणो की दृष्टि चेतना

गीता के समावेश ने जयाख्यान के इतिहास काव्य को सवथा नवीन रूप प्रदान किया। यह तो नही कहा जा सकता कि इससे पुराण नामक नवीन साहित्य विधा का जन्म हुआ, परन्तु यह निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि इसने पुराण विधा को अवश्य ही प्रभावित किया। पुराणो की सम्वाद शैली वेद उपनिषद गीता की सम्वाद शैली से एकदम भिन्न प्रकृति की है। पुराणो के सवाद हमारी दष्टि मे पीढी भेद को सूचित करते हैं। ग्राहक-पीढी के मानसिक स्तर के न्यून हो जाने पर पूववर्ती पीढी के मानसिक स्तर से सम्वाद बनाये रखने के लिए वक्ता उनमे सवाद स्थापित करने का प्रयास करता है। पुराणो का मुख्य प्रयोजन नई पीढियो को पूववर्ती ज्ञान-परम्पराओं का बोध कराना प्रतीत होता है। पीढियों में मानसिक सम्पर्क बनाये रखते हुए ज्ञान-परम्परा को अक्षुण्ण रखना उनका उद्देश्य है। दूसरे शब्दो मे पुराण ऋषि मानसीय बोध को जनमानस तक पहुँचाने का काम करते हैं। जनता मे धम प्रचार की ओर सव प्रथम नागद बौद्धा ने ध्यान दिया था। इसके लिए उन्होने लोक कथाओ का उपयोग करके गाव गाव जाकर धम सभा करते हुए प्रचार किया। उनसे प्रेरणा पाकर पुराण भी नाना प्रकार के आख्यान-उपाख्यान गाथा का आश्रय लेते रहे। पुराणो की कथाओ में इन दृष्ट-श्रुत कल्पित आदि अर्थों का विभेद करना असम्भव है। उन कथाओ म ये सव अभेद्य रूप मे घुल मिल गये हैं—और इस प्रकार उन्होने एक विशेष प्रकार के शिल्प को विकसित किया है। लोकमानसीय अभिप्रायो ने भी इस शिल्प को प्रभावित किया है।

प्रारम्भ में कहा गया है कि बदलते समय के साथ पुराणों ने अपने शिक्षा-तन्त्र में क्रान्तिकारी परिवतन किया था। वास्तव मे कालान्तर मे जैसे जैसे समाज की आत्मनिष्ठा एव आत्मविश्वास क्षीण होता गया, तथा मानवीय कर्तृत्व का ह्रास होता गया, पूव युग के महापुरुषो का कर्तृत्व अतिमानवीय एव देवता-कल्प दिखने लगा। महाभारत के कृष्ण के अलोकसामान्य चरित्र ने सम्भवत ईश्वर की धारणा को अत्यधिक बढावा दिया था। उसके पूर्व राम के वृत्त ने भी मनुष्य के उदात्त चरित्र की कल्पना को प्रेरित किया था। परन्तु ईश्वर की कल्पना को शायद आधार नही दे पाया था। इसलिए ईश्वर की धारणा पुराणो मे आकर एक व्यवस्थित रूप ग्रहण करती है।

मानवीय कर्तृत्व के ह्रास के युगो मे मनुष्य के पुरुषकार का स्थान नियति ले लेती है, कमठता के स्थान पर प्रपत्ति का भाव प्रमुख हो जाता है, मोक्ष के पुरुषाथ के बदले उद्धार की भावना बल पकडने लगती है। इस प्रकार मनुष्य का स्थान ईश्वर ले लेता है, मानव केंद्रित जीवन-दृष्टि के स्थान पर ईश्वर-केंद्रित जीवन दृष्टि प्रमुख हो जाती है, तथा अपौरुषेय वेद-प्रामाण्य के स्थान पर पौरुषेय भगवद्गीता का प्रामाण्य स्वीकार किया जाने लगता है।

भक्ति का प्रकृत क्षेत्र वास्तव मे पुराण ही है। ज्ञानमाग के जवाब मे पुराणा ने भक्ति माग का प्रवर्तन किया। इस काय मे पुराणा ने ज्ञान माग के कुछ तत्वो का अनुकूलन किया, तथा वैदिक कमकाण्ड एव योग-साधना की कतिपय बातो को भी अपना लिया। एक साधना पद्धति के रूप मे पुराणो का भक्ति माग योग यज्ञ एव ज्ञान मार्ग का परवर्ती विकास लक्षित होता है। कारण भक्ति माग मे योग यज्ञ एव ज्ञानमाग के तत्वो का अनुकूलन किया गया है। यथा, यज्ञ कर्म की पूजन-कम म परिणति, योग के यम-नियम-आसन ध्यान आदि की स्वीकृति, तथा ज्ञानमाग के जवाब म नवीन तत्वा की उद्भावना। यथा, दर्शन ग्रथ प्रामाण्य के विषय मे वेद प्रमाण को सर्वोपरि मानते है, तो पुराण वेदो के स्थान पर स्वय भगवान को किंवा भगवद् वचन 'गीता' को प्रमाण मानते हैं, और ऐसा करते हुए वे वेदो को भी गौण बना देते हैं। वेद, ऋषि, ज्ञानी सभी उनके 'भगवान' के सामने विनत दिखाये जाते हैं। दर्शन ग्रन्थ लोकानुभव को गौण प्रमाण मानते हैं, पुराण सिद्धो के स्वानुभव को अधिक प्रामाणिक मानते हैं। दर्शनशास्त्र की तरह पुराण भी गुरु की महिमा स्वीकारते हैं, परन्तु वे गुरु से अधिक सन्तो की महिमा बखानते हैं। दशनशास्त्र सृष्टि के कर्तृत्व के लिए ईश्वर की सम्भावना को सोचते हुए अन्तत निर्गुण ब्रह्म तक पहुचते हैं। परन्तु पुराण सगुण ईश्वर की धारणा को मूल आधार बनाकर उसका एक ओर निगुण ब्रह्म से सम्बन्ध जोडते हैं—जो निगुण है वही सगुण बनता है, तत्वत उनमे कोई अन्तर नही है—दूसरी ओर, निगुण के सगुण अवतार धारण करने के हेतुओ पर विचार करते हुए दुष्ट शिक्षण, शिष्ट रक्षण, धर्म सस्थापन किंवा शाप एव वरदान की पूर्ति आदि की कल्पना करते है। आगे चलकर दुष्ट शिष्ट का हेतु भी छूट जाता है, दुष्टो का नाश तो उनके अपने कम फल से ही होता है, इसके लिए भगवान को अवतार लेन की आवश्यकता नही है। वस्तुत भगवान के अवतार का प्रयोजन है—लीला। लीला-दशन एक विकसित दर्शन है जो सृष्टि की आनन्दपरक व्याख्या करता है। लीला दर्शन भक्ति शास्त्र की उद्भावना है या भागवत पुराण की? दर्शन-शास्त्र मे मोक्ष अज्ञान ग्रथि-नाश है। इससे जीव अपने मूल रूप, साख्य दर्शन के अनुसार साक्षी-चैतन्य रूप को प्राप्त करता है, वेदान्त के अनुसार चिदानन्द रूप को पाता है। यह मोक्षस्थ चिदानन्द रूपता ही पुराणो की वैकुण्ठ कल्पना को जन्म देती है, जो वैदिक स्वग से भी बढकर है। दशनशास्त्र वैराग्य और कर्म-त्याग का आग्रह करते हैं, और इसके लिये योगशास्त्र की सहायता लेकर चित्तवृत्ति निरोध के लिए कहते हैं जो आयास-साध्य है। पुराणो का भक्तिमाग दमन की अपेक्षा उन्नयन का माग दिखाता है भगवान के प्रति

चित्तवृत्तियो को उन्मुख करके सब कर्मों को भगवदर्पण करने के लिए कहता है। इस प्रकार दर्शनशास्त्रों के ज्ञान मार्ग के जवाब मे पुराणो ने भक्तिमार्ग का प्रवर्तन किया था। यज्ञा का खर्चीलापन, योग का निरोध तथा ज्ञानमार्ग का वैराग्य असुकर पाकर सगुण ईश्वर की भक्ति और विग्रह पूजन का प्रतिपादन हुआ। विग्रहार्चा विधान को आगम तन्त्रो मे स्वीकारा गया। विग्रहार्चा भक्ति का प्रायोगिक कमरूप है।

वस्तुत दर्शन और पुराणो की उद्भावनाओं का मूल आधार यह गोचर विश्व और मानव जीवन तथा उसका समाज ही है। जिस प्रकार दर्शन मे ब्रह्म की कल्पना का आधार अगोचर अप्रमेय अनन्त विराट विस्तृत ब्रह्माण्ड है, उसी प्रकार पुराणो की देव और दानव स्वर्ग और नरक यहा तक कि भगवान और उसके अवतार की कल्पना का आधार मनुष्य का जीवन और उसका समाज है। तथा सगुण ईश्वर के रूप गुण की कल्पना का आधार मानव चरित्र और उसके गुण ही हैं। 'कथ विद्यामह त्वा, केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि'—अर्जुन के इस प्रकार पूछने पर कृष्ण ने जिन विभूतियो का कथन किया है, वे प्रकृति तथा प्राणधारियो की असाधारण शक्तिमत्ता के द्योतक हैं। सक्षेप मे, कृष्ण स्वत कहते हैं कि जीवन म जो कुछ ऊर्जस्वित, सत्वसम्पन्न, और श्रीयुक्त दिखाई देता है उसे मेरी ही विभूति अर्थात ईश्वरत्व किवा भगवत्ता समझो। बस, भगवान की कल्पना और उसके रूप निर्माण का मूल आधार प्रकृति मे दृष्ट असाधारण गुण अर्थात विभूतिया हैं।

पौराणिक शिल्प

मध्यकालीन भक्ति साहित्य मे प्रयुक्त शिल्पगत कतिपय अभिप्राय एव रूढिया पुराण-तन्त्र से प्रभावित रही हैं। इस कारण उस साहित्य के रचना-विधान के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र शिल्प विकसित हुआ हैं जिसे पौराणिक शिल्प की सज्ञा दी जा सकती है। अब नीचे इस पौराणिक शिल्प के कतिपय तत्वो का विवेचन किया जा रहा है।

पौराणिक शिल्प के अन्तर्गत मुख्य रूप से निम्न तत्त्व विवेचनीय हैं—

१—सवाद और गीताएँ
२—देवतत्त्व का प्रयोग
३—अवतारवाद
४—उद्धार का अभिप्राय
५—धार्मिक कथा सदर्भ
६—शाप और वरदान

सवाद और गीताएँ —

गीता की शैली पुराणो की एक अत्यधिक प्रतिष्ठित शैली है जो कदाचित उनकी सवाद शैली का ही विकसित रूप है। वैदिक काल के मन्त्र द्रष्टाओ के आप्त वचनो के आधार पर उपनिषद काल म गुरु शिष्य को प्रश्नानुप्रश्न पद्धति से आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा देता था (परिप्रश्नेन उपासितव्यम्)। परन्तु वह तो ज्ञान का आरक्षित मार्ग था जिस पर अधिकारी साधक ही चल सकता था। जन सामान्य के लिए वेदो का विषय जब दुरूह पडने लगा तब पुराणो का आविर्भाव हुआ। परम्परागत मान्यता के अनुसार इतिहास पुराण वस्तुत वैदिक ज्ञान के दृष्टान्त स्वरूप हैं। जन सामान्य के लिए वेदोक्त ज्ञान के विषयो को सुबोध और सुगम बनाने के हेतु पुराणो ने सवाद शैली

अपनायी। इससे श्रोताओ की शकाओ और जिज्ञासाओ के समाधानार्थ कथावाचक व्यास शैली मे नाना प्रकार के दृष्टान्तों और आख्यायिकाओ के माध्यम से वेदोक्त ज्ञान की शिक्षा दिया करते थे। दृष्टांत कथाओ के अतिरिक्त आप्त वचनो को उद्धृत करते हुए अपनी शिक्षा को प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया जाता था। इस प्रकार एक ओर आप्त वचन शिक्षा को प्रामाणिकता प्रदान करते थे, और दूसरी ओर दृष्टात कथा-रोचकता।

रामचरित मानस म तुलसीदास ने लोकशिक्षा के लिए इसी शैली को अपनाते हुए सवाद चतुष्टय की योजना की है। यह योजना एक ओर शिक्षा की शैली और विषयगत परम्परा को स्पष्ट करती है और दूसरी ओर उसकी प्रामाणिकता को। मानस की शिक्षा का विषय परम्परागत सनातन धर्म ही है। इसका मानो आप्तता authenticity प्रदान करने के लिए भगवान महादेव के आप्त वचनो को, ऋषिवर्य याज्ञवल्क्य के ज्ञान को, और भक्त प्रवर काकभुशुण्डी के स्वानुभव को आधार बनाया है। तुलसीदास अपने श्रोतृवर्ग के सामने उसी परम्परागत और आप्त धर्म का प्रवचन कर रहे थे।

इन चार प्रकार के सवादो के अतिरिक्त मानस मे तुलसीदासजी ने हमारी दृष्टि मे एक और उच्चतम कोटि की सवाद योजना की है जिसका महत्व कदाचित आका नही गया है। वह है भक्त और भगवान के बीच प्रत्यक्ष सवाद। इस कोटि का सवाद प्रतिपाद्य विषय को वह आप्तता प्रदान करता है जो शिवजी के वचनो से भी अधिक प्रामाणिक है। जिसके सबध म सब लोग चर्चा करते हैं जब वह स्वय ही सम्मुख आकर उसे क्या प्रिय है और क्या अप्रिय इसको बतलाता है तो भला उससे बढकर प्रामाणिक और क्या होगा? ये ही भगवद्गीताए कहलाती हैं।

गीता का नाम लेते ही महाभारतोक्त भगवदगीता ही ध्यान मे आती है। वेदोक्त ज्ञान के प्रतिपादन की परम्परा मे भगवदगीता की शैली एक विशेष और अत्यत महत्वपूर्ण स्थान रखती है जो उस ज्ञानकी आप्तता को मानो आत्यतिकता प्रदान करती है। जिस सत्य के अन्वेषण और उपलब्धि के लिए वैदिक काल से लेकर योगी योग की पद्धति से, ज्ञानी तक की पद्धति से, भक्त उपासना की पद्धति से, याज्ञिक यज्ञो की पद्धति से नानाविध साधनाए करते आये हैं, तथा अपने अन्वेषित एव उपलब्धिभूत सत्य का प्रवचन नाना भाति से करते आये हैं, तथापि जिसकी प्रामाणिकता विवाद्य रहती आयी, उसीकी आप्तता को मानो आत्यन्तिकता प्रदान करने के हेतु भारतीय साधना के इतिहास के एक विशिष्ट मोड पर भगवद्गीता की शैली का आविर्भाव हुआ था। सर्वविध साधनाओ के द्वारा जो अन्वेष्य है, उस सत्य से साक्षात्कार की अभिव्यक्ति का एक प्रकार ही यह भगवद्गीता की शैली है, जिसमे वह "सत्य" स्वय मनुष्य की अतरात्मा के साथ मानो प्रत्यक्ष सवाद करने लगता है। महाभारतोक्त गीता के बाद परवर्ती काल मे पुराणो ने गीता की इस शैली का अत्यधिक प्रयोग किया था। कृष्ण गीता के अतिरिक्त राम गीता, शिव गीता, अवधूत गीता, भुशुण्डी गीता आदि इसके प्रमाण हैं। डा० बल्देव प्रसाद मिश्र ने अपने 'तुलसीदर्शन' मे रामचरितमानस मे प्रयुक्त कुल बाईस गीताओ की विस्तृत सूची प्रस्तुत की है।

देवतत्व का प्रयोग —

पुराणो मे देवता प्राय मनुष्य की सात्विकता के प्रतीक रूप मे प्रयुक्त होते रहे हैं। इसी प्रकार उधर मनुष्य की तामसिकता के प्रतीक हैं दानव किंवा राक्षस। राक्षसो का उपद्रव समाज विरोधियो

दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करती है। इसके प्रतिकार के लिए सत् प्रवृत्ति के पोषण की सब समय आवश्यकता बनी रहती है। सत प्रवृत्ति का मूल आधार वास्तव मे मनुष्य की जिजीविषा ही है जो समाज के अवचेतन मे उसकी रक्षाकाक्षा के रूप मे कार्यशील रहती है। भगवान के अवतार के लिए देवताओ की प्रार्थना वास्तव मे समाज की रक्षाकाक्षा की पुकार urge ही है। समाज की इस माग या पुकार के परिपोषण के लिए ही पुराणो का, और परवर्ती कालो म सतो का, सबसे बडा योगदान रहा है। मानव समाज बना रहे यह आकाक्षा जब तक और जितनी बलवती होगी तब तक उसकी यह आकाक्षा ही उसमे इसके प्रति आस्था भी पैदा करेगी और इसका पोषण भी। हम रहे की आकाक्षा ही हम रह सकते हैं की आस्था को ज म देती है और उसका पोषण भी करती है।

पीछे कहा जा चुका है कि देवता और दानव प्राय समाज की सात्विकता और तामसिकता के प्रतीक रूप मे गृहीत किये जाते रहे हैं। जब मनुष्यो की चेतना उनकी तामसिकता से अभिभूत होकर *विकृत एव कु ठित हो जाती है, और इस कारण समाज का सतुलन बिगड कर उसके विकास का मार्ग* अवरुद्ध होने लगता है, तब मनुष्यो की जिजीविषा के उज्जीवन द्वारा उनकी सात्विकता को मानो शाणित करने के लिए पुराणो (और कवियो) द्वारा अवतारवादी धारणा का प्रयोग किया जाता है। महाकवि निराला ने तुलसीदास की लोको मुख प्रतिभा के जागृत होने के फलस्वरूप समाज के अवचेतन म होनेवाले सात्विक एव तामसिक प्रवृत्तियो के द्वन्द्व प समर का मनोवैज्ञानिक अतद् ष्टि से, बडा ही सटीक चित्रण किया है। समाज की माँग किंवा प्रेरणा स्वरूप उसी समाज मे उदयिष्यमान ज्योतिपुँजो के प्रति समाज का विश्वास ही 'यदा यदा हि धर्मस्य" के गीताश्वासन मे प्रतिफलित हुआ है, और समाज के अवचेतन मे निहित यही विश्वास अवतारवादी धारणा को ज म देता है।

५—उद्धार का अभिप्राय —

दर्शन के क्षेत्र की मोक्ष की धारणा पुराणो मे आकर उद्धार के अभिप्राय के रूप मे परिणत हुई है। उद्धार का अभिप्राय यह है कि अवतारी भगवान की शरण मे जाने पर भगवान स्वत भक्तो को मोक्ष देते हैं। ज्ञानी ज्ञान के बल पर मोक्ष पाता है, परन्तु भक्त भगवान का कृपापात्र बनकर ही उद्धार पाता है। उद्धार के अधिकारी सब हो सकते हैं। शर्त सिर्फ इतनी है कि किसी भी भाव से—विरोध भाव से भी क्यो न हो—भगवान से जुड जाना काफी है। इसलिए भक्तलोग भगवान के अवतार कार्यों का वर्णन करते समय दुष्टो के भी अवचेतन मे भक्ति भाव के अतलहर undercurrent का वर्णन करते हैं।

महाकवि तुलसीदास की अतदर्शी प्रतिभा ने इस विषय का बडा ही सटीक एव मार्मिक वर्णन किया है। उनका रावण सोचता है—

होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मत्र दृढ एहा।

इसलिए

सुर रजन, भजन महि भारा। जौ भगवत लीन्ह अवतारा।
तौ मैं जाइ बयरु हठि करऊ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊ॥

इसी प्रकार *मारीच भी सोचता है कि अगर रावण की आज्ञा न मानू तो वह मेरा वध कर* देगा। अगर मरना ही है तो—क्स न मरौ रघुपति सर लागें। कारण जिसके क्रोध का पात्र बनकर मनुष्य निर्वाण पाता है उसकी भक्ति करके (भगवान का कृपापात्र बनकर) तो उसको वशीभूत ही किया जा सकता है—

के उपद्रव का सूचक होता है, तो देवताओ की आकाक्षा या प्रसन्नता समाज की आकाक्षा या प्रसन्नता का सूचक है। इस प्रकार मुख्यत समाज की चित्तवृत्ति या भावनाओ की सूचना देने के लिए पुराणों मे देवतत्व का प्रयोग एक शिल्प के रूप मे पाया जाता है। तभी तो रामचरित मानस मे राम के सामाजिक मगल के कार्यो के अवसर पर देवता फूल बरसाते हैं, दु दुभी बजाते हैं, नाच-गान द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। शिष्ट-रक्षण और दुष्ट शिक्षण के द्वारा धमसस्थापन का काय वस्तुत लोक मगल का काय है, और यह लोक मानस को हृष देने वाला होने के कारण इस काय को लाक्षणिक रूप मे देवताओ का ही कार्य कहा जाता है। देवताओ का पीडित और त्रस्त होना वस्तुत लोक मानस की पीडा और त्रास का ही सूचक है। दूसरी ओर राक्षस मनुष्य के तामस रूप के प्रतीक हैं। तुलसीदास जी ने राक्षस किंवा निशाचर शब्द का प्रयोग इस अथ म किया भी है। इस दृष्टि से पुराणोक्त देवासुर आख्यायिकाओ की व्याख्या विद्वानो ने की है।

मानस मे मुख्य रूप से तीन प्रकार के अवसरो पर देवतत्त्व का प्रयोग हुआ है—

१— राम की भगवत्ता किंवा ब्रह्मत्व के प्रदर्शन के अवसर पर अर्थात लीला प्रसगो मे।

२— भक्ति की महिमा प्रदर्शन के अवसर पर

३— पुरुषोत्तम राम के शील और सौ दय प्रदर्शन के अवसर पर।

इन सभी अवसरा पर सामान्य रूप से तो देवताओ द्वारा पुष्पवृष्टि करायी गयी है, परन्तु पहले दो अवसरो पर देवताओ द्वारा स्तुति भी करायी गयी है। ब्रह्मत्व किंवा लीला बोध का अवसर तथा भक्ति का अवसर दोनो ही असाधारण अनुभूति के प्रसग हैं। इन प्रसगो मे मनुष्य का गदगद होकर अभिभूत हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे ही क्षणो मे भगवान की महिमा तथा अपनी ध यता किंवा कृतज्ञता सूचक जो स्वत स्फूत वाणी मनुष्य के कण्ठ से फूट पडती है वही स्तुति है। इसीसे मानस मे उपयु क्त प्रसगो मे मनुष्य की ध यता की अनुभूति तथा भगवान के महिमा बोध की अभिव्यक्ति देवताओ की स्तुति के द्वारा की गई है।

राम की भगवत्ता का प्रदर्शन प्राय दुष्ट-शिक्षण के अवसर पर होता है। इस दुष्ट शिष्ट परक लोक मगल के कार्यो के अतिरिक्त तुलसीदास ने मानवीय चरित्र की उदात्तता के प्रसग म भी देवतत्त्व का प्रयोग किया है, जो वास्तव मे काव्य की दृष्टि से अत्य त भव्य बन पडा है। ऐसा प्रयोग अधिकतर अयोध्याकाड मे भरत के प्रसग मे देखा जा सकता है। भरत के चरित्र की उदात्तता के हर प्रसग के उदघाटन के अवसर पर देवताओ द्वारा पुष्पवष्टि करायी गई है।

अवतारवाद —

अवतारवाद का विषय जरा बडा है। वस्तुत यह एक स्वत त्र अध्ययन का विषय है। इसमें अनेक ऐतिहासिक सामाजिक मनोवैज्ञानिक तत्त्व गु थे हुए हैं। उन सबका विवेचन प्रस्तुत करना अध्ययन की सीमा के बाहर है। सम्प्रति, पुराणो द्वारा उनके जटिल रचना विधान के अ तगत एक त त्र के रूप मे इस तत्त्व का कैसे उपयोग किया गया है इस पर प्रमुखत सामाजिक दृष्टि से किंचित विचार करने का प्रयास किया जाता है।

मनुष्यो मे अच्छे और बुरे गुण, जीवन की पोषक एव विघातक प्रवृत्ति, सब समय रहती है। वस्तुत इनका सघष ही जीवन विकास का मूल प्रेरक होता है। इसीको पुराणो मे सत एवं असत् के सघष का नाम दिया गया है। इस ससार मे असत अर्थात् जीवन की विघातक प्रवत्ति प्राय

दुदमनीय शक्ति प्राप्त करती है। इसके प्रतिकार के लिए सत प्रवृत्ति के पोषण की सब समय आवश्यकता बनी रहती है। सत प्रवत्ति का मूल आधार वास्तव मे मनुष्य की जिजीविषा ही है जो समाज के अवचेतन में उसकी रक्षाकाक्षा के रूप मे कायशील रहती है। भगवान के अवतार के लिए देवताओ की प्राथना वास्तव मे समाज की रक्षाकाक्षा की पुकार urge ही है। समाज की इस माग या पुकार के परिपोषण के लिए ही पुराणो का, और परवर्ती कालो म सतो का, सबसे बडा योगदान रहा है। मानव समाज बना रहे यह आकाक्षा जब तक और जितनी बलवती होगी तब तक उसकी यह आकाक्षा ही उसमे इसके प्रति आस्था भी पैदा करेगी और इसका पोषण भी। हम रहे की आकाक्षा ही हम रह सकते हैं की आस्था को जन्म देती है और उसका पोषण भी करती है।

पीछे कहा जा चुका है कि देवता और दानव प्राय समाज की सात्विकता और तामसिकता के प्रतीक रूप में गृहीत किये जाते रहे हैं। जब मनुष्यो की चेतना उनकी तामसिकता से अभिभूत होकर विकृत एव कुठित हो जाती है, और इस कारण समाज का सतुलन बिगड कर उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध होने लगता है, तब मनुष्यो की जिजीविषा के उज्जीवन द्वारा उनकी सात्विकता को मानो शाणित करने के लिए पुराणो (और कवियो) द्वारा अवतारवादी धारणा का प्रयोग किया जाता है। महाकवि निराला ने तुलसीदास की लोकोन्मुख प्रतिभा के जागृत होने के फलस्वरूप समाज के अवचेतन मे होनेवाले सात्विक एव तामसिक प्रवत्तियो के दुद्धष समर का मनोवैज्ञानिक अतदृष्टि से, बडा ही सटीक चित्रण किया है। समाज की माँग किंवा प्रेरणा स्वरूप उसी समाज मे उदयिष्यमान ज्योतिपुंजो के प्रति समाज का विश्वास ही 'यदा यदा हि धमस्य" के गीताश्वासन मे प्रतिफलित हुआ है और समाज के अवचेतन मे निहित यही विश्वास अवतारवादी धारणा को जन्म दता है।

५—उद्धार का अभिप्राय —

दर्शन के क्षेत्र की मोक्ष की धारणा पुराणो म आकर उद्धार के अभिप्राय के रूप मे परिणत हुई है। उद्धार का अभिप्राय यह है कि अवतारी भगवान की शरण मे जाने पर भगवान स्वत भक्तो को मोक्ष देते हैं। ज्ञानी ज्ञान के बल पर मोक्ष पाता है, परन्तु भक्त भगवान का कृपापात्र बनकर ही उद्धार पाता है। उद्धार के अधिकारी सब हो सकते हैं। शत सिफ इतनी है कि किसी भी भाव से—विरोध भाव से भी क्यो न हो—भगवान से जुड जाना काफी है। इसलिए भक्तलोग भगवान के अवतार कार्यों का वर्णन करते समय दुष्टो के भी अवचेतन मे भक्ति भाव के अतलहर undercurrent का वर्णन करते हैं।

महाकवि तुलसीदास की अतदर्शी प्रतिभा ने इस विषय का बडा ही सटीक एव मार्मिक वर्णन किया है। उनका रावण सोचता है—

होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम वचन मत्र दृढ एहा।

इसलिए

सुर रजन, भजन महि भारा। जौ भगवत लीन्ह अवतारा।
तौ मैं जाइ बयरु हठि करऊ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊ॥

इसी प्रकार मारीच भी सोचता है कि अगर रावण की आज्ञा न मानू तो वह मेरा वध कर देगा। अगर मरना ही है तो—क्स न मरौ रघुपति सर लागें। कारण जिसके क्रोध का पात्र बनकर मनुष्य निर्वाण पाता है उसकी भक्ति करके (भगवान का कृपापात्र बनकर) तो उसको वशीभूत ही किया जा सकता है—

निर्वान दायक क्रोध जाकर भगति अवसहि बसकरी।

तुलसीदास ने उद्धार के अभिप्राय का प्रयोग करते हुए राम के द्वारा खरदूषण मारीच रावणादि राक्षस ही नहीं अपितु जटायु जैसा पक्षी तथा अहल्या जैसी जड़ीभूत नारी के भी उद्धार का वर्णन किया है। राक्षस तो फिर भी तमोगुण प्रधान मनुष्य ही हैं, और मनुष्य होने के कारण उनके अवचेतन मे कहीं न कहीं भक्ति भाव की सभावना भक्त लोग देख लेते हैं। परन्तु मानव योनि से अवर कोटि के जटायु जैसे पक्षी ही नहीं अपितु स्वत मानव समाज मे किन्ही कारणो से जड़वत बने हुए नारी वर्ग के लिए तो सिवा भगवान के अनुग्रह के कोई चारा नहीं है। उनको तो केवल पड़े रहना है, प्रतीक्षा करनी है कि किसी समय करुणामय भगवान स्वत अनुग्रह करके उनका उद्धार कर दें। राम के तेजस्वी स्पर्श से अहल्या जाड्य-मुक्त हो गई थी।

उपर्युक्त सभी उदाहरणो मे उद्धार का अर्थ यही है कि राक्षसो की तामसता और अहल्या की जड़ता दूर होकर उनमे भागवत चेतना का उदय हो गया था। मनुष्य ही क्या भक्तलोग तो पशु पक्षी और कीटपतगादि मे भी ईश्वराश देखकर भगवान के दिव्य चैतन्य के स्पर्श से उनके भी पशुत्व से मुक्त होने की सभावना का वर्णन करते हैं। जटायु का उद्धार ऐसा ही है।

रावणादि राक्षस तथा जटायु का उद्धार तो देहमुक्ति है। परन्तु अहल्या का उद्धार ऐसा नहीं है। वह जीते जी चेतना के परिवर्तन का उदाहरण है। इससे स्पष्ट है कि उद्धार वास्तव मे चेतना के परिवर्तन का नाम है। चेतना का यह उदात्तीकरण जीते जी होना वाछनीय है। राक्षस वे व्यक्ति हैं जिनका सुधार किसी भी उपाय से नहीं हो सकता। तब वध ही एकमात्र उपाय है। आस्तिक भक्त मृत्यु के समय उनमे उदात्त भावना के आविर्भाव की सभावना देखते हैं।

मृत्यु देहधर्म है। परन्तु मोक्ष का सबध चेतना से है। इसीसे चेतना की अज्ञानमुक्ति को ही मोक्ष कहा गया है। अज्ञाननाश के कारण चेतना का तटस्थ द्रष्टात्व किंवा साक्षी भाव को प्राप्त करना ही मोक्ष है।

उद्धार अर्थात चेतना के परिष्कार एव उदात्तीकरण करनेवाले की क्षमता पर विश्वास उत्पन्न करने के लिए पुराणो मे माहात्म्य वर्णन की प्रणाली अपनायी जाती है। इसीसे तुलसी ने मानस के प्रस्तावना भाग मे गुरु कृपा, सत व सत्सगति, नाम, रामकथा, तीर्थ, भक्ति, तथा स्वय राम की महिमा का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

५—धार्मिक कथा सदर्भ —

पुराणो मे बहुत से उपाख्यान ऐसे है जो मानवीय चरित्र के किसी एक ही गुण विशेष की उदात्तता किंवा अनुदात्तता का दृष्टात प्रस्तुत करते हैं। यथा, शिवि दधीचि हरिश्चन्द्र बलि आदि की कथा सत्यसधता का, परशुराम, ययाति, श्रवण कुमार की कथा पितृ भक्ति का, गालव और नहुष की कथा हठधर्मिता का, कद्रू और विनता की कथा सौतिया डाह का, चद्रमा और राजा वेन की कथा चरित्रहीनता का, सहस्रबाहु इद्र और त्रिशकु की कथा राजमद का, ध्रुव, अजामिल, प्रहलाद, गणिका अम्बरीष आदि की कथाएँ आदर्श भक्ता का दृष्टात प्रस्तुत करती हैं। बहुत लबे समय से चली आती हुई य कथाए भारतीय समाज के तत्तद विषयक सस्कारो का बराबर पोषण करती आयी हैं। इसीसे मध्यकालीन कवि जनता के धार्मिक सस्कारो को उद्दीप्त करने के लिए इन कथाओ का उपयोग करते रहे हैं।

६—शाप और वरदान —

मनुष्य के सुख-दुख परक भोग को उसके कर्मों के साथ जोडकर पुराणो ने एक कम सिद्धान्त विकसित किया था जिसके अनुसार मनुष्य को अपने शुभाशुभ कर्मो का फल अवश्य भोगना पडता है—, चाहे इसके लिए उसको जन्मातरो मे क्यो न जाना पडे। यह सिद्धान्त धार्मिक कथाओ मे शाप और वरदान के अभिप्राय के रूप मे परिणत होता है। जीवन की साधारण घटनाएँ तो मनुष्य के कर्मो का स्वाभाविक परिणाम होती हैं, परन्तु असाधारण अनपेक्षित और अतर्क्य घटनाओ का किन्ही दैवी कारणो से सम्बद्ध किया जाता है। यही शाप और वरदान के मूल मे निहित धारणा है। भगवान का अवतार भी चूँकि एक असाधारण घटना है अत वह भी किसी न किसी शाप या वरदान का परिणाम होता है।

किसी दैवी शक्ति के शाप या वरदान के फलस्वरूप होनेवाली असाधारण घटनाओ की सभावना का विश्वास लोकमानस मे सुदीर्घ काल से चला आ रहा है। लोक मानस के अवचेतन मे निहित इसी लोक विश्वास की शक्ति को तुलसीदास राम के अवतार के लिए उद्दीप्त invoke करने की कोशिश करते हैं। मानस के बालकाड में उल्लिखित चार हेतुकथाओ को इसी दृष्टि से देखना चाहिए। उनमे से दो शाप की कथाएँ हैं और दो वरदान की। कहना न होगा कि किसी दैवी शक्ति के शाप और वरदान के फलस्वरूप होनेवाले रामावतार की सभावना या अवश्यभाविता का विश्वास उत्पन्न करना इन हेतुकथाओ के मूल मे है। उस युग के दैन्यापहृत मानस का उद्धार किसी दैवी चमत्कार से ही हो सकता था। राम का अवतार इसी प्रकार था, एक चमत्कारी परन्तु अवश्यभावी घटना।

इस प्रसग मे एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। शाप और वरदान के अभिप्रायो से यह पता चलता है कि ईश्वरावतार की आवश्यकता लोक चेतना की (प्राय अज्ञात) प्रबल माग होती है। इस माग मे एक प्रकार की "योग्यता" का भाव अंतर्निहित होता है। अपनी माँग को फलवती बनाने के लिए उसको सिद्ध करना किंवा उसके लिए अपनी योग्यता को दिखाना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दो मे शाप और वरदान की घटना मनुष्यो के शुभाशुभ कर्मों का परिणाम होती है।। इससे सिद्ध है कि ईश्वरावतार की घटना भी मनुष्या के कर्मो का ही परिणाम है।

उपसहार —

ऊपर हमने मध्यकालीन भक्ति साहित्य मे पौराणिक शिल्प के प्रयोग की बात कही थी। इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जिस भागवत पुराण के अनुसरण पर सूरसागर की रचना हुई है उसके पौराणिक रूप की छाप सूरसागर पर भी अवश्य पडी है। तथापि श्रीमद भागवत और सूरसागर मे यत्र तत्र पौराणिक शिल्प का प्रयोग होने पर भी दोनो की भावभूमि रामचरितमानस की भाति पुराण तत्र से परिबद्ध नही है। भागवत और सूरसागर भिन्न स्तर की रचनाएँ हैं। उनमे 'लीला' की भावभूमि अत्यन्त गहन एव गूढ कोटि की है। इसी प्रकार कबीरदास प्रभृत्ति सतो की भावभूमि भी पौराणिक शिल्प द्वारा आख्यायित नही हो सकती। अद्वैतता की अनुभूति ही नितात एकातिक एव परम गुह्य कोटि की होती है। वहा ता भर्तृहरि के शब्दो मे स्वानुभूति ही एकमात्र प्रमाण होती है—स्वानुभूत्येकमानाय।

साराश यह कि मध्यकालीन भक्तिसाहित्य म अकेले रामचरितमानस मे ही पुराण तत्र का पूर्ण एव सफल प्रयोग हुआ है। ●

तन्त्र-रहस्य

डा० मारुतिनन्दन पाठक

तन्त्र भारतीय संस्कृति और साधना मे इस प्रकार और इतना अधिक व्याप्त है कि प्रकट रूप भिन्न दिखाई पडने पर भी अन्तर्धारा में उसका प्रभाव पर्याप्त है। इसकी व्यापकता और प्रभावशालिता का मुख्य कारण इसकी वैज्ञानिकता है। इसका शाब्दिक अर्थ भी वैज्ञानिकता से जुड़ा हुआ है। तन्त्र शब्द तन धातु से बना है जिसका अर्थ है विस्तार करना। इस प्रकार तन्त्र का अर्थ होता है—तनोति विस्तारयति ज्ञान येन तत् तन्त्रम अथवा तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्। तन्त्र मे तन् के साथ त्रै धातु का भी योग है। इससे रक्षा करने का अर्थ जुड जाता है। तब इसका अर्थ होगा, यह विविध अर्थों को प्रदान करता हुआ साधकों की सतत रक्षा करता है, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों तापों से त्राण दिलाता है, भय से मुक्त करता है। तन्त्रशास्त्र मे इसका अर्थ निर्देश किया गया है—

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्र समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

इसकी विशिष्टता से प्रभावित होकर प्राचीन काल मे शास्त्र और विज्ञान को तन्त्र कहा जाता था। इसी कारण न्याय, सांख्य और योगशास्त्र को तन्त्र शब्द से भी अभिहित किया गया है। आयुर्वेद के अन्तर्गत शल्य तन्त्र, शालाक्यतन्त्र इसी अनुकृति पर रखे गये नाम है। सिद्धान्त और अनुष्ठान के लिए भी इस शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। धर्मशास्त्र भी इससे वंचित न रह सका। इस प्रकार प्राचीन काल में इसकी वैज्ञानिकता और उत्कृष्टता का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है।

किन्तु यहाँ तन्त्र शब्द से एक साधना पद्धति विशेष, एक दर्शन विशेष अर्थ अभिप्रेय है और यही अर्थ प्राचीनकाल से अभीष्ट भी रहा है। तन्त्र का एक नाम आगम है और आगम उतना ही महत्वपूर्ण तथा प्रचलित नाम है जितना तन्त्र। यामल मे आगम का अर्थ किया गया है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥

पूरा तन्त्र शास्त्र शिव पार्वती संवाद रूप में हैं। शिव वक्ता हैं, पार्वती श्रोता हैं। कहीं पार्वती वक्ता हैं शिव श्रोता हैं। इसकी भी अपौरुषेय मान्यता की ओर यह संकेत है।

वाराही तन्त्र मे आगम का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि तत्वज्ञानी आप्त पुरुषों द्वारा उपदिष्ट लोक एवं परलोक में हितकर, प्रमाणसिद्ध शास्त्र आगम कहलाता है। इसके सात लक्षण हैं। इसमें सृष्टि, प्रलय देवतार्चन सभी मन्त्रों के साधन और पुरश्चरण षटकर्म साधन और ध्यानयोग का निरूपण किया गया है।

सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगमं शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः॥

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम् ।
साधन चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्म साधन चैव ध्यानयोगश्चतुर्विध ।
सप्तभिलक्षणैर्युक्तमागम त विदुर्बुधा ॥

आगम का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनि श्रेय सोपाया स आगम ।

वस्तुत वेद और तन्त्र का उद्देश्य समान है । नि श्रेयस की प्राप्ति दोनो वाह्यत प्रवृत्तिमूलक है क्योकि दोनो की दृष्टि मे ससार त्याज्य नही है । निवृत्ति तो प्रवृत्ति की पूर्णता और तृप्ति का परिणाम है । यह जगत् चित शक्ति का ही विलास है—एक प्रकट रूप है, इसलिए तन्त्र जगत को हेय नही माना गया है ।

गौडपादाचार्य ने श्री विद्यारत्नसूत्र मे लिखा है—'चैतन्यस्वरूपा चिच्छक्ति । चैतन्यस्वरूपा चित शक्ति ही सर्वव्यापक ब्रह्म तत्त्व है । इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शकरारण्य मुनि ने कहा है कि यही ब्रह्म-रूपा हैं और आनन्द रूपा भी ।—'चैतन्यस्य ब्रह्मण स्वरूपा चित शक्ति सामर्थ्यम । सैषाऽऽनन्दस्य मीमासा भवति । आनन्दस्य ब्रह्मण स्वरूपा चित मीमासा तेजोमय स्वरूपत्वेन विचारिता भवतीति वाक्यस्याऽभिप्राय ।'

वेद और तन्त्र के मूल विचार और दृष्टिकोण म कोई मौलिक भेद नही है । कुलार्णव तन्त्र स्पष्ट कहता है—वेदात्मक शास्त्र विद्धि कौलात्मकम् । कुल्लूक भट्ट न दोनो का समान महत्त्व स्वीकार किया है—वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुति कीर्तिता ।

श्रीमदभागवतकार ने वैदिकी और तान्त्रिकी दोनो दीक्षा की चर्चा की है और दोनो का महत्व स्वीकार किया है । दोनो मे कोई विरोध नही था अपितु एक ही लक्ष्य के दोनो साधक थे । श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध मे कहा गया है कि दोनो प्रकार की दीक्षा ग्रहण की जानी चाहिए ।

यात्रा बलिविधान च सर्ववार्षिक पर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥

(स्कन्ध ११, अध्याय-११ श्लोक ३७)

श्रीमदभागवत म ही आराधना की तीन विधियां बतलाई गई हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र । इन्ही तीन विधियो से आराधना करनी चाहिए ।

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मख ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥

(११-११ ७)

अधिकाश पारम्परिक विद्वान कुछ तन्त्रो को वेद सम्मत और कुछ तन्त्रो को वेद बाह्य मानते हैं । जब से वेद को स्वत प्रमाण मानकर उसके आधार पर आगे के दर्शन शास्त्रो की व्याख्या की जाने लगी तब से वेद-सम्मत या असम्मत मानने की प्रवृत्ति प्रबल होती गई । जो सम्मत है वह ग्राह्य है और जो असम्मत है, त्याज्य है । यह प्रवृत्ति भी, बाद म जब सम्प्रदाय बन गए और उसका बन्धन कठोर होता गया, दिखाई पडती है ।

यदि वस्तुगत ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो तन्त्र का अस्तित्व वेदो से भी पहले से है । वेदो की रचना से पूर्व, यहाँ तक कि आर्यो के भारत आगमन से भी पूर्व भारत मे तन्त्र था और यह भारत के भिन्न भिन्न भागो के अतिरिक्त समीप के अनेक देशो मे भी फैला था । यह कहना कठिन है कि उस समय इसका वैसा ही स्वरूप था जैसा उपलब्ध ग्रन्थो मे मिलता है । वैसा नही था, किन्तु मूल स्वरूप और आधार

वही थे जिन पर आगे चलकर विभिन्न कालो मे विविध रूपा मे इसका विकास हुआ। वेद सम्मत होने की बात तो एक तरफ, वेदो पर इसका प्रभाव पडा है जिसे पहचाना जा सकता है।

गम्भीर अनुसन्धान मे रुचि रखने वाले अधिकाश विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि तान्त्रिक साधना की उपस्थिति यहाँ वेदो के पूर्व व्यापक रूप मे थी। पूरा तन्त्र शास्त्र शिव और शक्ति के इद गिद घूमता है और प्राय वही दोना श्रोता और वक्ता के रूप मे हैं। प्राक् वैदिक काल मे शिव और शक्ति की पूजा होती थी, यह प्रमाणित हो चुका है। उस काल की यौगिक मुद्रा मे मिली शिव की प्रतिमा से यह प्रमाण और पुष्ट होता है। वेद के इतने समीप या उसके बीच से गुजरने के बाद भी इसका स्वरूप या पहचान पृथक रूप मे बनी रही है।

तन्त्र-दर्शन की सबसे बडी विशेषता है शक्ति को परम तत्त्व के रूप मे मान्यता—त्वमेका परब्रह्म रूपेण सिद्धा। यह तत्त्व वेद म भी देखा जा सकता है। तन्त्रो मे शक्ति की जो रूप कल्पना की गई है वह नारी की है। दार्शनिक विवेचन से हटकर केवल सामाजिक मनोविज्ञान की दष्टि से देखा जाए तो मातृ सत्तात्मक गरिमा की झलक मिलती है जो प्राग्वैदिक है और कुछ दूर तक वैदिक कालीन भी है।

जो ऋषि और ऋषिका वेदो मे हैं और वैदिक ऋचाओ के द्रष्टा हैं, प्राय वे तन्त्र ग्रन्थो के उल्लेख के अनुसार, शक्ति के, किसी महाविद्या के या किसी पद्धति विशेष के स्तरीय साधक रहे हैं। तान्त्रिक मत्रों के साक्षात्कार करने वाले भी हुए हैं। वसिष्ठ तारा के बहुत बडे उपासक थे। लोपामुद्रा, अगस्त्य, दुर्वासा आदि श्री विद्या के प्रख्यात साधक थे। ऐसे अनेको नाम हैं जिनकी सख्या गिनाने की यहाँ आवश्यकता नही है। किन्तु, केवल एक झलक से अनुमान के लिये और वैदिककाल के ऋषियो तथा देवताओ से जुडाव को समझने के लिए सिफ श्रीविद्या के कुछ उपासको के नाम जो श्रीविद्यार्णव तत्र मे उल्लिखित है, द्रष्टव्य हैं—

मनुश्चन्द्र कुबेरश्च लोपामुद्रा च कामराट्
अगस्त्यनन्दि सूर्याश्च विष्णुस्कन्दशिवास्तथा।
दुर्वासाश्च महादेव्या द्वादशोपासका स्मृता
शक्रश्चचोमर्ना चैव तथा च वरुणस्तत।
धमराजोऽनलो नागराजो वायुर्बुधस्तथा
ईशानश्च रतिश्चैव तथा नारायणोऽपि च।
ब्रह्मा जीवो महादेव्यास्त्रयोदश उपासका
पन्चविंशति सख्योपासकाना महेश्वरि।

इसी प्रकार विभिन्न महाविद्याओ और विविध पद्धति विशेषो के उपासको तथा विविध मन्त्रों के साक्षात्कार करने वाले ऋषियो एव देवताओ के अनेक नाम निकल आएँगे। यास्क कहते हैं—'साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवु। ते अवरभ्य असाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु।' अर्थात् ऋषि धर्म (ज्ञान) का साक्षात्कार किए हुए थे। उन्होने धर्म साक्षात्कार न किए हुए अन्य लोगो को उपदेश के द्वारा मन्त्र दिए। यही क्रम तन्त्र का है। 'ऋषय मन्त्र-द्रष्टार' माना जाता है।

अनेक वैदिक ऋचाएँ शक्ति तत्त्व और इस साधना की ओर सकेत करती हैं। विद्युत का प्रयोग बहुत महिमापूर्ण रूप मे हुआ है। यह शक्ति का प्रतीक है। वैदिक ग्रन्थो मे इसके अथ भिन्न भिन्न रूप म किये गए हैं। तैत्तिरीय म कहा गया है—'शक्ति तान् देवान् विद्युतपाप्न सकाशाद वियोगितवान यद विद्युत। अर्थात देवताओ को पापा से छुडाने के कारण उसका नाम विद्युत् हुआ। शतपथ कहता है—

'विदयुत ब्रह्मेत्याहु '—विद्युत ही ब्रह्म है। शतपथ मे ही आया है—'विदयुद् वाऽशनि'—विद्युत वज्र है। यजुर्वेद मे—विद्युद् वाऽपा ज्योति —विदयुत् ही जल की ज्योति हैं। ऐतरेय मे कहा गया है—वृष्टिर्वैयाज्या विद्युदेव इद वृष्टिमन्नाद्य सम्प्रयच्छति'—समस्त जलकणो का एकीभाव ही विदयुत् है, विदयुत ही वृष्टि, अन्नादि की पुष्टि प्रदान करती है, और—'यो विद्युतिपुरुष स सर्वरूप सर्वाणि ह्येतस्मिन रूपाणि'—विदयुत मे वह पुरुष है, उसी के ये सब रूप हैं, उसी मे ये सब रूप रहते हैं।

विद्युत मे गति है। जहाँ गति रहती है वहा शब्द अवश्य रहता है। शब्द ही वाणी या शक्ति है। ऐतरेय में उसे वज्र भी कहा गया है—'वज्र एव वाक्' और 'वाग्घिवज्र'। अब यजुर्वेद के एक मन्त्र पर विचार किया जाए जो इस तरह है—

नमस्ते अस्तु विद्युते तनस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येनादूडाशे अस्यसि॥

अर्थात् हे प्रकाशरूपवाली दवि, विदयुत् शक्ति रूप, तुम्हे नमस्कार है। शब्द रूप से गजना करने वाली, तुम्हे नमस्कार है। अश्म-वज्र भी तुम्हारा रूप है जिससे तुम हमारे क्लेशो को नष्ट करती हो, अत नमस्कार है।

दैवत मन्त्रो के सम्बन्ध मे महर्षि यास्क निरुक्त के सप्तम अध्याय के प्रथम पाद मे कहते हैं—यत्काम ऋषि यस्या देवताया आर्थपत्यम इच्छन् स्तुति प्रयुङक्ते तद्दैवत स मन्त्रो भवति। ता त्रिविधा ऋच —परोक्षकृता प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्ष कृता सर्वाभि नाम विभक्तिभि युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगा। आध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा।' अर्थात् जिस अर्थ (कामना) की इच्छा से ऋषि जिस देवता की स्तुति करता है, वह मत्र उस देवता का होता है। उसके तीन प्रकार हैं—परोक्ष, प्रत्यक्ष और आध्यात्मिक। प्रथम (अन्य) पुरुष मे कही गई ऋचाएँ परोक्ष, मध्यम पुरुष मे प्रत्यक्ष और उत्तम पुरुष मे आध्यात्मिक हैं। इस दृष्टि से उपरि कथित विदयुत वाली ऋचा प्रत्यक्षकृत है। प्रत्यक्षकृत वणनो का तात्पय भी अध्यात्म के अन्तगत आता है। अब इसका अथ इस प्रकार किया जा सकता है—हे देवि, विद्युत रूपे, मूलाधार चक्र मे रहने वाली तुम्हे नमस्कार है। ध्वनि वर्ण रूप से गर्जना करने वाली, तुम्हे नमस्कार है। स्वाधिष्ठान आदि चक्रो के भेदन मे वज्र का काम करने वाली तुम्हे नमस्कार है। तुम हमारे सभी क्लेशो को दूर करती हो। तन्त्र साधक इस रहस्य को अच्छी तरह जानते हैं। इसके सम्पन्न होने पर साधक सभी कष्टो से मुक्त हो जाते हैं। ये कार्य शक्ति के हैं। कुण्डलिनी की ओर सकेत है।

और स्पष्टता के लिए निम्नलिखित ऋचाएँ द्रष्टव्य हैं। ऋक सहिता मे एक ऋचा है—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन।

अर्थात गौरी वाक् कुण्डलिनी महाशक्ति जलो को तोडती हुई (जल से पचतत्वा का उपलक्षण है जो षड्चक्रो मे निहित हैं) एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी अष्टपदी और नवपदी (नवनाद) वाली है। सहस्रार मे सहस्राक्षर वाली हो जाती है। यह रहस्य तन्त्र योगियो को भली प्रकार विदित है।

यजुर्वेद मे एक ऋचा आती है—

या ते रुद्र शिवातनूरघोरा पापकाशिनी
तया नस्तन्या शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि।

अर्थात हे रुद्र आपकी कल्याणकारी शक्ति तथा ऐश्वर्य आदि को प्रदान करने वाली शिवा (महाशक्ति) तनू है, उसके द्वारा हमें आप निरीक्षण करें। हम सब तुम्हारे पुत्र हैं, हमारा कल्याण करें। 'अमृतस्य पुत्रा' इस श्रुति वाक्य के अनुसार समग्र विश्व उसी की सन्तति है।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण उपनिषद आदि वैदिक वाङ्मय में तन्त्र का मूल रूप विविध रूपों में पर्याप्त दिखाई पडता है। अथर्व वेद में इसका विस्तार अधिक है, वहाँ स्थूल रूप का भी कुछ विस्तार हुआ है। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक उद्देश्य, प्रवृत्ति और आचार का रूप भी वेदों में मिलता है, बल्कि मूल में कोई मौलिक भेद प्रतीत नहीं होता। इस विषय का विवेचन अपने आप में बहुत बडा है इसलिए संकेतमात्र से यहाँ संतोष करना पड रहा है।

तन्त्र का आयाम व्यापक है और वह विविध विज्ञानों से जुडा हुआ है दार्शनिक दृष्टि से तन्त्र अद्वैतवादी है। किन्तु वेदान्त के अद्वैतवाद और तन्त्र के अद्वैतवाद में थोडा अन्तर है। वेदान्त का अद्वैतवाद विवर्तवादी है और तन्त्र का अद्वैतवाद आभासवादी है यद्यपि प्रपञ्च दोनों की दृष्टि में प्रतीतिमात्र है किन्तु वेदान्त के अनुसार यह प्रतीति भ्रममूलक है और तन्त्र के अनुसार परमार्थ तत्त्व की सहज सामर्थ्य का प्रकट रूप है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार इसका कारण अनादि अनिर्वचनीया माया है किन्तु तन्त्र के अनुसार परमचिति का स्वातन्त्र्यमूलक संकल्प है। अद्वैतवेदान्त ब्रह्म को सर्वथा निर्विशेष, निर्विकार, निर्गुण और कूटस्थ मानता है तथा इस दृश्य प्रपंच को सद्सद से विलक्षण माया के प्रभाव से थोडे अन्धकार में पडी रस्सी में भ्रम से ही प्रतीत होने वाले सर्प, दण्ड आदि विकल्पों के समान केवल प्रतीतिमात्र मानता है। किन्तु तन्त्र परमार्थतत्त्व में अनन्तशक्ति और पूर्ण स्वातन्त्र्य मानता है। उसके अनुसार शुद्ध चिति अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य के कारण अपने संकल्प द्वारा भित्ति रूप अपने ही ऊपर इस जगच्चित्र को आभासित कर देती है। प्रत्यभिज्ञा सूत्र में कहा है—'चिति स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतु'। अद्वैत होने के बावजूद उसका अद्वैत तत्त्व अकर्त्ता, अभोक्ता, निर्गुण और निर्विशेष नहीं है। वह शक्तिमय और विमर्श रूप है। विमर्श उसकी क्रिया शक्ति का नाम है। क्रियाशक्ति सदा उसमें विद्यमान रहती है। तन्त्र ने छत्तीस तत्वों, शक्ति-नाद, बिन्दु आदि के माध्यम से पूरी सृष्टि-प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है। कहीं शिव मूल है, कहीं शक्ति, पर दोनों में अभेद है।

वेदान्त अद्वैत और तन्त्र अद्वैत वस्तुतः दोनों अद्वैत हैं, जो थोडा सा अन्तर है उसका संकेत ऊपर किया गया है। अब एक गम्भीर प्रश्न यह उठता है कि निर्गुण ब्रह्म का कोई आधार न होने से उसकी उपासना कैसे हो सकती है? शास्त्र के श्रवण-विवेचन से बौद्धिक ज्ञान हो सकता है, अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, अनुभूति नहीं हो सकती। रूप अरूप तक पहुंचने में सहायक होता है, माध्यम का काम करता है। इसीलिए तन्त्र ने रूप की कल्पना की।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

—गामनापिनी, कुलार्णव

यह तन्त्र की बहुत बडी देन है। इसी से भारत में उपासना-पद्धति का विकास हुआ और इससे प्रभावित हुए बिना कोई भी सम्प्रदाय न रह सका। यह पद्धति उसकी मौलिक और अद्वितीय खोज है। अद्वैत वेदान्त के सबसे बडे व्याख्याकार, समर्थक और संस्थापक आचार्य शंकर ने साधना और साक्षात्कार इसी पद्धति से किया। उन्होंने श्री विद्या की उपासना की थी। उन्होंने अपनी 'सौन्दर्य लहरी' में शक्ति के मनोरम रूप, मन्त्र यन्त्र, कुण्डलिनी चक्र आदि का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। पहले ही श्लोक में वह

करते हैं, शिव यदि शक्ति से युक्त होते हैं तभी वह सब कार्य करने मे समर्थ होते हैं अन्यथा वह निष्क्रिय हैं, स्पन्दित होने म भी समर्थ नही होते। अत तुम्ही ब्रह्म हरि और हर से आराध्या हो। कोई अकृतपुण्य व्यक्ति तुम्हारी प्रणति और स्तुति कैसे कर सकता है?

शिव शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्त प्रभवितु
न चेदेव देवो न खलु कुशल स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्च्यादिभिरपि
प्रणन्तु स्तोतु वा कथमकृतपुण्य प्रभवति॥

सौन्दर्यलहरी मे एक सौ श्लोक हैं और सभी मे एक से एक तन्त्र-दर्शन और साधना के रहस्य भरे हुए हैं। ब्रह्मस्वरूपा त्रिपुरसुन्दरी का रूप भी इतना अधिक सुन्दर और मनोरम है कि उसे कोई सन्यासी ही सह सकता है। पचहत्तरवें श्लोक म उन्होने अपने बारे मे कहा है, गिरिकन्ये! तुम्हारे पयोधरो का उत्तम दुग्ध तुम्हारे हृदय से निकला हुआ सारस्वत दुग्ध पारावार है। माँ, तुमने दयार्द्र होकर इस द्रविड शिशु को उस दुग्ध का पान कराया है जिससे वह प्रौढ कवियो मे भी सुन्दर काव्य-रचयिता हो गया है।

तव स्तन्य मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयत
पय पारावार परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्त द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीय कवयिता॥

शकराचार्य इतने बडे अद्वैत चिन्तक और दार्शनिक थे, उन्हें साक्षात्कार के प्रश्न और मूल बिन्दु पर उतना ही आत्मसमर्पण करना पडा होगा तभी उन्होने साधना के रहस्य को इतने सहज रूप मे स्वीकार किया और इतना तन्मय होकर लिखा। आज तक शकराचार्य की परम्परा मे श्रीविद्या की उपासना चलती आ रही है। शकराचार्य के गुरु थे गोविन्दपाद और उनके गुरु थे गौडपाद। आचार्य गौडपाद ने 'श्रीविदया-रत्नसूत्र' लिखा है जिसमे एक सौ तीन सूत्र हैं। इन सूत्रो मे तन्त्र दर्शन और श्रीविदया की साधना पर प्रकाश डाला गया है।

स्पष्ट है कि तन्त्र, दर्शन के अतिरिक्त, आत्मविकास और साक्षात्कार की एक सर्वाङ्गीण और वैज्ञानिक पद्धति है जिसे किसी-न किसी रूप म सभी स्वीकारते हैं। प्राय सभी सम्प्रदायो ने इस पद्धति का अनुसरण किया है। विभिन्न सम्प्रदायो मे जो साधनात्मक स्वरूप है वह इसी की देन है भले वह समग्र रूप मे न हो। तन्त्र ने साधना को चतुर्दिक बाधने का प्रयास किया है जिससे गति की निश्चयता हो और यह अद्वैत यात्रा पूरी हो। इसम अन्तयजन और बाह्याचन दोनो हैं। मन्त्र और ध्यान का बहुत महत्त्व है। इसमे योग के विविध रूप समाहित है जैसे—आसन प्राणायाम, ध्यान, धारणा, मुद्रा, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, लययोग नादयोग, स्वरयोग वैराग्ययोग, सुरत शब्दयोग, षटचक्र, कुण्डलिनीयोग आदि। उल्लास और भाव भी हैं और स्तव भी है। आन्तर क्रियाएँ भी हैं और बाह्य क्रियाएँ भी है। मूलत इसम मूर्ति नहीं है, ब्रह्माण्ड और सृष्टि प्रक्रिया का प्रतीक यन्त्र है उसमें अभीष्ट रूप कल्पना है जो अरूप पथ म आधार का काम करती हैं। इस प्रकार तन्त्र का साधना क्षेत्र बहुत व्यापक है। कुलार्णव तन्त्र कहता है कि जैसे सीधी टेढी, सभी नदियाँ समुद्र मे समा जाती है उसी तरह सभी धर्म कुल धर्म मे ही समाहित हो जाते हैं। ससार के प्राणियो म हाथी के पाँव का चिह्न सबसे बडा होता है। किसी भी प्राणी के पाँव का चिह्न उससे बडा नही होता, सभी उसके अन्दर आ जाते हैं। उसी प्रकार यह तन्त्र है।

प्रविशन्ति यथा नद्य समुद्र ऋजुवक्रया
तथैव समया सर्वे प्रविष्टा कुलमेव हि।
यथा हस्तिपदे लीन सवप्राणिपद भवेत्
दशनानि च सर्वाणि कुल एव तथा प्रिये।
(कुलार्णव २-१२ १३)

वस्तुत वेदान्त के अद्वैत और साख्य के द्वैत के समाहार और भक्ति के रस के साथ ज्ञान के उच्चतम शिखर पर आरोहण इसी दर्शन और पद्धति से सम्भव हो सका है। योग इसमे सयुक्त है और ससार तथा उसके पदार्थ इसके लिए त्याज्य नही है। अपितु आध्यात्मिकीकरण द्वारा वे अध्यात्म-पथ में सहायक हैं। त त्र की यह बहुत मूल्यवान दृष्टि है। कहा जाता है, जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नही हो सकता, और जहाँ मोक्ष है वहा भोग नही हो सकता। कि तु इस पथ की विशेषता है कि भोग और मोक्ष दोनो साथ साथ हो सकते हैं। दृष्टि और साधना ठीक हो तो ये दोनो एक दूसरे के विरोधी नही, सहायक हैं।

यत्रास्ति भोगो नहि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोग
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।
शिवपदाम्भोजयुगार्चकस्य भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव"
कदाचित् कस्यचित् भुक्ति कदाचित् मुक्तिरेव च।
एतस्मा साधकस्याय भुक्तिमुक्ति करे स्थिता॥

शिव शक्ति मे अभेद है, केवल रूप पार्थक्य है। विवेचन मे प्रधान मानने के कारण दर्शन के नाम अ तर पड जाता है। इसी तथ्य को दूसरी तरह से कुलार्णव मे कहा गया है—

योगी चेन्नैव भोगी स्याद भोगी चेन्नैव योगवित्।
भोगयोगात्मक कौल तस्मात् सर्वाधिक प्रिये॥
भोगो योगायते साक्षात् पातक सुकृतायते।
मोक्षायते च ससार कुलधर्मे कुलेश्वरि।
ब्रह्मे न्द्राच्युतरुद्रादि देवतामुनिपु गवा।
कुलधर्मपरा देवि मानुषेषु च का कथा॥

प्रत्येक युग के लिए एक विशेष फलदायी शास्त्र का भी उल्लेख आता है। उसी के अनुरूप आचार भी होना चाहिए। कुलार्णव कहता है कि कृतयुग में श्रुति, त्रेता में स्मृति, द्वापर में पुराण और कलियुग में आगम फलद होता है।

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भव।
द्वापरे तु पुराणोक्त कलावागमसम्मत॥

महानिर्वाण त त्र कहता ह—

सत्य सत्य पुन सत्य सत्य सत्य मयोच्यते।
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गति प्रिये॥
कलावागममुल्लङ्घ्य योऽन्यमार्गे प्रवर्तते।
न तस्य गतिरस्तीति सत्य सत्य न सशय॥

त त्र का व्यापक फैलाव रहा है इसलिए उसके विभिन्न भेद मिलते हैं। शैवत त्र, शाक्तत त्र, वैष्णवत त्र, सौरत त्र गाणपत्यतन्त्र, जैनतन्त्र बौद्धत त्र मुख्य हैं जि हें क्रमश शैवागम, शाक्तागम, वैष्णवागम,

सौरागम, गाणपत्यागम, जैनागम और बौद्धागम भी कहा जाता है। जैन और बौद्ध तन्त्र भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। बौद्धो का पूरा वज्रयान इसी दृष्टि से विख्यात और महत्वपूर्ण हैं।

तन्त्र में भावो का बहुत महत्व है और उसमें तीन भावो से साधना होती है। ये तीन भाव हैं—पशुभाव, वीरभाव और दिव्य भाव।

पशूनां प्रथमो भावो वीरस्य वीरभावनम्।
दिव्यानां दिव्य भावस्तु तेषां भावात्रयस्मृत ॥
भावविद्याविधि विद्धि विस्तार्य भावसाधनम्।
भावस्तु त्रिविधो देव दिव्यवीरपशुक्रमात ॥
गुरुरस्तु त्रिधा चात्र तथव मन्त्रदेवता।
दिव्यभावो महादेव श्रेयसां सर्वसिद्धिदम् ॥
द्वितीयो मध्यम प्रोक्तस्तृतीय सर्वनिन्दित ॥
बहुजपात्तपाहोमात् कायक्लेशादि विस्तरं।
न भावेन विना देवि तन्त्रमन्त्रा फलप्रदा।
(रुद्रयामल)

ये तीनो शब्द यहाँ पारिभाषिक हैं। पशु से तात्पर्य है अज्ञानी जीव। उसमे जो उत्तम कोटि है वह सत्कर्म परायण हो जाता है और आत्मज्ञान के लिये साधना मे लग जाता है। किन्तु उसमे द्वैत बुद्धि प्रधान रहती है इसलिए भय का भाव अधिक रहता है। अत उसी के अनुरूप उसकी साधना के नियम और आचरण का विधान किया गया है।

वीरभाव मे श्रुति का 'देवो भूत्वा देव यजेत्' का सिद्धान्त काम करता है। जो साधक अद्वैत ज्ञान सुधा समुद्र के एक बिन्दु का आस्वादन कर चुका है वह वीर की भाँति अज्ञान को तोडने और उस महा-समुद्र तक पहुचने की यात्रा के लिए तत्पर रहता है। उसमे दैन्य नही रहता और वह द्वैत से अद्वैत की यात्रा मे निरत रहता है।

दिव्यभाव की स्थिति तब आती है जब वीरभाव से पुष्ट होकर द्वैत को निरस्त करने मे समर्थ हो जाता है। अद्वैत का आनन्द पाकर आत्मज्ञान के साथ ब्रह्ममय हो जाता है। यह परमहंसावस्था है। फिर उसे किसी बाह्याचार की आवश्यकता नही रहती।

तन्त्र मे सात आचार माने गये हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार सिद्धान्ताचार और कौलाचार। ये क्रमश उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं।

सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णव परम्।
वैष्णवादुत्तम शैव शैवाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥
दक्षिणादुत्तम वाम वामात सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तम कौल कौलात् परतर नहि ॥ (कुलार्णव)

इन आचारो पर तन्त्रशास्त्र मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और उसका वैज्ञानिक आधार भी ढूढा जा सकता है। इन आचारो में वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार उत्तम पशुभाव के लिए, वामाचार और सिद्धान्ताचार वीरभाव के लिए और कौलाचार दिव्य भाव के लिए है। कौलाचार सर्वश्रेष्ठ है और अत्यन्त निगूढ है। रहस्य साधना वामाचार से ही आरम्भ हो जाती है और वैज्ञानिकता अधिक क्रियात्मकता ग्रहण कर लेती है।

तन्त्र में आठ पाश वतलाए गये हैं। ये बन्धन हैं जिनसे मनुष्य आजीवन जकड़ा रहता और आत्मबोध से वञ्चित रहता है। पाशों से आवद्ध होने के कारण वह जीव है और पाशों से मुक्त हो जाने पर वही सदाशिव हो जाता है, जैसे भूसे से युक्त होने पर धान कहलाता है भूसे से अलग हो जाने पर तण्डुल कहलाता है।

लज्जा घृणा भय शंका जुगुप्सा चेति पञ्चमम्।
जाति कुल शील च अष्टौ पाशा प्रकीर्तिता॥
पाशबद्ध जीवस्याद् पाशमुक्त सदाशिव।
तुषाबद्ध व्रीहि स्याद् तुषामुक्तस्तण्डुल॥

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार आदि चक्रों की खोज उनमें तत्त्व, वर्ण और रंग की स्थापना, उनका भेदन, सुप्त कुण्डलिनी का जागरण और उसकी मूलाधार से सहस्रार तक यात्रा तथा अमृत तत्त्व की प्राप्ति तन्त्र की अनोखी खोज है। केवल यह कुण्डलिनी योग अपने आप में पूर्ण साधना बन जाता है।

बीज मन्त्रों की खोज भी उसी ने की थी। वेद के मन्त्र छन्दों में हैं और सीधा शब्दार्थ से जुड़े हैं। ध्वनि की सूक्ष्मता में उतरकर वर्ण और बीजाक्षरों के स्वरूप और प्रभाव की जो पहचान की गई वह तन्त्र ने की है। अग्नि का र, वायु का व, जल का व, आकाश का ह और पृथ्वी का ल क्रमश उस उस तत्त्व का मूल रूप या ध्वनि है। इसी प्रकार हजारों बीज मन्त्र खोजे गये। बीज मन्त्रों के अतिरिक्त अपेक्षाकृत बड़े मन्त्र तथा माला मन्त्र भी प्रयोग करके बनाये गये। यह भी पता किया गया कि ये वर्ण जितनी सूक्ष्मता मे उतरेंगे, शक्ति उतनी ही बढेगी और सूक्ष्मता के अन्तिम बिन्दु पर उतरकर यही अक्षर व्यापक होकर अक्षर ब्रह्म हो जाता है। मन्त्र-साधना मे वैखरी से मध्यमा फिर पश्यन्ती मे उतरने की प्रक्रिया है और परा मे पहुँचने पर तो साक्षात्कार ही हो जाता है। इसीलिये तन्त्र मे मन्त्र साधना पर अधिक बल दिया गया है। मन्त्र ध्वनि और उसके प्रकम्पन के सिद्धान्त पर आधारित है और यही उसकी वैज्ञानिकता भी है। मन्त्र एकाक्षर से लेकर सहस्राक्षर तक बने और पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, ऊर्ध्वाम्नाय तथा अधराम्नाय के भेद से साक्षात्कार के लिये पृथक् विधान भी निर्देशित किये गये।

तन्त्र कभी एक क्षेत्रीय या एक देशीय नही था। वह बृहत्तर भारत मे आत्मा की भाँति व्याप्त था, सभी क्षेत्रों से जुड़ा था और उसका प्रकाश दूसरे देशों तक फैला था। तन्त्र मे तीन क्रम—केरल क्रम, काश्मीर-क्रम और गौड क्रम अभी तक चलते हैं। इन्ही तीन भागो के अन्तर्गत सभी क्षेत्र आ जाते हैं। ये साधना की विशेष पद्धतियां है जो छप्पन देशों के भेद से प्राचीन बृहत्तर भारत मे सर्वत्र व्याप्त थी, कुछ आगे तक भी फैली थी।

रहस्य च प्रवक्ष्यामि ज्ञान सकथ्यते शृणु।
केरलश्चैव काश्मीरो गौडमार्गस्तृतीयक॥
षट्पञ्चाशद देशभेदात सर्वत्र व्याप्य तिष्ठति।
अष्टादशसु देशेषु गौडमार्ग प्रकीर्तित॥
नेपालदेशमारभ्य कलिङ्गान्त महेश्वरि।
आर्यावर्त समारभ्य समुद्रान्त महेश्वरि॥
केरलाख्य क्रम प्रोक्तस्तूर्नविंशति देशके।
तदन्यदेशे देवेशि काश्मीराख्य क्रम शुभ॥ (शक्ति सगम)

इसके अतिरिक्त चीन और महाचीन धर्म भी मान्य है। बौद्ध तन्त्र मे इसका बहुत महत्त्व है। शाक्त तंत्र मे जो देश महाविद्याएँ हैं उनमे काली के बाद तारा का दूसरा स्थान है। बौद्ध तन्त्र मे तारा की बहुत मान्यता है। कहते हैं, वसिष्ठ ने इन्हे चीन से उपलब्ध किया था। बौद्ध तन्त्र मे यह जुडाव बुद्ध से है। शाक्त तन्त्र मे कहा गया है—'महाचीन क्रमेणैव तारा शीघ्र फलप्रदा'।

ऋग्वेद मे स्त्रियो का ऊँचा स्थान सर्वथा ऋषि कोटि का स्थान-था। ऋग्वेद मे लगभग सत्ताइस स्त्रियो के नाम आते हैं जो ऋषिका थी, ब्रह्मवादिनी थी। उनका वही स्थान है जो ऋषियो का है। उन्होने भी मन्त्र साक्षात्कार किया था। लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, रोमशा, सूर्या आदि नाम इसी कोटि के हैं। ऋग्वेद के बाद भी मैत्रेयी, गार्गी आदि ब्रह्मवादिनियो के नाम ख्यात है। स्त्रियाँ वेद की रचना करने वाली और ब्रह्मज्ञान का शिक्षण करने वाली थी, किन्तु आगे चलकर पुरुष सत्तात्मक समाज के नियम निर्धारण क्रम मे—स्मृति काल मे—उन्हे सर्वत च्युत कर दिया गया और उनके अधिकार छीन लिए गए। वे वेद नही पढ सकती, साधना नही कर सकती, ज्ञान उपलब्ध नही कर सकती, केवल पति सेवा कर सकती हैं। 'ज्ञानात् ऋते मुक्ति'—ज्ञान के बिना मुक्ति नही हो सकती, वेद का यह सिद्धान्त केवल पुरुषो के लिये रह गया, स्त्रियो की मुक्ति तो किसी भी प्रकार के पति की अनुगामिनी होने से ही हो सकती है, जैसे दोनो मे दो प्रकार की आत्माएँ हो। यद्यपि सब छीनकर उनके समादर की बात—नार्य यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता—अवश्य कही गई किन्तु यह कहने की बात भर रह गई, कालान्तर मे यथार्थ स्थिति मे ह्रास ही होता गया। फिर न जाने, उनमे कितने कितने दोष ढूंढे जाने लगे। जब यही विद्वत और सामाजिक चर्चा का विषय हो गया तो उनमे आत्मनिर्देश द्वारा यही गुण गहराई तक भी आरोपित हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नही है। वैदिक शिक्षा और साधना तो पहले ही बन्द कर दी गई थी। 'नारी नरकस्य द्वारम्' या इसी तरह की मान्यताएँ फैलाई जाती रही।

केवल तन्त्र ने और विशेषत शाक्त तन्त्र ने नारी का अर्थ और महत्त्व समझा और उसे उच्चतर स्थान दिया। स्त्री का मातृरूप प्रत्यक्ष है सृष्टि प्रक्रिया मे अधिक हिस्सा है, अनुपातत पुरुष का बहुत थोडा है। जहाँ से पूरा जगत् प्रसूत हो रहा है उसी आदि कारण को तो मातृरूप मे देखा ही गया, व्यवहार मे भी स्त्री को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया, शक्ति रूप माना गया, देवी भाव से देखा गया।

शक्ति संगम तंत्र कहता है।

नारी त्रैलोक्य जननी नारी त्रैलोक्य रूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी॥
पुंरूप वा स्त्रियो रूप यत् किंचिद्रूपमुत्तमम्।
नारी चक्रे सवरूप यत् किंचित् जगतीगतम॥
न नारी सम सौख्य न च नारी समा गति।
न नारी सदृशं भाग्य न नारी सदृशं तप॥
न नारी सदृश राज्य न नारी सदृशो जप।
न नारी सदृश तीर्थं न नारी सदृशो लय॥
न नारी सदृशो योगो न नारी सदृश यश।
न नारी सदृशं मित्र न भूत न भविष्यति॥

स्त्री रूप मे समग्रता है इसलिए उसकी पूजा से सभी देवता की पूजा हो जाती है।

ब्रह्माण्डानामनन्त च स्त्रीदेहे स्फुटमेव च।
स्त्रीरूप च जगत् सव यत्किंचिदिह दृश्यते॥
तद्रूपपूजनाद देवि पूजिता सव देवता'।

x x x

योषित्सु देवताभावपूर्वक प्रियमाचरेत।

x x x

स्त्रियं तु सवथा पश्येत् देवतारूपिणीं सदा

व्यवहार मे स्त्री की निन्दा करना, घृणा करना, अपमान करना, अप्रिय बोलना, असत्य बोलना मना किया गया है। उसे मारना तो एकदम मना है। उसके दोषों की जगह गुणो का प्रकाश करना चाहिए।

न निन्देत् न जुगुप्सेत न हसेत नावमानयेत्।
नाप्रिय नानृत ब्रूयात् कस्यापि कुलयोषित॥
कुप्यन्ति कुलयोगिन्यो वनितामतिक्रमात्।
स्त्रियं शतापराधां वा पुष्पेनापि न ताडयेत॥
दोषान न गणयेद् स्त्रीणां गुणानेव प्रकाशयेत्।
(कुलार्णव)

तन्त्र ने स्त्री को सभी अधिकार दिए, वह स्वय साधना कर सकती है, ज्ञान उपलब्ध कर सकती है और वह दीक्षा भी दे सकती है। स्त्री गुरु और स्त्री-दीक्षा को बहुत महत्त्व दिया गया है।

तन्त्र ने सती होने का खुलकर विरोध किया है। महानिर्वाण तन्त्र कहता है कि स्त्रियो को पति के साथ नही जलाना चाहिए क्योकि वे देवी के स्वरूप हैं। जो स्त्री मोहवश स्वय भी पति की चिता पर चढती है, उचित नही, वह नरकगामिनी होती है।

भर्त्रा सह कुलेशानि ! न दहेत् कुलकामिनीम।
तव स्वरूपा रमणी जगत्याच्छन्न विग्रहा।
मोहाद् भर्तुश्चितारोहाद् भवेन्नरकगामिनी॥
(महानिर्वाण)

कोई अपनी पत्नी को कुवाच्य कहता है, पीटता है तो उसे उपवास करके प्रायश्चित करना पडता है।

दुर्वाच्य कथयन् पत्नीमेकाहमशन त्यजेत्।
त्र्यहं सन्ताडयन् रक्त पातयन सप्तवासरान॥
(महानिर्वाण)

शूद्र को साधना से बहिष्कृत कर दिया गया था। वेद नहीं पढ सकता है, दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता है। किन्तु तन्त्र साधना मे सभी को अधिकारी मानता है।

ब्रह्म क्षत्र विश शूद्रा अर्चायां शुद्धबुद्धय।
गुरुदेव द्विजार्चासु रता स्युरधिकारिण॥
(योगिनी तन्त्र)

त्रिपुरायाश्च ये मन्त्रा ये मन्त्रा बटुकादय ।
सर्ववर्णेषु वातव्या पुरन्ध्रीणां विशेषत ॥
(श्रीविद्यार्णव)

तन्त्र वर्ण को तो स्वीकार करता है किन्तु साधना मे उसका कोई भेद नही मानता । उस समय न कोई वर्ण भेद, न कोई जातिभेद, न कोई अस्पृश्यता । सभी एक हैं—उत्तम द्विज, उत्तम मनुष्य, शिवरूप ।

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्ववर्णा द्विजातय ।
निवृत्ते भैरवी चक्रे सर्ववर्णा पृथक् पृथक ॥
स्त्री वाय पुरुष षण्डश्चाण्डालो वा द्विजोत्तम ।
चक्रेऽस्मिन्नेव भेदोऽस्ति सर्वे शिवसमा स्मृता ॥
x x x
जाति भेदो न चक्रेऽस्मिन् सर्वे शिवसमा स्मृता ।
वेदेऽपि निपतमेव हि सव हि ब्रह्म चाब्रवीत ॥
(कुलार्णव)

इस प्रकार तन्त्र सभी दृष्टियो से सभी प्रकार की निम्नताओ से ऊपर है । इसमे ज्ञानात्मक उत्कर्ष भी है तथा पूर्ण मानवीयता के साथ सभी को मनुष्य समझा गया है तथा उन्हे पूर्ण मर्यादा भी दी गई है । स्त्री पुरुष समान हैं, साधना मे भी सहायक हैं और जीवन मे भी । सभी मनुष्य समान हैं, वर्ण की दूरी कम होती है, जाति की भी । जाति तो एक पात्र है । इसका आधार वैज्ञानिक है और यह सर्वदेशीय है तथा सार्वकालिक भी । यह देश को और देश के लोगो को एकात्मकता मे बाधता है ।

तन्त्र के सन्दर्भ मे, एक बात को लेकर वह प्राय विवादास्पद रहा है और अच्छे लोग बिना समझे उसकी आलोचना कर जाते हैं । सारे विवाद की जड मे पचतत्व है जिसे वामाचार मे प्रत्यक्ष ग्रहण किया जाता है । उसे पचमकार भी कहते हैं जिसके अन्तर्गत मद्य, मास मत्स्य, मुद्रा और मैथुन हैं । यह वामाचार ही विवाद का केन्द्र है । इस लेख की सीमा मे तन्त्र जैसे गम्भीर और विस्तृत विषय का सविस्तर विवेचन सम्भव नही और अब वह सीमा भी समाप्त हो रही है अत पचतत्व का प्रतीकात्मक, आध्यात्मिक, भौतिक वनानिक, मनोवैज्ञानिक तथा व्यावहारिक विवेचन कर पाना कतई सभव नही । फिर भी इतना कह देना आवश्यक है कि जिस शास्त्र ने इसका विधान किया उसी ने यह भी प्रश्न उठाया है कि यदि मद्य पीने, मास खाने और सम्भोग से सिद्धि और मुक्ति मिलती है तो सभी मुक्त हो गये होते । फिर भी विधान किया तो कुछ बात अवश्य है ।

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धि लभेत वै ।
मद्यपानरता सर्वे सिद्धि गच्छन्तु पामरा ॥
मांसभक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत ।
लोके मासाशिन सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि ॥
शक्तिसम्भोगमात्रेण यदि मोक्षो भवेत व ।
सर्वऽपि जन्तवो लोके मुक्ता स्यु स्त्रीनिषेवणात् ॥
(कुलार्णव)

ऐसी बात नही कि केवल इसके सेवन से कुछ होता है । यह वामाचार मे वीरभाव से विशिष्ट रहस्य साधना है । खाने पीने का कोई लाइसेंस नही है । इसीलिए इसे 'असिधारवत्' कहा गया है । किन्तु

ध्यातव्य यह है कि समग्र तन्त्र मे वामाचार एक आचार है इसलिए पूरे तन्त्र को नही कहा जाना चाहिए। दक्षिणाचार आदि मे इसका अनुकल्प ग्रहण किया जाता है, जैसे मद्य के स्थान पर नारिकेलजल, मास के स्थान पर अदरख, उडद आदि, मैथुन के स्थान पर, कुण्डलिनी और परमशिव का मिलन या नयन भगिमा से पुष्प समपण। किन्तु अनुकल्प तो किसी मूल का ही होता है। इसका दिव्य रूप भी है। मूल रूप मे यह मनुष्य से स्वभावत जुडा है। उससे गुजरे बिना उससे मुक्ति भी सम्भव नही है। उस आचार मे एक विशेष प्रक्रिया स इसका विकासात्मक उपयोग है। मनुष्य इसके बिना रहता नही परन्तु इसका विकासात्मक उपयोग किया जाए, इसे भी पूजा की पवित्र वस्तु बना दिया जाए तो सस्कार वश उसे सह्य नही। सभी को ऐसा करने के लिए भी नही कहा गया है। किन्तु बिना इसका रहस्य समझे जो इसकी आलोचना म उतर आते हैं। उन्हे क्या कहा जाए ? ●
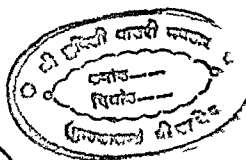
दर्शन

भारतीय सस्कृति में शैव दर्शन

डॉ० श्रीमती वीणापाणि पाटनी

वैदिक देवताओं मे रुद्र देवतत्व के विकास की दृष्टि से अपनी विशेषता रखते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओ मे वे झझावात और अशनिपात से सम्बद्ध एक उग्र देवता है। परन्तु वैदिक मन्त्रद्रष्टा उनकी उग्रता मे छिपी हुई अनुग्रह भावना को खोज लेता है। इसलिए वह एक ओर उनकी प्रचण्ड शक्ति से त्राण की अपेक्षा रखता है तो दूसरी ओर उनके भैषज्य का सुखद आश्रय लेना चाहता है।[1] ऋग्वेद के अनेक स्थलो मे पूर्वोक्त विरोध लक्षित होता है। इन्ही स्थलो मे रुद्र के उग्र और शिव स्वरूपो का सूत्रपात देखा जा सकता है।

कदाचित रुद्र के स्वरूप म जितना अधिक परिवतन हुआ है उतना विष्णु को छोडकर अन्य किसी देवता म नही हुआ है। यजुर्वेद मे रुद्र शिव एक महत्वपूर्ण देवता है। यहा पर एक सम्पूर्ण अध्याय रुद्र को सम्बोधित है। रुद्राध्याय मे रुद्र शिव के स्वरूप का मनोरम समन्वय मिलता है। उपासक यहा पर उनके *शिव स्वरूप की महिमा से पूर्णत अवगत हो गया है। 'हे रुद्र ! जो तुम्हारा विश्व के लिए हितकारी* भैषज्यरूप मगलमय शिवपक्ष है, उसके द्वारा आयुष्य के लिए हम पर अनुग्रह करो।[2] 'रुद्राध्याय' मे रुद्र की अनेक स्तुतियाँ उनके सर्वव्यापी सर्वप्रिय, सर्वजनसुलभ और अनुग्रहकारी पक्ष का अनावरण करती हैं। ज्ञात होता है कि यजुर्वेद के काल से वैदिक रुद्र के स्वरूप मे आर्येतर प्रचलित देवतत्व के स्वरूप का सम्मिश्रण हो गया। निम्नलिखित कतिपय मन्त्र इस बात का पोषण करते है—'हे देव ! तुम स्तेन, तस्कर, वञ्चक, भील, हिंसक वृत्ति वाले, रात्रि को विचरण करने वाले जीवो के स्वामी हो। तुम्हे नमस्कार है[3]।

---

१ मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती ।
उन्नो वीरॉ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तम त्वा भिषजा शृणोमि ॥
ऋ० वे० २-३३-४

२ या ते रुद्र शिवा तनू शिवा विश्वाहभेषजी ।
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृळ जीवसे ॥
रुद्राध्याय १०-२
(आनन्दाश्रम सस्कृत ग्र थावली, पूना ग्रथाक ११४,१९५८)

३ नम वञ्चभाय निषगिणे स्तेनाना पतये नम ।
नमो निषगिणे इषुधिमते तस्कराणा पतये नम ॥
नमो वञ्चते परि वञ्चते स्तायूना पतये नम ।
नमोऽसिमदम्यो नक्तचरद्भ्य प्रकृन्ताना पतये नम ।
रुद्राध्याय ३-२-७

इस प्रकार यजुर्वेद मे रुद्र के स्वरूप के विकास की दृष्टि से दो बातें प्रधान हैं। पहला रुद्र के स्वरूप म शिवत्व का प्राधान्य और दूसरा रुद्र की सवजन सुलभता के द्वारा उनके महादेवत्व की प्रतिष्ठापना।

रुद्र के पूर्वकथित शिवत्व और महादेवत्व का पोषण अथववेद के व्रात्यसूक्त और स्कम्भसूक्त में हुआ है। यहाँ पर रुद्र कल्याणकारी महादेव ही नहीं वरन् आर्येतर देवतत्व के रूप में भी दर्शाये गये हैं। व्रात्य आर्य वणचतुष्टय से वाहर की जाति विशेष का वाचक है। रुद्र के लिए 'व्रात्य' शब्द उनपर आर्येतर प्रभाव का सकेत करता है। स्कम्भसूक्त मे 'स्कम्भ' स्तम्भ का वाचक है। स्तम्भ शिव के प्रतीक 'लिंग' का पूर्वरूप ज्ञात होता है। यह समस्त ब्रह्माण्ड का मूल कारण माना गया है। शिवलिंग भी जगत का मूलकारण है। स्कम्भ का कोई आदि अन्त नही[1]। पुराणो मे शिवलिंग के आदि और अन्त को जानने के लिए क्रमश विष्णु एव ब्रह्मा प्रयत्न करते हैं परन्तु असफल हो जाते हैं।[2] अतएव परवर्ती लिंग के स्वरूप का सूत्रपात वैदिक 'स्कम्भ' मे देखा जा सकता है।

ऋग्वेद से लेकर अथववेद के अन्त तक रुद्र-शिव का स्वरूप क्रमश विकास की स्थिति मे है। एक ओर वैदिक रुद्र के मूलस्वरूप का रूपान्तर हो रहा था। तदनुसार उग्र रुद्र अनुग्रही शिव, महादेव और ईशान बन गए थे। दूसरी ओर रुद्र-शिव के मूलाश मे आर्येतर, देवतत्व जुडते जा रहे थे। व्रात्य, लिङ्ग महिमा और सवजनवदित्व के तत्त्वो के सम्मिश्रण के कारण रुद्र-शिव का स्वरूप अधिक श्लिष्ट और समृद्ध वन गया। तदनुसार रुद्र-शिव जातिविशेष के नही वरन जनमात्र के देव बन गये।

वेदोत्तर काल मे पूण विकसित रुद्र शिव का स्वरूप मानो तीन धाराओ के रूप मे द्रवीभूत हो गया है। पहली धारा है पौराणिक शैव दर्शन की। दूसरी हैं उत्तर मे पल्लवित होने वाली प्रत्यभिज्ञा या काश्मीर शैव दर्शन की। तीसरी है आगम और वेदपरक दक्षिणी सिद्धान्त दर्शन की। इन तीन धाराओ मे अनेक छोटे बडे शैव दर्शनो का अन्तर्भाव हो जाता है। उत्तर दक्षिण और समस्त भारत को सिंचित करने वाली इस त्रिधारा से सारा भारत मानो शिवमय हो गया है।

पौराणिक शैव दर्शन

वैदिक रुद्र शिव के स्वरूप को पुराणो मे एक नयी दिशा मिली है। पौराणिक काल मे त्रिमूर्ति की अवधारणा मे ब्रह्मा विष्णु और महेश यह तीनो देवता क्रमश सृष्टि, स्थिति और सहार के प्रतीक हैं।

---

१ सोऽवधयत। स महानभवत। स महादेवोऽभवत स ईशानोऽभवत॥
अथव वेद व्रात्यसूक्त १८-२७। १-९, (सम्पूर्णानन्द व्रात्यकाण्डम बनारस)
स्कम्भसूक्त—स्कम्भेलोका स्कम्भे तप स्कम्भे घृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सव समाहितम॥
अथव १०-४-२९
(विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान प्रकाशन)

२ ब्रह्माण्ड पु० २६ १७-१८ (वेंकटेश्वर सस्करण)
वायु पुराण ५५-१७-१८ (वेंकटेश्वर सस्करण)
लिंग पु० ३-२,१७ ५
स्कन्द पु० माहेश्वर अरुणाचल पूव २
शिव पु० विद्येश्वर ३-२७ २८ १६ २८

जन्म, स्थिति और सहार यह सृष्टि का नित्य क्रम चक्र है, जिसके प्रतीक पूर्वोक्त तीन देवता हैं। महेश या शिव सहार के देवता हैं। यहाँ पर वैदिक रुद्र का सहारकारी उग्र रूप बना हुआ है। सृष्टि के लिए सहार आवश्यक है। इसलिए शिव महेश्वर का सहार भी सृष्टि के उद्देश्य से है।

यद्यपि शिव की महिमा प्रत्येक पुराण के किसी न किसी खण्ड मे अवश्य मिलेगी परन्तु फिर भी कतिपय पुराण पूणत शैव पुराण हैं। प्रख्यात शैव पुराणो मे वायु, शिव, स्कन्द और लिङ्ग पुराण प्रमुख हैं।

पूर्वोक्त पुराणो मे से वायु एव प्राचीन पुराण है। इसमे वायुदेवता शिवतत्व के मूल वक्ता कहे गये हैं और श्रोता हैं नैमिषवन का ऋषिसमूह[1]। लगभग यही व्यवस्था शिवपुराण के अन्तगत वायवीय सहिता पूर्व एव उत्तर मे है। यहाँ पर भी मूल वक्ता वायु हैं और श्रोता हैं ऋषिगण[2]। स्कन्द पुराण मे वक्ता परम शैव स्कन्द हैं और श्रोता अगस्त्य मुनि हैं[3]। लिङ्ग पुराण मे वक्ता लोमहषण सूत हैं तथा श्रोता हैं देवर्षि नारदसहित ऋषिजन[4]। पूर्वोक्त चारो शैव पुराणो मे शैव दशन जिस रूप मे मिलता है उसे निम्न प्रकार से विभाजित किया गया है—

१ पाशुपत शैव योगाचार्यो की परम्परा एव व्यासावतार

२ पाशुपत दशन

३ षडविशक शिवतत्व

४ लिङ्गोद्भव

५ षडविधाथ परिज्ञान एव षडध्वन

(क) षड्विधाथ परिज्ञान जगत का षडविधात्मक वर्गीकरण मन्त्र, यन्त्र, देवताथ, प्रपञ्चाथ, गुरुरूप, शिष्यात्मरूप।

(ख) षडध्वकथन-जगत का षड्विध वर्गीकरण
शब्दात्मिका भूति मन्त्र, पद, वण
अर्थात्मिका भूति भुवन, तत्व, कला

पाशुपत योगाचार्यो की परम्परा और व्यासावतार

शव पुराणो मे पाशुपत दशन का विशिष्ट स्थान है। इसके दो भेद मिलते हैं—पाशुपत व्रत एव पाशुपत योग। पाशुपत व्रत मे चर्या और क्रिया का प्राधान्य है। पाशुपत योग को माहेश्वर योग भी कहा गया है।[5] पाशुपत व्रत एव पाशुपत योग का उद्देश्य एक ही है—पशुपति से तादात्म्य की प्राप्ति। पाशुपत दर्शन श्रुतिप्रधान माना गया है।[6]

---

१ पुराण सम्प्रवक्ष्यामि यदुक्त मातरिश्वना।
पृष्टेन मुनिभि पूव नमिषीयैमहात्मभि ॥ वायु पु प्रक्रिया १ ४१ (वेंकटेश्वर सस्करण)

२ शिव पु० वायवीय पूर्व० १ ७ (वेंकटेश्वर सस्करण)

३ स्कन्द पु० माहेश्वर ८,४३-४५

४ लिङ्ग पुराण १ ११ १७ (बिब्लओथेका इडिका)

५ शिव पु० सनत्कुमार स० ५७ ४५

६ श्रुतिसारमयो यस्तुशतकोटिप्रविस्तर। शिव पु० वायवीय पूव -३१-१३ पर पाशुपत यत्र व्रत ज्ञान च कथ्यते ॥

निम्नलिखित चार योगाचार्य पाशुपत दर्शन के मूल प्रवतक माने गये हैं—रुद्र, दधीच, अगस्त्य और उपम यु ।[१] शिव पुराण वायवीय पूर्व के आरम्भ मे एक रोचक वृत्ता त पाशुपत दर्शन के विकास मे योगाचार्यो के महत्वपूर्ण योगदान का परिचय देता है। एक बार ऋषियो ने वायु से पूछा कि श्रीकृष्ण ने शैवाचाय उपम यु से पाशुपत व्रत को कैसे प्राप्त किया। उत्तर मे वायु ने कहा कि श्वेतलोहित कल्प मे शूल्पाणि शिव श्वेत मुनि के रूप मे ब्रह्मा के सम्मुख आविभू त हुए और उ हे वरदान स्वरूप दिव्य ज्ञान दिया। ब्रह्मा ने वह ज्ञान तीन भागो मे विभाजित किया—पति, पशु और पाश और इस ज्ञान को वायु को प्रदान किया। वायु से यह ज्ञान ऋषियो को उपलब्ध हुआ।[२] शिव पुराण के अ य प्रमाण के अनुसार भगवान शिव ने श्रीकण्ठ के रूप मे म दर पवत पर पाशुपत ज्ञान पावती को दिया। वही ज्ञान उपम यु से श्रीकृष्ण को प्राप्त हुआ।[३] स्क द पुराण के अनुसार जिज्ञासु देवताओ ने पाशुपत ज्ञान को कैलाश पवत पर शिव से प्राप्त किया।[४] स्कन्द पु० के आधार पर पाशुपत योग के आद्य प्रतिष्ठापक परम शैव स्क द हैं प्रथम श्रोता अगस्त्य मुनि है। स्क द पु० मे पाशुपत योग को पञ्चाक्षरी एव षडक्षरी विद्या कहा गया है।[५]

वायु पुराण का एक वृत्ता त पाशुपत योग के उद्देश्य पर प्रकाश डालता है। इस वृत्तात के अनुसार दक्षयज्ञध्वस के उपरा त दक्ष के द्वारा प्रस न किये जाने पर भगवान शिव ने दक्ष को श्रौत-अश्रौत पाशुपत व्रत वरदान स्वरूप दिया था।[६] ज्ञात होता है पाशुपत व्रत यज्ञ की विकृतियो के अपहार तथा श्रुति एव आगम ग्र थो के साराश ग्रहण की प्रतिष्ठापना का प्रतीक है।

पूवकथित चार योगाचार्यों के अतिरिक्त शिवपुराण मे अ य अनेक शैव योगियो के नाम मिलते हैं। इ होंने पाशुपतो की परम्परा को अपने महत्वपूण योगदान से समृद्ध किया। ये नाम हैं—सनत्कुमार, सनक, सनातन, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, नर नारायण, कपिल, सिद्ध पञ्चशिख, हयशिरामुनि एव याज्ञवल्क्य।[७] इनके अतिरिक्त द्वापर युग के अ त मे अवतरित हुए और लिंग पुराण मे वर्णित अनेक व्यासो का उल्लेख शिवपुराण वायवीय पूव मे मिलता है।[८] निश्चय ही लिंग पुराण मे व्यासावतारो की एक लम्बी सूची मिलती है।[९] इसी प्रकार की व्यासावतारो की सूची वायु पुराण म उपलब्ध होती है।[१०] महाभारत के व्यवस्थापक श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास इ ही पाशुपत व्यासो मे से एक हैं।

शिव पु० के अनुसार वाराह कल्प मे सप्तम मनु के काल मे २८ योगाचाय हुए हैं। इनके नाम हैं श्वेत, सुतार, मदन, सुहोत्र, कङ्क लौगाक्षि, जैगीषव्य, दधिवाह, ऋषभ, उग्र, अत्रि, सुबालक, गौतम, वेदशिरा मुनि, गोकर्ण शिखण्डि, जटामाली, अट्टहास, दारुक, लागलि शूली, दण्डी, मुण्डी, सोमशर्मा और

---

१ शिव पु० वायवीय पूर्व २८-१३
२ „ „ „ १-७
३ शिव पु० वायवीय उत्तर २ २ ४ उमा स०
४ लिंग पु० ८० ८१ (जीवान द विद्यासागर, कलकत्ता)
५ स्क द पु० माहेश्वर ८-४३ ४५
६ वायु पु० उद्घा पात ३०-२९१-२९३ (वेंकटेश्वर सस्करण, बम्बई)
७ शिव पु० सनत्कुमार ५८ ४९-५० (शिव पु० कलकत्ता सस्क०)
८ ऐन्द्रे व्यासावताराणि द्वापरा तेषु सुव्रत ।। शिव पु० वाय पूव ९ ५१
९ लिंग पु० ७ ८
१० वायु पु० २३

नकुलीश्वर। पाशुपतो की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पूर्वोक्त प्रमाणो के अनुसार द्वापर युग के अन्त म अनेक पाशुपत योगी हुए हैं। इनमे व्यासो के अतिरिक्त प्रख्यात महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास पाशुपत योग के मूल प्रतिष्ठापक श्री नकुलीश्वर और श्रीकृष्ण हैं। सम्भवत द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ मे पाशुपत योग का नवीकरण हुआ और पूर्वोक्त तीन महात्माओ ने इस दर्शन को एक नयी दिशा प्रदान की।

पाशुपत दशन

पाशुपत योग तीन तत्वो पर आधारित है—पशु, पाश और पति। शिव पु० के अनुसार यह तीन क्रमश अजड, जड और नियन्ता और भोक्ता भोग्य और प्रेरयिता के वाचक हैं।[१] प्रस्तुत पुराण मे पाशुपत दर्शन को पञ्चार्थविद्या कहा गया है। यह इसका प्रख्यात पर्याय है।[२] पञ्चार्थ से अभिप्राय है निम्नलिखित पांच तत्व-कारण, कार्य, योग, विधि, दु खान्त।[३]

पाश या प्रकृति ससार म अपनी शक्ति का विस्तार करती है। अपने पञ्च कञ्चुक से वह जीवात्म को 'अणु' बना देती है। यह कञ्चुक हैं—कला, (सीमित क्रिया), विद्या (सीमित ज्ञान), राग (आसक्ति), काल (घटना विशेष के परिप्रेक्ष्य मे सीमित काल और नियति) (पूवनिश्चित घटनाक्रम)।[४] पूवजन्म के कर्मो के फलस्वरूप पशु मायापाश से बद्ध होता है। पूवजन्म के कम ही 'मल' कहलाते हैं। मल तीन प्रकार के हैं—आणव, कार्मिक और मायीय। आणव मल आत्मा से नित्य जुडा रहता है। कार्मिक और मायीय क्रमश कम और माया के परिणाम हैं। आध्यात्मिक स्तर पर प्रत्येक पशु का लक्ष्य है पाश से मुक्त होकर शिवता की ओर अग्रसर होना।[५]

पाशुपत दशन के परम तत्व पशुपति की सत्ता सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है। यह जगत् सावयव और काय है। इसका कारण कोई चेतन सत्ता है। यह चेतन सत्ता सवव्यापी, सव शक्तिमान, सर्वज्ञ पशुपति है। उसकी स्वतन्त्र इच्छा इस जगत के रूप म अभिव्यक्त होती है।[६] प्रलयकाल में समस्त सृष्टि का विलय अव्यक्त मे होता है। इस स्थिति मे अव्यक्त पशुपति से अलग स्वतन्त्र अवस्था मे रहता है और प्रधान कहलाता है। सत्व, रजस, और तमस यह तीनो गुण साम्यावस्था म प्रधान मे बसते हैं। प्रलयावस्था मे जब सव तोव्याप्त अन्धकार छाया रहता है तब केवल महेश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नही रहता।[७]

पाशुपत योग सभी शैव पुराणा का एक महत्वपूण विषय है। लिंग पुराण मे पाशुपत योग पर अनेक अध्याय मिलते हैं।[८] वायु पुराण मे उपलब्ध पाशुपत योग विषयक सामग्री सर्वाधिक प्राचीन ज्ञात होती है।[९] स्कन्द पुराण मे पाशुपत दशन पर विस्तृत चिन्तन मिलता है।[१०]

---

१ शिव प० वायवीय पूर्व ४ ७३

२ अथ विद्या परा शैवी पशुपाशविमोचिनी।
पञ्चार्थसज्ञिता दिव्या पशुविद्या बहिष्कृता॥ शिव पु० वाय उत्तर ३१ १६४

३ एस० दासगुप्त हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसौफी वोल्यूम ५-पृ० १ (कैम्ब्रिज यूनि-प्रेस १९६२)

४ शिव पु० वाय पूव ४-३१

५ शिव पु० वाय पूव ४-१६-२०

६ शिव पु० वायवीय पूव ९-१ ११

७ शिव पु० वायवीय पूव ९-१९-२१

८ लिंग पु० पूव २४-२८ ८०,१०८, उत्तर ९

९ वायु पूर्व ११-१५

१० स्कन्द पु० अवन्ती खण्ड पूव ७

षड्विंशक शिवतत्व

शैवपुराणो मे षड्विंशक शिवतत्व की महिमा मिलती है। स्कन्द पुराण के अनुसार पूर्वोक्त शिव तत्व मे २४ तत्व सांख्य के हैं, २५वाँ तत्व चेतन किन्तु निष्क्रिय पुरुष है और २६वाँ तत्व परम रुद्र है जो चैतन्य रूप और सक्रिय है।[१] लिङ्ग पुराण के अनुसार २४ तत्व सांख्य के २५वाँ तत्व पुरुष और २६वाँ तत्त्व महेश्वर हैं।[२] शिव पु० मे २४ तत्व सांख्य के उपरान्त २५वाँ तत्व पुरुष या शक्ति है और २६वाँ तत्व स्वयं परम शिव है।[३] महाभारत मे सांख्य को पञ्चविंशतिक कहा गया है।[४] षड्विंशतिक शैव दर्शन मे सांख्य दर्शन को शैव ढांचे मे ढालने का एक स्पष्ट प्रयास दिखलाई देता है।

पुराणो मे लिङ्गोद्भव

शिवलिङ्ग के आविर्भाव के वृत्तान्त के अन्तर्गत शब्दब्रह्मवाद का दर्शन पल्लवित हुआ है। प्राचीन पुराणो मे यह अविद्यमान है। परन्तु अर्वाचीन पुराणो मे यह लिङ्गाविर्भाव वृत्तान्त का एक अङ्ग ही बन गया है। लिङ्गाविर्भाव का वृत्तान्त शिव के प्रतीकवाद पर आधारित है। पौर्वात्य और पाश्चात्य प्रमाणो के आधार पर लिङ्गपूजा एक आर्येतर रीति थी जो धीरे धीरे वैदिक रुद्र के स्वरूप मे आत्मसात हो गयी। परन्तु अथर्ववेद के स्कम्भ या स्तम्भ, जिसको लिङ का पूर्वरूप कहा जा सकता है, लिङ्ग से भिन्नता रखता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के कतिपय स्थलो मे स्कम्भ प्रकृति के नित्य और सनातन पक्ष का वाचक है—यही ऋत है। ऋग्वेद मे कहा गया है जो अनादि तत्व इन छ लोको को प्रतिष्ठित रखता है, वह कौन है। यहाँ पर 'तस्तम्भ' क्रिया का प्रयोग हुआ है जिससे संज्ञारूप 'स्तम्भ' भी बना है।[५] ऋग्वेद के अन्य स्थल मे उत्तम यक्ष सृष्टि को स्कम्भ की भांति संभाले रखता है।[६] इस प्रकार स्कम्भ अनादि अनन्त तेजोमय वह तत्व है जो सृष्टि को प्रतिष्ठित किये हुए हैं। वैदिक स्कम्भ को लिङ्ग का पूर्वरूप कहा जा सकता है।

मनुष्य की सृष्टि के प्रतीक रूप मे लिङ्ग का चिह्न मिस्र, बैबिलोन और रोम की संस्कृति से आया हुआ ज्ञात होता है।[७] कालक्रम से यह वैदिक 'स्कम्भ' के स्वरूप से एकाकार हो गया प्रतीत होता है। इस प्रकार लिङ्ग शिव-महादेव का सर्व जन वंदित प्रतीक बन गया। पूर्वोक्त दो स्वरूपो का सम्मि

---

१ स्कन्द पु० अवन्ती खण्ड पूर्व १६-१८

२ लिङ्ग पु० पूर्व २८ ७ ९

३ शिव पु० वाय० पूर्व २५ १५

४ महाभारत शान्ति-३०८ ३०७ शिव पु० वाय उत्तर २

५ यस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि।
अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम ॥ ऋग्वेद १,१६४ ६

६ दिवो य स्कम्भो धरुण स्वातत
अपूर्णा अंशु पर्येति विश्वत ॥ ऋग्वद ९ ७४ २

७ (i) Teutonic deity Frey ERE 9, P 816
(ii) Egyptian cheuv, Must & Amuh C p Ticle Egyptian Religions P 80, 123, 125
(iii) Roman priapus representel as the phallus ibid
(iv) Babylonan worship of the detached phalhus ibid

श्रण पौराणिक लिङ्गोद्भव के वृत्तान्त मे स्पष्ट है। इस वृत्तान्त के अनुसार जब ब्रह्मा और विष्णु अपनी महत्ता के लिए कलह कर रहे थे तब एक ज्योतिर्मय लिङ्ग उनके मध्य आविर्भूत हुआ। उसके आदि अन्त को जानने के लिए क्रमश विष्णु और ब्रह्मा प्रवृत्त हुए परन्तु असफल रहे[1] इस प्रकार सम्मुख दृश्यमान शिवलिङ्ग रहस्यात्मक और अज्ञातस्वरूप सिद्ध हुआ।

शैव पुराणो मे शिवलिङ्ग को त्रिमूर्ति और नाद का समन्वय माना गया है[2]। प्रणव या ओंकार से लिङ्ग का निकट का सम्बन्ध है। 'ओम' के अ + उ + म त्रिमूर्ति के वाचक हैं, नाद, नादब्रह्म तथा बिन्दु परमशिव का सूचक है। इस प्रकार ओंकार पञ्चतत्वों से निर्मित है। धनुष बाण उठाकर आसुरी शक्तियो का सहार करने वाले रुद्र-शिव की कल्पना वेदो मे स्पष्ट है। ज्ञात होता है धनुर्धारी रुद्र की रूपाकृति ही पौराणिक काल मे लिङ्ग पर प्रणव की आकृति मे सक्रान्त हो गयी है।

षड्विधार्थ परिज्ञान एव षडध्वकथन

षडविधार्थपरिज्ञान मे छ तत्व मिलते हैं—मन्त्र, यन्त्र, देवता, प्रपञ्चार्थ, गुरुरूप और शिष्यात्मरूप। मन्त्र का अभिप्राय है ध्यान। यन्त्र वाचक है देवमूर्ति की बाह्य एव आन्तरिक पूजा का। देवस्वरूप का चिन्तन ही देवता है। परमेश्वर से जगत का आविर्भाव प्रपञ्चार्थ है। आध्यात्मिक उपलब्धि मे शिष्य के प्रति गुरु का योगदान गुरुरूप है। आध्यात्मिक जिज्ञासु का कर्त्तव्य ही शिष्यात्मरूप है[3]। इसमे दर्शन के तीन मुख्य बिन्दुओ का समावेश हुआ है—आत्मा, परमात्मा एव जगत। गुरुरूप और शिष्यात्मरूप आत्मा (अणु) के प्रतीक हैं। देवता ईश्वर का वाचक है। मन्त्र, यन्त्र और प्रपञ्चार्थ जगत् के प्रतिनिधि-रूप हैं।

षडध्वकथन शब्द अर्थ के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है। अनन्त नाम रूपो से परिपूर्ण इस विश्व मे शब्द अर्थ सर्वत्र व्याप्त हैं। शब्द-अर्थ के युगल से कार्यरूप जगत् आविर्भूत हुआ है। इसी मूल कारण से वर्ण की उत्पत्ति हुई है। वर्ण से पद तथा पद से मन्त्र। अतएव मन्त्र कारणरूपा शब्दात्मिका भूति का कार्य है। अर्थात्मिका भूति या अर्थ से कला, कला से तत्व तथा तत्व से भुवन की उत्पत्ति हुई है। भुवन अर्थात्मिका भूति का स्थूल भौतिक तत्व है। षडध्वा का सिद्धान्त व्यष्टि और समष्टि में समान रूप से व्याप्त है। यह एक तरफ शब्द ब्रह्म से जुडा है तो दूसरी ओर जगत् के समस्त अनुभवो का माध्यम है। भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म के इसी सिद्धान्त को परावाक, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप मे क्रमबद्ध किया है।[4]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

सभी शैव पुराणो मे अद्वैतशिवतत्व का प्रतिपादन हुआ है। अद्वैत शिवतत्व की पृष्ठभूमि मे जिन शैव दार्शनिक विचारधाराओ का विकास हुआ है, उनका सक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। पुराणो के

---

१ शिव पु० विद्येश्वर ३ ६, वायु, उत्तर २७, लिङ्ग पु० ३, १, १७ ५

२ स्कन्द पु० काशी ७३ ९२-९३

३ शिव पु० कलास० १० ८ १०

४ वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम।
अनेकतीर्थ भेदायास्त्रय्या वाच पर पदम॥
वाक्यपदीय १ १

इ ही स्थलो मे बिखरे रूप मे प्रत्यभिज्ञा दर्शन के कतिपय तत्व मिलते हैं। शिव पुराण की ज्ञान एव कैलास सहिता मे परमतत्व रूप शिव के दो पक्ष माने गये हैं—ज्ञान एव चैतन्य। ज्ञान वह प्रकाश है जिससे समस्त पदार्थ आलोकित होते हैं। परब्रह्मरूप शिव के ज्ञानपक्ष को परम शिव कहा गया और चैतन्य पक्ष को महाशक्ति। दोनो मे भेद केवल बाह्य है आन्तरिक रूप से शक्तितत्व शक्तिमान तत्व से भिन्न है। इस प्रकार ज्ञान एव चैतन्य मे भेद नही है। यहा पर शिवसूत्रवार्तिक का प्रथम सूत्र उदधृत किया गया है।[1] चैतन्य को सार्वभौम ज्ञान और क्रिया का समष्टिरूप माना गया है। स्वातन्त्र्य परम शिव का स्वाभाविक गुण है।[2] यहा पर शिवसूत्र वार्तिक का द्वितीय सूत्र उदधृत किया गया है। लौकिक ज्ञान मनुष्य को बन्धनग्रस्त करता है।[3] शिवपुराण ज्ञान सहिता के अन्त मे परमशिव को समस्त जगत् की समष्टि कहा गया है। उनमे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का समन्वय हो जाता है। वह जगत के स्रष्टा, विश्वात्मक एव विश्वोत्तीर्ण तत्व हैं। उनका विश्वात्मक रूप केवल आभासमात्र है, उसी प्रकार जैसे जल मे सूर्य या चन्द्र का प्रतिबिम्ब।[4]

वस्तुत शैव दर्शन की तीन धाराएँ पृथक होती हुई भी एक स्तर पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन, जिसको त्रिकशास्त्र भी कहा गया है, इसके उद्भव पर प्रकाश डालते हुए तन्त्रालोक मे कहा गया है—कालवश प्राचीन सिद्ध ऋषियो के नष्ट होने पर जब ६४ शैव तन्त्र उच्छिन्न हो गये तब भगवान् शिव ने मानव कल्याण के लिए श्रीकण्ठ का स्वरूप धारण करके कैलास पर्वत पर त्रिक ज्ञान दुर्वासा मुनि को दिया। दुर्वासा मुनि ने अपने तीन शिष्यो के माध्यम से इस ज्ञान का प्रचार किया। यहा पर वेद प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूलस्रोत माने गये हैं।[5] इस सन्दर्भ मे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक, प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल स्रोत वेद है। दूसरा, कैलास पर्वत पर उच्छिन्न शिवतन्त्रो के पुनरुद्धार के लिए श्रीकण्ठ के द्वारा दुर्वासा को दिया गया त्रिक ज्ञान। इन दोनो कथनो के द्वारा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का वैदिक और पौराणिक सम्बन्ध लक्षित होता है। शिव पु० में शिव श्रीकण्ठ के रूप मे पाशुपत योग पार्वती को देते हैं।[6] प्रस्तुत पुराण में वक्ता वही हैं जो तन्त्रालोक मे वर्णित है—अर्थात श्रीकण्ठ शिव परन्तु श्रोता भिन्न हैं पाशुपत योग मे तीन मुख्य तत्त्व हैं—पति, पशु और पाश। त्रिक दर्शन म भी तीन मुख्य तत्व हैं—शिव, शक्ति और अणु। यह दोनो एक ही उद्देश्य को लेकर चलते हैं। इस प्रकार शैव पुराणो मे उपलब्ध शैव दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन और सिद्धान्त शैव दर्शन मे पारस्परिक आदान प्रदान एव प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है।

---

१ चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्र प्रवर्तितम। शिव पु० कैलास० १० १२५

२ शिव पु० कैलास १० १२६

३ ज्ञान बन्ध इतीद तु द्वितीय सूत्रमीशितु। वही १२७

४ यथा च ज्योतिषश्चैव जलादो प्रतिबिम्बता।
वस्तुतो न प्रवेशो वै तथैव च स्वय शिव ॥ शिव पु० ज्ञान० ७८ ५

५ वेदाच्छैव ततो वाम ततो दक्ष तत कुलम्।
ततो मत ततश्चापि त्रिक सर्वोत्तम परम॥
तन्त्रालोक टीका पृ० ३४
जे० सी० चटर्जी काश्मीर शैविज्म पृ० ६ से उदधृत
(काश्मीर शैविज्म—श्रीनगर १९६२)

६ शिव पु० वाय० उत्तर० २-२ ५, उमा स०।

प्रत्यभिना दशन के मुख्यत तीन भेद मिलते हैं—आगम शास्त्र, प्रत्यभिज्ञा शास्त्र, स्पन्द शास्त्र। आगम शास्त्र के अन्तगत प्राचीन शिवागम आते हैं जिनमे से प्रख्यात मालिनी विजय, स्वच्छन्द, मृगेन्द्रागम तथा रुद्रयामल हैं। इनके रचनाकार अज्ञात हैं। इनम शैव दर्शन द्वैतपरक है। ज्ञात होता है अद्वैत शैव दर्शन की स्थापना के लिये शिवसूत्रो की रचना हुई। स्वय शिव इनके कर्त्ता मान गये हैं। लगभग आठवी शताब्दी मे वसुगुप्त नामक विद्वान को इनके दर्शन हुए। शिवसूत्रो पर काश्मीरी विद्वान भास्कर के भाष्य मिलते हैं। यह लगभग ग्यारहवी शताब्दी मे लिखे गये ज्ञात होते हैं।[१]

स्पन्दशास्त्र के अन्तर्गत स्पन्दसूत्र और स्पन्दकारिका मिलते हैं। यह शिवसूत्र पर आधारित हैं। ज्ञात होता है वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट ने स्पन्दसूत्रो की रचना की।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के प्रतिष्ठापक वसुगुप्त की शिष्यपरम्परा मे सिद्ध सोमानन्द माने गये हैं। इन्होने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ की रचना की। इस दर्शन का द्वितीय महत्वपूण ग्रन्थ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा है। इसके रचनाकार सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य माने गय हैं। अभिनवगुप्त विरचित प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन ग्रन्थो पर टीकाएँ और विस्तृत व्याख्याएँ बहुत समय तक लिखी जाती रही।

प्रयत्यभिना शैव दर्शन मे परमशिव प्रकाश सविद्रूप, देशकालातीत, स्वतन्त्र, सवव्यापी और निराकार स्वरूप हैं। वह अपनी पाच प्रकार की शक्तियो से शक्तिमान हैं—आनन्द शक्ति, इच्छाशक्ति, चिच्छक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति।[२] जब वह सृष्टि की इच्छा करते हैं तब उनका प्रथम स्पन्द ही शक्तितत्व कहलाता है। जब वह 'अहम्' म 'इदम' तत्व को उल्लसित करते हैं तब इच्छाशक्तिप्रधान सदाशिवतत्व आविर्भूत होता है। जब स्पष्ट इदमश मे अहमश का सिञ्चन होता है तब ज्ञानशक्तिप्रधान ईश्वरतत्व प्रकट होता है। जब 'अहमिदम' यह प्रतीति समानकोटिक होती है तब क्रियाशक्तिप्रधान विद्यातत्त्व उदित होता है। एक मे अनेकता और स्वरूप का तिरोधान करने वाली शक्ति माया है। जब परमेश्वर मायाशक्ति से सकुचित रूप हो जाता है तब 'पुरुष' कहलाता है। कला, विद्या, राग, काल, नियति यह पाच कञ्चुक हैं। इनसे परमतत्व का शुद्ध रूप आवृत्त हो जाता है। कला पुरुष के सीमित कर्त्तृत्व का वाचक है। विद्या सीमित ज्ञान, राग विषयासक्ति, काल किसी घटना विशेष के रूप मे सीमित काल एव नियति कर्तव्यविषयक नियमन है। महत से लेकर पृथ्वी तक तत्वो का मूल कारण प्रकृति है। वह सत्व-रजस और तमस् की साम्यावस्थारूप है। बुद्धि के द्वारा विकल्प और निश्चय होते हैं। अहङ्कार 'यह मेरा', 'यह मेरा नही' एतद्रूपात्मक है।

मन सकल्प का साधन है। यह तीनो मिलकर अन्तःकरण कहलाते हैं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द गुणों की साधनभूत क्रमश पाँच ज्ञानेन्द्रिया हैं—चक्षु, जिह्वा घ्राण, त्वक और श्रोत्र। वाक, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ यह पाच कर्मेन्द्रिया हैं। शब्द, स्पश, रूप, रस, गन्ध यह पाच तन्मात्राएँ हैं। जैसे न्यग्रोध के

---

१ जे० सी० चटर्जी काश्मीर शैविज्म पृ० ९

२ अभिनवगुप्त तन्त्रसार उपोद्घात।

३ ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त सदाशिव।
समानाधिकरण्यञ्च सदविद्याहमिद धियो ॥ भास्करी जिल्द २,३ १ ३
(भास्करी—ईश्वरप्रत्यभिनाविमर्शिनी अभिनवगुप्त कृत टीका—सरस्वती भवन ग्रन्थ न० ८३, इलाहाबाद -१९५०)

इन्ही स्थलो मे बिखरे रूप मे प्रत्यभिज्ञा दर्शन के कतिपय तत्व मिलते हैं। शिव पुराण की ज्ञान कैलास सहिता मे परमतत्व रूप शिव के दो पक्ष माने गये हैं—ज्ञान एव चैतन्य। ज्ञान वह प्रकाश है जि समस्त पदार्थ आलोकित होते हैं। परब्रह्मरूप शिव के ज्ञानपक्ष को परम शिव कहा गया और चैतन्य को महाशक्ति। दोनो मे भेद केवल बाह्य है आन्तरिक रूप से शक्तितत्व शक्तिमान तत्व से भिन्न इस प्रकार ज्ञान एव चैतन्य मे भेद नही है। यहाँ पर शिवसूत्रवार्त्तिक का प्रथम सूत्र उदधृत किया है।[1] चैतन्य को सार्वभौम ज्ञान और क्रिया का समष्टिरूप माना गया है। स्वातन्त्र्य परम शिव स्वाभाविक गुण है।[2] यहा पर शिवसूत्र वार्त्तिक का द्वितीय सूत्र उद्धृत किया गया है। लौकिक मनुष्य को बन्धनग्रस्त करता है।[3] शिवपुराण ज्ञान सहिता के अन्त मे परमशिव को समस्त जगत समष्टि कहा गया है। उनमे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का समन्वय हो जाता है। वह जगत के स विश्वात्मक एव विश्वोत्तीण तत्व हैं। उनका विश्वात्मक रूप केवल आभासमात्र है, उसी प्रकार जैसे मे सूर्य या चन्द्र का प्रतिबिम्ब।[4]

वस्तुत शैव दशन की तीन धाराएँ पृथक होती हुई भी एक स्तर पर एक दूसरे से सम्बद्ध प्रत्यभिज्ञा दर्शन, जिसको त्रिकशास्त्र भी कहा गया है, इसके उद्भव पर प्रकाश डालते हुए तन्त्रालोक कहा गया है—कालवश प्राचीन सिद्ध ऋषियो के नष्ट होने पर जब ६४ शैव तन्त्र उच्छिन्न हो गये भगवान् शिव ने मानव कल्याण के लिए श्रीकण्ठ का स्वरूप धारण करके कैलास पर्वत पर त्रिक दुर्वासा मुनि को दिया। दुर्वासा मुनि ने अपने तीन शिष्यो के माध्यम से इस ज्ञान का प्रचार कि यहा पर वेद प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूलस्रोत माने गये हैं।[5] इस सन्दर्भ मे दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल स्रोत वेद हैं। दूसरा, कैलास पर्वत पर उच्छिन्न शिवतन्त्रो के पुनरुद्धार के लि श्रीकण्ठ के द्वारा दुर्वासा को दिया गया त्रिक ज्ञान। इन दोनो कथनों के द्वारा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का वै और पौराणिक सम्बन्ध लक्षित होता है। शिव पु० मे शिव श्रीकण्ठ के रूप मे पाशुपत योग पार्वती को हैं।[6] प्रस्तुत पुराण मे वक्ता वही है जो तन्त्रालोक मे वर्णित है—अर्थात् श्रीकण्ठ शिव परन्तु श्रोता भि पाशुपत योग मे तीन मुख्य तत्त्व हैं—पति, पशु और पाश। त्रिक दर्शन मे भी तीन मुख्य तत्त्व हैं—शिव, श और अणु। यह दोनो एक ही उद्देश्य को लेकर चलते हैं। इस प्रकार शैव पुराणो मे उपलब्ध शैव द प्रत्यभिज्ञा दर्शन और सिद्धान्त शैव दर्शन मे पारस्परिक आदान प्रदान एव प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है।

---

१ चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्र प्रवर्त्तितम। शिव पु० कैलास० १० १२५
२ शिव पु० कैलास १० १२६
३ ज्ञान बन्ध इतीद तु द्वितीय सूत्रमीशितु। वही १२७
४ यथा च ज्योतिषश्चैव जलादौ प्रतिबिम्बता।
  वस्तुतो न प्रवेशो वै तथैव च स्वय शिव॥ शिव पु० ज्ञान० ७८ ५
५ वेदाच्छैव ततो वाम ततो दक्ष तत कुलम्।
  ततो मत ततश्चापि त्रिक सर्वोत्तम परम्॥
  तन्त्रालोक टीका पृ० ३४
  जे० सी० चटर्जी काश्मीर शैविज्म पृ० ६ से उदधृत
  (काश्मीर शैविज्म—श्रीनगर १९६२)
६ शिव पु० वाय० उत्तर० २ २ ५, उमा स० १

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मुख्यत तीन भेद मिलते हैं—आगम शास्त्र, प्रत्यभिज्ञा शास्त्र, स्पन्द शास्त्र। आगम शास्त्र के अन्तर्गत प्राचीन शिवागम आते हैं जिनमे से प्रख्यात मालिनी विजय, स्वच्छन्द, मृगेन्द्रागम तथा रुद्रयामल हैं। इनके रचनाकार अज्ञात हैं। इनमे शैव दर्शन द्वैतपरक है। ज्ञात होता है अद्वैत शैव दर्शन की स्थापना के लिये शिवसूत्रो की रचना हुई। स्वय शिव इनके कर्त्ता मान गये है। लगभग आठवी शताब्दी मे वसुगुप्त नामक विद्वान को इनके दर्शन हुए। शिवसूत्रो पर काश्मीरी विद्वान भास्कर के भाष्य मिलते हैं। यह लगभग ग्यारहवी शताब्दी म लिखे गय ज्ञात हात हैं।[1]

स्पन्दशास्त्र के अन्तगत स्पन्दसूत्र और स्पन्दकारिका मिलते हैं। यह शिवसूत्र पर आधारित हैं। ज्ञात होता है वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट ने स्पन्दसूत्रो की रचना की।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के प्रतिष्ठापक वसुगुप्त की शिष्यपरम्परा मे सिद्ध सोमानन्द माने गये हैं। इन्होंने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ की रचना की। इस दर्शन का द्वितीय महत्वपूण ग्रन्थ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा है। इसके रचनाकार सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य माने गये हैं। अभिनवगुप्त विरचित प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन ग्रन्थो पर टीकाएँ और विस्तृत व्याख्याएँ बहुत समय तक लिखी जाती रही।

प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन मे परमशिव प्रकाश सविद्रूप, देशकालातीत, स्वतन्त्र, सवव्यापी और निराकार स्वरूप हैं। वह अपनी पाच प्रकार की शक्तिया से शक्तिमान हैं—आनन्द शक्ति, इच्छाशक्ति, चिच्छक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति।[2] जब वह सृष्टि की इच्छा करते हैं तब उनका प्रथम स्पन्द ही शक्तितत्व कहलाता है। जब वह 'अहम्' म 'इदम्' तत्व को उल्लसित करते हैं तब इच्छाशक्तिप्रधान सदाशिवतत्व आविर्भूत होता है। जब स्पष्ट इदमश मे अहमश का सिञ्चन होता है तब ज्ञानशक्तिप्रधान ईश्वरतत्व प्रकट हाता है। जब 'अहमिदम' यह प्रतीति समानकोटिक होती है तब क्रियाशक्तिप्रधान विद्यातत्त्व उदित होता है। एक में अनेकता और स्वरूप का तिरोधान करने वाली शक्ति माया है। जब परमेश्वर मायाशक्ति से सकुचित रूप हो जाता है तब 'पुरुष' कहलाता है। कला, विद्या, राग, काल, नियति यह पाँच कञ्चुक हैं। इनसे परमतत्व का शुद्ध रूप आवृत्त हो जाता है। कला पुरुष के सीमित कर्तृत्व का वाचक है। विद्या सीमित ज्ञान, राग विषयासक्ति, काल किसी घटना विशेष के रूप म सीमित काल एव नियति कर्त्तव्यविषयक नियमन है। महत् से लेकर पृथ्वी तक तत्वो का मूल कारण प्रकृति है। वह सत्व रजस और तमस् की साम्यावस्थारूप है। बुद्धि के द्वारा विकल्प और निश्चय होते हैं। अहङ्कार 'यह मेरा', 'यह मेरा नहीं' एतद्रूपात्मक है।

मन सकल्प का साधन है। यह तीना मिलकर अन्तःकरण कहलात हैं। रूप-रस गन्ध स्पर्श शब्द गुणो की साधनभूत क्रमश पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक और श्रोत्र। वाक, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पश, रूप, रस, गन्ध यह पाच तन्मात्राएँ हैं। जैसे न्यग्रोध के

---

१ जे० सी० चटर्जी काश्मीर शैविज्म पृ० ९

२ अभिनवगुप्त तन्त्रसार उपोद्घात।

३ ईश्वरो बहिरुन्मषो निमेषोऽन्त सदाशिव।
समानाधिकरण्यञ्च सद्विद्याहमिद धियो ॥ भास्करी जिल्द २,३ १-३
(भास्करी—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी अभिनवगुप्त कृत टीका—सरस्वती भवन ग्रन्थ न० ८३, इलाहाबाद -१९५०)

बीज मे महान वृक्ष की समस्त शक्ति विद्यमान होती है उसी प्रकार परम शिव समस्त ३५ तत्वों के उदय और विश्रान्ति रूप ३६वें तत्व हैं ।[१]

शैव सिद्धान्त दर्शन

शैव सिद्धान्त दर्शन सिद्ध हो गये अन्त या परिणाम से युक्त शैव दर्शन का वाचक है। श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य २ २ ३७ मे सिद्धान्त शास्त्र का उल्लेख किया है । उन्होंने शैव सिद्धान्तियों के सम्बन्ध म दो बातों की ओर ध्यान दिलाया है । पहला, शैव सिद्धान्ती ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं, वेदान्तियो की भांति निमित्त और उपादान कारण नही । दूसरा, यह दर्शन तीन तत्वा पर आधारित है—पति, पशु एव पाश । इसम कोई सन्देह नही कि शैव सिद्धान्त के अनेक मत पुराणा म उपलब्ध शैव तथा पाशुपत दर्शन से समानता रखत हैं । शैव सिद्धान्ती शिवागमों को वेदों के समान मौलिक एव प्रामाणिक मानते हैं । शिव पुराण की वायवीय संहिता मे भी कामिकागम और अन्य अनेक शिवागमो को शैव दर्शन का मूल स्रोत माना है ।[२] पाशुपत दर्शन यद्यपि वेदाश्रित है परन्तु साथ ही आगमो के महत्व को स्वीकारता है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी आगममूलक दर्शन है । इस प्रकार शिवागम लगभग सभी शैव दार्शनिक मतवादो के आधारग्रथ ज्ञात होते हैं ।

ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सिद्धान्तवादी सत्कार्यवाद का आश्रय लेता है । नित्य परिवर्तनशील यह जगत् कार्यरूप है । अत इसका कर्त्ता अवश्य होना चाहिए । चैतन्यरूप परमतत्व ही इस अलौकिक काय का सम्पन्न कर सकता है । शैव सिद्धान्त तीन नित्य पदार्थों को मान कर चलता है—शिव, आत्मा एव माया । आत्मा मल से युक्त है निमल परमेश्वर ही उसे इससे मुक्त कर सकता है । शिव आत्मा और माया से अतीत, चेतन और सवज्ञ है । यद्यपि आत्मा भी सत् और चिद्रूप है परन्तु उसकी शक्ति सीमित है । माया जड होने के कारण स्वय कुछ भी करने में असमर्थ है । वह शिव के अधीन उपादान कारण है, जब कि स्वय शिव निमित्त कारण हैं । माया माध्यम मात्र है जिससे आत्मा अपने अपने देह और लोको को प्राप्त कर के मुक्ति के लिये प्रयत्नशील होती है । इस प्रकार शिव आत्मा और माया से अतीत एव सर्वोपरि हैं ।[३]

परशिव और परशक्ति दो तत्व होने पर भी अभिन्न हैं । शिव शुद्ध ज्ञान रूप एव शक्ति शुद्ध क्रियारूपा है । इन दोना के समन्वय से तीन शक्तियो का समुदय होता है—इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, एव ज्ञानशक्ति । इच्छाशक्ति में ज्ञान और क्रिया समान मात्रा में होते हैं । क्रियाशक्ति में ज्ञान क्रिया के मिश्रण के साथ क्रियाशक्ति का आधिक्य होता है । ज्ञानशक्ति में ज्ञान एव क्रिया का मिश्रण तथा ज्ञान का प्राचुर्य होता है । इसको अरूप शक्ति भी कहते हैं । जीव की मुक्ति के अवसर पर इसको सक्रिय ज्ञानशक्ति कहा जा सकता है । जब जीव बन्धनोन्मुख होता है, उस समय यह तिरोधानशक्ति के रूप में सक्रिय होती है ।[४]

---

१ यथा न्यग्रोधबीजस्थ शक्तिरूपो महाद्रुम ।
तथा हृदयबीजस्थ विश्वमेतत्तचराचरम ।।
क्षेमराज परात्रावेशिका पृ० ११, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली १५, श्रीनगर, १९१८

२ शैवागमाश्च ये चान्ये कामिकाद्याश्चतुर्विधा । शिव पु० वाय० उत्तर० ३१-१६६

३ वी० पराञ्जोति शैव सिद्धान्त, पृ० ४८।

४ एस० दासगुप्त ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासोफी जिल्द ५,

प्रत्यभिज्ञा दर्शन और सिद्धान्त शैव दर्शन दोनो आगममूलक दर्शन हैं यद्यपि दोनो वेद की प्राचीनता और प्रामाणिकता को स्वीकारते हैं एव उनसे प्रभावित हैं। पाशुपत दर्शन वेदमूलक होने पर भी आगमो के प्रति ऋणी है।[१] तीनो दर्शन तीन तत्व क सिद्धान्त पर आधारित हैं—पशु, पाश, पति। पूर्वोक्त तीनो दर्शनो के परमतत्व शिव हैं। तीनो दार्शनिक मतवाद अद्वैत शैव दर्शन के समर्थक हैं। परन्तु स्थानीय प्रभाव, परम्पराविशेष का पोषण तथा सम्प्रदायविशेष की प्रवृत्ति के कारण तीनो दर्शनो का विकास पृथक पृथक रूप में हुआ है। सिद्धान्त शैव दर्शन पर शैवागमो का प्रभाव सर्वाधिक है। इनमें से कुछ सस्कृत में तथा अन्य तमिल भाषा में लिखे गये हैं। काश्मीर में विकसित प्रत्यभिज्ञा दर्शन में चिन्तनात्मक पक्ष प्रबल है। पाशुपत शैव दर्शन किसी स्थानविशेष से जुडा नही है। वेदमूलक इस दर्शन का प्रभाव भारत के लगभग सभी प्रदेशो में है। इसके जीवन्त उदाहरण शैव पुराण हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लगभग सभी शैव पुराणो में पाशुपत दर्शन विषयक सामग्री उपलब्ध होती है। ●

---

१ शैवागमो हि द्विविध श्रौतोऽश्रौतश्च सस्कृत पृ० १५७
श्रुतिसारमय श्रौतस्वतन्त्रइतरोमत ॥
स्वतन्त्रो दशधा पूव तथाष्टादशधा पुन । शिव पु० वायवीयपूव-३१-११-१२

व्याकरण-दर्शन

डॉ० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

संस्कृत व्याकरण शास्त्र न केवल भाषा का व्यावहारिक विज्ञान अथवा शुद्ध प्रयोगों की शिक्षा देनेवाला शास्त्र है अपितु प्राचीन भारतीय मनीषियों के द्वारा यह दर्शन के धरातल पर पहुँचा दिया गया है। इसका स्वतन्त्र तत्त्वदर्शन तो है ही, अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के समान यह भी मोक्षशास्त्र कहा गया है जिसमें शब्दब्रह्म की उपासना के द्वारा मोक्ष अर्थात् परम पुरुषार्थ की प्राप्ति बतलायी गयी है। महाभारत के शान्ति पर्व में ब्रह्म के दो भेद किये गये हैं—शब्दब्रह्म और परब्रह्म। शब्दब्रह्म में पारंगत व्यक्ति ही परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[१] पतञ्जलि ने इसे सभी शास्त्रों का आधार और समन्वयकर्त्ता कहा है—सर्ववेद पारिषद हीदं शास्त्रम्।[२] यही कारण है कि इसमें विविध मतों का विचार किया जाता है तथा वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेकर उनमें समन्वय दिखाया जाता है। भर्तृहरि ने भी व्याकरण को अपवर्ग का द्वार एवं वाणी के मलों की चिकित्सा विधि के साथ सिद्धि के सोपानों में प्रथम बतलाया है।[३] मोक्ष चाहने वाले के लिये व्याकरण-शास्त्र अत्यधिक ऋजु राजमार्ग है जिस पर सभी चल सकते हैं, धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, क्षेत्र, उपासना पद्धति आदि की क्षुद्र मीमांसा का यहाँ कोई स्थान नहीं।

शब्दब्रह्म की उपासना के कारण व्याकरण दर्शन का सम्बन्ध नादोपासना के अन्य शास्त्रों के साथ बहुत ही निकट का है। ये शास्त्र हैं—संगीत, साहित्य (काव्य तथा काव्यशास्त्र), मन्त्रशास्त्र (तन्त्रविद्या)। इन सभी शास्त्रों में शब्द के विविध रूपों का विवेचन विश्लेषण होता है। इनकी पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं किन्तु सबके लक्ष्य एकात्मक हैं—शब्दब्रह्म की प्राप्ति। इस दृष्टि से व्याकरण दर्शन इनका सहायक है तथा विषय-वस्तु के लिए व्याकरण इनका उपयोग भी करता है।

साहित्य

व्याकरण दर्शन का साहित्य विविध मौलिक ग्रन्थों में बिखरा हुआ है। पाणिनि से जिस प्रकार संस्कृत व्याकरण का सुव्यवस्थित रूप आरम्भ होता है, उसी प्रकार व्याकरण-दर्शन का भी स्पष्ट रूप उनसे

---

१ महाभारत (गीताप्रेस), शान्तिपर्व २७०।१ २

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

२ पतञ्जलि महाभाष्य २।१।५८

३ भर्तृहरि—वाक्यपदीय १।१४।१।१६

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

ही प्रवृत्त होता है। वैसे वैदिक ग्रन्थों में भी इस विषय की स्फुट सामग्री प्राप्त होती है। ऋग्वेद के वाक्सूक्त (१०/१२५) में वाणी की सर्वव्यापकता दिखायी गयी है। वाणी के विश्लेषण से सम्बद्ध कई ऋचाएँ ऋग्वेद में आयी हैं। इससे ज्ञात होता है कि तत्त्वजिज्ञासा के समान वाक् की जिज्ञासा का भी आरम्भ ऋग्वेद-काल में ही हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो इसका पर्याप्त विकास मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (६/४/७/३) में इन्द्र के द्वारा व्यावहारिक उपयोग के लिये वाणी के विभाजन (व्याकृति) की कथा मिलती है। गोपथ ब्राह्मण (१/१/२४) में ओंकार का विवेचन करते हुए प्रश्न उठा है कि इसमें कौन धातु है, कौन प्रातिपदिक है, नाम और आख्यात कौन सा है, लिंग, वचन, विभक्ति और प्रत्यय कौन है ?

वस्तुतः उपलब्ध सामग्री में व्यवस्था की दृष्टि से पाणिनि (५०० ई० पू०) के सूत्रों में व्याकरण दर्शन की प्रथम सामग्री है। व्याकरणदर्शन के परवर्ती लेखकों ने तो यहाँ तक कहा है कि इस दर्शन में जो कुछ भी है, सबका निर्देश सूत्रों में ही है, उदाहरण अवश्य ही दूसरा के लिये जाते हैं।[1] व्याकरण दर्शन के व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दोनों पक्षों से पाणिनि का पूर्ण परिचय था जिसे उनके सूत्रों से जाना जा सकता है। पाणिनि के समकालिक आचार्य व्याडि ने अपने काल में विकीर्ण व्याकरण दर्शन के वाक्यों का संकलन करके 'संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था जो अब अनुपलब्ध है किन्तु उसके स्वरूप की चर्चा पतञ्जलि के महाभाष्य, भर्तृहरि के वाक्यपदीय तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों में हुई है। 'संग्रह' के जो उद्धरण अभी उपलब्ध हैं उनसे पता लगता है कि इस ग्रन्थ में प्राकृत और वैकृत ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ, सम्बन्ध, शब्द की नित्यता- अनित्यता इत्यादि विविध विषयों पर विचार किया गया था। कात्यायन (३५० ई० पू०) के वार्तिकों में भी विविध स्फुट विषयों का समीचीन विवेचन है। विशेष रूप से उनके वार्तिक 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध—ये तीनों सिद्ध या नित्य हैं) में समस्त व्याकरण दर्शन पुञ्जीभूत हो उठा है।

पतञ्जलि (१५० ई० पू०) का महाभाष्य भी समस्त दार्शनिक चिन्तनों का अभीष्ट मूल्यांकन करने वाला ग्रन्थ है।[2] इसे भर्तृहरि ने व्याडि के 'संग्रह' का प्रतिनिधि कहा है।[3] सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि पतञ्जलि के महाभाष्य में संग्रह की सारी स्थापनाएँ गतार्थ हो जाने के कारण मूल 'संग्रह' ग्रन्थ उपेक्षित होते होते लुप्त हो गया होगा। भर्तृहरि (४५० ई०) का वाक्यपदीय वास्तविक अर्थ में, व्याकरण दर्शन का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें शब्द शास्त्र को दार्शनिक आधार पर ही देखा-परखा गया है। पाणिनि और पतञ्जलि के लिए व्याकरण-दर्शन विवेचन का अंगमात्र है, भले ही महत्त्वपूर्ण अंग हो, किन्तु भर्तृहरि के लिए तो शब्द दर्शन ही एकमात्र विवेच्य है। व्याकरण को एक व्यवस्थित दर्शन का रूप पहली बार भर्तृहरि ने ही दिया जिसमें वाक् के व्यवहार पक्ष से लेकर शब्दब्रह्म तक के सोपान अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनके वाक्यपदीय में तीन काण्ड हैं जिन्हें क्रमशः ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड और प्रकीर्णकाण्ड कहते

---

१ मल्लवादि क्षमाश्रमण रचित द्वादशारनयचक्र की न्यायागमानुसारिणी व्याख्या (पृ० ५३६) में उद्धरण—सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके।
उदाहरणमन्यस्य प्रत्युदाहरणं पुनः ॥

२ भर्तृहरि—वाक्यपदीय २।४८५
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

३ उपरिवत्, २।४८८ संग्रहप्रतिकञ्चुके

है। अंतिम काण्ड चौदह पृथक पृथक समुद्देशो में विभक्त है जिनमें जाति, द्रव्य, सम्बन्ध, गुण, दिक्, साधन क्रिया, काल, पुरुष आदि विषयों पर दार्शनिक दृष्टि डाली गयी है। वाक्यपदीय में कुल १८६० कारिकाएँ हैं जिनमें व्याकरण दर्शन की सर्वांगपूर्ण व्याख्या है।

परवर्तीयुग में व्याकरण दर्शन से सम्बद्ध कई ग्रंथ लिखे गये जिनमें कौण्डभट्ट-रचित वैयाकरण भूषण, नागेशभट्ट रचित वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा (छोटे-बड़े तीन संस्करणों में प्राप्त), स्फोटवाद आदि महत्वपूर्ण हैं। ये ग्रंथ १७वीं शताब्दी ई० में लिखे गये थे। व्याकरण-दर्शन को प्रारम्भ से ही विरोधियों का आक्षेप झेलना पड़ा। अपने शब्दनित्यत्ववाद को नैयायिकों से, स्फोटवाद को न्याय-मीमांसा-वेदान्त से तथा वाक्य विषयक सिद्धान्त की रक्षा न्याय और मीमांसा से इन्हें करनी पड़ी। इस वाद विवाद का परिणाम यह हुआ कि दूसरे दर्शनों में भी भाषा की मीमांसा पर्याप्त रूप से हुई तथा इस विषय का साहित्य किसी एक दर्शन के समस्त वाङ्मय की अपेक्षा अधिक परिमाण का हो गया।

न्याय-दर्शन में शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत भाषा-दर्शन पर व्यापक विचार हुआ। नव्य-न्याय ने जब अपना मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण-विवेचन को ही बनाया और इस क्रम में भाषा में अभिव्यक्ति की सूक्ष्म प्रक्रिया अपनायी तब स्वभावतः तत्वचिन्तामणि का शब्दखण्ड, शब्द-शक्तिप्रकाशिका, व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद जैसे न्यायशास्त्रीय ग्रंथों की रचना हुई। ये ग्रंथ मूलतः शब्द को अनित्य मानने के कारण भाषा के बहिरंग पर ही विवादों में उलझे रहे, व्याकरण दर्शन की तत्वशास्त्रीय गम्भीरता में नहीं उतर सके। फिर भी इन ग्रन्थों में किये गये आक्षेपों से व्याकरण-दर्शन की रक्षा के लिए कौण्डभट्ट, नागेश आदि को अत्यधिक प्रयास करना पड़ा। उधर मीमांसा-दर्शन शब्दनित्यत्व का समर्थक होने पर भी वाक्य के घटक तत्वों के विवेचन में व्याकरण-दर्शन का आरम्भ से ही विरोधी बना रहा। विशेष रूप से स्फोट के खण्डन के लिए वह बहुत ही मुखर रहा। परिणामतः उस दर्शन में साहित्य का परिमाण बहुत बढ़ गया। कुल मिलाकर संस्कृत भाषा में भाषा-दर्शन के विवेचन के लिये मौलिक ग्रन्थों की ही संख्या सौ से अधिक होगी, टीका ग्रंथों की तो बात ही अलग है।

सिद्धान्त

माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में सर्वप्रथम पाणिनि दर्शन के अन्तर्गत व्याकरण दर्शन को अन्य दर्शनों के मध्य प्रतिष्ठित किया है। उसमें परमतत्त्व के रूप में स्फोट नामक अवयव रहित नित्य शब्द को ही ब्रह्म कहा गया है, वही जगत का आदिकारण है।[1] इसका निरूपण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक में ही किया है[2] कि वह अनादि, अनन्त, अक्षर (नित्य) शब्दतत्त्व के रूप में ब्रह्म ही है, वही जगत की विविध वस्तुओं के रूप में प्रतिभासित होता है (विवर्तते) तथा जगत की समस्त प्रक्रियाएँ (व्यवहार) उसी शब्दब्रह्म के कारण प्रवृत्त होती हैं। जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त-दर्शन में समस्त जगत तथा उसमें होने वाले व्यवहार अद्वितीय ब्रह्म के विवर्त (अतात्त्विक प्रतीति मात्र) माने जाते हैं, उसी प्रकार व्याकरण दर्शन

---

१ माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह (चौखम्बा विद्याभवन संस्करण, १९८४), पृ० ५०४
जगन्निदानं स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे।

२ वाक्यपदीय १।१

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

भी एकमात्र स्फोट रूप शब्दब्रह्म को पारमार्थिक मान कर उसीसे विवर्त के रूप मे समस्त अर्थो की उपपत्ति करता है। शब्दब्रह्म मे भी नाना पदार्थों को उत्पन्न करने की शक्ति है यद्यपि वह ब्रह्म मूलत एक है, पार्थक्य-शून्य है। शक्ति के अन्तर्गत भेदो की सत्ता निहित है। इसी से जगत् के व्यावहारिक भेद प्रकट होते हैं। यह भेद पारमार्थिक या वास्तविक नही होता, भेद की प्रतीति ही होती है।[1] उदाहरण के लिए शब्दब्रह्म की कालशक्ति उसकी व्यापक शक्ति का एक अंश है, इस शक्ति के आधार पर पदार्थों के जन्म सत्ता, परिवर्तन,, वृद्धि, ह्रास और विनाश—इन छह विकारो की व्यवस्था होती है।[2] इसलिए शब्द ब्रह्म के नित्य होने पर भी इन क्रियाओं के रूप मे पूर्वापर क्रम तथा अनित्य व्यापारों की व्यवस्था हो पाती है। इसी प्रकार शब्द-ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ भाषा के प्रयोगो मे प्रकट होती हैं।

जिस प्रकार तरग, बुद्बुद्, आवर्त आदि जल के विकार रूप मे पृथक पृथक् जाने जाते है किन्तु मूलत जल ही है, उसी प्रकार समस्त जागतिक पदार्थ शब्दब्रह्म के विकार होने से ब्रह्मरूप ही है। अनन्त शक्तियो से सम्पन्न होने पर भी शब्दब्रह्म एकात्मक तथा अद्वितीय है। उसी का उन्मेष और निमेष यह व्यक्त और अव्यक्त जगत् है। शब्दब्रह्म को ही प्राचीन ग्रन्थो मे 'वाक्' कहा गया है। यही सभी विद्याओ और कलाओ का बोध कराती हैं, इसी वाक से अनुगृहीत होकर वस्तुविभाजन होता है।[3] यह वाक सभी प्राणियो मे चेतना शक्ति है, यही बाह्य लोकव्यवहार का साधन है तथा आन्तरिक सुख दुःख का भी ज्ञान कराती है। ऐसा कोई भी दृष्टान्त नही जहाँ वाणी का अतिक्रमण करके चैतन्य विद्यमान हो। प्राणियो के कार्य सम्पादन मे वाक की शक्ति का व्यावहारिक महत्त्व सदा दिखायी पडता है। शब्द की अपरिमित शक्ति का प्रतिपादन भर्तृहरि ने इन शब्दो मे किया है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते॥
(वाक्यपदीय १/१२३)

अर्थात् ससार मे ऐसा कोई ज्ञान नही है जो शब्द की सहायता के बिना अवस्थित हो। समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर (जुडे रहकर) ही प्रतीत होते है। इस प्रकार शब्द ब्रह्म ज्ञानमात्र को व्याप्त करता है। तात्पर्य यह है कि सभी पदार्थ चाहे वे घट, पट आदि के रूप मे बाह्य हो या सुख, दुख, ईर्ष्या, ज्ञान आदि के रूप मे आन्तरिक हो, किसी न किसी नाम से जुडे ही रहते हैं। नाम से रहित अर्थ की कल्पना भी नहीं होती। नामकरण शब्द का ही शक्ति विशेष है, परिणाम है। निर्विकल्प ज्ञान मे भी शब्द का आभास होता है—यह वैयाकरणो का सिद्धान्त है। इस प्रकार शब्द ब्रह्म की व्यापकता का प्रतिपादन वैयाकरण लोग अनेक प्रकार से करते हैं।

शब्द-ब्रह्म का विपरिणाम दो रूपो मे होता है—शब्द और अर्थ। यद्यपि दोनो मे व्यावहारिक भेद है तथापि परमार्थत दोनो एक ही मूल के दो रूप हैं। वह मूल ही स्फोट है जहाँ कोई भाषाशास्त्रीय प्रतीक साधक रूप मे व्यवस्थित होता है। स्फोट का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—अर्थ को प्रकाशित करने वाला

---

१ वाक्यपदीय १/२ एकमेव यदाम्नात भिन्न शक्तिव्यपाश्रयात।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्य पृथक्त्वेनेव वर्तते॥

२ यास्क निरुक्त १/२ षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणि। वाक्यपदीय १/३ भी देखें।

३ वाक्यपदीय १/१२५ सा सर्वविद्याशिल्पाना कलाना चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्न सर्व वस्तु विभज्यते॥

तत्त्व (स्फुटति प्रकाशतेऽर्थो यस्मात्—अर्थात जिससे अर्थ का प्रकाशन हो वह स्फोट है) स्फोट की मान्यता की पृष्ठभूमि मे दो तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं—अखण्डता तथा क्रमहीनता। जिन भाषिक प्रतीको से अर्थ का बोध होता है। वे अखण्ड है। असत्य मार्ग पर चलकर हम उनमे खण्ड मान लेते हैं किन्तु वास्तव मे वे प्रतीक (चाहें वाक्य हो या पद) अखण्ड हैं। अखण्ड होने के कारण ही उनके तथाकथित अवयवो मे परस्पर क्रम (पौर्वापर्य) का प्रश्न ही नही उठता। स्फोट के रूप मे स्वीकृत नित्य शब्द अपनी अन्तरग अवस्था में अखण्ड अर्थ के साथ एकाकार रहता है। उच्चरित ध्वनियो से वही अभिव्यक्त हो जाता है तब सामान्य व्यक्ति को अर्थबोध होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ मे शब्द का स्वरूप समझाते हुए इस पक्ष को स्पष्ट किया है—'गौ' इस मे शब्द कौन सा है? जो उच्चरित ध्वनियो से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल (सास्ना), पुच्छ, ककुद (कन्धे का मासपिण्ड), खुर तथा सीग धारण करने वाले गो-व्यक्तियो का बोध कराता है वही शब्द है।[१] पतञ्जलि इस प्रसग मे एक अन्य मत भी देते हैं कि अर्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि भी शब्द है।[२]

यही शब्द के दो पक्षो की कल्पना होती है—नित्यत्व या पारमार्थिक पक्ष एव कार्यत्व या लौकिक पक्ष। पहला पक्ष सत्य है और दूसरा पक्ष केवल व्यावहारिक होने के कारण मिथ्या है। ससार मे मिथ्या व्यवहार करते-करते ही क्रमश सत्य की स्थिति प्राप्त होती है। व्याकरण का व्यावहारिक पक्ष प्रकृति प्रत्यय, वर्ण, पद, वाक्य आदि का पृथक्-पृथक विवेचन करता है—यह सब असत्य ही है। किन्तु इसके बिना हमारा काय नही चल सकता क्योकि हम सहसा सत्य की प्राप्ति नही कर सकते, अखण्ड स्फोट को नही जान सकते। व्यावहारिक मिथ्या उपायो को सीखकर क्रमश हम इतने योग्य हो जाते हैं कि अखण्ड वाक्य का बोध करने लगें।[३]

यद्यपि व्यवहार पक्ष (कार्य शब्द) मे वर्ण, पद, वाक्य—इस क्रम से सीखने की प्रक्रिया चलती है तथापि व्याकरण-दर्शन केवल अखण्ड वाक्य को सत्य मानता है, वाक्य के तथाकथित अवयव पद और पद के अवयव वर्ण या उनके भी अवयवो की कल्पना सर्वथा असत्य है।[४] मीमासक लोग शब्द की नित्यता स्वीकार करके उसे वर्णात्मक मानते हैं। वर्ण ही पद और वाक्य दोनो है।[५] वैयाकरणो का सिद्धान्त अखण्ड वाक्य का है। फिर भी व्यवहार-दशा मे पद या वर्ण की उपेक्षा नही की जा सकती। स्फोटात्मक शब्द का ग्रहण भी तो प्राकृत (मौलिक) ध्वनियो से ही होता है। ये प्राकृत ध्वनियाँ नाद भी कहलाती हैं। नाद व्यञ्जक होता है और स्फोट व्यङ्ग्य है। यह शब्दनित्यत्ववादियो का मत है। अत यह हुआ कि उच्चरित ध्वनियो से ही स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार स्फोटात्मक शब्द नित्य होने पर भी सदा ज्ञात ही नही होता रहता। वह उच्चरित ध्वनियो के द्वारा अभिव्यक्त होकर ही अर्थ का प्रकाशन करता है।

---

१ पतञ्जलि महाभाष्य, आह्निक-१, पृ० ४ (मोतीलाल बनारसीदास का सस्करण)।

२ उपरिवत, पृ० ४—अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते।

३ वाक्यपदीय २/२४० उपाया शिक्ष्यमाणाना बालानामुपलालना।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते।

४ वाक्यपदीय १/७३ पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन॥

५ मीमासादर्शन-शाबरभाष्य १/१/५ (हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्बा सस्करण), पृ० ३९ तस्मादक्षराण्येव पदम।

स्फोट का व्यावहारिक अर्थ

भर्तृहरि ने भाषा के तीन पक्षो का विश्लेषण स्फोटवाद के प्रसग मे किया है —(क) **वैकृत ध्वनि**—यही ध्वनि वक्ता के द्वारा उच्चरित होती है, श्रोता के द्वारा सुनी जाती है। इसमे स्वर का आरोह-अवरोह बलाघात आदि सब कुछ आ जाता है। व्यक्तियो के उच्चारण भेद भी इसी मे निहित है। (ख) **प्राकृत ध्वनि**—ध्वनि का यह मौलिक रूप है जिसे हम प्रतिनिधि ध्वनि कह सकते हैं। यही नाद है। इस ध्वनि को वैकृत ध्वनि प्रकट करती है। इस स्तर पर उच्चारण-भेद समाप्त हो जाते हैं, उनमे एकरूपता रहती है। वक्ता और श्रोता दोनो ही इस ध्वनि का स्वरूप जानते हैं। भले ही वक्ता अपने सस्कार या वाग्यत्र मे दोषो के कारण सही उच्चारण नही कर पाये, फिर भी वह जानता है कि किस ध्वनि का वह उच्चारण कर रहा है। श्रोता भी उस व्यक्तिदोष से युक्त वैकृत ध्वनि के भीतर निहित प्राकृत ध्वनि को समझ जाता है। वर्णो का क्रम इस ध्वनि मे भी रहता है। इस प्रकार प्राकृत ध्वनि सामान्य अभिव्यक्ति की ध्वन्यात्मक आकृति है जिसमे कालगत पौर्वापर्य बना रहता है।[1] (ग) **स्फोट**—यह अखण्ड भाषिक प्रतीक है जो अर्थ की इकाई तो है किन्तु इसका न उच्चारण हो सकता है न लेखन ही। इसे प्राकृत ध्वनि अभिव्यक्त करती है। इसीलिए प्राकृत ध्वनि को अभिव्यन्जक और स्फोट को अभिव्यग्य कहा जाता है। सच पूछें तो यह प्राकृत ध्वनि ही है किन्तु उसे अखण्ड, सार्थक भाषिक प्रतीक के रूप मे कल्पित किया गया है। इसीलिए स्फोट के दो पक्ष हैं—अभिव्यजक तथा अभिव्यग्य। ये क्रमश शब्द और अर्थ कहे जाते हैं। ये दोनो ही बुद्धि मे स्थित हैं, वस्तुनिष्ठ नही। इसी दृष्टि से स्फोट भी आन्तरिक तत्व कहलाता है जिसे ध्वनियो के द्वारा प्रकट किया जाता है। स्फोट की अभिव्यक्ति का अभिप्राय है अर्थबोध होना। यह अर्थ अखण्ड और क्रमविहीन होता है—यही स्फोट का आग्रह है।

स्फोट का आध्यात्मिक अर्थ

ऊपर कहा जा चुका है कि व्याकरण दर्शन शब्द ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता या परमतत्व के रूप मे स्वीकार करता है, उसी से ससार की सारी प्रक्रियाएँ प्रवृत्त होती है। इस प्रसग मे वैयाकरणो ने स्फोट को आध्यात्मिक परिधान देकर विवेचित किया है। अपने इस अर्थ मे स्फोट ही परमार्थ सत् है, यही जगत् रूप मे, साधारण कार्यशब्द के रूप मे, विवर्त प्रकट करता है, स्फोट-दर्शन ही वाक का दर्शन है। नित्य स्फोट, वाक और शब्दब्रह्म तीनो पर्याय है जो क्रमश पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुसक लिंग मे अवस्थित हैं। इनसे समस्त जगत के सभी कार्यशब्दो के व्याप्त होने की स्थिति अनुभवसिद्ध है। वाक अपने नित्य रूप से उतर कर किस प्रकार वैकृत ध्वनि तक पहुचती है इसे समझाने के लिए व्याकरण दर्शन मे वाक (वाणी) के तीन रूपो की कल्पना भर्तृहरि ने की है—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।[2] इस त्रैविध्य मे कश्मीर शैवागम मे, भर्तृहरि के बाद के लेखको ने 'परा' नामक वाणी को जोडकर चार भेद कर दिये। यह चातुर्विध्य कालक्रम से व्याकरण-दर्शन मे भी स्वीकृत हो गया। यह बात अवश्य थी कि शैवागम को आधार न बनाकर वैयाकरणो ने तन्त्र-ग्रन्थो के आधार पर इनका विवेचन किया। नागेशभट्ट ने अपनी लघुमञ्जूषा तथा परमलघुमञ्जूषा मे ऐसा ही किया।

---

१ डॉ० के० कुञ्जुन्नी राजा-इण्डियन थ्योरीज ऑफ मीनिङ् (मद्रास, १९६९) पृ० १२०

२ वाक्यपदीय १/१४३ वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाच पर पदम॥

वाणी की अवस्थाओं के वर्णन में स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना ही मुख्य है।

वैखरी—भर्तृहरि के अनुसार वैखरी सभी प्रकार के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। सार्थक ध्वनि या निरर्थक ध्वनि हो, शुद्ध या अशुद्ध शब्द हो, किसी वाद्ययन्त्र की ध्वनि, प्रकृति के विविध उपादानों से प्राप्त ध्वनि हो—सब वैखरी है। इसलिये इसके अनन्त रूप हैं। यह वाक्रूप भी है, व्यापाररूप भी। निरर्थक ध्वनियों को शब्दभेद में रख सकते हैं, वाणी के भेद ये नहीं हैं। फिर भी गौण रूप में या अर्थवाद से इन्हें वैखरी कहा गया है।[1] 'वैखरी' विखर शब्द से निष्पन्न है जिसके अनेक अर्थ किये गये हैं। विखर= शरीर, शरीर और इन्द्रियों का संघात। इनसे उत्पन्न वाणी वैखरी है। जयरथ ने अलङ्कार सर्वस्व की टीका में वि (विशिष्ट), ख (आकाश, मुखरूप आकाश), र (रा=ग्रहण करना)[2]—इस एकाक्षर क्रम से विखर का अर्थ किया है प्राणवायु के संचार में विशिष्ट वर्णोच्चारण। उसमें अभिव्यक्त वाणी वैखरी है। स्थिति जो भी हो, वैखरी वाणी को वक्ता और श्रोता दोनों ही ग्रहण करते हैं। व्याकरण के बाह्यपक्ष की दृष्टि से इस वाणी का सर्वाधिक महत्त्व है।

मध्यमा—यह 'अन्तःसंनिवेशिनी' वाणी है। यह सूक्ष्म प्राणशक्ति से संचालित होती है। इसका उपादान केवल बुद्धि है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रमरूप से प्रतिभासित होते हैं किन्तु मध्यमा वाणी में क्रम और अक्रम दोनों रूप हो सकते हैं। चिन्तन के क्रम में मध्यमा वाणी ही रहती है। इसमें उपांशु (मौन भाषण) तथा परमोपांशु (शब्द का बुद्धि में ही रहना) ये दो रूप हो सकते हैं। इस वाणी को श्रोता या कोई दूसरा ग्रहण नहीं कर सकता—यह स्वसंवेद्य ही होती है। योगियों में ऐसी शक्ति होती है जो दूसरों के चिन्तन को पढ़ लेती है।

पश्यन्ती—वाणी का यह अत्यन्त सूक्ष्म रूप है। इस अवस्था में शब्दक्रम का पूर्णतया उपसंहार हो जाता है। यह अवस्था लोक व्यवहार से ऊपर की है। भर्तृहरि ने इसे चला और अचला भी कहा है। शब्दात्मा की अभिव्यक्ति के कारण यह गतिशील होती है। अपने स्वरूप में स्पन्दरहित होने के कारण यह अचला भी है। अशुद्ध शब्दों से सर्वथा असंपृक्त होने के कारण पश्यन्ती वाक् को 'विशुद्धा' कहा जाता है। यह वाणी ज्ञाता और ज्ञेय के आकार से शून्य, कालकृत तथा देशकृत क्रम से रहित तथा शब्दार्थ से संसृष्ट भी है। मूलतः यह स्वप्रकाश, क्रमरहित तथा संविद्-रूप होती है।

परवर्ती वैयाकरणों ने शैवागम से प्रभावित होकर 'परा' नामक सूक्ष्म अवस्था को भी अन्त में स्वीकार कर लिया। कश्मीर शैवागम में परावाक्, चिति-स्वरूप, नित्य तथा महासत्ता के रूप में मानी गयी है। वह परमात्मा (परमशिव) का हृदय है। आगमों में अनाहत शब्द से जिस महान विश्वव्यापी शब्द व्यापार का बोध होता है, वही परा वाक् है।[3] यह रहस्यात्मक वाणी है। शब्द के अभिधेयों के प्रति अन्य वाणियां पृथक् पृथक् है किन्तु परा वाणी में समस्त अभिधेय एकरूप रहते हैं वहां उनका क्रम भी नहीं होता है। इस प्रकार इसकी तुलना मयूराण्डरस से की जाती है जिसमें विभिन्न रंग अपने अव्यक्त रूप में निहित रहते हैं। ये ही अभिव्यक्त होकर वर्णभेदों के रूप में दिखायी पड़ते हैं। भर्तृहरि की पश्यन्ती'

---

१ वृषभदेव वाक्यपदीयटीका १/१४३ ननु वाचो भेदकथनमेतत्, न तु शब्दमात्र भेदकथनम्। तत्कथं शक्टाक्ष उपात्त। उच्यते—अर्थवाददर्शनादिदमुपात्तम्।

२ जयरथ अलंकारसर्वस्व टीका, पृ० २ विशिष्ट खमाकाश मुखरूप राति गृह्णाति इति विखर।

३ डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी—संस्कृत व्याकरण दर्शन (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७२) पृ० ४९।

ही शैवागम मे सूक्ष्मता की दृष्टि से 'परा' कही गई है। वस्तुत ये दोनो ही वाणी रूप आनुमानिक तथ्य हैं और इसीलिए विभिन्न दर्शनो मे इनके विविध स्वरूप सम्भव हैं।

भर्तृहरि का वाग्दर्शन स्थूल से सूक्ष्म की ओर गया है तथा अन्तत शक्तिस्वरूप प्रतिभा या महासत्ता पर आश्रित होता है। दूसरी ओर शैवागम का वाग्दर्शन शिवशक्ति पर केन्द्रित है। भर्तृहरि का विवेचन धार्मिक मान्यता से तटस्थ और विचार-सौन्दय से पूण है। शैवागम पहले से प्रचलित धार्मिक मान्यताओ पर चलकर वागविवेचन करता है। भर्तृहरि 'पश्यन्ती वाणी को शब्ददर्शन का आधार बतलाते हैं, इसी मे दर्शन की सूक्ष्मता निहित है।

नागेशभट्ट ने तन्त्र का आधार लेकर इन वाणियो को विभिन्न चक्रो के साथ जोड दिया है। उनके अनुसार मूलाधार-चक्र (कुण्डलिनी) मे अवस्थित वाणी परा है, नाभिचक्र मे स्थित वाणी पश्यन्ती है, हृदय मे स्थित वाणी मध्यमा है और कण्ठ प्रदेश मे समागत वाणी वैखरी है।[१] तदनुसार परावाणी शब्दब्रह्म है जो स्पन्दशून्य बिन्दु के रूप मे मूलाधारचक्र के पवन से पवित्र है। पश्यन्ती वाणी मन के द्वारा जानी जाती है, इसे नाभितक पहुचने वाली वायु अभिव्यक्त करती है। ये दोनो वाग-ब्रह्म योगियो की समाधि म निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान के विषय कहे जाते है। क्रमश हृदय तक आने वाली से मध्यमा वाणी अभिव्यक्त होती है। यह विविध पदार्थों के वाचक स्फोट के रूप मे रहती है। यह श्रवणेन्द्रिय के द्वारा अग्राह्य है, सूक्ष्य होन के कारण जप आदि के काल मे बुद्धि द्वारा इसका ग्रहण होता है। सबसे अन्त मे उच्चारण सस्थान तक समागत वायु के द्वारा विभिन्न अवयवो म आघात किये जाने पर अभिव्यक्त वाणी वैखरी कहलाती है जिसे अन्य लोग भी सुन सकते हैं।

इस तान्त्रिक व्याख्या के अनुसार मध्यमा और वैखरी के द्वारा एक ही साथ नाद उत्पन्न होता है। मध्यमा-नाद अथ के वाचक स्फोटात्मक शब्द का अभिव्यजक होता है जबकि वैखरीनाद सभी लोगो की श्रवणेन्द्रिय मात्र से ग्राह्य है किन्तु भेरी आदि के नाद के समान निरथक होता है।[२] वस्तुत स्फोटात्मक शब्दब्रह्म मध्यमानाद से ही अभिव्यक्त होता है, वैखरी वाणी उसे स्पष्टतर कर देती है। नागेश कहते हैं कि वैखरीनाद अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूत्कार के समान केवल मध्यमानाद बढाता है, मध्यमा-नाद ही स्फोट की अभिव्यक्ति करता है।[३] उसी से अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार शब्दब्रह्म या स्फोट परा वाणी की स्थिति है। तन्त्रशास्त्र मे परादि वाणियो को क्रमश मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, अनाहत चक्र और विशुद्ध चक्र में स्थित कहा गया है।

स्फोट की इस आध्यात्मिक व्याख्या से व्याकरण-दर्शन का रहस्यात्मक रूप स्पष्ट होता है। हम जिसे भाषा या व्याकरण कहते हैं वह शब्ददर्शन का अत्यल्प भाग है, केवल बाह्य रूप है।[४] उसकी पृष्ठभूमि मे कितना गहन मनोविज्ञान और दर्शन है, यह सक्षेप मे दिखाया गया है।

---

१ नागेश परमलघुमजूषा (बडोदा, १९६१) पृ० ७०

परा वाङ मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥

२ परमलघुमजूषा, पृ० ७० वैखरीनादो ध्वनि सकलजनश्रोत्रमात्रग्राह्यो भेर्यादिनादवन्निरथक।

३ उपरिवत, पृ० ७६ उच्चारयितुस्तु युगपदेव मध्यमावैखरीभ्या नाद उत्पद्यते। तत्र वैखरीनादो वह्नेः फूत्कारादिव मध्यमानादोत्साहक, मध्यमानाद स्फोट व्यजयतीति शीघ्रमेव ततोऽथबोध।

४ ऋग्वेद १/१६४/४५ तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति।

व्याकरण-दर्शन का बाह्य रूप

शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति भाषा मे होती है जो मुख्यत उच्चरित रूप की है, गौणत वह लिखित रूप मे भी आती है। भाषा का उद्देश्य दूसरे व्यक्ति को वक्ता के अभिप्राय से अवगत कराना है। इसमे आन्तर स्फोट ही समर्थ है क्योकि वही वाचक है। आन्तर स्फोट से तादात्म्य प्राप्त करके बाह्य स्फोट भी वाचक होता है। इसी प्रकार परमार्थत अखण्ड होने पर स्फोट के भेद तथा खण्ड व्यावहारिक दृष्टि से करते है। मूल रूप से भाषा मे वाक्य का ही प्रयोग होता है जिसका अर्थ की दृष्टि से सम्बन्ध अखण्डवाक्य स्फोट से होता है। व्याकरण शास्त्र का व्यावहारिक क्रियाकलाप यही से आरम्भ होता है। वाक्य को पदो मे और पद को प्रकृति प्रत्यय मे विभक्त करने के कारण ही इस शास्त्र को व्याकरण (वि+आ+कृ+ल्युट= व्याकृत करना विश्लिष्ट करना) कहा जाता है। समूह से अंश विशेष को पृथक करना 'अपोद्धार' कहलाता है जैसे वाक्य से पदो का, पद से प्रकृति या प्रत्यय का। मानव ने सर्वप्रथम वाक्य का ही प्रयोग किया। अखण्ड वाक्य का अर्थ लोग अपनी प्रतिभा से करते थे। उस प्रतिभा (आन्तरिक बुद्धि) मे वाक्य विश्लेषण का प्रश्न ही नही था, क्योकि पूरे वाक्य की एकरस प्रतिपत्ति होती थी।[1] इसीलिए मीमासको के द्वारा वाक्यार्थ बोध के लिए प्रवर्तित अभिहितान्वयवाद (पदो के अर्थों का बोध करके उनके परस्पर सम्बन्ध से वाक्यार्थ का ज्ञान) तथा अन्विताभिधानवाद (अन्वित पदो से युक्त वाक्य का ही पहले अर्थ जानना) जैसे सिद्धान्तो का महत्व प्रतिभावादी वैयाकरण के लिए नही रह जाता। फिर भी वाक्य का विश्लेषण तो करना ही है अन्यथा व्याकरण की प्रक्रिया निरर्थक हो जायेगी।

वाक्य को पदो मे विभक्त किया जाता है तथा इन पदो मे पारस्परिक भिन्नता दिखाने के लिए उनका वर्गीकरण भी होता है। पदो के भेद को लेकर अनेक मत है। कुछ लोग दो भेद (सुबन्त तथा तिङन्त) कहते है तो कुछ चार भेद (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) के आग्रही हैं। कर्म प्रवचनीय को पञ्चम भेद मानने वाले लोग भी हैं।[2] पदो के अर्थो की व्यवस्था के लिए पदस्फोट माना गया है जो जाति और व्यक्ति के रूप मे होता है, इसके अतिरिक्त अखण्डपदस्फोट भी माना जाता है। पदो का भी विश्लेषण प्रकृति और प्रत्यय के रूप मे किया जाता है। इनमे भी अर्थ की सत्ता मानी जाती है जिसे वर्णस्फोट कहा जाता है। इस प्रकार स्फोट का अधिकार क्षेत्र, अवास्तविक ही सही, वर्ण से लेकर वाक्य तक है। यही कारण है कि आठ स्फोट माने गये हैं जिनमे अखण्डवाक्यस्फोट मुख्य है। सुबन्त और तिङन्त का विश्लेषण करने के क्रम मे कुछ सहकारी उपादान भी विवेच्य हैं जैसे—लिंग, वचन, पुरुष, काल उपग्रह, साधन (कारक) इत्यादि। इसी प्रकार शब्दो के निर्माण मे कुछ वृत्तियाँ मानी जाती हैं जैसे—कृत, तद्धित, समास, सनाद्यन्त तथा एकशेष। ये सभी वृत्तियाँ और उपादान संस्कृत भाषा की दृष्टि से विवेचित हुए हैं किन्तु इनमें कुछ का इतना व्यापक विवेचन हुआ है कि उन्हे किसी भी भाषा के प्रसंग मे देखा जा सकता है। वस्तुत व्याकरण दर्शन ने एक ओर शिवाद्वैत दर्शन के समानान्तर अपना तत्वदर्शन प्रतिष्ठापित किया तो दूसरी ओर व्यवहार-जगत मे आधुनिक भाषाविज्ञान को भी पर्याप्त अध्ययन सामग्री दी है।

---

१ वाक्यपदीय २/१ पर पुण्यराज की टीका—प्रतिभाया त्वेकरसैव प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा।

२ वाक्यपदीय ३/१/१ द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्य प्रकृतिप्रत्ययादिवत ॥

व्याकरण दर्शन का सम्बन्ध व्यावहारिक धरातल से भी उतना ही है जितना सृष्टि की व्याख्या से। शब्दब्रह्म की पारमार्थिकता का प्रतिपादन करते हुए यह अन्य दर्शन सम्प्रदायों के समान मोक्ष को अपना लक्ष्य बतलाता है। शुद्ध भाषा के प्रयोग से लोक-परलोक के सम्पन्न होने की बात जो पतंजलि ने कही है[1] वह भाषा दर्शन के अन्तस्तल की दृष्टि से ही प्रेरित है। व्याकरण शास्त्र लोगों को व्यवहार पक्ष से साधु भाषा का ज्ञान प्रदान कर अन्त में शब्दब्रह्म तक पहुँचा देता है जो मोक्ष का पर्याय ही है। ●

---

१ पतंजलि-महाभाष्य ६/१/८४ एक शब्द सम्यग्ज्ञात शास्त्रान्वित सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।

शांकर वेदान्त-केवलाद्वैत

जयकिसनदास सादानी

आदि शंकराचार्य और उनका दर्शन भारत की मौलिक मेधा और अद्भुत अध्यात्मपरकता की तर्कयुक्त तितिक्षा और भावयुक्त भक्ति की पराकाष्ठा है, परम उपलब्धि है। शंकराचार्य न केवल दार्शनिक कवि और समाज सुधारक थे अपितु हमारी राष्ट्रीय भावात्मक एकात्मता के प्रथम स्थपित थे। उनके जीवन की विविध घटनायें इसकी साक्षी हैं। भारतीय संस्कृति के उन्नयन में उनका विशिष्ट योगदान रहा है।

आज से १२०० वर्ष पूर्व भारतभूमि पर अत्यंत प्रतिभाशाली दिव्यमूर्ति शंकराचार्य का मंगलमय प्राकट्य हुआ था। उनके जन्मकाल के बारे में शोधकर्ता विद्वानों में कुछ मत पार्थक्य है। के० टी० तेलंग उनका जन्मकाल छठी शताब्दी मानते है और भाण्डारकर छः सौ अस्सी ई० मानते हैं। मैक्समूलर, मैक्डोनल्ड एवं प्रायः सभी आधुनिक विद्वानों ने सात सौ अठासी ई० से आठ सौ बीस ई० निश्चित किया है। के० बी० पाठक ने विभिन्न प्रमाणों द्वारा इसको और भी पुष्ट कर दिया है। अतः यही अत्यंत समीचीन है। इस वर्ष हम उनकी बारहसौवीं जन्म जयंती मना रहे हैं। डा० पाठक को बेलगाव में एक छोटीसी तीन पृष्ठों की पुस्तिका मिली है, जिससे शंकराचार्य के अलौकिक जीवन एवं उनके जन्मकाल का उल्लेख मिलता है।

अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृत्।
षोडशे कृतवान् भाष्यम् द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्।*

जन्म के वर्ष का निर्देश इस प्रकार है—"निधिनागे भवह्नयब्दे विभवे शंकरोदयः" अर्थात शक ७१० से ७४२ या ७८८ ई० से ८२० ई०। शंकराचार्य की यशस्वी प्रतिभा आज भी भारतीय संस्कृति के नभोमंडल को उद्भासित कर रही है। इनका आविर्भाव एक नवीन युग की अवतारणा करता है। वस्तुतः आठवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के वे अग्रदूत थे। भारत के धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं सामाजिक परिवेश सभी क्षेत्रों में उन्होंने नवोत्साह, नवचिंतन व नई प्राणवत्ता का संचार किया है। उन्होंने एक ऐसी नई दृष्टि प्रदान की, जिसने अंधविश्वास, अकर्मण्यता और प्रमाद में ग्रस्त सारे देश को पुनः वैदिक धर्म और आध्यात्मिक परम्परा में प्रतिष्ठित किया। उपनिषदों की दिव्य वाणी पुनः लोक-मंगल का उद्घोष करने लगी। गीता की ज्ञान गरिमा लोगों में कर्तव्य समाप्त कर पुनः नई ऊर्जा का संचार करने लगी। ब्रह्मसूत्र के भाष्य के माध्यम से उन्होंने अद्वैत-दर्शन संस्थापित किया। यह दर्शन प्राणीमात्र एवं सम्पूर्ण सृष्टि में ब्रह्म का दर्शन करता और कराता है। समस्त चराचर सृष्टि वस्तुतः ब्रह्म ही है अतः सभी जीव मूलतः दिव्य हैं। जीव मूलतः शुद्ध-बुद्ध और मुक्त है। अतः जाति वर्ण इत्यादि के दंभ से जो कृत्रिम विभाजन हुआ है उसे यह दर्शन अस्वीकार करता है।

---

* बलदेव उपाध्याय शंकराचार्य ४२/४३

इस सम्बन्ध म उनके जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार एक चाण्डाल चार कुत्तो को लेकर उनका माग अवरोध कर रहा था। शकराचाय न उससे कहा 'तू मेरे माग से हट जा' चाण्डाल ने तर्क किया "आप अद्वैती हैं, आप मेरा तिरस्कार, कैसे कर सकते हैं ?" शकराचाय आश्चय मे पड गये और उन्होंने कहा 'तू मेरा गुरु है' और उसे गले से लगा लिया। भगवान शिव ही चाण्डाल के रूप म उनकी अद्वैत निष्ठा की परीक्षा ले रहे थे। शकराचार्य लिखते हैं—

ब्रह्मैवाहमिद जगच्च सकल चिन्मात्र विस्तारित,
सव चैतद विद्यया त्रिगुणयाशेष मया कल्पितम्।
इत्य यस्य दृढामति सुखतरे नित्ये परे निमले।
चांडालोस्तु सतु द्विजेऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।

(श्री शकराचाय बलदेव उपाध्याय पृ० ६३)

[illegible library stamp]

शकराचाय का अपनी माता के प्रति अनन्य प्रेम था। सन्यासी होते हुए भी उन्होंने सन्यास के नियम को तोडकर मा की अन्त्येष्टि विधिवद की। इस पर समाज के लोगो ने उनका तीव्र विरोध किया लेकिन उन्होने इसकी परवाह नही की। मानो वे सन्देश देना चाहते हैं कि स्मृति का विधान देश और काल सापेक्ष है अत तदनुरूप परिवर्तनीय हैं। श्रुति अध्यात्मानुभूति पर आधारित है अत शाश्वत है। उनका अद्वैत दर्शन श्रुतिप्रमाण को ही सर्वोपरि मानता है।

सूक्ष्म तार्किक होते हुए भी शकराचार्य निस्पृह, उदारमना सन्त थे। मण्डन मिश्र के साथ शास्त्राथ के प्रसग मे उन्होने उनकी विदुषी पत्नी भारती को ही निर्णायक मानां और अत मे उससे भी शास्त्राथ किया और विजयी हुए। मण्डन मिश्र उनके शिष्य हुए जो आगे चलकर, 'सुरेश्वराचाय' के नाम से प्रतिष्ठित हुए।

कुमारिल भट्ट प्रसग भी इतना ही मार्मिक है जब वे तुषानल मे आत्मदाह कर रहे थे तब शकराचार्य उनसे मिलने पहुँचे। उनसे बात करने के पश्चात कुमारिलभट्ट कहते हैं 'अब मेरी आवश्यकता नही है। बौद्ध तर्को का तकयुक्त उत्तर आप देंगे। पुन भारत म वैदिक धम की प्रतिष्ठापना करेंगे।
ये चन्द घटनायें एव किंवदन्तियाँ शंकराचाय के महान चारित्रिक गुणों पर प्रकाश डालती हैं।

शकराचार्य का अद्वैत दर्शन वैदिक परम्परा पर प्रतिष्ठित है। एक ही ब्रह्म सवत्र और समस्त चराचर मे व्याप्त है। सब कुछ ब्रह्म ही है। अत अद्वैत चिन्तन के नव आलोक ने भारतीय दर्शन की नई विचारधारा का सूत्रपात किया।

शकराचाय ने अद्वैत दशन मे सवप्रथम उपनिषद, गीता एव ब्रह्मसूत्र-प्रस्थानत्रयी मे ब्रह्म जीव और जगत सम्बन्धी बिखरे हुए विचारा को एक सूत्र मे पिरोकर एक सश्लिष्ट अद्वैत दर्शन प्रदान किया। यह दर्शन तर्क-युक्त प्रणाली से परिपुष्ट, सूक्ष्मतम चिन्तन है। यह किसी भी धम सम्प्रदाय इत्यादि से प्रभावित न होकर श्रुति सम्मत मौलिक चिन्तन है। शकराचाय ने अपने समय मे उपलब्ध समस्त तत्व चिन्तन एव ज्ञान को अद्वैत दशन के रूप मे प्रतिष्ठित किया। चालस इलियट लिखते हैं, "विचारो की एकरूपता, गम्भीरता एव सावभौमिकता की दृष्टि से शकराचाय का दर्शन अग्रिम स्थान रखता है।"

उनकी पहली दृष्टि दृश्यमान जगत के वैविध्य के अन्तराल मे सवव्यापी ब्रह्म का दर्शन करती है इसके समक्ष परिवतनशील ससार अनित्य प्रतीत होता है। अध्यात्म के गहनतम रहस्य को तक के आधार पर व्यक्त करने मे उनकी कुशाग्र बुद्धि सवसमथ है। वे अपने विचारो को नपी तुली भाषा मे निर्भीक होकर, युक्ति-युक्त शैली मे, प्रतिपादित करते हैं शकराचार्य का अद्वैत दर्शन विचारा का महाकाव्य है जो

अपने आप मे एक सपूर्ण कलाकृति है। इसमे सशोधन या सवधन के लिए कोई स्थान नही, शकराचाय भारतीय सस्कृति के पुरोधा थे।

समस्त भारत की पदयात्रा करते हुए इन्होंने वैदिक धम के गरिमामय विचारो का उद्घोष किया जो समस्त भारत को एक सूत्र मे बाधने मे सफल रहा। उनकी तीक्ष्ण-बुद्धि जहा गूढतम दर्शन को प्रतिपादित करती है वहा उनके सवेदनशील हृदय से काव्य की अजस्र रस धारा उमड पडती है। जा जन-जन का सगुण ब्रह्म से रागात्मक सम्बन्ध जोड देती है। पदयात्रा की अवधि मे जिन जिन धर्मो एव विचारो से उनका परिचय हुआ उन सबको शकराचार्य ने आत्मसात किया और उनके उज्ज्वल पक्ष को अपने लेखन एव स्तोत्रो मे उजागर किया। शकराचाय ने शिव, शक्ति, विष्णु, गणेश, राम, कृष्ण, गगा, यमुना पर आध्यात्मिक स्तोत्र लिखकर जन-जन के हृदय मे ईश्वर के परम कारुणिक सगुण स्वरूप को सस्थापित किया। देवी से क्षमा-याचना करते हुए वे लिखते हैं "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" कुपुत्र जन्म ले सकता है परन्तु माता कभी भी कुमाता नही होती।

आचाय शकर का अद्वैत दर्शन आज भी ज्योतिस्तम्भ की तरह दिग्दिगत को आलोकित कर रहा है। बत्तीस वष की अल्प आयु मे ही भारतीय-दर्शन व चिन्तन को ठोस आधार प्रदान कर उत्तराखण्ड स्थित केरादनाथ धाम मे वे समाधिस्थ हो गये। उनके अद्वैत-दर्शन पर आज भी मनीषी, विद्वान चिन्तन,-मनन एव निदिध्यासन करते है। शकराचाय के ब्रह्मसूत्र भाष्य के अनुवादक जाज थीबो George Thibaut का कथन है 'शकराचाय का तत्त्व चिन्तन दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रासादिक है। जिस निर्भीकता, गम्भीरता और सूक्ष्मता से इन्होने चिन्तन किया है वह अन्यत्र नही पाया जाता, चाहे वह वेदान्त पर ही क्यो न हो जो शकर से विपरीत मान्यता रखते हो या वेदान्त से इतरमत के हो। इनका चिन्तन भारतीय मनीषा की विशिष्ट उपलब्धि है।

अत वेदान्त दर्शन और शकर अद्वैत वेदान्त प्राय समानार्थी से हो गये हैं। इनके मत से सहमति या असहमति हो सकती है लेकिन उनके ज्ञान की गरिमा एव आध्यात्मिक ऊँचाई से सभी अभिभूत हैं। भारत के चार कोनो मे इन्होने चार मठ स्थापित किये। पश्चिम मे शारदामठ, द्वारकाधाम, पूव म गोवधनमठ, जगदीशधाम, उत्तर मे ज्योतिमठ—बद्रीनाथधाम तथा दक्षिण मे शृ गेरीमठ। हर मठ का सचालन भार अपने एक एक शिष्य को सौप दिया। इस प्रकार इन्होंने सास्कृतिक धरातल पर समस्त भारत को एकात्मता के सूत्र मे बाध दिया। इनका अद्वैत-दशन भारत की सीमाओ को लाघकर विश्वात्मक हो गया है एवम् विश्व के श्रेष्ठ दार्शनिको मे 'शाकर-वेदान्त' सस्थापित हो गया।

'अद्वैत' वेदान्त का मूल तत्व है परमार्थ सत्ता रूप ब्रह्म की सवत्र एकात्मकता और उसका अनेकात्मक रूप मे दृष्टिगोचर होना उसकी मायिकता है। यह परमार्थ तत्व स्वयसिद्ध है जब कि समस्त दृश्यमान जगत एव ससृति अनुभूति पर आधारित है। अनुभव के आधार पर सारे जगत का व्यवहार चलता है और इस अनुभव का साक्षी आत्मा ही है। अत आत्मा स्वयसिद्ध है। जिस प्रकार देकात समस्त दृश्यमान जगत पर सशय करते हुए भी सशय करने वाले आत्मा पर सशय नही कर पाया, क्योकि किसी को भी अपने अनस्तित्व पर विश्वास नही हो सकता। यही कारण है कि आत्मा के अनस्तित्व पर विश्वास नही किया जा सकता। जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहकता पर अविश्वास नही कर सकता, उसी प्रकार आत्मा स्वत प्रमाणित है। इसम अविश्वास को किसी भी प्रकार का स्थान नही है। इसलिए जिसके द्वारा हम सबको जान सकते हैं उसे कैसे जाना जाय, यही दर्शन की समस्या है। बहुत पहले याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक उपनिषद मे प्रश्न उठाया था 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जिस प्रकार सूय जो सबको

प्रकाशित करता है वह प्रकाशित नही किया जा सकता उसी तरह आत्मा जो सब अनुभवो का साक्षी है उसकी सत्ता स्वय सिद्ध है उसे प्रमाणित करने के लिए प्रमाणो की आवश्यकता नही रहती। आत्मा ही ही सबका ज्ञाता है और वही ज्ञान रूप है। ज्ञान और ज्ञाता एक ही है, एव अभिन्न है। ज्ञेय की कल्पना से ही ज्ञान, ज्ञाता के रूप मे आविर्भूत होता है। यह ज्ञेय, जगत एव सृष्टि ही है। इसका ज्ञान, ज्ञाता के रूप मे आत्मा को ही होता है। लेकिन जब तक ज्ञेय उपस्थित नही होता या उसका अभाव रहता है, आत्मा ज्ञान के रूप मे ही उपस्थित रहता है। ज्ञान और ज्ञाता भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक ही हैं, अभिन्न हैं। लगता है जैसे ज्ञान और ज्ञाता का रूप कर्म और कर्त्ता जैसा है, लेकिन वास्तव मे दोनो एक ही हैं।

ज्ञान दो प्रकार का बताया गया है—नित्यज्ञान और अनित्य ज्ञान। नित्य ज्ञान वह है जो सवदा, सवथा, समान रूप से रहता है और अनित्यज्ञान अन्त करण की वृत्तिमात्र है क्योकि वह विषय सान्निध्य के कारण उत्पन्न होता है। अत नित्य और अनित्य दोनो ही आत्मा में अन्तर्भूत है।

जब हम विषय के बारे मे चिन्तन करते है तो उसके दो रूप स्पष्टतया सामने आते है एक अनुभव करने वाला आत्मा और दूसरा अनुभूत होने वाला बाह्य पदाथ या विषय। इसी को दार्शनिक भाषा मे जीव और जगत कहते हैं। ये दो भिन्न सत्ताएँ प्रतीत होती हैं। अत व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनो सत्ताएँ सर्वथा भिन्न हैं अत इनका भेद, व्यवहार मे सत्य है लेकिन जब हम पारमार्थिक रूप से सोचते हैं, तो यह भेद समाप्त हो जाता है। कारण सारा व्यावहारिक ज्ञान अथवा विषय-रूपी जगत की अनुभूति काय-कारण सम्बन्ध पर आधारित है। जगत स्वय कार्य है जैसे घडा एक काय है उसका कारण मिट्टी है। मिट्टी रूपी कारण के बिना घडे का अस्तित्व नही रह सकता। अत व्यवहार मे मिट्टी और घडा दो दीखते हुए भी तत्वत अन्योन्याश्रित एक ही तत्व है। जिस प्रकार मिट्टी समग्र घडे मे व्याप्त है उसी प्रकार तत्त्व या ब्रह्म समस्त जगत मे व्याप्त है। जैसे मिट्टी के बिना घडे की कोई सत्ता नही रहती उसी प्रकार ब्रह्म के बिना जगत या सृष्टि की कोई सत्ता नही रहती। इसलिए पारमार्थिक रूप से जीव, जगत, ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय सभी एक ब्रह्म से ओत-प्रोत हैं। ये सब ब्रह्म से अलग दीखते हुए भी ब्रह्म से अभिन्न हैं। इस अभेद स्थिति को ही शकराचार्य 'अद्वैत' कहते हैं। इसलिए शकराचाय व्यावहारिक सत्ता से जीव, जगत और ब्रह्म मे भेद मानते हैं पर परमार्थिक सत्ता से उन्हे अभेद मानते हैं। यह भेद मायाजन्य है। भेद बुद्धि मिट जाने से अभेद अद्वैत का निरन्तर अनुभव होता रहता है। इसी रहस्य को अद्वैत वेदान्त उद्घाटित करता है।

घटे नष्टे तथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्म व ब्रह्मवित्स्वयम ।। वि० चूडामणि ५६५

ब्रह्म

ब्रह्म तत्वत निर्विकल्प, निरुपाधि एव निर्विकार है। उपनिषदो मे सगुण एव निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। लेकिन ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण ही है और इसी रूप का उपनिषदो मे विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है। इसलिए श्रुतियो ने निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या की है, निर्गुण ब्रह्म जब प्रकृति व माया को स्वीकार करता है तब सगुण हो जाता है और वही जगत का सृजन, पालन और सहार करता है। 'माया तु प्रकृति विद्यान मायिनम तु महेश्वरम। (श्वे उप० ४।१०—)जब ब्रह्म माया को स्वच्छया स्वीकार करता है या माया वेष्टित हो जाता है तब वह महेश्वर या ईश्वर हो जाता है और माया के तीना गुणा को (सत्व, रजस और तमस) धारण कर लेता है। यही ब्रह्म और ईश्वर मे भेद है—माया

वेष्टित ब्रह्म ईश्वर है और माया रहित ईश्वर ब्रह्म। ब्रह्म के तात्विक स्वरूप के दो लक्षण हैं—(१) स्वरूपगत लक्षण (२) तटस्थ लक्षण।

स्वरूपगत लक्षण ब्रह्म के सत्य तात्विक रूप का परिचय देना है। वह देशकाल अबाधित है। श्रुति उसका वर्णन 'सत्य ज्ञान अनन्तम' (तैत्तिरीय २-१-४) एवं 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म' (बृह ३ ९ २७) के रूप में वर्णन करती है, किन्तु ये ब्रह्म के विशेषण नहीं हैं ब्रह्म के लक्षण हैं। विशेषण में विशेष्य का भाव निहित है जो ब्रह्म के द्वैत भाव की ओर इंगित करता है लेकिन 'ब्रह्म एक अद्वितीयम' होने के कारण वह 'सत्य ज्ञान अनन्तम्' से व्यावृत्त है। ये उसके मूलभूत लक्षण हैं। ये ब्रह्म में व्याप्त हैं, इनमें भेद नहीं है। इसीलिए ये विशेषण नहीं हैं। सत्य उसे कहते हैं जो सर्वदा समान हो जिसके निश्चित रूप में कभी परिवर्तन न होता हो। यही उसकी वेदांतिक परिभाषा है 'यद्रूपेण यन् निश्चित तद्रूप न व्यभिचरति तत सत्यम।

'ज्ञानम्' का तात्पर्य जानना या अवबोध से है। ब्रह्म ज्ञान का अर्थ है, ब्रह्म में निहित कारण सत्ता, कार्य में परिवर्तित नहीं होती है उसकी प्रतीतिमात्र होती है। इसीलिए ब्रह्म, ज्ञान का केवल कर्त्ता ही नहीं है वह ज्ञान ही है। क्योंकि यदि हम ब्रह्म को ज्ञान का कर्त्ता मान लें तो ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी स्वत बन जाती है और ज्ञान का विभाजन हो जाता है। लेकिन ब्रह्म अनन्त होने के कारण अविभाज्य है, अत ब्रह्म ज्ञान ही है, ज्ञान का कर्त्ता नहीं है। ब्रह्म अनन्त है अत ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त उसे कहते हैं जिसका किसी भी काल में विभाजन न हो सके, अन्यथा हर विभाजन एक दूसरे की सीमा का निर्माण कर देगा और अनन्तता नहीं रह जायेगी। अनन्त एक ही होता है, दो होते ही एक दूसरे को ससीम बना देते हैं और अनन्तता को बाधित कर देते हैं 'यद्धि न कुतश्चित प्रविभज्यते तद् अनन्तम्'। अत सत्य, ज्ञान एवं अनन्त तीन न होकर एक ब्रह्म में समाहित हो जाते हैं।

ज्ञान स्वरूप ब्रह्म कर्त्ता न होकर जगत का कारण है। ज्ञान की अभिव्यक्ति सत् (सत्ता) चिद (ज्ञान) और आनन्द अपितु सच्चिदानन्द के रूप में होती है। ये ही ब्रह्म के स्वरूपगत लक्षण हैं। **तटस्थ लक्षण** —जब स्वरूपस्थ ब्रह्म मायिन होकर मायिक सत्ता को धारण करता है तब वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। देश कालातीत होते हुए भी वह देश और काल को प्रश्रय देता है। अनन्त होते हुए भी ससीम होना स्वेच्छया स्वीकार करता है। अकर्त्ता होते हुए भी जगत का सृजन, संरक्षण और संहारकर्त्ता है और जगत की स्थिति, उत्पत्ति और लय का कारण बनता है। यह ब्रह्म का मूल स्वभाव नहीं है, किन्तु यह आगन्तुक गुणों की स्वीकृति है यही उसकी लीला या क्रीडा है।[1] यही व्यावहारिक सत्ता है *जिसकी माया द्वारा प्रतीति होती है।*

माया

ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से रहित है। फिर भी निर्विशेष और निर्लक्षण ब्रह्म सल्लक्षण कैसे प्रतीत होता है? 'एको अद्वितीय ब्रह्म' नाना रूपों में किस प्रकार दृश्यमान होता है? अविभक्त किस प्रकार विभक्त दीखता है? असीम ब्रह्म किस प्रकार ससीम रूपों में प्रकाशित होता है? इन सबका कारण माया है, यह सारा जगतात्मक प्रपंच माया निर्मित है। अत माया के वास्तविक रूप में सृष्टि के विकास क्रम का बीज निहित है। माया ही विश्वयोनि या समग्र सृष्टि का मूल स्रोत है। 'जगद

---

१ लोकवत्तु लीला कैवल्यम (ब्रह्मसूत्र २-१ ३३)

सवमिद प्रसूयत्' माया रहित परमेश्वर मे किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नही रहती है और न जगत की सृष्टि ही होती है। माया ही ब्रह्म की प्रवृत्ति या सचारिणी Kinetic शक्ति है। फिर भी माया ब्रह्म से अलग नही है वह ब्रह्म म उसी की व्याप्त शक्ति है, जसे शब्द म अथ, सुमन, म सौरभ या अग्नि मे दाहकता निहित है। वह परमेश्वर मे महान सुप्त रूपिणी शक्ति है। वह न सतशक्ति है और न असद शक्ति। इसीलिये उसे अनिर्वचनीय कहा गया है। उसे सत इसलिय नही कह सकते, क्योकि वह निरन्तर परिवतन-शील है। त्रिकाल बाधित है असद इसलिए नही कह सकते, क्योकि उसकी प्रतीति होती रहती है। असद् वस्तु की प्रतीति नही होती 'सच्चेन्न बाध्यते असच्चेन्न प्रतीयत।' इसके उपरान्त वह उभयरूपा भी नही है। वह न भिन्न है न अभिन्न, न अग सहित और न अग रहित और न उभयात्मक ही है। वह अत्यन्त अदभुत एव अनिर्वचनीय है जिसका वणन न किया जा सके, उसे अनिवचनीय कहते हैं।

माया ही प्रकृति है। यह प्रकृति 'परा' और 'अपरा' के रूप मे काय करती है। परा म वह क्षेत्रज्ञ और अपरा मे क्षेत्र के रूप मे अवस्थित है। 'परा' प्रकृति के रूप मे माया ही क्षेत्रज्ञरूपा, प्राणधारी जीवो का हेतु बनी हुई है। 'क्षेत्रज्ञ लक्षणा प्राणधारण निमित्त भूता '(गीता भाष्य ७।५) हे प्रकृत्या अन्त प्रविष्टया'। अत परा प्रकृति आत्मा रूपा और शुद्ध प्रकृति हैं। यही समस्त जीवो की धात्री है, यही विद्या है माया है। 'अपरा' प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और समस्त ससार या जगत एव सृष्टि की कारण रूपा है। 'ससारस्य कारण गुण सग' (गीता भा० १३।२१) पचमहाभूत, पच कर्मेन्द्रिया पच ज्ञानेन्द्रिया पच तन्मात्रा एव मन, बुद्धि, चित्त अहकार इसी अपरा माया के अग है। अहकार वासनाओ से मुक्त रहने के कारण अविद्यायुक्त अव्यक्त एव मूल प्रकृति है। अहकार ही सबका प्रवत्तक है। इस लोक मे अहकार ही सब प्रवृत्ति का बीज है। 'अहकार इति अविद्या सयुक्त अव्यक्त' एव "अहकार वासनावद अव्यक्त मूलकारण अहकार इति उच्यते प्रवतकत्वाद अहकारसम। अहकार एवहि भवस्य प्रवृत्ति बीज दृष्ट लोके' (गीता शा० भाष्य-७।४)

अत अपरा प्रकृति समस्त ससार की प्रवृत्तियो का कारण हैं, यही अविद्या माया है जो जीव को ससार मे बाधती है।[1] विद्या माया या 'परा' प्रकृति जीवभूता होने के कारण उसे ससार बन्धनो से मुक्त करवाती है। 'अपरा' प्रकृति भेद उत्पन्न करती है और 'परा' प्रकृति अभिन्नता प्रदान करती है। ऐसी प्रकृति स्वय 'मम ईश्वरी माया शक्ति वह ब्रह्म की लीला का कारण-'माया ही है। मुण्डक उपनिषद मे भी 'परा' और 'अपरा' प्रकृति का उल्लेख किया गया है। द्रष्टव्य १-४।[2] परा और अपरा प्रकृति समस्त जीव एव सृष्टि की योनि अथवा जननी है। 'एते परापरे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ लक्षणे प्रकृति योनि ये वा भूताना तानि एत द्योनीति एव जानीहि।' (गीता भा० ७।६) ईशोपनिषद मे भी अविद्या और विद्या माया का उल्लेख आया है 'अविद्या मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (ईश उप० ११) अविद्या माया मृत्यु से पार कराती है लेकिन विद्या माया अमृत पान कराती है।

माया अपना काय दो शक्तिया स सम्पन्न करती है वह है आवरण और विक्षेप। आवरण का अथ है ढकना या आच्छादित करना। जो अनन्त और असीम को आच्छादित कर उसे सीमित होने की प्रतीति कराती है उसे आवरण कहते हैं। इस आवरण का झीना परदा माया ही है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् (ईश उप० १५) यदि हम इस आवरणमय पात्र को हटा देते है तब ब्रह्म

---

१ माया माया काय सव महत आदि देह पयन्तम। वि० चूडा० १२३

२ द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च (मुण्डक उप० ।१।४)

साक्षात्कार, ब्रह्मानन्द, ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है एव हम प्रपच-मुक्त हो जाते हैं। माया की दूसरी शक्ति विक्षेप है। इससे वस्तु का जो स्वरूप है उससे विपरीत दीखता है—जैसे रज्जु मे सर्प की प्रतीति होनी, बालू मे जल की प्रतीति होनी या सीप मे रजत या चादी का दीखना, यह सब विक्षेप हैं। ऐसी भ्रातिमयी प्रतीतियो का हम व्यवहार जगत मे नित्य अनुभव करते हैं। ये सब माया के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। आवरण और विक्षेप दोना अज्ञान जनित होने के कारण अविद्या माया कहलाते हैं और ज्ञान स्वरूप आत्मा को अज्ञान आवृत्त कर देता है। इसके अतिरिक्त माया अध्यास और विवर्त के माध्यम से जीवो को भ्रमित करती है इनका स्वतन्त्र उल्लेख आगे किया जायेगा।

ईश्वर

जब निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म माया द्वारा आच्छादित होता है, तब वह सगुण सविशेष भाव को धारण करता है जिसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर द्वारा जगत की सृष्टि, स्थिति एव लय होता है। वह सारी सृष्टि की सरचना, सरक्षण एव सहार करते हुए सृष्टि का सचालन करता है। ईश्वर जगत एव ससति का क्या सृजन करता है ? इसका कोई भी युक्ति सगत उत्तर नही दिया जा सकता क्योकि सृजन करना उसका स्वभाव है, उसके पीछे कोई हेतु या अभाव की भावना नही है। श्रुति ईश्वर को 'सर्वकाम या आप्तकाम' मानती है। अर्थात जिसकी सारी इच्छाए परिपूर्ण हैं उसे कोई कामना नही रहती, न इस सृष्टि व्यापार के पीछे उसका कोई आत्म-प्रयोजन है, क्योकि ऐसा होने से भी ईश्वर एव परमात्मा की परितृप्तता बाधित हो जाती है। अत सर्वज्ञ, सर्वत्र एव सर्वशक्तिमान ईश्वर को कोई मनोरथ सिद्ध करना नही रहता है। सारा सृष्टि व्यापार उसकी लीलामात्र है 'लोक वत्तु लीला कैवल्यम्' स्वभाव से ही उसकी प्रवृत्ति केवल लीला रूपा हैं।' 'स्वभावादेव केवल लीलारूपा प्रवृत्ति भविष्यति'। (शा० भा० २।१।३३)

ईश्वर और सृष्टि का सम्बन्ध

ईश्वर और सृष्टि का सम्बन्ध अभिन्न है। जहा न्यायशास्त्र ईश्वर को निमित्त कारण मानता है, वेदान्त उसे निमित्त कारण और उपादान कारण दोनो मानता है। समस्त सृष्टि, ईश्वर स्वय ही है। 'उसकी इच्छा से ही सृष्टि निर्मित हुई है' इसलिए ईश्वर उसका निमित्त कारण है और जिस प्रकार समस्त मृण्मय पात्र मिट्टी से बने हुए हैं इसी प्रकार समस्त सृष्टि पदार्थ ब्रह्म या ईश्वर से बने हुए हैं। 'मुण्डक उपनिषद' ने ब्रह्म के लिए 'योनि' शब्द का प्रयोग किया है 'कर्तारमीश पुरुष ब्रह्म योनिम्' (३-१-३) ब्रह्म सूत्र म भी 'योनिश्च हि गीयते' (१-४-२७)। जिस प्रकार मिट्टी घडे का निमित्त एव उपादान कारण है उसी प्रकार ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनो ही है। अत वह स्रष्टा एव सृष्टि दोनो है। वही भोक्ता ईश्वर है और वही भोग्य सृष्टि है, जैसे समुद्र और लहर। तात्विक दृष्टि से अभिन्न होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से उनमे भेद निश्चित रूप से प्रतीत होना है। (शा० २।१।१४)। मुण्डक उपनिषद ने एक और सार्थक उपमा सृष्टि के सन्दर्भ मे प्रस्तुत की है जैसे ऊर्णनाभ (मकडी) अपने मे से ही जाले का निर्माण करता है और पुन उसे अपन मे ही समेट लेता है।

इसलिए ब्रह्म से लेकर सर्वत्र सृष्टि मे एक मात्र ईश्वर का स्पन्दन है। (दक्षिणामूर्तिस्तोत्र व उपदेश साहस्री १-४) इसलिए ब्रह्म के ही तीन स्वरूप हैं ईश्वर, जीव और जगत। जिसमे ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होकर सब का ईशन करता है। इस प्रकार अव्यक्त ब्रह्म व्यक्त जीव, जगत और ईश्वर के रूप में परिलक्षित होता है। विश्व के सभी तत्त्वा मे सामजस्य रखता है एव सब को अपने से आबद्ध कर लेता है।

ब्रह्म कर्त्ता और कर्म दोनो से परे है लेकिन जब वह कर्म से सम्पर्क बनाता है तो वह ईश्वर के रूप मे कर्त्ता हो जाता है क्योकि प्रकृति कर्म है, वह स्वभाव से जड है उसमे गति तभी आ सकती है जब वह चैतन्यकर्त्ता से आवद्ध हो जाती है। वह कर्त्ता ईश्वर है जिसका अश जीव है 'ममैवाशोजीवलोके जीवभूत मनातन (गीता १५।७) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जड और चेतन दो पदार्थ नही है वे एक ही तत्व के दो पक्ष हैं। पर ब्रह्म के सत् अश की छाया ही प्रकृति है। कर्त्ता और कम का आधार ब्रह्म ही है। इसलिए ईश्वर जीव और जगत का भेद व्यावहारिक सत्ता म ही है परमार्थिक सत्ता मे या ब्रह्म मे, सब एक एव अभिन्न अद्वैत ही है। 'एकम सद विप्रा बहुधा वदति।' ( )

ईश्वर का अवतार व हेतु

गीता भाष्य के उपोद्घात मे शकराचार्य ने अवतार का प्रयोजन और उसकी प्रक्रिया का विवेचन किया है। वेदोक्त धर्म की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, जो जगत की स्थिति, कारण तथा प्राणियो की उन्नति का और मोक्ष का साक्षात् हेतु है वही धम है 'जगत स्थिति कारण प्राणिना साक्षात अभ्युदयनि श्रेयस हेतु य सधम' जब धर्मानुष्ठान करन वालो के अन्त करण म कामनाओ के विकास होने से विवेक विज्ञान का ह्रास होने लगता है, तब अधम की उत्पत्ति होती है। अधम से जब धम दवने लगता है और अधम की वृद्धि होने लगती है तब जगत की स्थिति सुरक्षित रखने की इच्छा से आदि कर्त्ता नारायण श्री विष्णु धम की रक्षा के लिए अपने ही अश से प्रकट होते हैं। "परित्राणाय साधूना विनाशायचदुष्कृता। धमसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥" (गीता ४-८)

ज्ञान, ऐश्वय, शक्ति, बल, वीय और तेज आदि गुणो से सदा सम्पन्न वे भगवान यद्यपि अजन्मा और अविनाशी हैं एव सम्पूण भूतो के ईश्वर, नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव के है फिर भी लोगो पर अनुग्रह करने के लिये अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश मे करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए से दीखते हैं 'लोकानुग्रह कुवन इव लक्ष्यते' अत अपना कोई प्रयोजन नही रहने पर भी भगवान भूतो पर दया करने की इच्छा से ही अवतार लेते हैं जिससे गुणवान पुरुषो द्वारा ग्रहण किये हुए और आचरण किये हुए धम का अधिक प्रसार हो सके। इसलिए परमकल्याण ही अवतार का हेतु है। वही सिद्धान्त गीता शास्त्र मे प्रतिपादित हुआ है (गीता ४-७ ८) अत कृष्णावतार के बारे में वे लिखते हैं 'ब्राह्मणत्व की रक्षा करने के लिए वसुदेव देवकी के गभ से अपने अश से श्रीकृष्ण रूप मे प्रकट हुए 'ब्राह्मणत्वस्य रक्षणाथम देवक्या वसुदेवाद अशेन कृष्ण किल सबभूव' यहाँ ब्राह्मणत्व का अथ सद्गुणा से है गीता मे इसका विशद विवेचन है।

जीव

इन्द्रिय समूह पर जो शासन करता है उसे जीव कहते है, यही कर्मो का फल भोगता है। यह जीव चैतन्य स्वरूप है और ब्रह्म के चिद अश से व्यक्त होता है। अत जीव ही कम करने वाला, कर्मो के फल को भोगने वाला और कर्मो से मुक्त होनेवाला, जीवात्मा आत्मा ही है। आत्मा हम आगे देख चुके हैं मूलत नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सवव्यापी, सवज्ञ और सवशक्तिमान है, फिर जीव रूप म इसकी उत्पत्ति कब हुई और किस प्रकार चिन्मय आत्मा का जड प्रकृति से सम्बन्ध हुआ और क्यो वह जन्म कम के बन्धन मे जकडा गया ? शकराचाय का मत स्पष्ट है कि आत्मा नित्य होने के कारण उसका जन्म होता ही नही है। देहादि उपाधियो के कारण वह आबद्ध सा प्रतीत होता है। मूलत परब्रह्म एव आत्मा मे नितात

एकता है। ब्रह्म ही उपाधि के प्रसग मे जीवभाव को प्राप्त होता है। अत आत्मा या जीव चैतन्य रूप ही है। आत्मा ब्रह्म के समान विभु या व्यापक है। कई श्रुतियाँ आत्मा को 'अणु' या सूक्ष्म बताती हैं। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा इतना सूक्ष्म है कि वह इन्द्रियग्राह्य नही है। वास्तव मे व्यापक आत्मा आवरण के कारण अणु प्रतीत होता है। जैसे घट स्थित आकाश अश या अणु लगता है, लेकिन आवरण मिट जाने से वह महाकाश म मिलकर 'विभु' हो जाता है। यही है 'अणोरणीयान महतो महीयान्'। (कठ उप० १-२ २०) अत माया के आवरण के कारण 'विभु' भी 'अणु' प्रतीत होता है, लेकिन आत्मा तत्वत 'विभु' ही है।

जीव का चैतन्य स्वरूप तीन अवस्थाओ मे प्रकट होता है जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। 'जाग्रत' अवस्था म हम दैनिक कार्यो मे लगे रहते हैं। सारी इन्द्रियो का कार्यक्षेत्र बाह्य जगत रहता है। 'स्वप्न' मे हमारी इन्द्रियाँ बाह्य जगत से हट जाती है और अन्तमुख हो जाती हैं। देह एव इन्द्रियाँ निद्रित एव निश्चेष्ट हो जाती है किन्तु अन्तर्यामी चैतन्य जीवन की विभिन्न स्थितियो को चित्रपट सा देखता रहता है। जब तक हम पुन जाग्रत नही होते 'स्वप्न' हमे सत्य ही प्रतीत होता है। जागने पर ही हमे लगता है कि वह तो मात्र मनोनिर्मित जजाल ही था, लेकिन 'जाग्रत' एव 'स्वप्न' अवस्था का अनुभव वही चैतन्य आत्मा करता है। 'सुषुप्ति' मे देह, इन्द्रिया एव मन सभी प्रगाढ निद्रा मे निश्चेष्ट हो जाते हैं, किन्तु जागने पर हम कहते हैं कि "हमे बडी अच्छी नीद आई"। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तीनो अवस्थाओ मे चैतन्य जीव साक्षी के रूप मे निरन्तर विद्यमान रहता है। इसके अलावा जीव पाँच कोशो मे रत रहता है। जो इस प्रकार हैं —

१ अन्नमय कोश
२. प्राणमय कोश
३ मनोमय कोश
४ विज्ञानमय कोश
५ आनन्दमय कोश

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनो अवस्थाओ मे एव उपरोक्त पाँच कोशो मे जीव समान रूप से विद्यमान रहता है। आत्मा एव जीव अभिन्न होते हुए भी महाकाश और घटाकाश की तरह भिन्न प्रतीत होते हैं। अवस्था एव कोशबद्ध आत्मा घटाकाश की तरह हो जाता है। ब्रह्म जब शरीर एव अन्त करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहकार) को ग्रहण करता है तब जीव बन जाता है। इससे जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध व्यष्टि और समष्टि का हो जाता है। व्यष्टि व्यक्तिगत शरीर से सम्बन्ध रखता है और समष्टि जगत एव समग्र सृष्टि का द्योतक है।

व्यष्टि या व्यक्तिगत शरीर तीन प्रकार के माने गये हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर स्थूल शरीर का गुण या अभिमान 'विश्व' है, सूक्ष्म का 'तेजस्' और कारण शरीर का 'प्राज्ञ'। समष्टि या समूह रूपात्मक जगत या सृष्टि चैतन्य का अभिमानी या गुण है (१) विराट-वैश्वानर (२) सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ (३) ईश्वर। व्यष्टि और समष्टि का अभिमानी पुरुष या परमात्मा अभिन्न है, किन्तु जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है और इसी कारण भिन्न प्रतीत होता है। जीवात्मा की प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की हैं—बहिर्मुख एवम् अन्तमुख। बहिर्मुख प्रवृत्तियाँ विषयो की ओर प्रेरित रहती हैं अर्थात् विषयों को प्रकाशित करती हैं जबकि अन्तमुख प्रवृत्तियाँ अहकार को प्रकाशित करती हैं। स्वभावत जीव नित्य और शान्त हैं लेकिन बुद्धि और अहकार से सम्बद्ध होकर चचल हो जाता है। ऐसा लगता है ब्रह्म तरगायित होकर ईश्वर बन जाता है और ईश्वर का अश, चचल जीव के रूप मे उदभासित होता है। जीव जब

शान्त होकर ब्रह्म मे लीन होता है या ब्रह्ममय हो जाता है यही ब्रह्म का चतुष्पाद, जीव की तुरीय अवस्था है जिसका विशद विवेचन माण्डूक्य उपनिषद् मे किया गया है ।

ईश्वर और जीव का सम्बन्ध अशी और अश का है, अग्नि और स्फुलिंग का है, समुद्र और लहर का है, महाकाश और घटाकाश का है । ब्रह्मसूत्र २/३/४३ मे भी ईश्वर और जीव का सम्बन्ध अशी और अश का है । "अशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके" अश अशी सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए शकराचार्य का कहना है अश का अर्थ यहाँ अशी के समान ही है कारण जिसके अवयव होते हैं उसका अश अवयव होता है । जो अनन्त है और अवयव रहित है उसका अश भी अवयव रहित होगा अर्थात् उसके समान ही होगा ।

हमारा यह सामान्य अनुभव है कि अग के दुखने से अगी को भी दुख का अनुभव होता है, लेकिन जीव को यह अनुभव तभी होता है जब वह अविद्या के कारण अपने आप को देह के साथ एक मान लेता है जबकि वह देह से परे है । 'जीवो' ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुखेन दुखी अह इति अविद्यया कृत दुखोपभोगमभिमन्यते (ब्रह्मसूत्र शा० भा० २।३।४६)

जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब विभिन्न जलाशयो मे एक प्रकार का नही रहता, उसी तरह ईश्वर का अश विभिन्न जीवो मे एक-सा नही रहता । जलाशयो मे जल के हिलने से सूर्य का बिम्ब हिलता हुआ दिखाई देता है, लेकिन इससे सूर्य मे किसी भी प्रकार का कम्पन नही होता । इसी तरह अविद्या के कारण जीव मे उत्पन्न दुख सुख इत्यादि जीव के अनुभवो से ईश्वर किसी भी प्रकार से प्रभावित नही होता ।

जीव न तो पूर्णरूपेण ईश्वर है और न वह ईश्वर से सर्वथा भिन्न । जैसे विभिन्न जलाशयो मे सूर्य का प्रतिबिम्ब अलग-अलग होता है उसी प्रकार जीव मे ईश्वर का आभास विभिन्न रूप मे प्रतीत होता है क्योकि हर जीव के कर्म और फल एक दूसरे से भिन्न होते हैं । जीव देहेन्द्रियो द्वारा परिणत उपाधियो से अनेक विकारो को ग्रहण करता है । लेकिन आत्मा इन विकारो से निर्लिप्त रहता है जैसे जल राशि के घटने बढने, तरगायित होने से सूर्य का बिम्ब बढता, सकुचित होता या हिलता हुआ दीखता है वैसे जीव मे भिन्नता परिलक्षित होती है, लेकिन वस्तुत जिस प्रकार सूर्य इन बिम्बों से स्वतन्त्र है एव एक सा ही रहता है, उसी प्रकार आत्मा शुद्ध, बुद्ध और इन उपाधियो से स्वतन्त्र एव मुक्त रहता है ।

तत्वत ईश्वर और जीव मे अद्वैत तत्व विद्यमान है तो क्या जीव भी ईश्वर की तरह जगत का कर्त्ता है ? जीव का सामर्थ्य सीमित होने के कारण वह सृष्टि का रचयिता नही बन सकता । वह स्वय ईश्वर की लीला का विलास है । ईश्वर की अनुकम्पा पर ही उसका अस्तित्व आधारित है । इसलिए नाम रूप सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर ही है । यही श्रुतिमत है । जीव और ईश्वर अश-अशी सम्बन्ध होने के कारण समानधर्मा होने पर भी जीव अविद्या द्वारा आच्छादित हो जाता है । इसलिये जीव मे ईश्वर के विपरीत धर्मो की स्थिति है । यह हमारा नित्य एव प्रत्यक्ष अनुभव है । अविद्या के कारण जीव आबद्ध हो जाता है और ईश्वर के ज्ञान से वचित हो जाता है । देह-जनित क्लेशो एव नाना प्रकार की चिन्ताओ से घिरा हुआ जीव, जप, तप, योग इत्यादि साधनो द्वारा अविद्या के तिमिर रोग से मुक्त होकर अलौकिक शक्तियो एव नवीन सर्जनात्मक ऊर्जा का अनुभव करने लगता है, किन्तु अश अशी भाव के सम्बन्ध के कारण जीव म ईश्वर का आभास या प्रतिबिम्ब रहता है । अविद्या के कारण ही जीव मे सृष्टि रचने की शक्ति नही रहती । वह तिरोहित हो जाती है । जैसे लहर समुद्र म लय होकर लहर का ही निर्माण कर सकती है । समग्र समुद्र की सृष्टि नही कर सकती इसी प्रकार जीव, सृष्टि की रचना करने मे पूर्णतया असमर्थ हैं । अश अशी की तरह सर्जना नही कर सकता ।

सवत्र एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता विद्यमान होने के कारण जीव की तरह जगत भी ब्रह्म का ही अश है। उपनिषद स्पष्ट कहते हैं 'सव खलु इद ब्रह्म, एकोऽय अद्वितीयम्' 'एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' इसलिए जगत अचेतन परमाणुओ का समुदाय नही है यह जड प्रकृति के गुणो सत्व, रजस् तमस के सयोग का परिणाम है। इसलिए न प्रकृति इसका उपादान कारण है और न ईश्वर इसका मात्र निमित्त कारण है। अचेतन से चेतन का उद्भव सम्भव नही है। इसलिए ब्रह्मसूत्र मे बादरायण ने प्रकृति के लिए 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि जगत ब्रह्मोद्भूत है। जब ब्रह्म माया विशिष्ट होता है तब वह ईश्वर कहलाता है। ईश्वर ही इसका निमित्त एव उपादान कारण है, जिस प्रकार बीज म अकुर विद्यमान रहता है उसी प्रकार जगत ब्रह्म मे निहित रहता है। अत ईश्वर जब एक से अनेक होने की इच्छा करता ह तब समस्त सृष्टि-जगत का प्रसार होता है और जब सहार की इच्छा होती है (अनेक से पुन एक होने की) तब वह उसे अपने मे समेट लेता है। इसलिये समस्त जीव एव जगत की सष्टि, स्थिति एव सहार ब्रह्माश्रित है। ब्रह्म से अलग जीव और जगत की स्वतन्त्र सत्ता नही है। ब्रह्म से अन्य कुछ नही है। वह ही सर्वत्र, सवज्ञ और सवशक्तिमान है। कर्तुम अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम की शक्ति एकमात्र उसी मे विद्यमान है। जब शकराचार्य 'ब्रह्म सत्य जगतमिथ्या' कहते हैं तो इसका एकमात्र तात्पय यही है जगत की सत्ता ब्रह्म से भिन्न मानना मिथ्या है। जिस प्रकार स्वण-आभूषण म आभूषण के आकार प्रकार की सत्ता स्वण से अलग मानना मिथ्या है। सत्य की परिभाषा करते हुए शकराचाय ने उसका लक्षण बताया 'यद् रूपेण यत निश्चितम् तद रूप न व्यभिचरति तत सत्यम्' जिसका स्वरूप सवकाल म एक सा रहे वह सत्य है—'कूटस्थ, अचल ध्रुवम्' (गीता) इसलिए तीनो काल मे भूत, भविष्य एव वतमान मे सत्य एक सा रहता है। सत्य के लिए सवकाल वतमान ही रहता है सवदा वर्तमानोपि' (गीता) किन्तु हमारा दृश्यमान जगत निरन्तर परिवर्तित होता हुआ दीखता है। वह नामरूपात्मक, परिवतनशील, अत्यन्त चचल एव बहुकृतवेश है। परिवतन का तात्पय ही है एक स्वरूप की समाप्ति और दूसरे स्वरूप का प्राकट्य। अत सृष्टि एव जगत मे सातत्य नही रहता। शकराचाय का यह निश्चित मत है कि व्यवहार सत्ता मे जगत परिवतनशील है और जीव जगत एव ईश्वर अलग प्रतीत होते हैं लेकिन पारमार्थिक एव आध्यात्मिक सत्ता मे एक होने के कारण अभिन्न हैं उनमे कोई परिवतन नही होता। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है। जगत की सत्ता व्यावहारिक है। समग्र परिवतन प्रतीति मात्र है, माया जनित है। वस्तुत ब्रह्म मे कोई परिवतन नही होता। जगत ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। ब्रह्म के सन्दभ मे सारा परिवतन प्रतीत होने के कारण मिथ्या है जब कि व्यवहार जगत मे वह सत्य ही है। माता का वात्सल्य और बालक की करुण पुकार सत्य ही है। अत जब तक हम जगत म कायरत हैं तब तक जीव जगत एव ईश्वर भिन्न ही रहेगे और इस भिन्नता का अनुभव हम निरन्तर करते हैं, लेकिन जब ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर ब्रह्म के परम तत्व की अनुभूति होती है, समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है जगत मिथ्या का अथ जगत का अस्तित्व नकारना नही होता है। ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध को और भी स्पष्ट करते हुए शकराचाय ने सत्य को समझाने के लिये तीन सत्ताओ को माना है (१) प्रातिभासिक सत्ता (२) व्यावहारिक सत्ता (३) पारमार्थिक सत्ता।

(१) प्रातिभासिक सत्ता

यह नित्य अनुभव की सत्ता है, जो प्रतीतिकाल मे तो सत्य मालूम होती हो, लेकिन परवर्तीकाल मे अन्य ज्ञान हो जाने से उसकी भ्रान्ति मिट जाये, उसे प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। जैसे रज्जु अन्धेरे मे

कारण सर्प प्रतीत होती है लेकिन दीपक के प्रकाश मे देखने पर वास्तव मे रज्जु दीखने लगती है। अत जब तक प्रकाश के बिना रज्जु ज्ञान नही होता तब तक सर्पज्ञान ही बना रहता है। यह प्रतिभासिक सत्ता है ज्ञान के क्षेत्र मे इस प्रतिभासिक सत्ता का अनुभव हमे निरन्तर होता रहता है। हर विषय मे अन्वेषण के क्षेत्र मे पूर्वज्ञान बाधित होता रहता है चाहे वह दशन हो, विज्ञान हो या अन्य विद्या हो।

(२) व्यावहारिक सत्ता

दश्यमान जगत के समस्त पदाथ एव व्यवहार सम्बन्ध इत्यादि सभी इस सत्ता के अन्तगत आते है। पदार्थो मे पाँच धर्म दीखते हैं। वे हैं अस्ति (विद्यमान रहते हैं) भाति (प्रकाशित होते हैं) प्रिय (आनन्द देते हैं) रूप (विशिष्ट स्वरूप) नाम (उनकी पहचान के लिए नाम) जगत के सभी पदार्थों मे अस्ति, भाति, प्रिय, रूप एव नाम ये पाँच धम रहते हैं। इनमे तीन अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म रूप हैं। और शेष दो-रूप और नाम, जगत रूप हैं। किन्तु पाँचो घुल-मिल कर रहते हैं। अत ब्रह्म और जगत घुल मिल जाते हैं किन्तु पदार्थों की दो ही विशिष्टतायें नाम और रूप हैं जिनकी सत्ता मानना व्यवहार के लिये परम आवश्यक है। यही कारण है व्यवहार मे जगत सत्य है लेकिन एकान्त सत्य नही है क्योंकि वह ब्रह्म का ही रूपान्तर है, यह अनुभव हमे आत्म साक्षात्कार मे होता है। ब्रह्म के परे जगत का अस्तित्व नही है। समस्त व्यवहार ब्रह्म मे ही है। अत जगत् एव ब्रह्म का भेद व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत है। वस्तुत वे अभिन्न हैं।

(३) पारमार्थिक सत्ता

ब्रह्म की सत्ता को पारमार्थिक सत्ता कहते है। यह सर्वदा एक रूप ही रहती है। इसमे कभी भी कोई भी परिवर्तन नही होता। अत यह सवकालीन एकान्त सत् या सत्य है। व्यवहार जगत मे जो भिन्नता प्रतीत होती है, ब्रह्म ज्ञान होने पर प्रतीत नही होती। सवत्र ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए व्यवहार जगत मे भी ब्रह्म का ही अनुभव होता है, जो तीनो कालो भूत, भविष्य एव वतमान मे एक सा रहता है, क्योंकि ब्रह्म के लिए सदा वर्तमान ही रहता है 'सवदा वतमानोपि (गीता)। सृष्टि का सवस्व, ब्रह्म से पृथक् न होकर, ब्रह्म मे ही है वह ब्रह्म की लीला मात्र हैं 'क्रीडा ते लोक रचना,' अत पारमार्थिक सत्ता मे ऐक्य की अनुभूति होने के कारण ही महाकाव्यो के गूढाथ से हम अवगत होते हैं। इन तीन सत्ताओ के अन्तगत माया एक को अनेक रूपो म दृश्यमान बनाती है। अध्यास एव विवत के द्वारा यह सम्पन्न होता है इसी मे 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव होता है। इसी मे अद्वैत निहित है।

इन तीन सत्ताओ के अलावा जिसका अस्तित्व है ही नही एव निराधार होने के कारण उसकी कोई भी सत्ता नही है जैसे आकाश कुसुम व वध्यापुत्र इत्यादि।

अध्यास

नित्य, शुद्ध, बुद्ध एव मुक्त आत्मा जीव रूप मे बद्ध प्रतीत होता है इसका एकमात्र कारण अध्यास है। जो वस्तु वास्तव मे है उससे भिन्न धर्मों का उस पर आरोप करना या देखना इसे ही अध्यास कहते हैं। 'अध्यासो नाम अतस्मिन् तद बुद्धि' अर्थात तत पदार्थ पर तद्भिन्न—उससे भिन्न पदाथ को आरोपित करना अध्यास है। यह अध्यास अविद्या द्वारा निर्मित है। इसमे इन्द्रियो के धर्मो एव देह को आत्मा मान लेना देहाध्यास है जैसे किसी अग के भग होने से मैं लँगडा हो गया इत्यादि। अर्थात् देह दोषो को आत्मा पर

आरोपित कर लेना। अनुभूति के लिए दो सत्ताओं की आवश्यकता रहती है। 'विषयी' (अह मैं इत्यादि) और 'विषय'—समस्त व्यवहार जगत। अत यह अह विषयी ही समस्त पदार्थों का अनुभव करता है। वही कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता है किन्तु अह सदा विषयी न होकर कभी-कभी विषय भी हो जाता है जैसे 'मैं सोता हू', 'मैं जागता हू' यहाँ पर मैं और मेरी अनुभूति दोनो ही आत्मा के विषय बन जाते हैं। अत विषय और विषयी दोनो ही आत्मा मे निहित हैं आत्मा से अभिन्न है। माया एव अविद्या या अज्ञान के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। यह अध्यास अनादि, अनन्तऔर नैसर्गिक है। यह कर्त्ता, ज्ञाता और भोक्ता का अनुभव कराता है। जगत के समस्त व्यवहार का आधार अध्यास है। यह अध्यास अज्ञान जनित होने के कारण इससे निवृत्ति एकमात्र आत्मस्वरूप का ज्ञान ही है। विषय और विषयी का साक्षी आत्मा ही है अत आरोपित ज्ञान के पीछे मूल ज्ञान ही आत्मज्ञान है। स्वस्वरूप का ज्ञान ही स्वसाध्य है, इसके हो जाने के बाद 'अन्य' रहता ही नही है 'बन्धन मोचनकर्त्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन (वि० चूडा ५१) स्वय को ही बन्धनमुक्त होना पडता है।

विवर्तवाद

समस्त सृष्टि या जगत का उदय ब्रह्म से है अत ब्रह्म ही इसका उपादान कारण है और वही उसका निमित्त कारण है अत तत्वत दोनो अभिन्न है। क्योंकि ब्रह्म सत्य एव अनन्त है इसलिए इसमें कोई परिवर्तन नही 'अजो नित्यो शाश्वतो' (गीता २।२०)। अत जगत मे जो विविधता एव भिन्नता हम देखते हैं वही प्रतीति है, यह विविधता माया का परिणाम है जो असीम ब्रह्म को सीमित विविधता मे प्रतीत करवाती है। असीम का ससीम एव भिन्न दीखना ही विवर्त है। इसलिए 'अतात्विक परिवर्तन ही विवर्त है।' तत्वत एक होते हुए भी व्यवहार मे अनेक की अनुभूति जिसमे होती है वही विवर्त है। यह विवर्त अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय का अर्थ ही है जिसका निर्वचन या विवेचन ठीक से नही किया जा सके, जो व्यवहार म अनेक दीखते हुए भी अभिन्न है, इसका सही विवेचन नही किया जा सकता। अत जगत का ज्ञान सद तथा असद उभय लक्षणा होने के कारण अनिर्वचनीय है या मिथ्या कहलाता है। वेदान्त मे मिथ्या का अर्थ असत नही है। किन्तु अनिर्वचनीय है। (पचपादिका पृ० ४) व्यावहारिक सत्ता एव प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत जगत की प्रतीति सत्य है और उसकी विविधता भी सत्य है। इसी की प्रतीति माया, अध्यास और विवर्त द्वारा कराती है। अत माया स्वय भी अनिर्वचनीय ब्रह्म की ही सत्ता है।

आचार कर्म एव मोक्ष

अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण जीव ससार मे दु ख भोगता हुआ कर्म करता रहता है और जन्म जन्मान्तर इसी मे भ्रमित रहता है। मूल्त जीव ब्रह्म स्वरूप ही है। आत्मा एव ब्रह्म का मूल तत्वत एक है, लेकिन अविद्या के कारण वह अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव को भूल जाता है। यह अविद्या माया ही जीव को कर्म के बन्धन से आबद्ध करती है और विद्या माया उसे बन्धनो से छुटकारा दिलाती है। अविद्या के कारण जीव अपना आनन्द स्वरूप खो देता है और दु ख सुख का अनुभव करने लगता है। इस आनन्द को पुन प्राप्त कर शोक से निवृत्त होना ही मोक्ष है। यही खोये हुए स्वर्ग की मानो पुन प्राप्ति है। प्रकृतिजन्य तीन गुणो द्वारा जीव आबद्ध होता है 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (गीता १५।२) इस बन्धन की शृखला को ज्ञान की असि से काटना ही मुक्त होना है। अत कर्म के स्वरूप को समझना नितान्त आवश्यक है। इसकी गति अत्यन्त सूक्ष्म और गहन है। "किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र

मोहिता" (गीता ४।१६)। कमण्य कर्म य पश्येदकर्मणि च कम य (गीता ४।१८)। क्योकि आत्मा है, अनुत्पाद्य है, इसका उत्पादन नही होता, अनाप्य है, सवथा हमारे पास है, अविकाय है, इसमे विकार उत्पन्न नही होता एव असस्काय है, इसमे कोई लालसा नही है अत इसे प्राप्त करने मे कर्म के क्षय की आवश्यकता है, क्योकि अनुत्पाद्य, अनाप्य, अविकाय एव असस्काय को प्राप्त करने के लिए कम की आवश्यकता नही रहती, उसमे आवश्यकता आत्म बोध या ज्ञान की है। यह आत्मबोध सकाम कम से नही निष्काम कम से होता है। निष्काम कम बधन का निर्माण नहीं करता और कर्मफल की लालसा नही होने के कारण कर्म उससे चिपकते भी नही हैं "न लिम्पति"। अत निष्काम कम द्वारा चित्तशुद्धि होती है और वह मोक्ष का सहायक बन जाता है।

कम के भेद

समस्त कर्म की शृ खला वासना से उत्पन्न होती है "सगात सजायते काम" (गीता २।६२) और ससार भी अनादि एपणा या माया द्वारा उत्पन्न होता है।" "ससारस्थ कारण गुण सग" गीता भाष्य १३।२। जीव का आवागमन या कर्म बधनो से बधने का कारण वासना ही है। यदि जीव, साधना द्वारा वासना से निवृत्त हो जाये तो कम-बधन की शृ खला समाप्त हो सकती है। कम तीन प्रकार के होते हैं—सचित कम, सचीयमान कम और प्रारब्ध कम। जिन कर्मों को इस जन्म मे सचय करते हैं वे सचित कम हैं और जिन कर्मों का हम सम्पादन करने जा रहे हैं वे सचीयमान कम हैं। जो कम जन्म-जन्मातर से घनीभूत होकर हमारे वत्तमान जीवन का कारण बनते हैं वे प्रारब्ध कर्म हैं। इन तीनो कर्मो से निवृत्त होने की साधना ही आचार-सहिता है। सचित और सचीयमान कर्मो से ज्ञान द्वारा निवृत्ति हो सकती है, लेकिन प्रारब्ध कर्मों का नाश तो उनके उपभोग द्वारा ही होता है। "प्रारब्ध कर्माणाम् भोगादएवक्षया" वे तो छूटे हुए तीर के समान हैं जो कही न कही भेदन करेंगे ही।

निष्काम कम द्वारा कम बधन से निवृत्ति हो सकती है। निष्काम कर्म मे जीव अपने आप को कर्त्ता नही मानता, अत सचित या सचीयमान कम का निर्माण नही होता और न पाप पुण्य सम्पादित होते हैं। निष्काम कम द्वारा ही स्थूल और सूक्ष्म शरीर का आत्मा मे विलय हो जाता है। 'विज्ञान-दीपिका' मे श्री पद्मपादाचाय इसे कम-निस्तार कहते हैं। निष्काम कम द्वारा अन्त करण, मन, बुद्धि, चित्त अहकार की शुद्धि होती है। अर्थात् जीव मे जो आत्मा से भिन्न होने का भाव उत्पन्न होता है, वह समाप्त हो जाता है।

भगवद्गीता ने तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख किया है—कम, विकम और अकम। कम शास्त्र-विहित कम है, विकमशास्त्र वर्जित कम है और अकम चुपचाप बठे रहना या 'तुष्णीय भाव' है। इनका रहस्य जानना अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि कम क्या है और अकम क्या है इसका रहस्य समझने मे क्रान्त द्रष्टा कवि एव मेधावी पडित भी विमोहित हो जाते हैं। कवयोऽप्यत्र मोहिता (गीता ४।१६) इसकी गति अत्यन्त गूढ है "गहना कमणो गति" (गीता ४।१७)। बुद्धिमान लोग कर्म मे अकर्म देखते हैं और अकर्म मे कम "कमण्यकर्म य पश्येदकमणि च कम य" (गीता ४।१८) इस प्रकार क्रिया-रहित आत्मा मे 'मैं कम करता हूँ' देखना और पूणतया कम-रत होते हुए भी "मैं कुछ नही करता हूँ" ऐसा अनुभव करना वास्तव मे कम बधन से मुक्त होना है। ऐसा भगवान का मन्तव्य है। इस श्लोक का रहस्य समझाते हुए शकराचाय अपने भाष्य मे लिखते हैं "एवम् इह अपि अकमणि अह करोमि इति कम दशन कमणि च अकम दशन विपरीत दशन येन तन्निराकर्णायम् उच्यते" 'कमणि अकम य पश्येत् (गीताभाष्य ४।१८)

इस प्रकार अनासक्त भाव से किये हुए कम ब धन कर्त्ता नही होते उनमे एषणा एवम् वासना किंचित मात्र भी नही होती। इसी को कम निवृत्ति कहते हैं जो मुक्ति या ज्ञान प्राप्ति का साधन बन जाता है।

ज्ञान प्राप्ति की साधना

शकराचाय ने विवेक चूडामणि एव उपदेश साहस्री मे ज्ञान प्राप्ति के चार साधना का उल्लेख किया है —

(१) नित्यानित्य विवेक

ब्रह्म नित्य एव शाश्वत है तथा अन्य भौतिक पदाथ परिवतनशील एव अनित्य है। यह ज्ञान का प्रथम साधन है।

(२) इहामुत्र फल भोग विराग

जब कम फल भोगने की एषणा नही रहती तब भोगो के प्रति सहज वैराग्य हो जाता। इससे सारे कर्म सहज रूप से एषणा रहित या निष्काम हो जाते हैं।

(३) तीसरा साधन विधिवत साधना है

(१) क्षमा, मन की एकाग्रता (२) दम, इन्द्रियो को नियन्त्रित रखना अर्थात जितेन्द्रिय होना (३) उपरति-वृत्तियो की बाह्य भोगो की ओर दौडने से रोकना (४) तितिक्षा—द्वन्द्व रहित मानसिकता बनाना अर्थात् दु खसुख, हानिलाभ इत्यादि सभी स्थितियो मे मानसिक समता रखना। (५) समाधान—श्रवण-कीर्तन इत्यादि मे मन को एकाग्र रखना। (६) श्रद्धा—महापुरुषो के, एव गुरु वचनो मे अटूट श्रद्धा। इन आध्यात्मिक साधनो से चित्त-शुद्धि होती है जिसके द्वारा जीव सहज ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(४) चतुथ साधन है मुमुक्षा

मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा। विवेक चूडामणि मे शकराचाय लिखते हैं कि यह अत्यन्त दुर्लभ साधन है और भगवदकृपा से ही प्राप्त होता है। 'देवानुग्रह हेतुकम। (विवेक चूडामणि-३)

इन समस्त साधनो द्वारा दीक्षित शिष्य गुरु से ब्रह्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करता है। समस्त जगत एव सृष्टि मे वह एकमात्र ब्रह्म का ही दर्शन करता है। ब्रह्म के इतर उसे कुछ भी नही दिखता। सारे अध्यास एव आरोप स्वत समाप्त हो जाते हैं। वह अनुभव करता है समस्त सृष्टि ब्रह्म की ही लीला है अविभक्त ब्रह्म ही माया के कारण विभक्त जीव और जगत के रूप मे प्रतीत होता है। आत्मा पर शरीर का आरोप होता है जिसे हम पचकोश कहते हैं—अन्नमय, प्राणमय—मनोमय, विज्ञानमय एव आनन्दमय कोश—इसी प्रकार शरीर पर भी तीन प्रकार के आरोप होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। इन सब प्रतीत होने वाले भेदो मे ज्ञानी शिष्य को अभेद ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इससे स्वत प्रपच निवृत्ति हो जाती है। तत्, त्वम्, असि (छान्दोग्य उप०) 'तुम वह हो', मात्र विवेचन का विषय न रहकर अनुभूत सत्य हो जाता है। ब्रह्म और जीव की अभिन्नता का अनुभव ही मुक्ति का हेतु है।

मुक्ति

जीव के चार पुरुषाथ धम, अथ, काम, मोक्ष हैं। इनमे अन्तिम पुरुषाथ जीव को सासारिक द्वन्द्वों से निवृत्त कर देता है एवम आनन्द प्रदान करता है। ये द्वन्द्व ही सुख दुख के कारण हैं और तीन प्रकार के तापो से जीव को सतप्त करते हैं। यह तापत्रय हैं आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इनके

द्वारा जो भी दुख उत्पन्न होते हैं पूर्वलिखित साधनों द्वारा इनसे छुटकारा पाया जा सकता है। इनसे निस्तार पाना ही मुक्ति है। ये ही हृदय ग्रंथि रूपी बन्धन का निर्माण करते हैं 'कामा येऽस्य हृदि श्रिता' (कठ० उप० २।३।१४) गी० भाष्य ४।४।७ में हृदय ग्रंथि, की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं 'हृदय ग्रंथिरविद्या वासना प्रचयो बुद्धयाश्रयःकाम' यह ग्रंथि ही समस्त बन्धनों का निर्माण करती है इसके भेदन से ही वासनाओं की समाप्ति सम्भव है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ मु० उप० २।२।८

हृदयगत वासनाओं के समाप्त होते ही जीव और ब्रह्म का एकत्व हो जाता है। जीव अमृत को प्राप्त कर लेता है 'तथा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' कठ० उप० २।३।१४। इसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं 'सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थ'।१४। सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाने से ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात ब्रह्म ही हो जाता है।[1] अतः अविद्यारूपी हृदय ग्रंथि से मुक्त होना ही वास्तव में मोक्ष है।[2]

मुक्ति चार प्रकार की होती है (१) सारूप्य (२) सामीप्य (३) सालोक्य एवम् (४) सायुज्य। श्री शंकराचार्य इनका अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से 'शिवानन्द लहरी' में वर्णन करते हैं। भगवान शिव को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं सारूप्य मुक्ति—आपके सदृश रूप प्राप्त करना—आपकी पूजा से सामीप्य मुक्ति—आपके निकट रहने—आपके नाम का संकीर्तन करने से—सालोक्य मुक्ति—आपके लोक में निवास, शिवभक्ति में निपुण लोगों के साथ सत्संग एवं सम्भाषण से, तथा सायुज्य मुक्ति—आपके साथ मिलना या एकाकार होने से आपके विराट स्वरूप जिसमें चराचर समस्त लोक एवं प्राणियों का समावेश होता है इनके ध्यान से इस जीवन में ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है तथा जीव पूर्णतया कृतार्थ हो जाता है।

'सारूप्यं तव पूजने शिव महादेवेति संकीर्तने
सामीप्यं शिवभक्ति – धुर्यजनतासाङ्गत्यसंभाषणे।
सालोक्यं च चराचरात्मकतनु ध्याने भवानीपते
सायुज्यं मम सिद्धमत्र भवति स्वामिन् कृतार्थोऽस्म्यहम् ॥'
(शिवानन्द लहरी-२८)

यही अद्वैत वेदान्त का 'चरम-लक्ष्य मोक्ष है एवं मानव जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। बड़ी सुन्दर उपमा से शंकराचार्य इस सायुज्य मुक्ति का वर्णन करते हैं।

भक्ति एवं भगवद् अनुग्रह

शंकराचार्य के दर्शन में अन्धविश्वासों को कोई स्थान नहीं है। स्वर्ग को वे भोग भूमि बताते हैं और उसे मिथ्या घोषित करते हैं क्योंकि पुण्य का फल प्राप्त होने के बाद इसका कोई महत्व नहीं है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' गीता। अतः सारा कर्मकाण्ड आत्म-शुद्धि का साधनमात्र है, जीवन का परमलक्ष्य नहीं है। विवेक चूडामणि में वे भक्ति को स्वरूप अनुसन्धान के रूप में परिभाषित करते हैं।

---

१ 'अविद्या हृदय ग्रंथि मोक्षो मोक्ष यतस्ततः' वि० चूडामणि ५५८)
२ क्षीरे क्षीरे यथा क्षिप्त तैलं तैले जल जले।
संयुक्त एकता याति तथाऽत्मन्यात्मवित् मुनि (वि० चूडामणि ५६६)

मोक्ष कारण सामग्र्यां शक्तिरेवगरीयसी।
स्वस्वरूपानुसध न भक्तिरित्यभिधीयते ।।

(वि० चूडा० ३१)

भगवान की पूजा करना भक्ति योग है, उसकी सिद्धि अर्थात उसका फल ज्ञान निष्ठा की योग्यता ही है। जो व्यक्ति सब भूतो मे समत्व भाव का अनुभव करता है वह ज्ञाननिष्ठ पुरुष परमेश्वर की भजन-रूपा परा भक्ति को पाता है, (स्वकमणा भगवत अभ्यर्चन-भक्तियोगस्य सिद्धि प्राप्ति फल ज्ञान निष्ठायोग्यता (गीता भाष्य १८।५५) तथा 'एव भूतो ज्ञाननिष्ठो मयिपरमेश्वरे भक्ति भजन उत्तमा ज्ञान लक्षणाम् चतुर्थीम् लभेत् (गीता भाष्य १८।५४)

अत भक्ति का मधुरफल ज्ञान है (गलित फल)। शकराचार्य के स्तोत्रो मे भक्ति की निर्झरिणी समस्त ज्ञान के आलोक को आप्यायित करती रहती है। उनके प्रौढ ज्ञान का प्रकाश भक्ति के सवेदनशील स्नेह से अधिक भास्वर हो जाता है। उनके स्तोत्रो मे मानवीय कोमल भाव, असीम सहृदयता एव आत्म समपण की दैन्यता से द्रवित हो उठते हैं। उनके स्तोत्रो मे परमात्मा के साथ रागात्मक सम्बन्ध पूरे सवेग के साथ उभर कर आता है। 'परम्जानेऽमातस् त्वदनशरणम क्लेश हरणम्' और षटपदी मे अत्यन्त विनम्र होकर विष्णु से प्राथना करते हैं।

अविनयमपनय विष्णो दमय मन शमय विषय मृगतृष्णाम
भूतदया विस्तारयतारय ससार सागरत । (षटपदी १)

शकराचाय का यह दृढ मत है कि मोक्ष या ब्रह्मज्ञान जीव की साधना के साथ साथ भगवद अनुग्रह से ही प्राप्त होता है इस तथ्य का इन्होंने विवेक चूडामणि मे एव अन्य स्तोत्रो मे स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है 'ईश्वरानुग्रहादेव पु साम् अद्वैत वासना (शिवानन्द लहरी भूमिका टी० म० पी० महादेवन द्वारा उद्धृत) ज्ञान और भक्ति एकाकार होकर भगवत्साक्षात्कार के साधन बन जाते हैं।

दार्शनिक कवि

इतिहास के दार्शनिक विद्वान टॉयनबी ने ठीक ही कहा है कि 'शकराचाय भारतीय दर्शन के जनक हैं।' अद्वैत दर्शन के माध्यम से इन्होंने दार्शनिक चिन्तन की एक गम्भीर परम्परा का सूत्रपात किया है। 'प्रस्थानत्रयी' जैसे दुरूह ग्रन्थो का अभिप्राय इन्होंने अपने भाष्यो द्वारा इतनी सरल, सुबोध एव सुगम्य शैली म व्यक्त किया है कि सम्भवत उनके भाष्यो के बिना ये ग्रन्थ आज बोधगम्य नही हो पाते। शकराचाय के भाष्यो की शैली अत्यन्त रोचक गम्भीर और प्रौढ है। जटिल ग्रथो की व्याख्या वे अत्यन्त सहज एव नितात प्रसादमयी शैली मे करते हैं। इनका ज्ञान अगाध एव अत्यन्त व्यापक है। बौद्ध, जैन, पाचरात्र, पाशुपत, साख्य, न्याय वैशेषिक, मीमासा, योग, प्रस्थानत्रयी, तन्त्र एव पुराण तथा वैदिक दर्शनो म इनकी गहरी पैठ थी। इनका प्रकाड पाडित्य इनके भाष्या मे परिलक्षित होता है। इनके मौलिक विचारों एव तत्व चिन्तन की गरिमा इन्हे भारतीय दार्शनिको मे अग्रगण्य बना देती है।

कवि

शकराचाय मे पाडित्य के साथ भाव कवित्व काव्य का भी अनुपम समन्वय हुआ है यह एक विलक्षण घटना है। तत्व निष्णात दार्शनिक विद्वान इतनी हृदयस्पर्शी स्निग्ध, कोमल कविता की सर्जना कर सकते हैं यह अत्यन्त गौरव एव विस्मय की बात है। इसी से स्पष्ट होता है उनकी व्यापक एव

संश्लिष्ट जीवन दृष्टि जो सवदा विश्वात्मक समग्रता था एव सार्वभौम अध्यात्म चेतना से सम्पन्न थी। उनकी कविता माधुरी की व्याख्या 'बलदेव उपाध्याय' ने बड़ी ही सुन्दरता से की है। शकर की कविता रसभाव निरन्तरा है वह आनन्द का अजस्र स्रोत है, यह उज्ज्वल अथ रत्नो की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उडान है। कविता मे शब्द सौंदय इतना अधिक है कि 'शब्दो की माधुरी चखकर चित्त अन्य विषयो से हटकर इस मनोरम काव्य प्रवाह म प्रवाहित होने लगता है' (बलदेव उपाध्याय—शकराचार्य पे० ३३२) आज बारह सौ वष पश्चात भी विद्वान एव जनसमुदाय उनके स्तोत्रो को गा गाकर आनन्दित हाते हैं एव अपने आप को धन्य मानते हैं।

शकराचाय ने अपने काव्य ग्रन्था म ज्ञान एव भाव के सभी पक्षो को व्यापक धरातल पर अभिव्यक्त किया है। सौंदर्य लहरी मे शक्ति की उपासना के साथ साथ विशुद्ध तन्त्र के उदात्त पक्ष को भी हृदय स्पर्शी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से निरूपित किया है। आनन्द लहरी मे तो आनन्द निरन्तर तरगायित हो उठता है। महाशक्ति भवानी का विवरण वे अत्यन्त मौलिक उपमा से करते हैं 'रुजा हन्त्री गन्त्री विलसति चिदानन्द लतिका' (आ० लहरी) सौंदय लहरी मे त्रिपुर सुन्दरी के नेत्रो की वैश्विक उपमा (Cosmic Image) कितनी विराट एव सरस है।

"अह सूते सव्य तव नयन मर्कात्मकतया
त्रियामांवाम ते सृजति रजनीनायकतया।
तृतीया ते दृष्टि - दरदलित हेमाम्बुजरुचि
समाधत्ते सन्ध्यां दिवस निशयोरन्तरचरीम्॥ सौन्दर्य लहरी।४८

अथ—'माते त्रिपुर सुन्दरी! तुम्हारी दाहिनी आँख सूय जैसी दिवस बनाने वाली, बायी आँख चन्द्ररूपिणी रात्रि बनाने वाली है और तीसरा नेत्र न दिन, न रात अग्नि स्वरूप सधिकाल दरसाता है। यह स्पष्ट है कि शकराचाय प्रौढ दार्शनिक एवम् रसज्ञ तथा उच्च कोटि की कवि प्रतिभा के धनी थे।' इनकी रचनायें सस्कृत साहित्य की अनमोल निधि हैं, जिनका परवर्ती सस्कृत व प्रादेशिक साहित्य पर गहरा प्रभाव पडा है।

आचार्य शकर का बहुआयामी व्यक्तित्व व्यवहार एवम् परमार्थ दोनो का सम्यक समन्वय कर देता है। जहा व्यावहारिक सत्ता मे वे यथाथवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं वहाँ पारमार्थिक सत्ता मे वे परम आदर्शवादी एव आध्यात्मिक चिन्तन को अभिव्यक्त करते हैं। इन दोनो सत्ताओ के सामजस्य मे ही जीवन की पूर्णता है। इनका अद्वैत दर्शन समस्त मानव एव चराचर जगत मे एक दिव्य सत्ता (परात्पर ब्रह्म) का ही दर्शन कराता है।

वेदान्त सिद्धान्त निरुक्तिरेषां, ब्रह्मैवजीव सकल जगच्च।
अखण्ड रूप स्थिति रेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीयेश्रुतय प्रमाणम्॥ (वि० चूडा ४७७)

वेदान्त सिद्धान्त का यही अन्तिम निष्कष है कि समस्त जीव और जगत ब्रह्म ही है। उसके अखण्डरूप म स्थित रहना ही मोक्ष है। यही श्रुतिया का प्रमाण है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य है ही नही।

शकराचाय युगान्तरकारी दार्शनिक मनीषी एव क्रान्तद्रष्टा कवि थे। वे भगवान की दिव्य विभूति थे, जिनकी प्रतिभा की आभा शताब्दिया के बीतने पर भी आज उतनी ही देदीप्यमान है। ●

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन (रामानुजाचार्य)

प्रो० विश्वनाथ शुक्ल

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे भारत की सत्यान्वेषिणी प्रज्ञा ने 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की घोषणा से सत्य और ऋत की खोज के मानो विभिन्न मार्गों की ओर भी संकेत कर दिया है। हम अपने अद्वैत वेदान्त, वैष्णव पाचरात्र आगम, शैवागम, जैन, बौद्ध, वैष्णव वेदान्त आदि अत्यन्त समृद्ध समस्तदर्शन पद्धतियो को उसी एक परम सत्य की खोज के विभिन्न मार्गों और आयामो के रूप मे देखना चाहिये। सम्भवत श्रुति के इसी 'बहुधा' ('अनेक प्रकार से') साकेतिक शब्द को लेकर भारतीय सजनात्मक प्रज्ञा के किसी प्रतिनिधि कवि मनीषी ने भी विभिन्न मार्गों से उसी एक परमसत्य के अन्वेषण की बात कही है—

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्ना पन्थान सिद्धिहेतव ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

(बहुधा, आगमो से भिन्न, अनेक मार्ग भी एक तुम्हारी ही प्राप्ति रूप सिद्धि के हेतु हैं। जैसे, गगा के सारे प्रवाह एकमात्र समुद्र मे ही जाकर गिरते हैं।')

ये भारतीय दर्शन-पद्धतियाँ हमे कभी एक दूसरे का विकास, कभी एक दूसरे की पूरक, कभी एक दूसरे के नितान्त विपरीत विरुद्ध और कभी परस्पर आक्रामक भी दिखलाई देती है। किन्तु इन सबमे जो एक बात सवत्र समान है वह इन पद्धतियो के पुरस्कर्ताओ की इनमे अनुस्यूत अपन अनुभूत सत्य के प्रति निष्ठा और आस्था है। इसी आस्था ने भारतीय दार्शनिक प्रज्ञा को निरन्तर स्वतन्त्र विकास की दिशा मे अग्रसर किया है। इस दृष्टि से हमारी प्रत्येक दार्शनिक चिन्तनधारा मानव की ऋतम्भरा प्रज्ञा का महत्त्वपूर्ण आयाम बन जाती है। देहात्मवादी चार्वाक दर्शन से लेकर सर्वात्मवादी वैष्णवदर्शन तक उसका विस्तार हमे यही बताता है।

वैदिक-साहित्य की शृंखला मे उपनिषद अन्तिम कडी हैं, अत उन्हे व्यापक अर्थ मे 'वेदान्त' कहा गया है। वेदान्त साहित्य मे ब्रह्म (परमात्मा या भगवान) जीव (जीवात्मा) और जगत के तात्विक स्वरूप और इनके पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार किया गया है। वेदान्त सिद्धान्त को अत्यन्त सक्षिप्त शब्दो मे महर्षि बादरायण व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्रो (अनुमानित रचनाकाल ४०० ई० पू०) मे प्रतिपादित किया है। ब्रह्मसूत्रो का भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमदभगवदगीता (महाभारत भीष्मपर्व के अन्तर्गत २५वें से ४२वें अध्याय तक १८ अध्यायो मे वर्णित) वेदान्त की मुख्यतम प्रमाणभूत सामग्री मानी जाती है। इसे 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता है। भारतीय दार्शनिकों मे इन तीनो पर व्याख्यात्मक भाष्य की रचना करने की सुदीर्घ परम्परा रही है। विशेषरूप से ब्रह्मसूत्रो पर भाष्य करने वाले दार्शनिक आचार्यो ने ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप विमर्श मे एक प्रश्न उठाया है वह है 'अद्वैतता' का। ब्रह्म की 'अद्वैतता' वस्तुत क्या है, इसी प्रश्न का उत्तर समस्त आचार्य मूल सूत्रो के तात्पर्यार्थ को अपनी अपनी प्रज्ञा द्वारा आत्मसात करते हुए देते हैं। ब्रह्म का 'अद्वैत' तो सर्वनिष्ठ है, किन्तु कुछ दार्शनिक तो ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष मानते हैं और कुछ सगुण सविशेष। यहीं से अद्वैत-वेदान्त की दो पृथक धाराएं

प्रवाहित होने लगती है। ब्रह्म को निगुण निर्विशेष मानने वाले दार्शनिकों मे मुख्यतया परिगणनीय आचार्य गौडपाद (चौथी शती ई०) आचार्यगोविन्दभगवत्पाद (८वीं शती ई०) और आद्य शकराचार्य (८वीं शती) हैं। इनके लिए 'अद्वैतवादी' शब्द रूढ़-सा हो गया है। ब्रह्म को सगुण सविशेष मानने वाले आचार्यों मे बोधायन, टक, द्रमिड, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी आदि अत्यन्त प्राचीन भागवत या वैष्णव परम्परा के हैं जो सभी ८वीं शती से पहले विद्यमान थे। हमारे विवेच्य विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य (१०१७ ई०) इन्हीं की परम्परा मे आते हैं। रामानुज दर्शन के प्रेरणास्रोत पचरात्र आगम, तमिल प्रदेश के आलवार भक्तों के तमिल दिव्य प्रबन्ध एव रामानुज के पूर्वापर आचार्यों की परम्परा पर हम यथास्थान विचार करेंगे। यहाँ यही कहना प्रासगिक होगा कि रामानुज का दार्शनिक स्तर पर मुख्य मतभेद शकर के 'केवलाद्वैत' से है जिसके खण्डन के लिए उन्होंने अपने अद्वैत मत का स्वरूप 'विशिष्टाद्वैत' अभिधान देकर स्पष्ट किया।

श्रीशकराचार्य की स्थापना है कि निगुण निरुपाधि और निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है। ब्रह्म, जीव और जगत् के पारस्परिक सम्बन्धो को समझाने के लिये शकर 'माया' 'अविद्या' की परिकल्पना करते हैं और जगत को मिथ्या मानते हैं। किन्तु विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं कि ब्रह्म चित (जीव) और अचित् (जगत) से विशिष्ट (विशेषणयुक्त) है। जीव और जगत ब्रह्म के शरीर हैं। अर्थात जीव जगत और ब्रह्म का सम्बन्ध शरीर शरीरी भाव का सम्बन्ध है। इसी को 'अगागी भाव और शेष-शेषी भाव' भी कहा गया है।

शकर के पूर्ण, निर्विशेष ब्रह्म के साथ मिथ्या माया का सम्बन्ध कथमपि सम्भव नही लगता। उनके अद्वैत मे जिस रूप मे ब्रह्म की परिकल्पना और स्वीकृति है, उसम किसी प्रकार का परिवर्तन (विवर्त्त) और विकार नही हो सकता। वह पूर्णतया अपरिवर्तित और अविकृत है। वह न तो स्वय परिवर्तित हो सकता है, और न किसी भी अन्य पदार्थ से किसी प्रकार प्रभावित हो सकता है। शकर के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है भी नही जो उसे प्रभावित कर सके। वह अद्वितीय (द्वितीय के बिना) एक है किसी भी गुण या विशेषता से रहित एव सत्य या सत्ता मात्र है। ऐसा शुद्ध ब्रह्म फिर विकृत कैसे हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में शाकरमतानुयायी कहते है कि ब्रह्म और उसके साथ माया का सम्बन्ध अनादि है। इसमे सन्देह नही कि ब्रह्म स्वय म शुद्ध है किन्तु अतीत मे कोई क्षण ऐसा नही था जब ब्रह्म एकाकी अर्थात अविद्या सम्बन्ध के बिना रहा हो। यह नही समझना चाहिए कि आदि म ब्रह्म अपनी पूर्ण शुद्ध स्थिति मे था और कालान्तर मे अविद्या उससे आ मिली। अविद्या सदा ब्रह्म के साथ थी। अविद्या भी ब्रह्म के समान ही अनादि है।

कुछ अन्य निगुण अद्वैतवादियो का मत है कि ब्रह्म के साथ सम्बद्ध एक अविद्या दूसरी अविद्या का कारण होती है और यह दूसरी अविद्या एक तीसरी अविद्या का कारण होती है। इस प्रकार अविद्याओ की एक लम्बी अनादि परम्परा चलती रहती है, एक अविद्या नही अपितु अविद्याओ की शृखला।

विशिष्टाद्वैतवादियो की आपत्ति यह है कि शाकरमत मे जो ब्रह्म शाश्वत, अविकारी और अपने आप म पूर्ण शुद्ध है, उस पर अविद्या कैसे व्याप्त हो सकती है। उक्त रूप म ब्रह्म से अविद्या का सम्बन्ध हो ही नही सकता। तब एक प्रथम अविद्या का दूसरी क्रमागत अविद्या का कारण होना घटित ही नही हो सकता।

अनेक शाकरमतानुयायी 'अविद्या' को 'माया' भी कहते है। यह ब्रह्म की स्वय स्वीकृत (Positive) अविद्या है। यह जगत मे स्वय को विकसित (evolve) करती है। यह स्वय मे भी सारे

चमत्कारिक लक्षण विकसित करती है। ऐसा नही है कि मानो ब्रह्म किसी ऐसी माया के सम्पर्क मे आता है जो पहले कही अन्यत्र पृथक रूप से विद्यमान थी। अपितु यह वह अविद्या या माया है, जिसे ब्रह्म स्वय अपने पर आरोपित करता है।

शाकरमतानुयायियो की उक्त धारणा पर आपत्ति करते हुए विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि क्या निरपेक्ष, पूर्ण ब्रह्म स्वय पर किसी नये पदार्थ का प्रभाव होने देने का सामर्थ्य रखता है ? यदि ऐसा है तो ब्रह्म का वह सामर्थ्य एक द्वितीय सत्य होगा और इस प्रकार अद्वैतता का सिद्धान्त ही निरस्त हो जाएगा। किन्तु यदि ऐसा नही है (और शाकरमतानुयायियो के अनुसार ऐसा होना भी नही चाहिए,) तो अद्वैत ब्रह्म स्वय पर अविद्या का आरोप कैसे कर सकता है ? इस समस्या का समाधान कथमपि, कदापि नही हो सकता। एक क्रमागत अविद्या के कारण रूप मे उससे पूर्व एक अविद्या का 'अभ्युपगम' (पूर्वधारणा) नितान्त निरर्थक है। यही आपत्ति अविद्या के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार चरितार्थ होती है।

यदि यह मान भी लिया जाए कि किसी आदि अविद्या का अस्तित्व है तो भी कठिनाई ज्यो की त्यो बनी रहती है। वेदान्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) के कर्त्ता बादरायण ने जगत के मूल भूत कारण का निरूपण करने वाले साख्य के मत को निरस्त किया है। शकर ने इससे सम्बद्ध सूत्रो की व्याख्या विश्वसनीय शुद्धता के साथ की है। साख्य मे स्वीकृत पुरुष बिलकुल शाकर अद्वैत मे स्वीकृत ब्रह्म जैसा है, जो न इच्छा का सामर्थ्य रखता है, न गति का, न कर्म का। साख्य की प्रकृति (Matter) बुद्धि तत्त्व से रहित है। स्वतत्र सत्ता होते हुए भी जगत की सृष्टि के लिए प्रकृति कोई पहल या उपक्रम नही कर सकती, ऐसी स्थिति मे जगत् की सृष्टि कैसे हुई यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है। यही स्थिति शाकर अद्वैत मे ब्रह्म और अविद्या की है। ब्रह्म पूर्णतया तटस्थ है। वह न किसी अन्य पदार्थ से प्रभावित होता है, न किसी को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार अविद्या या माया साख्य की प्रकृति की भाति स्वय कुछ कार्य नही कर सकती। निष्कर्ष यह है कि न तो ब्रह्म और न अविद्या—दोनो मे से कोई भी जगत् का कारण नही हो सकते। किन्तु दूसरी ओर शाकर अद्वैत की मान्यता है कि ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण (Material cause) और निमित्त कारण (Instrumental cause) दोनों है। यह जगत ब्रह्म का मायात्मक परिणाम है और ब्रह्म उसमे बीज या सत्य के सार की भाति स्थित है।

शकर के उपर्युक्त मायावाद का अनेक परवर्ती चिन्तको ने सतर्क खण्डन किया है। भास्कर (नवी शती ने ही अपनी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या मे शकर के मायावाद को चुनौती दी थी। अपनी व्याख्या के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए भास्कर कहते हैं—

सूत्राभिप्रायसवृत्या स्वाभिप्राय प्रकाशनात्।
व्याख्यात यैरिद शास्त्र व्याख्येय तन्निवृत्तये॥

(अर्थात—'ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक अभिप्राय का गोपन करके अपने अभिप्राय के प्रकाशन द्वारा ब्रह्मसूत्रो की (त्रुटिपूर्ण) व्याख्या है, मेरी यह व्याख्या उस व्याख्या की निवृत्ति (खण्डन) के लिए है।) भास्कर शकर के इस सिद्धान्त का स्पष्ट विरोध करते हैं कि जगत् ब्रह्म के वास्तविक विकार (परिणाम) के कारण उत्पन्न नही हुआ है, अपितु माया के द्वारा उत्पन्न हुआ है। भास्कर का मत है कि माया या अविद्या कोई वस्तु नही। उसका कोई अस्तित्व नही। यह ब्रह्म ही है, जो स्वय अपनी शक्ति से एक वास्तविक (सत्य) परिणाम द्वारा जगत रूप मे प्रकट हो रहा है। पाचरात्र आगम (वैष्णवागम) भी उस सीमा तक इस सिद्धात को मानते हैं जहाँ वे 'वासुदेव' को ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण

बताते हैं।[1] पांचरात्रशास्त्रों के अनुयायी वैष्णव भक्त 'भागवत' या 'सात्वत' कहलाते हैं, जिनकी चर्चा विशिष्टाद्वैत मत के व्यावहारिक भक्ति पक्ष के साथ की जायेगी। भास्कर इन भागवतों से वहाँ मतभेद रखते हैं जहाँ भागवत दार्शनिक व्यक्तिगत आत्माओं को भी ब्रह्म से ही उद्भूत मानते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि साख्य दर्शन मे स्वीकृत प्रकृति (Matter) बुद्धितत्त्व से रहित है। किन्तु उसकी पुरुष से स्वतंत्र पृथक सत्ता है। वह पुरुष पर आश्रित नही है। इसके विपरीत शाकर अद्वैत मे स्वीकृत माया या अविद्या ब्रह्म पर आश्रित है। जबतक ब्रह्म स्वय पर अज्ञान का आरोप या स्वय प्रमाद का वरण न करे, तब तक माया या अविद्या की ठीक स्थिति नही बनती। अब प्रश्न यह है कि क्या ब्रह्म मे अज्ञान या प्रमाद की कल्पना भी की जा सकती है? क्योकि जो अज्ञान या प्रमाद का पात्र है वह ब्रह्म तो कदापि नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैतवादियो की दृष्टि मे यह तथ्य शाकरअद्वैत को साख्य-मत से भी अधिक असगत और अस्वीकार्य बना देता है। ब्रह्म मे किसी प्रकार की अविद्या या माया की स्थिति को स्वीकार करना ऐसा ही है जैसा प्रकाशमय मध्याह्न मे अन्धकार की स्थिति को स्वीकार करना। इन आधारभूत तथ्यो पर विचार करने से विशिष्टाद्वैतवादियो ने यही निष्कर्ष निकाला है कि शाकर अद्वैत मे वदतो व्याघात दोष (Self contradiction) है और रामानुजाचार्य ने उसका उचित ही निरास किया है।

पचरात्र आगम

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है रामानुज के विशिष्टाद्वैत दर्शन की आधार भूमि और स्रोतो मे वैष्णव पाचरात्र आगम भी हैं, जिनकी अनेक सहिताएँ हैं। सात्वत सहिता, ईश्वर सहिता, अहिर्बुध्न्य सहिता, जयाख्य सहिता, पौष्कर सहिता आदि इनमे उल्लेखनीय हैं। भारतीय दर्शन के प्रख्यात इतिहास लेखक डा० सुरेन्द्रनाथदास गुप्त के मतानुसार पचरात्र सिद्धान्त का सम्बन्ध ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से है। वास्तव मे पुरुषसूक्त परवर्ती समस्त वैष्णवदर्शनो की नीव है।[2] शतपथ ब्राह्मण (१३ ६ १) के अनुसार सर्वातिशायी महापुरुष नारायण ने चराचर जगत के साथ एकाकार होने के लिये 'पचरात्र' सत्र यज्ञ का दर्शन और अनुष्ठान किया और अपने मन्तव्य को पूर्ण कर लिया। 'पचरात्र' शब्द का अर्थ 'पाँच (दिन) रात चलने वाला (यज्ञ) हो सकता है 'पुरुषो ह नारायण' वाक्य अपने गहन आध्यात्मिक अर्थ के साथ सामान्यतया यह अर्थ वहन करता हैं कि सामान्य पुरुष ही त्यागमय यज्ञ के अनुष्ठान से सर्वोच्च नारायणत्व प्राप्त कर लेता है। 'नर से नारायण' लोकोक्ति का रहस्य भी सभवत यही है। पचरात्र आगम के अनुसार नारायण ही परम पुरुष, परम दैवत और परब्रह्म है। महाभारत (शान्ति पर्व अध्याय ३३४) मे 'नर' और 'नारायण' दो ऋषियो की ब्रह्म साक्षात्कार के लिये तपश्चर्या का वर्णन है। वही नारायण को सर्वोच्च और सबसे महान बताया गया है। सात्वत सहिता मे प्रसग है कि नारायण अपने परम भक्त नारद को 'श्वेतद्वीप' (सभवत सतोगुण प्रधान मनोभूमि) मे दर्शन देते हैं। वे नारद से कहते हैं कि वासुदेव ही शाश्वत परमात्म तत्त्व है। वासुदेव से 'सकर्षण' (जीवात्मा) सकर्षण से 'प्रद्युम्न (मनस) और प्रद्युम्न से 'अनिरुद्ध' (अहकार) का प्रादुर्भाव होता है। वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और

---

१ वासुदेव एव उपादान कारण जगतो निमित्त कारण चेति ते मन्यन्ते। तदेतत सर्व श्रुतिप्रसिद्धमेव। तस्मान्नात्र निराकरणीय पश्याम। भास्करभाष्य, २ २-४१।

२ ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग ३, अध्याय २६।

अनिरुद्ध को 'चतुर्व्यूह' कहा जाता है। श्रीमद् भागवत मे[1] अन्य प्रकार से इसकी दार्शनिकता पर प्रकाश डाला गया है। वैसे ऐतिहासिक रूप मे वासुदेव श्रीकृष्ण हैं। सकर्षण उनके अग्रज बलराम हैं। प्रद्युम्न श्रीकृष्ण के पुत्र और अनिरुद्ध प्रद्युम्न के पुत्र प्रसिद्ध ही हैं। विशिष्टताद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि मे चतुर्व्यूह को लेकर यामुनाचार्य (९१८-१०३८ ई०) ने अपने 'आगमप्रामाण्य' मे ब्रह्मसूत्र के उत्पत्त्यधिकरण के चार सूत्रो (२ २ ३९-४२) की सतर्क व्याख्या करते हुए शकर के इस मत का निरस्त किया है कि पचरात्रशास्त्र वेद विरुद्ध हैं। यामुनाचार्य और उनके अनुगामी रामानुजाचार्य का तर्क है कि यह अधिकरण बडी सूक्ष्मता से पचरात्र मत की प्रामाणिकता और वेदानुकूलता सिद्ध करता है। उनके विचार मे वेद और पचरात्र आगम का मन्तव्य एक ही है। यह अवश्य है कि आगम समझने मे वेदो की अपेक्षा सरलतर हैं। पचरात्र भी ब्रह्मसूत्र (२ २ ३०) 'उत्पत्त्यसभवात्' (आत्मा की उत्पत्ति असभव होने से) के अनुसार वासुदेवादि चतुर्व्यूह को एक ही भगवान के चतुर्धाविभक्त रूप मानता है। पचरात्र आगम ने विशिष्टाद्वैत के व्यावहारिक रूप श्री वैष्णव सम्प्रदाय को अत्यधिक अवदान दिया है। प्रपत्ति (शरणागति) और निष्काम कर्म पचरात्र आगम के प्रमुख आग्रह हैं। इनके अतिरिक्त दैवी जीवन यापन के लिये पाच विधान पचरात्र आगम मे उपदिष्ट हैं—१ अभिगमन (परमात्मा की ओर उन्मुख होना), २ उपादान (न्यायपूर्वक जीविकोपार्जन), ३ इज्या (बलिवैश्वदेवादि पचमहायज्ञ), ४ स्वाध्याय (पवित्र ग्रन्थ पाठ एव उनका प्रवचन), ५ योग (शान्ति एव एकाग्रतापूर्वक भगवद्ध्यान।)

पचरात्र ग्रन्थ वैष्णवागम, वैष्णव तन्त्र और वैष्णव सहिताओ के रूप मे विशिष्टाद्वैत और श्री वैष्णव सम्प्रदाय के समस्त वाङमय का बहुत महत्वपूर्ण अग हैं। यद्यपि शाकर मतानुयायी स्मार्त, भास्कर भट्ट और प्रभाकर मत के मीमासक, नैयायिक लोग पचरात्र सिद्धात के विरोधी रहे, तथापि विशिष्टाद्वैत की आधार भित्ति निर्माण करने वाले यामुनाचार्य ने अपने अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण, तर्काश्रित ग्रन्थ 'आगमप्रामाण्य' मे बडी सफलता से पचरात्र आगम की प्रामाणिकता को सिद्ध कर दिया है। यामुनाचार्य के एक अप्राप्य ग्रथ 'काश्मीरागमप्रामाण्यम' मे भी इसी विषय का सतर्क प्रतिपादन है। विशिष्टाद्वैत के परवर्ती महान् स्तम्भ वेंकटनाथ (श्री वेदान्तदेशिक) ने भी पचरात्र को महाभारतकार व्यासदेव से समर्थित बताया है। उन्होने व्यासवचन को उद्धृत किया है जो महाभारत शान्तिपर्व मे मोक्ष धर्म के अन्तर्गत है—

इद महोपनिषद चतुर्वेदसमन्वितम्।
साख्ययोगकृतान्तेन पचरात्रानुशब्दितम॥

(अर्थात् 'यह चारो वेदो के ज्ञान से सम्पन्न महान उपनिषद है। यह साख्य और योग के सिद्धान्तो के साथ वेदोक्त अनुगत सिद्धान्त है। इसे 'पचरात्र' नाम से जाना जाता है'।)

पचरात्र साहित्य अत्यन्त विस्तृत और विशाल है। इस साहित्य का बहुत बडा भाग अब भी पाण्डुलिपियो के रूप मे ही अप्रकाशित पडा है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय मे मदिरो के स्थापत्य प्रतिमा निर्माण, स्थापना और विस्तृत अर्चना पद्धति सस्कार तथा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के सूक्ष्म, गम्भीर और विस्तृत ज्ञान के लिए पचरात्र आगम का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। कुछ पचरात्र सहिताओ का उल्लेख किया जा चुका है। अन्य कुछ सहिताएँ हैं, हयशीर्ष सहिता, विष्णुतत्त्व सहिता, परमसहिता, पराशर सहिता, पद्म सहिता, परमेश्वर सहिता, प्रकाश सहिता, महासनत्कुमार सहिता, अनिरुद्ध सहिता महोपनिषद्, काश्यप सहिता, विहगेन्द्र सहिता, सुदर्शन सहिता, अगस्त्य सहिता, वसिष्ठ सहिता, विश्वामित्र सहिता, विष्णु

---

१ श्रीमद भागवत ३ २६ तथा १२ ११।

संहिता, विष्वक्सेन संहिता, मार्कण्डेय संहिता, हिरण्यगर्भ संहिता आदि। मार्कण्डेय संहिता में १०८ संहिताओं की चर्चा है और ९१ संहिताओं की सूची दी गई है। विष्वक्सेन संहिता अत्यन्त प्राचीन है और विशिष्टाद्वैत प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य द्वारा बहुधा उद्धृत की गई है। दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण की दृष्टि से, जयाख्य, अहिर्बुध्न्य, विष्णु, विहगेन्द्र, परम एवं पौष्कर संहिताओं में क्रियायोग, अर्चना, दीक्षा आदि का ही प्रधानतया वर्णन है।' (विशेष द्रष्टव्य—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त भाग-३)

तमिळ अळ्वार भक्त और अळगिय आचार्य

विशिष्टाद्वैत वैष्णव वेदान्त और श्री वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के इतिहास में बारह महापुरुषों का अतिशय गौरवमय, श्रद्धामय और वन्दनीय स्थान है। वैसे तो 'आळ्वार' विशेषणात्मक नाम से प्रसिद्ध इन बारह परम भगवद् भक्त सन्त कवियों की अध्यात्म तत्त्वमय, काव्यरस, भक्तिरसभरित पुनीत वाणी समस्त भारत के भक्ति वाङ्मय की अमूल्यनिधि मानी जाती है, तथापि विशिष्टाद्वैतवादी श्री वैष्णवों की तो वह प्राणशक्ति ही है। तमिळ प्रदेश के ये आळवार वैष्णव भक्त सतकवि अत्यन्त प्राचीन हैं। 'आळ्वार' शब्द तमिळ भाषा का है। इसका शाब्दिक अर्थ है, 'भक्ति के समुद्र में गोता लगाकर अतल गहराई तक पहुँचने वाले साधक'। वास्तव में ये महापुरुष हैं भी अन्वर्थ नाम। तमिल प्रदेश में इनकी इतनी मान्यता है कि देवमंदिरों में भगवदर्चावतारों (प्रतिमाओं) के साथ इनकी भी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं, और देव तुल्य पूज्य हैं।

आळवारों के ऐतिह्य और स्थितिकाल के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। प्राचीनतम आळवार भक्त का स्थितिकाल ईसापूर्व ४२०३ वर्ष और अन्तिम आळवार का स्थितिकाल ईसापूर्व २७०६ वर्ष मानने वाले विद्वान् श्री एस० के० आयंगर और डा० भण्डारकर हैं। सम्भवतः श्री वैष्णवों के 'गुरु परम्परा' ग्रन्थ इनके आधार हैं। आधुनिक शोध दृष्टि वाले विद्वान आळवारों का समय ५वीं या ९वीं शती से पूर्व नहीं ले जाते। अधिकतर विद्वान् इन्हें ५वीं से ९वीं शती ईसवी में स्थित मानते हैं।

आळवारों के चार सहस्र तमिळ गीतों या प्रबन्धों का संग्रह 'नालायिर दिव्यप्रबन्धम्' नाम से प्रख्यात है। 'नाल' का अर्थ तमिल में चार' और 'आयिरम्' का अर्थ 'सहस्र' है। 'आयिरम्' 'सहस्रम' का ही तमिळ रूप है। 'नालायिर दिव्य प्रबन्धम' की आध्यात्मिक और भागवत महत्ता अनिर्वचनीय मानी जाती है, और इसे वेदतुल्य पवित्र समझे जाने के कारण इसे 'द्रविडवेद' या 'तमिळवेद' भी कहा जाता है। विशिष्टाद्वैतवादी आचार्यों की परम्परा नाथमुनि (८२४-९२० ई०) से आरम्भ होती है। नाथमुनि यद्यपि संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे तथापि वे लोकभाषा तमिळ को समान महत्त्व देते थे। उन्होंने संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं में हुए दार्शनिक चिन्तन का आत्मसात किया था। परवर्ती आचार्य परम्परा में श्री यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, वेदान्तदेशिक और वरवर मुनि ने संस्कृत और तमिळ दोनों के तत्त्वचिन्तन के आधार पर 'उभय वेदान्त' की स्वस्थ परम्परा डाली थी किन्तु कालान्तर में इसमें शैथिल्य आता चला गया। नाथमुनि ने आळ्वारों के शिरोमणि स्वरूप नम्माळ (शठकोप यार) के नष्टप्राय तमिळगीतों का उद्धार कर उन्हें संगृहीत किया। उन्होंने उन गीतों को वेदों के पाठ के समान संगीतबद्ध कराया। उनके समय से ही ये स्तुतिगीत (स्तोत्र) वैष्णव मन्दिरों में इष्टदेवता के सामने गाये जाने लगे थे। इससे अनुमान होता है कि कालान्तर में अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भगवद् विग्रह के सामने जो कीर्तन सेवा का प्रचलन हुआ, उसे नाथमुनि के द्वारा प्रचारित तमिळ दिव्य प्रबन्ध के भक्तिमय गान से प्रेरणा मिली है। श्रीवल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में नित्य कीर्तन सेवा इसका एक उदाहरण है।

नालायिर दिव्यप्रबन्धम् के चार सहस्र गीतो या पदो को उनके रचयिता आळवार-भक्तो के अनुसार वर्गीकृत भी किया गया है—

प्रथम सहस्र

१ पेरियाळवार् भट्टनाथ, विष्णुचित्तन्)—(बडा या महान)
२ आण्डाळ (स्त्री) (गोदा) (कृष्ण के हृदय की दासिका)
३ कुलशेखरपेरुमाळ (कुलशेखर)—(भगवान्)
४ तिरुमळिशैयाळवार (भक्तिसार)—(श्री 'मळिशै' क्षेत्रवासी)
५ तोण्डरडिपोडि याळवार (भक्ताङ्घ्रिरेणु—भक्तो के चरण की धूलि)
६ तिरुप्पाणाळवार् (योगिवाह)—श्री 'पाण्' नामक जातिवाले
७ मधुरकवियाळवार (मधुर कवि)—(मधुर कवि)

द्वितीय सहस्र

८ तिरुमगयाळवार (परकाल)—(श्री 'मगै' क्षेत्रवासी)

तृतीय सहस्र

९ पोय्गैयाळवार (सरोयोगिन्—(सरोवर-भक्ति के सरोवर)
१० भूतत्ताळवार (पूतयोगिन)
११ पेयाळवार (महतयोगिन)—(आकृत्या बडे, या भयकर पिशाच)

चतुर्थ सहस्र

१२ नम्माळवार (शठकोप, पराकुश)—(हमारे, अस्मय)

श्रीमदभागवत (११ ५-३८ ४०) मे दक्षिण भारत की ताम्रपर्णी, कृतमाला पयस्विनी, महानदी और कावेरी नदी के तटपर जिन महान विष्णु भक्तो के उत्पन्न होने का सकेत दिया गया है, उनकी स्थिति प्राय इन सब आळवारो पर घटित होती है। कहा जाता है कि नाम्माळवार (शठकोप) अन्त्यज थे, किन्तु इन्हे आळवारो मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। ये अगी हैं और शेष ११ आळवार अग हैं। इनकी रचना 'तिरुवायमोळि' (श्रीमुखवचन) अपने अध्यात्म तत्त्व, भक्तिरस तथा काव्यसौष्ठव के कारण श्रीवैष्णव ग्रथो मे अत्यन्त महत्त्व और श्रद्धा की अधिकारिणी है। वेदान्तदेशिक ने इसे 'द्रविडोपनिषद' कहा है और सस्कृत मे इसका अनुवाद किया है।

आळवारो के प्रबन्ध (पद या गीत) चरम भावावेश से प्रस्फुटित, गलदश्रु भावुकता से निसृत भक्तिपूर्ण रचनाएँ हैं। इनम पुरुषोत्तम नारायण कृष्ण के प्रति दास्य और मधुर भक्ति का प्राधान्य है। शठकोप मे परमविरहासक्ति का भाव है। वे कभी कभी स्वय को परम विरहिणी प्रेयसी के रूप मे परिकल्पित करते हुए उन्माद और मूर्छा की अवस्था तक पहुचते हुए दिखाई देते हैं। भगवान के दिव्य गुण, दया, भक्ताधीनता, अपाकृत देह अहैतुकी कृपा आदि के कथन श्रवण से अनिर्वचनीय आनन्दमयता, सासारिक पदार्थो से वैराग्य दिव्य सयोग वियोग शृगार का वणन आळवारो की रचना का मुख्य विषय है। इनमे ब्रह्म निरूपण, आत्म अनात्म जीव जगत् प्रकृति आदि के स्वरूप विश्लेषण जैसे दार्शनिक विषयो की सामग्री

का प्राय अभाव है किन्तु भक्ति-ज्ञान-वैराग्यपूर्ण कर्तव्य कर्म की प्रबल प्रेरणा विद्यमान है। शठकोप भगवान के चरणो के दास्य या किंकरता की प्राप्ति को ही सच्चा मोक्ष मानते है।

आळवारो की रचनाएँ तीन रहस्यो का उद्घाटन करती हैं।

१ तिरु मत्र चुरुक्कु—(श्रीमत्र—'ॐ नमो नारायण' इस अष्टाक्षर मन्त्र का सक्षेप।)

२ द्वयचुरुक्कु—(१—श्रीमन्नारायणचरणौ शरण प्रपद्ये २—श्रीमते नारायणाय नम का सक्षेप।)

३ चरमश्लोक चुरुक्कु (सवधर्मान् परित्यज्य, मामेक शरण व्रज। अह त्वा सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १८ श्लोक ६६ का सक्षेप।)

'चुरुक्कु' या 'चुरुक्कम' तमिळ शब्द का अथ है—सक्षेप।) इन तीन रहस्यो की व्याख्या कालान्तर मे वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) राघवाचाय जैसे दार्शनिको ने अपने ढग से की है।

आचाय परम्परा

भारत के सन्तचरित लेखको ने 'दिव्यसूरिचरित' (गरुड वाहन पडित कृत) 'प्रपन्नामृत' (अनन्त सूरिकृत) प्रबन्धसार (वेंकटनाथकृत) आदि महत्त्वपूण सन्तचरित ग्रन्थो के आधार पर आळवारो (भक्तो) और अळगियो (आचार्यो) मे थोडी विभाजक रेखा खीची है। आळवार तो स्वय स्फूत, आध्यात्मिक रहस्य भाव-भावित परम भावुक भक्त थे, किन्तु अळगिय (आचार्यो) का आध्यात्मिक व्यक्तित्व उच्च शिक्षा जन्य विद्वत्ता से निर्मित था। इस दृष्टि से विशिष्टाद्वैतवादी आचार्यो की ऐतिहासिक परम्परा श्रीनाथमुनि से आरम्भ होती है। परम्परा इन्हे शठकोप (नाम्माळवार) का समकालीन मानती है। इनके पिता का नाम ईश्वरभट्ट था। नाथमुनि की जन्मभूमि चोल प्रदेश (तमिलनाडु) म 'वीरनारायण' नामक गाव था। नाथमुनि के पुत्र का नाम 'ईश्वरमुनि था। नाथमुनि ने समस्त भारतीय तीर्थो की यात्रा की थी। वे मथुरा, वृन्दावन हरिद्वार, बदरीनाथधाम, द्वारका, पुरी, और बगाल तक गये थ। इन्हाने ९६ वष की दीर्घायु प्राप्त की थी। विद्वानो ने इनका समय १०वी शती माना है। ये वेद-वेदान्तवेत्ता और परम भगवद्भक्त थे। इन्ह विष्णु के 'नाम सकीतन मे रत' कहा गया है। नाथमुनि के अप्राप्य ३ ग्रथो के सदभ परवर्ती आचार्यो ने दिये हैं। ये ग्रथ हैं—१ न्यायतत्त्व २ पुरुषनिर्णय और ३ योग रहस्य। नाथमुनि के ११ शिष्य, जिनमे पुण्डरीकाक्ष, कुरुकानाथ, और श्रीकृष्णलक्ष्मीनाथ प्रमुख हैं। आलवारो मैं परिगणित प्रसिद्ध भक्ता आण्डाल पुण्डरीकाक्ष की पत्नी थी। पुण्डरीकाक्ष के शिष्य प्रसिद्ध राममिश्र हुए जो यामुनाचाय (९१८-१०३०) के गुरु थे। यामुनाचाय नाथमुनि के पौत्र थे। इनकी चर्चा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय और विशिष्टाद्वैत के सबसे प्राचीन प्राप्त प्रामाणिक ग्रथ आगम प्रामाण्यम के सन्दभ मे पहले की जा चुकी है। यामुन के अन्य ग्रथ स्तोत्ररत्नम (आलवदार स्तोत्रम) सिद्धित्रयम, गीताथसग्रह, श्रीचतुश्लोकी, महापुरुष निर्णय और काश्मीरागमप्रामाण्यम है। ये अन्तिम दो ग्रन्थ अप्राप्य है। 'महापुरुष निर्णय' मे श्रीनारायण को ही सर्वोच्च सर्वोत्कृष्ट महापुरुष सिद्ध किया गया है। श्रीचतुश्लोकी मे श्री अथवा लक्ष्मी की महत्ता प्रतिपादित है। श्री ही श्रीवैष्णवसम्प्रदाय की आदि प्रवर्तिका मानी गई हैं। श्री या लक्ष्मी नारायण से पृथक अस्तित्व रखते हुए भी उनसे आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध रखती है, जसे रश्मि और सूय तथा सुगन्ध और पुष्प का सम्बन्ध है।

यामुनाचाय का लोक प्रसिद्ध नाम 'आलवदार (आधिपत्यस्थापक या शास्ता) है। विशिष्टाद्वैत आचार्यो म इनका नाम केंद्रीय महत्व का है। नाथमुनि न विशिष्टाद्वैत को नयी तेजस्विता से आगे बढाया। यामुनाचाय ने उसे दृढ़तर किया और रामानुजाचाय ने पूणतया व्यवस्थित कर अभेद्य बना दिया।

रामानुजाचार्य के शिष्य कूरेशस्वामी ने लक्ष्मीनाथ (परात्पर ब्रह्म लक्ष्मीपति नारायण) से आरम्भ कर अपने गुरु श्री रामानुजाचाय तक गुरुपरम्परा की वन्दना की है। इसम नाथमुनि और यामुन मध्य मे आते हैं—

लक्ष्मीनाथसमारम्भां, नाथयामुनमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥

यामुनाचाय समस्त भारतीय प्रज्ञा के एक अत्यन्त तेजस्वी प्रतिनिधि थे। वे एक अतिशय प्रतिभावान तार्किक थे। उन्होने अपने विरोधियो के तर्कों म भ्रान्तियो, दोषो और हेत्वाभासो (fallacies) को उजागर कर दिया है तथा अकाट्य प्रमाणो से अपने सत्य को प्रस्थापित कर दिया है। संस्कृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। किसी विषय का प्रतिपादन करते समय वे भाषा-शास्त्र, मनोविज्ञान, ज्ञान मीमासाशास्त्र, धर्मग्रन्थभाष्य आदि की व्यापक समस्याओ पर अपना मौलिक दष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उनमे परिहास की भी विलक्षण और तीक्ष्ण प्रतिभा थी। एक उदाहरण लें। केवलाद्वैत के 'एकमेवाद्वितीयब्रह्म' (एकमेवसत्ता) की व्याख्या करते हुए उन्होने अपने ग्रन्थ 'संवित् सिद्धि' मे कहा है, 'यह कथन कि चोल प्रदेश का वतमान शासक ससार म अद्वितीय है' इसका तात्पर्य यह है कि उस शासक के समान दूसरे किसी शासक की सत्ता नही है। इसका तात्पय उस शासक से सम्बन्ध रखनेवाले सेवको, पुत्रो, पत्नी और इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियो की सत्ता का निषेध नही है। 'राममिश्र द्वारा गीता के उपदेश से यामुनाचार्य ने विरक्त होकर राजसी वैभव का परित्याग कर दिया और श्रीरगम् चले गये। यामुन के अनेक शिष्यो मे से २१ महत्वपूर्ण हैं। इनमे भी महापूर्ण, श्रीशैलपूर्ण, गोष्ठीपूर्ण मालाधर, मरनेरनम्बी तथा काचीपूर्ण उल्लेखनीय हैं।

यामुनाचाय का मत है कि जीवन का चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति शास्त्रानुमोदित कर्तव्यकर्मों के करने से उत्पन्न आत्मज्ञान और भक्ति द्वारा प्राप्त हो सकता है। गीता मे योग' का अथ भक्तियोग है। अत गीता का चरम प्रतिपादय भक्ति है। यही मनुष्य का चरम लक्ष्य है जो भगवान की पूर्ण शरणागति (प्रपत्ति) और उनपर निर्भरत्व' से प्राप्त हो सकता है। गीताथ सग्रह मे वे कहते हैं—

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचर नारायण पर ब्रह्म गीताशास्त्रे समूदित॥

(गीताथ सग्रह, श्लोक १)

श्रीरामानुजाचार्य (१०१७-११३७ई०)

यामुनाचाय के शिष्य महापूर्ण की दो बहनें थी। १ कान्तिमती और २ द्युतिमती। कान्तिमती का विवाह केशव यज्वन के साथ हुआ था। रामानुज इन्ही केशव यज्वन् एव कान्तिमती के पुत्र थे। रामानुज के प्रथम गुरु काची निवासी केवलाद्वैती यादवप्रकाश थे। कालान्तर म रामानुज का अपने गुरु से मतभेद हो गया। वे यामुन से प्रभावित हुए और वे अपने मामा महापूर्ण के साथ श्रीरगम मे यामुनाचाय के पास रहने चल पडे। किन्तु उनके पहुचने स पूर्व ही यामुन का निधन हो चुका था। पहुचने पर रामानुज ने देखा कि यामुनाचार्य का पार्थिव देह पडा है, और उनके हाथ की तीन अँगुलियाँ मुडी हुई हैं। रामानुज ने इसका अथ लगाया कि यामुनाचार्य की तीन आकाक्षाएँ अपूर्ण रह गई हैं, जिन्हे उन्हे पूरा करना चाहिये। १ जन को वैष्णव प्रपत्ति (शरणागति) सिद्धात मे दीक्षित कर आलवारो की भक्ति रचनाओ का प्रचार। २ ब्रह्मसूत्र पर श्रीवैष्णव एव विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तपरक भाष्य की रचना और ३ श्री वैष्णव सम्प्रदाय पर ग्रथ रचना। रामानुज काची आए और 'काचीपूर्ण' को गुरु बनाया। 'महापूर्ण' ने उन्हे श्रीरगम् म वैष्णवो के पच सस्कारो द्वारा विधिवत दीक्षित किया। रामानुज ने ३०-

३२ वर्ष की अवस्था मे सन्यास ले लिया और दाशरथि से शास्त्राध्ययन किया। अन्त मे यादवप्रकाश भी रामानुज के शिष्य हो गये थे। रामानुज के शिष्यो की सख्या बढने लगी। रामानुज ने सर्व प्रथम 'गद्यत्रय' की रचना की। उनके स्वतन्त्र चिन्तन और प्रतिभा के फलस्वरूप 'वेदान्तदीप' 'वेदान्तसार' 'वेदार्थसग्रह' 'श्रीमदभगवदगीता भाष्य' और भगवदाराधनक्रम जैसे ग्रथरत्न सामने आए। दक्षिण प्रदेश के विस्तृत भ्रमण के पश्चात उनका ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य निर्मित हुआ, जो भारतीय दर्शन साहित्य की अमूल्य निधि और विशिष्टताद्वैत सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपादक ग्रथ है। रामानुज ने मथुरा वृन्दावन, अजमेर, वाराणसी, अयोध्या और हिमालय मे बदरिकाश्रम तक विशाल भ्रमण और जगन्नाथपुरी म मठ स्थापित किया। रामानुज ने जीवन मे बडे कष्ट उठाए। शैव राजा राजेन्द्र चोल (कृमिकण्ठ) के अत्याचारो के भय से गुप्त वेष मे भागते छिपते रहे। किन्तु अन्ततोगत्वा सारी बाधाओ को पार कर अत्यन्त प्रभावशाली वैष्णवाचार्य के रूप मे स्थापित हुए। उन्होंने अनेक मन्दिरो और मठो का निर्माण कराया। नम राजा विष्णुवर्धन देव की सहायता से निर्मित मलुकोट (यादवाद्रि) का तिरुनारायण-प्पेरुमाल मन्दिर उल्लेखनीय है। रामानुज ने १२० वर्षो की दीर्घायु पाई थी। उनका हृदय बहुत ही विशाल था। उन्होंने ऊच-नीच, छुआछूत का विरोध किया। वे सच्चे अर्थो म एक आध्यात्मिक, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील समाज सुधारक और मानव सगठनकारी भारतीय राष्ट्रनेता थे।

वेदान्तदेशिक (१२६८-१३६९) ई०

नाथमुनि से लेकर १३ वी शताब्दी के मध्य तक वैसे तो विशिष्टाद्वैतवादी आचार्यो की परम्परा मे शताधिक विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने इस वैष्णव वेदान्त तथा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के विपुल वाङमय की रचना की किन्तु रामानुजाचार्य के बाद इस दर्शन के सबसे महान प्रकाशस्तम्भ, प्रतिभावतार वेदान्तदेशिक ही हुए। उनके जसे उत्तर, सजनाशील कवि-दार्शनिक सस्कृत जगत मे विरल ही हैं। उञ्छवृत्ति पर जीवन निर्वाह करते हुए उन्होने उच्चतम आध्यात्मिक जीवन का आदर्श स्थापित किया था। अपने विपुल साहित्य के कारण वे विशिष्टाद्वैत और श्री वैष्णव जगत मे अन्यतम विभूति हैं। पाँच वर्ष की शैशवावस्था से ही उन्होने अपनी असाधारण प्रतिभा का प्रमाण देना आरम्भ कर दिया था। वे अपने सम्प्रदाय मे श्रीभगवान के घण्टा के अवतार मान जाते हैं। इनके अन्य नाम 'वेंकटनाथ' 'वेदान्ताचार्य' और 'कवितार्किकसिंह' भी प्रसिद्ध हैं। इनके रचित शतश महान ग्रन्थ हैं।

वेदान्तदेशिक का जन्म काजीवरम के निकट हुआ था। उन्होन अपने पितृव्य 'आत्रेय रामानुज से शिक्षा प्राप्त की थी। अन्य आचार्यों के समान उन्होंने भी विस्तृत यात्राएँ की थी। वे विजयनगर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और पुरी का भ्रमण करने गये थे। उनका अधिकतर कार्यक्षेत्र काची और श्रीरगम् था, जहाँ उन्हे प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पडा। श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के वरिष्ठ और वयोवृद्ध आचार्य पिल्लई लोकाचार्य से कुछ आधारभूत मान्यताओं को लेकर उनका मतभेद था। 'स्वामिकृपा' 'प्रपत्ति' (शरणागति) आदि के सिद्धान्तो की व्याख्या को लेकर लोकाचार्य 'तेन्कलइ' मत के समर्थक बने और वेदान्तदेशिक 'वडकलइ' मत के प्रबल पक्षधर हुए। 'तेन्कलइ' तथा 'वडकलइ' तमिल शब्दो का क्रमश अर्थ 'दक्षिणीकला' (चिह्न, तिलक) तथा 'उत्तरी कला' (चिह्न, तिलक) है। इन दोनो वैष्णव वर्गों के पृथक्-पृथक् तिलक होने से उनकी पृथक् पहचान बन गई। 'तेन्कलइ' अधिकतर तमिल प्रबन्धकार आलवारो द्वारा आचरित मत है। इसके अनुसार ईश्वर स्वय कृपा करता है। भक्त के किसी प्रयत्न की उसे अपेक्षा नहीं। 'वडकलइ' मत के अनुसार भक्त के शुभ-सत्कर्म ईश्वर की कृपा के हेतु बन जाते हैं। यद्यपि ईश्वर

कृपा करने मे पूर्ण स्वतंत्र है, तथापि उसकी कृपा एक पुरस्कार के समान पवित्र और शुभ सत्कर्म करने वाले भक्तो को प्राप्त होती है इस प्रकार ईश्वर की कृपा के सम्बन्ध मे तेन्कलइ वर्ग 'निर्हेतुकता' और 'वडकलइ' वर्ग सहेतुकता के सिद्धान्त को मानता है। रामानुज और उनके अनुयायी वेदान्तदेशिक आदि भक्त द्वारा शुभाचरण और प्रयत्न पर बल देते हुए सहेतुकता के समर्थक हैं। इन भेदो को 'अष्टादशभेदनिर्णय' और 'अष्टादश रहस्यार्थविवरण' नामक दो ग्रंथो मे विवेचित किया गया है। द्वितीय ग्रन्थ के कर्ता स्वयं रामानुज है।

प्रपत्ति (शरणागति)

श्री वैष्णव सम्प्रदाय मे प्रपत्ति या भगवच्छरणागति की बडी महत्ता है। गीता का सर्वधर्मान परित्यज्य (१८ ६६) इसका आधार है। श्रीरामानुजाचार्य ने 'अष्टादश रहस्यार्थ विवरण' मे प्रपत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायाच्ञा प्रपत्ति शरणागति ॥

अर्थात्—'परमात्मा ही एक मात्र रक्षक है। पूर्ण आत्मसमर्पण के अतिरिक्त उसकी कृपा को प्राप्त करने का कोई उपाय नही। महान् विश्वास के साथ यह याचना ही प्रपत्ति या शरणागति हैं। 'तेन्कलइ' मतानुसार मुक्ति के उपायो मे १ शास्त्रानुमोदित कर्म, २ आत्मज्ञान, ३ भगवदभक्ति और ४ गुरुभक्ति के अतिरिक्त ५वा उपाय प्रपत्ति माना गया है। 'वडकलइ' मत के अनुसार अन्य उपाय अन्तर्भुक्त होकर भक्तियोग और प्रपत्ति—यही दो मुक्ति के उपाय हैं। तेन्कलइ 'मार्जार किशोरवत्' प्रपत्ति और 'वडकलइ' 'कपिकिशोरवत' प्रपत्ति के समर्थक हैं, जिनमे क्रमश उपायशून्यता और स्वप्रयास का भाव है। वेदान्त देशिकादि वडकलइ मत के अनुसार लोक संग्रह तथा भगवत्प्रीत्यर्थ शास्त्रानुमोदित कर्तव्य कर्म करने के समर्थक हैं। इसमे अहकार का भाव नही।

प्रपत्ति के छह अंग हैं—१ भगवान् की अनुकूलता का संकल्प, २ उनकी प्रतिकूलता का वर्जन ३ उनके द्वारा रक्षा का विश्वास ४ रक्षक के रूप म भगवान की स्तुति या प्रार्थना ५ आत्मनिक्षेप या आत्म समर्पण तथा ६ कार्पण्य—अकिंचनता और भगवान के समक्ष दीनता का भाव। प्रपत्ति का एक नाम 'न्यास' भी है।

आनुकूल्यस्य संकल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वास गोप्तृत्ववरण तथा ॥
आत्मनिक्षेप कार्पण्य षड्विधाशरणागति ॥

तेन्कलइ और वडकलइ मतो मे इन छह अगो के ग्रहण मे भी अन्तर है। वास्तव मे इन दोनो मतो की पृथक् पृथक् दार्शनिक और आनुष्ठानिक मान्यताओ मे प्रमुख १८ भेदो को 'अष्टादश भेद निर्णय' मे परिगणित कर दिया गया है—

भेद स्वामिकृपाफलान्यगतिषु श्रीव्याप्त्युपायत्वयोस्—
तद्वात्सल्यदयानिरुक्तिवचसो र्यासे च तत् कर्तरि
धर्मत्यागविरोधयोस्त्वविहिते न्यासांगहेतुत्वयो
प्रायश्चित्तविधौ तदीयभजनेऽणुव्याप्तिकयत्नयो ॥

उक्त अठारह भेदो मे से प्रमुख प्रमुखो का किंचिद विवरण ही यहा दिया जा सका है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अत्यन्त विशाल वाड्मय का आलोडन समय और श्रम साध्य है।

बादरायण व्यास का ब्रह्मसूत्र ही वह प्रमुख प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसके निवचन (interpretation) के आधार पर भारत के समस्त आस्तिक दर्शनों का स्वरूप स्थिर हुआ है। चाह शकर का निगुण निर्विशेष ब्रह्मवादी केवलाद्वैत हो, चाहे वैष्णवाचार्यों के सगुण ब्रह्म प्रतिपादक दार्शनिक सिद्धान्त, सभी का आधार ब्रह्मसूत्र है। भारत की प्राचीन दाशनिक चिन्तन धारा के इतिहास पर दृष्टि प्रक्षेप करने से यह सभावना विश्वसनीय लगती है कि ब्रह्मसूत्र की भेदाभेदवादी (भेद मे अभेद की स्थिति) व्याख्या शकर की केवलाद्वैतवादी व्याख्या से प्राचीनतर है। गीता, विष्णुपुराणादि प्राचीन पुराण और पचरात्रादि शास्त्रो की प्रवृत्ति भेदाभेद की ओर उन्मुख लगती है। वस्तुत ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०-९०, १-१६) मे इस भेदाभेदवाद के बीज विद्यमान हैं। यामुनाचाय ने अपने 'सिद्धित्रय' मे द्रमिडाचाय की भेदाभेद परक ब्रह्मसूत्र व्याख्या की चर्चा की है। विशिष्टाद्वैत के एक परवर्ती आचाय श्रीवत्साक मिश्र ने भी इसका समथन किया है। रामानुज ने जिन आचाय बोधायन को 'वृत्तिकार' कहा है, और शकर ने जिनका 'उपवष' नाम से उल्लेख किया है, उन बोधायन की ब्रह्मसूत्रो पर एक गम्भीर और विस्तृत 'वृत्ति' (भाष्य या टीका) थी। यही 'वृत्ति' रामानुज के ब्रह्मसूत्र पर विशिष्टाद्वैतपरक विश्वविख्यात 'श्रीभाष्य' का आधार है। आनन्दगिरि और वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) 'उपवष' को ही वृत्तिकार मानते है। वेदान्त देशिक अनुमान के आधार पर उन्हे ही बोधायन मानते हैं। इन्ही आचाय बोधायन को वैष्णव वेदान्त का सस्थापक माना गया है। किन्तु चूकि ब्रह्मसूत्र पर उनकी 'वृत्ति' अब अप्राप्य है, अत उनकी 'वृत्ति' का मुख्य आधार लेकर चलने वाले प्रथम वष्णव वेदान्ताचार्य यामुन ही हैं, जिनके उपलब्ध ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत वेदान्त की आधार भूमि है। यामुन ने 'महापूण' को शिष्य के रूप मे दीक्षित किया था, और 'महापूण रामानुजाचाय के दीक्षागुरु थे। इस प्रकार रामानुज के दाशनिक विचार इसी गुरु परम्परा से अनुमोदित हैं जिन्हे विशेषरूप से वेदान्तदेशिक, मेघनादारि, वत्स्यवद, वादिहसनवाम्बुद, महाचाय आदि ने तकसहित पल्लवित किया।

विशिष्टाद्वैत मे चित (जीव) अचित (जड जगत) तथा ईश्वर—इन तीन पदार्थों की विस्तृत स्वरूप मीमासा है। चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) शरीर इन्द्रियो एव पचभूतो (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) से निर्मित भौतिक जगत् और ब्रह्म—ये तीनो यद्यपि भिन्न हैं, तथापि चित् और अचित—ये दोनो एक ही ब्रह्म के शरीर हैं। उपनिषद भी कहती है कि समस्त बाह्य जगत और जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है। इसलिए चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। इस प्रकार से विशिष्ट रूप से ब्रह्म को अद्वैत मानने से इस सिद्धान्त को श्री रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैत' कहा है। विशिष्टाद्वैत के एक परवर्ती आचाय श्री निवासदास ने 'यतीन्द्रमतदोपिका' मे रामानुज के सिद्धान्त और व्यावहारिक श्रीसम्प्रदाय मे चर्चित विषयो की बडी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की है, इसे हम एक तालिका द्वारा सरलता से समझ सकते है—

पदार्थ
प्रमाण
प्रमेय
प्रत्यक्ष
अनुमान
शब्द
द्रव्य
अद्रव्य (सत्त्व, रजस्, तमस, शब्द स्पर्श, रूप
रसगन्ध, संयोग और शक्ति
इस प्रकार दस हैं।
जड
अजड
प्रकृति
(२४ तत्त्वात्मिका
काल
वर्तमान, भूत, भविष्यत्
पराक्
प्रत्यक्
नित्यविभूति
धर्मभूतज्ञान
जीव
ईश्वर
बद्ध
मुक्त
नित्य
१ पर, २ व्यूह, ३ विभव, ४ अन्तर्यामी, ५ अर्चावतार
बुभुक्षु
मुमुक्षु
वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध
१ २ ३ ४
प्रतिशरीरस्थ
मत्स्य, कूर्मादि
अर्थकामपर धर्मपर
कैवल्यपर मोक्षपर
देवतान्तरपर भगवत्पर
भक्त
प्रपन्न
एकान्ती परमैकान्ती
दृप्त
आर्त
श्रीरंग
१
वेंकटाचलस्थ तिरुपति
२
हस्तिगिरिस्थ
३
यादवगिरिस्थ
४
घटिकाचल
५

विशिष्टाद्वैत मे 'निर्गुण' वस्तु की परिकल्पना असम्भव मानी गई है। हमे जगत के यावन्मात्र पदार्थ किसी न किसी गुण से ही युक्त (विशिष्ट) प्रतीत होते है। सच तो यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षीकरण मे भी किसी सविशेष पदार्थ की ही प्रतीति होती है।[1] यह निष्कर्ष रामानुज का केन्द्रीय निष्कर्ष है। इसके अनुसार ईश्वर सदा सर्वदा सगुण ही है। वह 'निखिलहेयप्रत्यनीक' 'कल्याण-गुण गणाकर है। वह 'अनन्तज्ञानानन्दस्वरूप' है। वह सृष्टि उत्पत्ति स्थिति और सहारकर्त्ता है। श्रुति का मुख्य तात्पर्य सगुण ब्रह्म के ही प्रतिपादन मे है। ब्रह्म की 'निर्गुणता' का तात्पर्य है कि वह प्राकृत गुणो से रहित है। 'अद्वैतता' का अर्थ है कि ब्रह्म (ईश्वर) के समान सजातीय तथा विजातीय किसी पदार्थ की सत्ता नही है, वह इन उभय भेदो से तो शून्य है, किन्तु 'स्वगत' भेद से शून्य नही है।

शरीरी (ईश्वर) का शरीर (चित्-जीव, अचित् जगत्) से 'अपृथक् सिद्ध'-सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध से साम्य रखता हुआ, भी उससे भिन्न है, क्योकि समवाय सम्बन्ध बाह्य सम्बन्ध है, जबकि 'अपृथक्सिद्ध' सम्बन्ध आन्तरिक सम्बन्ध है। शरीर वह वस्तु है, जिसे आत्मा नियमत धारण करता है और अपनी कार्यसिद्धि के लिये उसे प्रवृत्त करता है।[2] उसी प्रकार ईश्वर चिदचित को आश्रित करता है, उसे नियमित तथा कार्य मे प्रवृत्त करता है नियामक होने से ईश्वर प्रधान तथा 'विशेष्य' है। नियम्य तथा अप्रधान होने से चिदचित् (जीव और जगत) विशेषण हैं। 'विशेष्य' (ईश्वर) की सत्ता पृथक रूप से सिद्ध है, फिर 'विशेषण' चिदचित (जीव जगत्) सदा 'विशेष्य' (ईश्वर) के साथ सम्बद्ध होने के कारण पृथक् रूप से स्वय असिद्ध हैं। अत त्रिविध तत्त्व मानने पर भी रामानुज हैं अद्वैतवादी ही। वे विशेषणो से युक्त विशेष्य की एकता (अद्वैतता) मानते हैं। 'अग' या शरीरभूत चिदचित की 'अगी' या शरीरीभूत ईश्वर से पृथक् सत्ता न होने के कारण ब्रह्म 'अद्वैत' रूप है इसी विलक्षणता के कारण रामानुज का मत 'विशिष्टाद्वैत' अभिधा से पुकारा जाता है।

ईश्वर समस्त जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। ईश्वर की लीला से जगत की सृष्टि होती है। वह सृष्ट-पदार्थों के साथ लीला करता है, आनन्दित होता है। सहृति (सहार) भी उसकी एक विशिष्ट लीला है।

विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त और व्यवहार को 'द्वादशदर्शन सोपाना' वलिकार श्री श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने एक सुन्दर श्लोक मे इस प्रकार आबद्ध कर दिया है—

> **नित्य हेयगुणाद्यधूननपरा नैर्गुण्यवादा श्रुतौ**
> **स्पष्टार्था सगुणोक्तय शुभगुणप्रख्यापनाद् ब्रह्मण'।**
> **अद्वैतश्रुतयो विशिष्टविषया निष्कृष्टरूपाश्रया**
> **भेदोक्तिस्तविहाखिलश्रुतिहित रामानुजीय मतम॥**

(अर्थात श्रुति (वेद-उपनिषद) मे जो निर्गुणवाद है, वह ब्रह्म मे हेय गुणो (दोषो) के परिहार म प्रवत्त है। अर्थात वे निर्गुण उक्तियाँ ब्रह्म को प्राकृत गुणो से मुक्त सिद्ध करने के लिए हैं। श्रुति मे ब्रह्म के शुभ मगल, कल्याणकारी) गुणो का उत्कृष्ट रूप से ख्यापन करनेवाली सगुण-उक्तियाँ अपने अर्थ म निर्भ्रान्त और

---

१ सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणमस्ति निर्विकल्पप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते। (सर्वदर्शन सग्रह पृ० ४३)

२ सर्व पुर पुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य धार्य तच्छेषतैक स्वरूपमिति सर्व चेतनाचेतन तस्य स्वरूपम्। श्रीभाष्य—२-१ ९

नितान्त स्पष्ट हैं। अद्वैतता का वर्णन करने वाली श्रुतियाँ वस्तुतः ब्रह्म की निर्दिष्ट विशिष्टता का निरूपण करती हैं। अखिल श्रुतियाँ निष्कपट ब्रह्म को रूप का आश्रय (साकार) बतानेवाली भेदोक्ति हैं। यही रामानुज का मत है। यदि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त और व्यवहार का एक संक्षिप्त प्रश्नोत्तरी के रूप में रखकर देखें तो वह कुछ इस प्रकार उभर सकती है—१ प्रश्न—ज्ञातव्य क्या है ? उत्तर—ईश्वर के शरीर रूप से यह समस्त दृश्य और अदृश्य जगत ही ज्ञेय है। २ प्रश्न—ज्ञाता का स्वरूप क्या है ? उत्तर—वह चेतनावान अणु है। ३ प्रश्न—अज्ञान का स्वरूप क्या है ? उत्तर—विषयों में ममत्व और आसक्ति ही अज्ञान है। ४ प्रश्न—दुःख का स्वरूप क्या है ? उत्तर—नाना प्रकार का मानसिक ताप या आधियाँ ही दुःख हैं। ५ प्रश्न—ज्ञान का क्या स्वरूप है ? उत्तर—'परमेश्वर नित्य असंख्य कल्याण गुणों का आकर है', यह भावना रखना। ६ प्रश्न—दुःख के ध्वंस (मोक्ष) का स्वरूप क्या है ? उत्तर—भगवान की कृपा से दुःखों की पुनरावृत्ति न होना ही मोक्ष है। ७ प्रश्न—इन सबके लिए प्रमाण क्या है ? उत्तर—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, तीन प्रमाणों से इनको सत्यापित किया जा सकता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय एक ऐसे सामाजिक और उपयोगी दर्शन की स्थापना करता है, जो कल्याण गुणयुक्त सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखता है तथा जो ईश्वर सद्गुणवान, सदाचारियों पर कृपा करता है तथा दुष्टों, खलों और दुराचारियों को दंडित करता है। निर्गुण निराकार ब्रह्म की अपेक्षा इसी सगुण-साकार ईश्वर या भगवान् की समाज को अधिक आवश्यकता है। ●

10522
19.7.89

श्री मध्वाचार्य प्रणीत द्वैत-वेदान्त

प्रो० ना० नागप्पा

प्रस्थानत्रयी के व्याख्याताओ (भाष्यकारो) मे से प्रसिद्ध तथा बहुमान्य तीन आचार्य हुए—शकराचार्य (८वी सदी) रामानुजाचार्य (१२वी सदी) तथा मध्वाचार्य (ई० सन् १२३८-१३१७)। इन भाष्यो के आधार पर हमारे यहाँ (भारत वर्ष मे) तीन मत स्थापित हुए—अद्वैतमत, विशिष्टाद्वैतमत तथा द्वैतमत। इन तीनो मतो के आचार्यपुरुष अत्यन्त तेजस्वी, तपस्वी, विरक्त सन्यासी थे। तीनो मत वेदसम्मत हैं और आस्तिक मत हैं। इनमे से अद्वैतमत की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति रही है, विशिष्टाद्वैत मे भगवान विष्णु या श्रीकृष्ण (श्रीमन्नारायण) की सेवा या कैंकर्य प्रधान है और द्वैत मत भक्ति प्रधान है। शकर भगवत् पादाचार्यजी का दावा है कि ज्ञान से ही मुक्ति लाभ होगा। (ज्ञानेनैव मुक्ति) पर मध्वाचार्य का मत है कि—

"मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमलाभक्तिश्चतत्साधनम्"

जीव अपने स्वरूप के अनुगुण (अनुसार) सुख-लाभ जो करता है वही मोक्ष है। अद्वैत की भक्ति ही मुक्ति का साधन है।

मध्वाचार्य का द्वैत-तत्व व्यासतीर्थ कृत निम्नलिखित श्लोक के द्वारा सक्षेप से विदित होता है—

श्रीमन्मध्वमते हरि परतर सत्य जगत्तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्च भाव गता।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम।
ह्यक्षादित्रितय प्रमाणमखिलाम्नायकवेद्योहरि ॥

इस श्लोक का विश्लेषण कीजिए। उस पर तात्विक दृष्टि से विचार कीजिए। तब द्वैत मत का विशदीकरण हो जायगा।

(१) हरि परतर

इसमे हरि की सर्वोत्तमता विदित है। यही मध्वाचार्य के उपदेश का साराश है। विष्णु भगवान समस्त जीवराशि से भिन्न हैं और वह बल, ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द आदि गुणो मे उत्तम (सर्वश्रेष्ठ) है। जीवराशि से तात्पर्य पशु, पक्षी या मात्र मनुष्य के अतिरिक्त गन्धर्व और देवता से है। वेद म इन्द्र, अग्नि, सोम, मित्र, वरुण, बृहस्पति इत्यादि देवताओ के बारे मे उल्लेख प्राप्त होता है।

'कस्मैदेवाय हविषा विधेम ?' जैसे प्रश्न से ज्ञान होता है कि यत्र एक स्थान पर एकत्रित ज्ञानी ऋषिमुनियो ने यह जानना चाहा कि देवो का देव कौन है। अन्य देवताओ मे से सर्वश्रेष्ठ ठहरे शिव, ब्रह्मा विष्णु—इनमे से कौन सर्वश्रेष्ठ है ? इस पर विचार करते हुए महर्षि भृगु ने निर्णय किया कि शिव और ब्रह्मा की अपेक्षा विष्णु ही सर्वोत्तम हैं—

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ।।

[जगदीश्वर रूपी परशिव और समस्त जगत् के अन्तरात्मा तथा प्रेरणकर्त्ता महाविष्णु में वास्तव में मैं किसी प्रकार का भेद नहीं पाता। फिर भी मेरी अटल भक्ति चन्द्रमौलीश्वर में है।] —यह भर्तृहरि का कथन है।

इस प्रकार से किसी के लिए शिव सर्वोत्तम हैं, तो किसी के लिए महाविष्णु सर्वोत्तम हैं। मध्वाचार्य के अभिमत में विष्णु भगवान सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका कहना है कि—

स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुः

'स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र दो प्रकार के तत्त्व हैं। एकमात्र परमात्मा विष्णु स्वतन्त्र हैं। आचार्यजी का यह अभिमत वेदाधारित है —

'न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।' (ऋग्वेद)

[हे विष्णु! आगे जन्मनेवाला या अब तक जन्म पाया हुआ कोई भी महिमा की दृष्टि से तेरा पार न पायेगा।]

'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः।'

(ऐतरेय ब्राह्मण)

[देवताओं में कनिष्ठ है अग्नि और वरिष्ठ या श्रेष्ठ है विष्णु।]

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।' (ऋग्वेद)

[तीन पगों से विष्णु (भगवान्) ने सारे विश्व को आक्रमित किया]

समस्त आगमों में विष्णु का आधिक्य वर्णित है। आचार्य का 'विष्णु तत्त्व निर्णय' में कथन है

'युक्तं हि विष्णोः सर्वोत्तमत्वे एव महातात्पर्यं सर्वागमानाम्।'

[सभी आगमों का महातात्पर्य यही है कि विष्णु की सर्वोत्तमता बिलकुल युक्ति-संगत है।]

विष्णु जगत् का निमित्तकारण, असाधारण सृष्टिकर्त्ता, एक मात्र स्वतन्त्रतत्त्व तथा ब्रह्मपदवाच्य है। भगवद्गीता में विष्णु को 'पुरुषोत्तम' कहा गया है।

विष्णु सर्वोत्तम कैसे ?

विष्णु की परमोत्कृष्टता उसके गुणात्मक वैभव से प्राप्त हुआ है। ब्रह्म के गुण वास्तव में अनन्त हैं। उत्तमोत्तम जीव भी उसके गुणों का ग्रहण नहीं कर सकता। उसकी अनन्त शक्ति व अनन्त ज्ञान है। वह देश-काल सम्बन्धी सीमा से आबद्ध नहीं है। ये हुए उसके कतिपय परत्व गुण। उसकी दयामयता भक्तों के प्रति प्रेम और प्रसाद आदि आभ्यन्तर गुण अलग हैं। प्रेममूर्ति भगवान् के प्रति मध्वाचार्य का अपार प्रेम था। उनका विश्वास था (जैसा कि भागवत में वर्णित है) कि भक्तों की आर्तता पर पसीज कर भगवान अपने स्वातन्त्र्य और माहात्म्य को भी एक ओर रख कर तुरन्त भक्त के वश हो जाते हैं। विष्णु ने गजेन्द्र का आर्तनाद सुनकर अपने चक्र से तुरन्त नक्र का संहार करके गजेन्द्र को उसके जबड़ों की जकड़ से मुक्त कर दिया। प्रह्लाद को पिता हिरण्यकश्यपु के दौर्जन्य से बचाया। इस हेतु विष्णु भगवान् को नृसिंह-रूप धर कर आना पड़ा। द्रौपदी की असहायता पर बिना आगा पीछा किये उसके मान की रक्षा की। अनन्त प्रेम, अनन्त दया और अनन्त भक्तवत्सलता महाविष्णु के आभ्यन्तर गुण हैं।

उपनिषदो मे ब्रह्म को 'अद्वैत परमार्थत' कहकर वर्णित किया गया है। इस श्रुतिवाक्य की यो व्याख्या आचाय द्वारा की गयी है 'जो महतो महीयान् है वह सादृश्य रहित है ही।'

ब्रह्म को निगु ण यानी गुणरहित ही नही, गुणातीत कहा गया है। प्रकृति तथा जीवो के गुण-दोष से वह बहुत दूर है। परब्रह्म विष्णु उत्कृष्ट गुणा से परिपूर्ण होने से पूर्ण वभव से विराजमान है। उसे 'अनन्त' नामक सकेत (शब्द) से वर्णित किया गया है। वह किसी भी दृष्टि से 'निगु ण नही हो सकता—वह 'सगुण' है—

"मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतोऽनन्त विग्रहे,"

"महद् गुणत्वाद् यमनन्तमाहु", 'भगवान् अनन्त अनन्तगुणार्णव"

यह तत्त्व भगवद्गीता मे स्पष्ट किया गया है "वेदैश्च सर्वे अहमेव वेद्य।" तथा उत्तम पुरुषस्त्व य परमात्मेत्युदाहृत ["मेरे विग्रह मे अनन्त गुण विद्यमान है।" "महान् गुणो के कारण जिसे अनन्त कहते हैं—वही महाविष्णु हैं।" "सभी वेदो मे मैं ही ज्ञेय हूँ।" (महाविष्णु को) "उत्तम अर्थात् पुरुषश्रेष्ठ और परमात्मा कह कर उल्लिखित है।)"]

आचाय जयतीर्थ जी का कथन है—

"सर्वाण्यपि वेदान्तवाक्यानि, असख्यय कल्याणगुणाकर सकल दोषगधविदूर एक रूपमेव ब्रह्म-नारायणाख्य प्रतिपादयति। किन्तु कानिचित सवज्ञत्व सर्वेश्वरत्व सर्वान्तर्यामित्व सौंदर्य्यौदार्य गुणविशिष्ट-तया, कानिचित् अपहतपाप्मत्व—निदु खत्व—प्राकृत—भौतिक विग्रह—रहितत्वादि दोषाभाव विशिष्टतया, कानिचित् अतिगहनताज्ञापनाय वाङमनसागोचरत्वाद्याकारण, कानिचित् सवपरित्यागेन तस्यैव उपादानाय *अद्वितीयत्वेन, कानिचित् । सर्वसत्ताप्रतीतिप्रवृत्तिनिमित्तताप्रतिपत्त्यथ सर्वात्मकत्वेन इत्येवमाद्यनेक* प्रकारै परमपुरुष बोधयन्ति।" इस पर विचार करें।

(अ) "कानिचित सवज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व सर्वान्तर्यामित्व सौंदय्य औदाय्य गुण विशिष्टतया"—

ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ लक्षणा से युक्त है। सगुणब्रह्म निर्देशन सम्बन्धी असख्यात उपनिषद्वाक्यो मे आप उपयुक्त समस्त गुणा से युक्त पायेंगे। अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त व्याप्ति को लिये हुए सगुण ब्रह्म कालातीत है। सब मे अन्तर्यामी है। उसका सौंदय्य अनन्त असीम है। उससे बढकर कोई उदार नहीं है।

(आ) कानिचित अपहतपाप्मत्व निदुं खत्व प्राकृत भौतिक विग्रहरहितत्वादि दोषभाव विशिष्टतया—

वेद विदित है कि ब्रह्म पाप, दु ख, भौतिकदेह इत्यादि दोषो से निर्लिप्त है। इस वणन मे ब्रह्म को 'निगु ण' कहने वाले वेद वचन भी मिले हुए है। उपनिषदो मे ब्रह्म को जीव और जडपदार्थों के लक्षणो की इति मितियो तथा दोषो से निषेधित किया गया है। जीव व जगत के दोषो से रहित होना भी ब्रह्म की श्रेष्ठता का ही द्योतक है।

(इ) "कानिचित अतिगहनता ज्ञापनाय वाङमनसा गोचरत्वाकारेण"—कतिपय वेद-वचनो मे वर्णित है कि भगवान के निगूढ रहस्यमय तथा अपार स्वरूप का निर्देशन वाङमनो के अतीत है।

(ई) कानिचित सवपरित्यागेन तस्यैव उपादानाय अद्वितीयत्वेन" कतिपय वचनो मे ब्रह्म की अद्वितीयता का उल्लेख है। इन वाक्यो से ब्रह्म सम्बन्धी एकतावाद सूचित नही होता। कहा यह गया है कि मानव की समस्त आशाओ एव आकाक्षाओ (कामनाओ) का एकमात्र लक्ष्य भगवान है। माडूक उपनिषद् के 'अद्वैत परमार्थत' वाले वाक्य का तात्पय यह है कि भगवान् तक पहुँचने हेतु अन्य आसक्तियो का त्याग ही पूर्वसिद्धता है। पुरुषाथ की दृष्टि से इसी का साधन करना चाहिए। (जीवन का आदश

भी यही है)। अन्य पुरुषार्थ कहा, ब्रह्म की व्याप्ति कहा ? जीवन मे एकैव निष्ठा इस बात की होनी चाहिए कि अन्य सब बातो को परे रख कर एक इस परिपूर्णता को साधो। यही मनुष्य जन्म का एकैक लक्ष्य है। और यही अंतिम लक्ष्य है। अद्वैत इसी 'एकैव' लक्ष्य का सकेत करता है।

(उ) अद्वैत को निषेध रूप से प्रतिपादित करने वाले समस्त वाक्यो की यही सही व्याख्या होगी। 'ब्रह्म' सबकी आत्मा या 'सर्वात्मा' है—वाले वचन से सूचित है कि उसका उसी रूप मे ध्यान करना चाहिए। इन वाक्यो से ऊहा यह की जाती है कि परमतत्त्व एक ही है। श्री मध्वाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र (३ ३-१२) के भाष्य मे कहा है कि ब्रह्म के जिस सारभूत स्वरूप का ध्यान भक्तो को करना है वह सत, चित और आनन्द तथा आत्मा से युक्त है।

जयतीर्थ आचार्य ने भी ब्रह्म को सर्वात्मक या सर्वस्व माना है —"कानिचित सर्वसत्ताप्रतीति प्रवृत्ति निमित्त प्रतिपत्त्यर्थ सर्वात्मकत्वेन"। परब्रह्म तब वस्तुओ के अस्तित्व, अनुभव और प्रवत्तियो का कारण है—ब्रह्म ही सब की आत्मा है। प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व, अनुभव और कार्य ब्रह्म की शक्ति से ही होता है। इसलिए वही सब की केन्द्र वाहक शक्ति है। यह विश्वव्याप्ति तथा सर्वकारणत्व ब्रह्म की एकता सम्बन्धी श्रुति वाक्यो का तात्पर्य है।

वेद, उपनिषद आदि से सब—सग्रह करके आचार्य जयतीर्थ ने उपयुक्त रीति से उपरि उल्लिखित वाक्यो द्वारा सर्ववेदान्तसार का सग्रह किया है। उपयुक्त पचविध ब्रह्म का प्रतिपादन उल्लेखनीय है। द्वैत साहित्य मे परमतत्व की यह कल्पना ध्यान देने योग्य है। ये पाचो आखिर एक ही तत्त्व मे समाविष्ट होते हैं। वह है—'सर्वाण्यपि वेदान्तवाक्यानि असख्येयकल्याणगुणाकर सकल दोष गन्ध विदूर एकरूप एव ब्रह्मानारायणाख्य प्रतिपादयन्ति।' ब्रह्म एक स्वरूपी है। वही नारायण है। वह अनन्त कल्याण गुणो का सागर है। उसमे किसी भी लोप दोष की गन्ध तक नही है। यही मूलभूत सर्वसग्राहक वेदान्त सार है।

(२) जगत् सत्य है (सत्य जगत तत्वत)

अपनी आखो दीखने वाले पहाड, नदी, वृक्ष तथा अनेको प्रकार के पशु-पक्षी 'सत्य' ही तो है। आश्चर्य की बात है कि यह सन्देह उठा ही कसे कि यह गोचर जगत सत्य है या मिथ्या है। कतिपय लोगो की यह भ्रान्ति मात्र है कि यह दृश्य जगत सत्य नही है। यह भी क्या बात है कि हमे जगत की सत्यता को प्रमाणित करना पडा है।

अद्वैतियो का यह दावा है कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। अन्धेरे मे रज्जु को साँप समझना भ्रम है। उस भ्रम का निवारण होने पर ज्ञात होगा कि यह साँप नहीं है, अपितु रज्जु मात्र है। दूरी से चमकते रहनेवाले श्वेतपदार्थ को (घोघे या शुक्ति को) देखकर हम उसे कभी कभी रजत समझते हैं। पर पास पहुँचने पर यथार्थ का पता चलेगा। हमारा अज्ञान दूर होगा। इसी प्रकार, ब्रह्म एक है पर अज्ञान (अविद्या) के कारण जीव अलग, जड वस्तु (अचेतन जगत) अलग ऐसा भेद भाव हमारे मन मे उत्पन्न होता है। अविद्या जाती रहे और ज्ञान का अनुभव हो तब ज्ञात होगा कि 'यह समस्त जगत मिथ्या है। अविद्या द्वारा कल्पित है।' मैं ब्रह्म से पृथक् नही हू। (सर्व खलु इद ब्रह्म)—सब कुछ ब्रह्म है।' यह है अद्वैतवाद।

श्रीमध्वाचार्य ने इसका खण्डन करके जगत की सत्यता की स्थापना की। उनका तर्क यों है—

'कोई रज्जु को साँप समझता है। इस दृष्टान्त की परीक्षा कीजिए कोई भ्रान्तिमान मनुष्य (सत्य या सचमुच) रहेगा। उसने कभी (सत्य) सचमुच साँप को देखा होगा। अथवा उसका स्वरूप क्या

है, यह सुनकर यथावत् जाना होगा। मुख्य बात यह है कि उस क्षण मे सामने (सत्य ही) रज्जु पडा रहा होगा। उसे देख उस आदमी ने उसे भ्राति मे पडकर (भ्राति मे पडने के लिये सहायक (सत्य) परिस्थिति (अधकार या धुधलका रहा होगा) साप समझ लिया। इस दशा मे सचमुच (सत्य ही) कोई पदाथ जब तक न रहे तब तक यह भ्राति कैसे पैदा हो सकती है कि यह पत्थर है, यह वृक्ष है, यह वावी है, आदि ? माना कि अविद्या से भ्रान्ति पैदा होगी। क्या अविद्या (भ्राति) सत्य है ? हम पत्थर का कोई टुकडा देखते हैं। अपने पूर्वानुभव के जैसे उससे हम अपने हाथ पर मार ले सकते हैं, अथवा एक बतन पर उसे मारकर आवाज निकाल सकते हैं अथवा उससे वादाम का छिलका तोडकर अदर का बीज (वादाम) निकाल सकते हैं। इस स्थिति मे ऐसे अनेको काम मे आने वाले उस पत्थर के अस्तित्व को ही नकारनेवाले 'मायावाद' को कैसे स्वीकार किया जाय ? सत्य ही जगत् सवथा सत्य है।

यह पहले भी रहा, अब भी विद्यमान है। आगे चलकर भी बना रहेगा। इसलिए जगत् का मिथ्यात्व ही मिथ्या है। इस तरह से और अय अनेको दलीलो से श्री मध्वाचाय ने 'मायावाद' का खण्डन किया।

'ध्रुवा द्यौ, ध्रुवा पृथिवी ध्रुवास पवतो
इमे विश्वम सत्य मघशाना।' (ऋग्वेद)

[आकाश, पृथ्वी, पर्वत आदि सब सत्य है, माया कल्पित नही है]

अपने स्वाथ को तजने वाले भगवान द्वारा आत्मलीला से इस सृष्टि का निर्माण किया गया। ब्रह्म सत्य है। उसकी लीला से सिरजी हुई यह सृष्टि भी सत्य ही है। अविद्या से उत्पन्न भ्राति के कारण अयथाथ या अवास्तविक नही हैं।

तवेतत्सत्य सत्यमेवेद विश्वमसौ सृजति।'

(यह ससार सत्य है। इसे इसने बनाया है। सत्य ही उसका सृजन है।) 'यत्सत्यरूप जगदेतदीदृक्' (सत्यरूपी यह ससार ऐसा ही है) अर्थात जगत सत्य है, मिथ्या कदापि नही हो सकता। वह मिथ्या नही है।

यह ससार भगवान विष्णु के वशवर्ती है। सारा विश्व उसी सर्वेश्वर विष्णु के अधीन है। प्रलय-काल मे भी विश्व (ब्रह्माण्ड) का पूरा नाश नही होगा—सारा ब्रह्माण्ड विष्णु के उदरस्थित रहेगा—यह मध्वसिद्धान्त है।

(३) पचभेद (भेदोजीवगणाहरेरनुचरा)

मध्वाचार्य ने 'विष्णुतत्त्वनिणय' मे कहा है

जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीव भिदा तथा।
मिथश्च जडभेदोऽय प्रपचो। भेदपञ्चक ॥

तात्पय यह है—

१ जीव और परमात्मा भिन्न भिन्न हैं।
२ जड वस्तु तो परमात्मा से भिन्न है ही।
३ जीव-जीव मे अन्तर है।
४ जड और जीव भिन्न भिन्न हैं।

भी यही है)। अन्य पुरुषार्थ कहा, ब्रह्म की व्याप्ति कहा ? जीवन मे एकैक निष्ठा इस बात की होनी चाहिए कि अन्य सब बातो को परे रख कर एक इस परिपूर्णता को साधो। यही मनुष्य जन्म का एकैक लक्ष्य है। और यही अन्तिम लक्ष्य है। अद्वैत इसी 'एकैक' लक्ष्य का सकेत करता है।

(३) अद्वैत को निषेध रूप से प्रतिपादित करने वाले समस्त वाक्यो की यही सही व्याख्या होगी। 'ब्रह्म' सबकी आत्मा या 'सर्वात्मा' है—वाले वचन से सूचित है कि उसका उसी रूप मे ध्यान करना चाहिए। इन वाक्या से ऊहा यह की जाती है कि परमतत्त्व एक ही है। श्री मध्वाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र (३ ३-१२) के भाष्य मे कहा है कि ब्रह्म के जिस सारभूत स्वरूप का ध्यान भक्तो को करना है वह सत, चित और आनन्द तथा आत्मा से युक्त है।

जयतीर्थ आचार्य ने भी ब्रह्म को सर्वात्मक या सर्वस्व माना है—"कानिचित् सर्वसत्ताप्रतीति-प्रवृत्ति निमित्त प्रतिपत्त्यर्थ सर्वात्मकत्वेन"। परब्रह्म सब वस्तुओ के अस्तित्व, अनुभव और प्रवृत्तियो का कारण है—ब्रह्म ही सब की आत्मा है। प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व, अनुभव और कार्य ब्रह्म की शक्ति से ही होता है। इसलिए वही सब की केन्द्र वाहक शक्ति है। यह विश्वव्याप्ति तथा सर्वकारणत्व ब्रह्म की एकता सम्बन्धी श्रुति वाक्यो का तात्पर्य है।

वेद, उपनिषद आदि से सब—सग्रह करके आचार्य जयतीर्थ ने उपर्युक्त रीति से उपरि उल्लिखित वाक्यों द्वारा सर्ववेदान्तसार का सग्रह किया है। उपर्युक्त पचविध ब्रह्म का प्रतिपादन उल्लेखनीय है। द्वैत साहित्य म परमतत्व की यह कल्पना ध्यान देने योग्य है। ये पाचो आखिर एक ही तत्त्व मे समाविष्ट होते हैं। वह है—'सर्वाण्यपि वेदान्तवाक्यानि असङ्ख्येयकल्याणगुणाकर सकल दोष गन्ध विदूर एकरूप एव ब्रह्मनारायणाख्य प्रतिपादयन्ति।' ब्रह्म एक स्वरूपी है। वही नारायण है। वह अनन्त कल्याण गुणो का सागर है। उसमे किसी भी लोप-दोष की गन्ध तक नही है। यही मूलभूत सर्वसग्राहक वेदान्त सार है।

(२) जगत सत्य है (सत्य जगत तत्वत)

अपनी आँखो दीखने वाले पहाड, नदी, वृक्ष तथा अनेको प्रकार के पशु पक्षी 'सत्य' ही तो है। आश्चर्य की बात है कि यह सन्देह उठा ही कैसे कि यह गोचर जगत सत्य है या मिथ्या है। कतिपय लोगों की यह भ्रान्ति मात्र है कि यह दृश्य जगत् सत्य नहीं है। यह भी क्या बात है कि हमे जगत की सत्यता को प्रमाणित करना पडा है।

अद्वैतियो का यह दावा है कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। अन्धेरे मे रज्जु को साँप समझना भ्रम है। उस भ्रम का निवारण होने पर ज्ञात होगा कि यह साँप नही है, अपितु रज्जु मात्र है। दूरी से चमकते रहनेवाले श्वेतपदार्थ को (घोघे या शुक्ति को) देखकर हम उसे कभी कभी रजत समझते हैं। पर पास पहुँचने पर यथार्थ का पता चलेगा। हमारा अज्ञान दूर होगा। इसी प्रकार, ब्रह्म एक है पर अज्ञान (अविद्या) के कारण जीव अलग, जड वस्तु (अचेतन जगत) अलग ऐसा भेद भाव हमारे मन मे उत्पन्न होता है। अविद्या जाती रहे और ज्ञान का अनुभव हो तब ज्ञात होगा कि 'यह समस्त जगत मिथ्या है। अविद्या द्वारा कल्पित है।' मैं ब्रह्म से पृथक् नही हू। (सर्व खलु इद ब्रह्म)—सब कुछ ब्रह्म है।' यह है अद्वैतवाद।

श्रीमध्वाचार्य ने इसका खण्डन करके जगत की सत्यता की स्थापना की। उनका तर्क यों है—

'कोई रज्जु का साँप समझता है। इस दृष्टान्त की परीक्षा कीजिए कोई भ्रान्तिमान मनुष्य (सत्य या सचमुच) रहता। उसने कभी (सत्य) सचमुच साँप को देखा होगा। अथवा उसका स्वरूप क्या

है, यह सुनकर यथावत् जाना होगा। मुख्य बात यह है कि उस क्षण मे सामने (सत्य ही) रज्जु पडा रहा होगा। उसे देख उस आदमी ने उसे भ्राति मे पडकर (भ्राति मे पडने के लिये सहायक (सत्य) परिस्थिति (अन्धकार या धुंधलका रहा होगा) सांप समझ लिया। इस दशा मे सचमुच (सत्य ही) कोई पदार्थ जब तक न रहे तब तक यह भ्राति कैसे पैदा हो सकती है कि यह पत्थर है, यह वृक्ष है, यह बांबी है, आदि? माना कि अविद्या से भ्रान्ति पैदा होगी। क्या अविद्या (भ्रान्ति) सत्य है? हम पत्थर का कोई टुकडा देखते हैं। अपने पूर्वानुभव के जैसे उससे हम अपने हाथ पर मार ले सकते हैं, अथवा एक बर्तन पर उसे मारकर आवाज निकाल सकते हैं अथवा उससे बादाम का छिलका तोडकर अन्दर का बीज (बादाम) निकाल सकते है। इस स्थिति मे ऐसे अनेको काम मे आने वाले उस पत्थर के अस्तित्व को ही नकारनेवाले 'मायावाद' को कैसे स्वीकार किया जाय? सत्य ही जगत् सर्वथा सत्य है।

यह पहले भी रहा, अब भी विद्यमान है। आगे चलकर भी बना रहेगा। इसलिए जगत् का मिथ्यात्व ही मिथ्या है। इस तरह से और अन्य अनेको दलीलो से श्री मध्वाचार्य ने 'मायावाद' का खण्डन किया।

'ध्रुवा द्यौ, ध्रुवा पृथिवी ध्रुवास पर्वतो
इमे विश्वम् सत्य मघवाना।' (ऋग्वेद)

[आकाश, पृथ्वी, पर्वत आदि सब सत्य है, माया कल्पित नही है]

अपने स्वार्थ को तजने वाले भगवान द्वारा आत्मलीला से इस सृष्टि का निर्माण किया गया। ब्रह्म सत्य है। उसकी लीला से सिरजी हुई यह सृष्टि भी सत्य ही है। अविद्या से उत्पन्न भ्रान्ति के कारण अयथार्थ या अवास्तविक नही है।

तदेतत्सत्य सत्यमेवेद विश्वमसौ सृजति।'

(यह ससार सत्य है। इसे इसने बनाया है। सत्य ही उसका सर्जन है।) 'यत्सत्यरूप जगदेतदीदृक्' (सत्यरूपी यह ससार ऐसा ही है) अर्थात् जगत् सत्य है, मिथ्या कदापि नही हो सकता। वह मिथ्या नही है।

यह ससार भगवान विष्णु के वशवर्ती है। सारा विश्व उसी सर्वेश्वर विष्णु के अधीन है। प्रलय-काल मे भी विश्व (ब्रह्माण्ड) का पूरा नाश नही होगा—सारा ब्रह्माण्ड विष्णु के उदरस्थित रहेगा—यह मध्वसिद्धान्त है।

(३) पचभेद (भेदोजीवगणाहरेरनुचरा)

मध्वाचार्य ने 'विष्णुतत्त्वनिर्णय' मे कहा है

जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीव भिदा तथा।
मिथश्च जडभेदोऽय प्रपचो, भेदपञ्चक ॥

तात्पर्य यह है—

१ जीव और परमात्मा भिन्न भिन्न हैं।
२ जड वस्तु तो परमात्मा से भिन्न है ही।
३ जीव जीव मे अन्तर है।
४ जड और जीव भिन्न भिन्न हैं।

५ जड और जड मे भी भिन्नता है ।

प्रत्येक जीव की अपनी गुणवत्ता पृथक् होती है । मनुष्य जाति सब एक है । मनुष्य, अश्व, श्वान, व्याघ्र—सब जीव ही तो हैं । मनुष्य अश्व से भिन्न है ही । मनुष्य जाति, अश्व जाति, श्वान जाति अथवा व्याघ्र—प्रत्येक जाति एक होते हुए भी मनुष्य मनुष्य मे भिन्नता, अश्व-अश्व मे भेद, श्वान-श्वान मे अन्तर और व्याघ्र व्याघ्र मे पृथक्त्व सहज ही देखने मे आता है ।

प्रत्येक जीव की अपनी विशेषता या विशेष गुण होते हैं । इस विशिष्ट गुण के कारण मैं अपने पडोसी घर के स्वामी से भिन्न भिन्न हूँ । दोनो मे अपनी अपनी विशिष्टता होते हुए भी दोनो मे मनुष्य सहज विशेषता है । कुछ विशेष तत्त्व ऐसा है जिनके कारण दोनो जीवों के अपने अपने गुण विशेष को लिये हुए होन पर भी एक प्रकार का सामञ्जस्य है । यह विशेष-तत्त्व का परिणाम है । यह 'विशेष' तत्त्व मध्व सिद्धान्त का मूलाधार है ।

एक आदमी मोटा है, दूसरा दुबला है । मोटापन पहले आदमी से पृथक् नहीं, न दुबलापन दूसरे आदमी से पृथक है । मोटेपन का प्रथम व्यक्ति से अविनाभाव सम्बन्ध है । दुबलापन का भी दूसरे आदमी से अविनाभाव सम्बन्ध है । ये सम्बन्ध इन आदमियो से पृथक नही । इस तरह के अविनाभाव (धर्म) को लिये हुए दो भिन्न भिन्न आदमियो का विवरण 'विशेष तत्त्व' से समझिए ।

[वास्तव मे विशेष तत्त्व' अविनाभाव (गुण, आदि विशेषता लिये हुए दो जीवो या वस्तुओ मात्र का विवरण प्रस्तुत नही करता, अपितु 'ब्रह्म' तथा उसके विशेष तत्त्व या धर्म या गुण सम्पत्ति (जैसे 'सत्य' 'अनन्त') का विवरण भी प्रस्तुत करता है ।]

इस प्रकार से 'पचभेद तत्त्व' मध्वमत मे स्वीकृत हैं ।

'प्रकृष्ट पचविधो भेद प्रपच'

(विशेषतया यह ससार पाच प्रकार के भेद लिये हुए होता है ।)

पदार्थ स्वरूपात भेदस्य ।

यह भेद भी क्या है । प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वरूप ही तो है । प्रत्येक पदार्थ का अपना अपना स्वरूप होता है । रूप भिन्नता, नाम भिन्नता, रुचि भिन्नता और प्रवृत्ति भिन्नता दो पदार्थों मे होती ही है ।

'प्राय सर्वतो विलक्षण हि पदार्थ स्वरूप दर्शयेता'

(सर्वत्र पदार्थों के स्वरूप प्राय विलक्षण होते हैं । अर्थात अन्य पदार्थों के स्वरूप से भिन्न है ही ।) यदि ऐसा न होता तो एक पदार्थ को देखने पर हमे जो कुछ ज्ञात होगा वह दूसरे पदार्थ को देखकर उत्पन्न (इन्द्रिय) ज्ञान से भिन्न न होता । एक पदार्थ को देखिए । उससे इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के कारण दो प्रकार की जानकारी हम अनुभव होगी—

१ पदार्थ का स्वरूप ज्ञान

२ उस पदार्थ की दूसरे पदार्थों से भिन्नता का ज्ञान ।

ऐसा होना ही 'विशेष तत्त्व' का परिणाम है ।

पत्थर म काठिन्य है । जल मे द्रवता है । अग्नि मे उष्णता है । काठिन्य, द्रवता और उष्णता में परस्पर भेद है । यही नहीं, कतिपय भौतिक स्थितियो के कारण 'जल' पदार्थ के रूपान्तर होगे । बर्फ ताप से गलकर जल बनेगा । और अधिक ताप पाकर जल भाप बनेगा । ये सब (बर्फ, जल, भाप) एक ही वस्तु के रूपान्तर हैं । इन रूपो म भिन्नता है इनके गुणो म भी भिन्नता ह । ओस जल से भिन्न है, जल भाप से भिन्न है । इन तीनो की कार्यशीलता भी पृथक् पृथक है । बुखार अधिक हो जाय तो माथे पर बर्फ

रखते हैं। भाप से इंजिन चलती है। बर्फ जल का ही रूप होते हुए इंजिन चलाने मे असमर्थ है। इस तरह से कार्य शक्ति-भिन्नता, स्वरूप भिन्नता और गुणकारिता मे भिन्नता प्रत्येक पदार्थ के सहज (सह+ज) होने के कारण 'भेद-तत्त्व' इस ससार में सहज है, प्रकृतिगत है और भगवद्दत्त है।

कहते हैं कि बेटा बाप पर पडा है, लडकी माँ पर पडी है। माँ, मा ही है, पुत्री पुत्री है। पिता पिता है, पुत्र, पुत्र है। पिता पुत्र मे सैकडो बातो में साम्य होते हुए भी सहजतया भिन्न गुण, भिन्न प्रवृत्तियाँ भिन्न कार्यक्षमताएँ होती ही है। यहाँ तक कि जुडवे बच्चो म हजार बातो मे साम्य होते हुए वे भिन्न भिन्न होते हैं। प्रो० लक्ष्मणस्वामि मोदलियार मद्रास विश्वविद्यालय के वाइसचॅसलर हुए थे। वृत्ति से वे (प्रसिद्ध) वैद्य थे। श्री रामस्वामि मुदलियार राजनीतिज्ञ निकले यद्यपि दोनो जुडवे थे। वे दोनो हू-बहू एक से थे।) श्रीरामस्वामि मुदलियारजी मैसूर राज्य के दीवान बने। इस तरह से भिन्न भिन्न जीवो पर भिन्न भिन्न प्रभाव होता है इस प्रभाव-भिन्नता का आधार 'विशेष तत्त्व' है।

एक और बात। आप हजार प्रयत्न कीजिये। एक जड वस्तु से जीव की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसी तरह एक जीव के पेट से जड वस्तु पैदा होगी नही।

न चेतन विकार स्याद्यत्र क्वापि ह्यचेतनम्।
नाचेतनविकारोऽपि चेतन स्यात्कथचन ॥

[(इस दुनिया मे कही) चेतन रूपान्तरित होकर अचेतन नही बना है। न कोई अचेतन पदार्थ विकार पाकर चेतन बना।]

इस तरह से जड जड भेद, जड-जीव भेद, जीव जीव भेद स्पष्ट हुए। परमात्मा जड से भी भिन्न है, जीव से भी भिन्न है। उसने जड को बनाया, जीव की भी सृष्टि की। वह नियमन (सबका) करता है। अन्य सब जीव उसके द्वारा नियम्य होते हैं। हमारी इन्द्रियो की व्यापार-क्षमता से जैसे जड वस्तुओ का हमे साक्षात्कार होता है वैसे दर्शन, श्रवण, स्पर्श, कारण-क्रिया आदि से परमात्मा का हमे ज्ञान नही होगा। मान लीजिये हम कोई कर्म करते हैं। पर उससे शत-प्रतिशत फल पाने मे असमर्थ होते हैं। हम जितने फल की अपेक्षा करते हैं उतना प्राप्त नही कर सकते। अपने खेत से सौ टन धान या गेहूँ की अपेक्षा थी। पर इस वर्ष अकाल पडा। वर्षा नही हुई। कृषि पिछले वर्ष जैसी ही की थी। उससे अधिक ही इस वर्ष मेहनत भी की गयी। पर फसल आधी हुई। यह है हमारी स्थिति। इसमे हम असहाय हैं। तो निश्चय है एक ऐसे किसी पदार्थ के होने का जो हमारी शक्तियो से परे है। यह है परमात्मा।

'दुख मे सब सुमिरन कर'

यह जग जाहिर है। इससे परमात्मा का अस्तित्व स्पष्ट होता है।

[अनुमान से हमने निष्कर्ष निकाला कि परमात्मा है। दूसरा उसी 'अनुमान' (व्यापार) से यह निश्चय कर सकेगा कि परमात्मा नामक कोई चीज नही है। अत 'अनुमान' जसे तर्क—व्यापार की भी अपनी परिमिति हुई। 'प्रत्यक्ष' तो हमने परमात्मा को कही देखा नही। इसलिए परमात्मा श्रुतिसम्मत है ऐसा 'आप्त वाक्य' के बल पर हम मानेंगे कि परमात्मा है।]

परमात्मा सर्वशक्तिमान है, और उसके सम्मुख हमारी शक्ति अल्प है (राम सो बडो है कौन, मोसो कौन छोटो ?')

परमात्मा वह है.('यो न पिता जनिता यो विधाता'—ऋग्वेद) जो हमे जन्म देनेवाला पिता है। वही हमारा नियमन करता है। हम दोनो मे भेद है ही—वह नियामक ठहरा, हम ठहरे नियम्य। वह सर्वज्ञ है, हम अल्पज्ञ है (य सर्वज्ञ सर्वविद) इससे विदित है ही कि परमात्मा से हम भिन्न हैं।

५ जड और जड मे भी भिन्नता है।

प्रत्येक जीव की अपनी गुणवत्ता पृथक होती है। मनुष्य जाति सब एक है। मनुष्य, अश्व, श्वान, व्याघ्र—सब जीव ही तो हैं। मनुष्य अश्व से भिन्न है ही। मनुष्य जाति, अश्व जाति, श्वान जाति अथवा व्याघ्र—प्रत्येक जाति एक होते हुए भी मनुष्य मनुष्य मे भिन्नता, अश्व-अश्व मे भेद, श्वान श्वान मे अन्तर और व्याघ्र-व्याघ्र मे पृथक्त्व सहज ही देखने मे आता है।

प्रत्येक जीव की अपनी विशेषता या विशेष गुण होते हैं। इस विशिष्ट गुण के कारण मैं अपने पडोसी घर के स्वामी से भिन्न-भिन्न हूँ। दोनो मे अपनी अपनी विशिष्टता होते हुए भी दोनो मे मनुष्य सहज विशेषता है। कुछ विशेष तत्त्व ऐसा है जिनके कारण दोनो जीवों के अपने अपने गुण-विशेष को लिये हुए होन पर भी एक प्रकार का सामञ्जस्य है। यह विशेष तत्त्व का परिणाम है। यह 'विशेष' तत्त्व मध्व सिद्धान्त का मूलाधार है।

एक आदमी मोटा है, दूसरा दुबला है। मोटापन पहले आदमी से पृथक् नहीं, न दुबलापन दूसरे आदमी से पृथक है। मोटेपन का प्रथम व्यक्ति से अविनाभाव सम्बन्ध है। दुबलापन का भी दूसरे आदमी से अविनाभाव सम्बन्ध है। ये सम्बन्ध इन आदमियो से पृथक् नही। इस तरह के अविनाभाव (धम) को लिये हुए दो भिन्न भिन्न आदमिया का विवरण 'विशेष तत्त्व' से समझिए।

[वास्तव मे विशेष तत्त्व' अविनाभाव (गुण, आदि विशेपता लिये हुए दो जीवो या वस्तुओ मात्र का विवरण प्रस्तुत नही करता, अपितु 'ब्रह्म' तथा उसके विशेष तत्त्व या धम या गुण सम्पत्ति (जसे 'सत्य' 'अनन्त') का विवरण भी प्रस्तुत करता है।]

इस प्रकार से 'पञ्चभेद तत्त्व' मध्वमत मे स्वीकृत है।

'प्रकृष्ट पञ्चविधो भेद प्रपञ्च'

(विशेषतया यह ससार पाँच प्रकार के भेद लिये हुए होता ह।)

पदाथ स्वरूपात भेदश्च।

यह भेद भी क्या है। प्रत्येक पदाथ का अपना स्वरूप ही तो है। प्रत्येक पदाथ का अपना अपना स्वरूप होता है। रूप भिन्नता, नाम भिन्नता, रुचि भिन्नता और प्रवत्ति भिन्नता दो पदार्थों मे होती ही है।

'प्राय सवतो विलक्षण हि पदाथ स्वरूप दश्येता'

(सवत्र पदार्थों के स्वरूप प्राय विलक्षण होते हैं। अर्थात अन्य पदार्थों के स्वरूप से भिन्न है ही।) यदि ऐसा न होता तो एक पदाथ को देखने पर हम जो कुछ ज्ञात होगा वह दूसरे पदाथ को देखकर उत्पन्न (इन्द्रिय) ज्ञान से भिन्न न होता। एक पदाथ को देखिए। उससे इन्द्रिय-सन्निकष होने के कारण दो प्रकार की जानकारी हमे अनुभव होगी—

१ पदाथ का स्वरूप ज्ञान

२ उस पदाथ की दूसरे पदार्थों से भिन्नता का ज्ञान।

ऐसा होना ही 'विशेष तत्त्व' का परिणाम है।

पत्थर मे काठिन्य है। जल मे द्रवता है। अग्नि मे उष्णता है। काठिन्य, द्रवता और उष्णता में परस्पर भेद है। यही नही, कतिपय भौतिक स्थितियो के कारण 'जल' पदाथ के रूपान्तर होगे। बफ ताप से गलकर जल बनेगा। और अधिक ताप पाकर जल भाप बनेगा। ये सब (बफ, जल, भाप) एक ही वस्तु के रूपान्तर हैं। इन रूपों म भिन्नता है इनके गुणो मे भी भिन्नता ह। ओस जल से भिन्न ह, जल भाप से भिन्न है। इन तीना की कायशीलता भी पृथक पृथक् है। बुखार अधिक हो जाय ता माथे पर बफ

रखते हैं। भाप से इ जिन चलती है। बर्फ जल का ही रूप होते हुए इ जिन चलाने मे असमर्थ है। इस तरह से कार्य शक्ति भिन्नता, स्वरूप-भिन्नता और गुणकारिता मे भिन्नता प्रत्येक पदार्थ के सहज (सह + ज) होने के कारण 'भेद तत्त्व' इस ससार मे सहज है, प्रकृतिगत है और भगवद्दत्त है।

कहते हैं कि बेटा बाप पर पडा है, लडकी माँ पर पडी है। माँ, मा ही है, पुत्री पुत्री है। पिता पिता है, पुत्र, पुत्र है। पिता पुत्र मे सैकडो बातो म साम्य होते हुए भी सहजतया भिन्न गुण, भिन्न प्रवृत्तियाँ भिन्न कार्यक्षमताएँ होती ही है। यहाँ तक कि जुडवे बच्चो मे हजार बातो मे साम्य होते हुए वे भिन्न भिन्न होते हैं। प्रो० लक्ष्मणस्वामि मोदलियार मद्रास विश्वविद्यालय के वाइसचँसलर हुए थे। वृत्ति से वे (प्रसिद्ध) वैद्य थे। श्री रामस्वामि मुदलियार राजनीतिज्ञ निकले यद्यपि दोनो जुडवे थे। वे दोनो हू बहू एक से थे।) श्रीरामस्वामि मुदलियारजी मैसूर राज्य के दीवान बने। इस तरह से भिन्न भिन्न जीवो पर भिन्न भिन्न प्रभाव होता है इस प्रभाव-भिन्नता का आधार 'विशेष तत्त्व' है।

एक और बात। आप हजार प्रयत्न कीजिये। एक जड वस्तु से जीव की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसी तरह एक जीव के पेट से जड वस्तु पैदा होगी नही।

न चेतन विकार स्याद्यत्र क्वापि ह्यचेतनम।
नाचेतनविकारोऽपि चेतन स्यात्कथचन॥

[(इस दुनिया मे कही) चेतन रूपान्तरित होकर अचेतन नही बना है। न कोई अचेतन पदार्थ विकार पाकर चेतन बना।]

इस तरह से जड जड भेद, जड जीव भेद, जीव-जीव भेद स्पष्ट हुए। परमात्मा जड से भी भिन्न है, जीव से भी भिन्न है। उसने जड को बनाया, जीव की भी सृष्टि की। वह नियमन (सबका) करता है। अन्य सब जीव उसके द्वारा नियम्य होते हैं। हमारी इन्द्रियो की व्यापार क्षमता से जैसे जड वस्तुओ का हमे साक्षात्कार होता है वैसे दर्शन, श्रवण, स्पर्श, कारण-क्रिया आदि से परमात्मा का हमे ज्ञान नही होगा। मान लीजिये हम कोई कर्म करते हैं। पर उससे शत प्रतिशत फल पाने में असमर्थ होते हैं। हम जितने फल की अपेक्षा करते हैं उतना प्राप्त नही कर सकते। अपने खेत से सौ टन धान या गेहूँ की अपेक्षा थी। पर इस वर्ष अकाल पडा। वर्षा नही हुई। कृषि पिछले वर्ष जैसी ही की थी। उससे अधिक ही इस वर्ष मेहनत भी की गयी। पर फसल आधी हुई। यह है हमारी स्थिति। इसमे हम असहाय हैं। तो निश्चय है एक ऐसे किसी पदार्थ के होने का जो हमारी शक्तियो से परे है। यह है परमात्मा।

'दु ख मे सब सुमिरन कर'

यह जग जाहिर है। इससे परमात्मा का अस्तित्व स्पष्ट होता है।

[अनुमान से हमने निष्कर्ष निकाला कि परमात्मा है। दूसरा उसी 'अनुमान' (व्यापार) से यह निश्चय कर सकेगा कि परमात्मा नामक कोई चीज नहीं है। अत 'अनुमान' जैसे तर्क—व्यापार की भी अपनी परिमिति हुई। 'प्रत्यक्ष' तो हमने परमात्मा को कही देखा नही। इसलिए परमात्मा श्रुतिसम्मत है ऐसा 'आप्त वाक्य' के बल पर हम मानेंगे कि परमात्मा है।]

परमात्मा सर्वशक्तिमान है, और उसके सम्मुख हमारी शक्ति अल्प है (राम सो बडो है कौन, मोसो कौन छोटो ?')

परमात्मा वह है ('यो न पिता जनिता यो विधाता'—ऋग्वेद) जो हमे जन्म देनेवाला पिता है। वही हमारा नियमन करता है। हम दोना म भेद है ही—वह नियामक ठहरा, हम ठहरे नियम्य। वह सर्वज्ञ है, हम अल्पज्ञ हैं (य सर्वज्ञ सर्वविद) इससे विदित है ही कि परमात्मा से हम भिन्न हैं।

मुण्डकोपनिषद के इस प्रसिद्ध वाक्य पर थोडा ध्यान दीजिए—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।"

[दो पक्षी जन्मजात मित्र हैं । दोनो ने एक ही पिप्पल वृक्ष का आलिंगन किया है । (पिप्पल इन दोनो जन्मजात मित्र—पक्षियो का आश्रयदाता है ।) उनमे से एक पक्षी मीठा फल खाता है । दूसरा कुछ भी नही खाता । फिर भी तेजोमान् है ।

(*यहा वृक्ष है ससार । फल है सुख दुख । फल खानेवाले पक्षी हैं सुख दुखो के भोक्ता जीव । कुछ* भी न खाते हुए हृष्टपुष्ट व तेजोमान् जो है वह है परमात्मा ।)

(४) मुक्तिर्नैजसुखानुभूति

मुक्ति आचार्यवर के अनुसार चार प्रकार की है । सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य तथा सारूप्य । जीव अपने नैज गुण तथा कर्म के अनुसार मुक्ति लाभ का अधिकारी होता है । गुण और कर्म की दृष्टि से जीव-जीव मे भेद रहने के कारण मुक्ति के पश्चात भी यह भेद बना ही रहता है । हजार प्रयत्न करने पर भी कोई विष्णु के समान नही हो सकता । यहाँ तक कि ब्रह्मा और शिव भी विष्णु से निचली श्रेणी के हैं । यह 'तारतम्य' भेद वाद के आधार पर निहित है ।

अद्वैत के अनुसार जीवात्मा के व्यक्तित्व का विसर्जन हो जाने के पश्चात ब्रह्मैक्य होना ही 'मोक्ष' है । पर द्वैतसिद्धान्त के अनुसार चेतनात्मक आत्मा के शाश्वत आनन्द के अनुभव म परिपूर्णता की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है । शाश्वत आनन्द की प्राप्ति मोक्ष मे तब सम्भव होगी जब जीवात्मा आनन्द की निधि' ब्रह्म मे लीन हो जायगा । या ऐक्य हो जायगा । इस दशा मे ब्रह्म के साथ सामरस्य बना रहना चाहिए । यह सामरस्य 'प्रज्ञा' और जीवात्मा के जीवन मे भी विद्यमान रहना चाहिए । यहाँ 'प्रज्ञा' मे सयोग अपेक्षित है । यह तब कैसे सधेगा जब ब्रह्मानन्द मे तल्लीन होकर जीवात्मा को परमात्मा पर अपने अवलबित होने का सम्पूर्ण ज्ञान होगा । तात्पर्य यह है कि **मुक्ति की स्थिति मे भी परमात्मा विष्णु और जीव मे भेद बना ही रहेगा ।** आत्मनाशरहित सयोग की अनुभूति सार्वभौम विष्णु की इच्छा की स्वीकृति और उसके (विष्णु के) अधीन या आश्रित रहने का आनन्दानुभव—यही मुक्ति है । विष्णुभगवान मे पूर्ण शरणागति ही महोन्नत पद के विजयोत्सव का महान आनन्द है । अपने 'नैज स्वरूप, का भगवान के सम्मुख अनावरण कर लेने मे ही आनन्दोत्कर्ष की चरम सीमा है ।

मोक्ष के लक्षण यो है—

१ दुःख परम्परा की सम्पूर्ण निवृत्ति ।

(इस बात मे एक मुक्त जीव और दूसरे मुक्त जीव मे भेद नही है ।)

२ कर्म के फलस्वरूप प्रकृति व बन्धन से मुक्ति ।

(यहाँ कर्म के फल मे मुक्त जीव और मुक्त जीव मे भेद बना रहेगा क्योंकि 'मुक्ति अमला नैज सुखानुभूति होती है और वह नैज सुख कर्म के फल पर निर्भर करता है ।)

३ आत्मा के नैजस्वरूप का आविर्भाव ।

(ऊपर कथित ही है कि एक जीव का स्वरूप दूसरे जीव के स्वरूप से भिन्न होता है । यह भिन्नता मोक्ष की स्थिति मे भी बनी रहती है ।)

४ आनन्दमय भगवत् सान्निध्य तथा भगवत साक्षात्कार के द्वारा होने वाले आत्मा का आविर्भाव ।

५ न्यायवद्ध शरणागति मे तन्मयता ।

("याय' कम फल एव भक्ति साधना पर अवलम्बित है। शरणागति मे तन्मयता अहैतुकी भक्ति की परिणति है।)

भेदवाद जीवो के ऊँच-नीच या तारतम्य की आधारभूत शिला है। इसलिए इस तारतम्य से भगवत् सान्निध्य मे कुछ अनिष्ट तो नही होगा ? इसका उत्तर यो है—जैसे पढरपुर क्षेत्र मे विठोवा की सन्निधि मे सहजतया एक भक्त दूसरे भक्त की सहायता करता है वैसे ही परिशुद्ध मुक्त आत्मा अपने से उत्तम श्रेणी के 'मुक्तो' से माग-दर्शन एव आशीर्वाद प्राप्त करने मे आनन्द का अनुभव करते हैं। यह तारतम्य-भाव 'विशेप तत्त्व' का परिणाम है। इसीमे दैवी सामरस्य है। कुछ जीव अपने कमफलानुसार मुक्ति के सर्वथा योग्य नही होते। वे नरकाधकार मे पडेंगे। वे नित्यवद्ध होकर रहेगे उनको मोक्ष लाभ कभी नही होगा।

विष्णु की शक्ति

समस्त आगमो मे विष्णु का आधिक्य वर्णित है।

'युक्त ही विष्णो सर्वोत्तमत्वे एव महातात्पर्यं सर्वागमानाम्'

—विष्णुतत्त्वनिर्णय

(विष्णु की सर्वोत्तमता की स्थापना सवथा युक्त है। यही समस्त आगमो का महान् तात्पर्य है।) यह भी प्रसिद्ध है—

'अग्निर्देवानां अवम विष्णु परम ।

(अग्नि समस्त देवताओ के अवम या नीचे है और विष्णु परम उच्च है।) विष्णु ही ब्रह्मपदवाच्य, जगत् का निमित्त कारण, असाधारण सष्टिकर्ता है। केवल विष्णु स्वतन्त्र है। इसे सर्वाधिक, सर्वोत्तम, अखिल दोप वर्जित (रज-तम से परे या सर्वथा निर्दोप), अनन्त कल्याणगुणगणपरिपूण, नित्यपूर्ण, सवजगन्नियामक कहकर वर्णित किया गया है। भगवतसकल्प से ही जीवो को अनादि अविद्या का वन्धन प्राप्त होगा। इसी से वे दुखी होंगे। जव जीव के वन्धन का कारण विष्णु भगवान स्वय होगा मुक्ति का लाभ भी उसी की कृपा पर अवलम्बित होगा।

'तदेव बधस्य ईश्वराधीनत्वात् स एव मोचक अगीकार्य ।

—न्यायसुधा ।

[जीव का वन्धन ईश्वर के अधीन होने से वही मुक्ति का भी कारण माना जायगा।]

उसके (अर्थात् भगवान् के) बिना कोई स्वतन्त्र नही है। माया का मोचन तभी होगा जब विष्णु प्रसन्न होगा।

'अपरस्य स्वातन्त्र्याभावात् प्रसन्न एवासौ स्वकीया माया व्यावर्तयति।'

(दूसरो के स्वातन्त्र्य-अभाव की स्थिति मे विष्णु जब प्रसन्न होगा तभी स्वकीय माया का व्यावर्तन करेगा।)

अत विष्णु या हरि की कृपा (प्रसाद) को प्राप्त करना ही समस्त जीवो का लक्ष्य होगा।

विष्णु परम् है। लक्ष्मी (रमा) प्रकृति है। विष्णु जगत का निमित्त कारण है, लक्ष्मी उपादान कारण है। लक्ष्मी नित्य अवियोगिनी तथा अप्राकृत दिव्य दह सम्पन्ना (त्रिभुवन सुन्दरी) होते हुए विष्णु के सर्वथा अधीन है। आचायजी कहते है कि ये दो ही (विष्णु और लक्ष्मी) मुक्त हैं।

'द्वावेव नित्यमुक्ता परम प्रकृतिस्तथा'

(—भागवततात्पर्य)

नित्यमुक्त तथा अनालादि दोषो से विवर्जित होते हुए भी स्वय लक्ष्मी को विष्णु के गुणो का सम्पूर्ण ज्ञान नही है। इस स्थिति म विष्णु के पारम्य के बारे मे क्या कहना है ? लक्ष्मी स्वय चित प्रकृति है। जड-प्रकृति की नियामिका है। विष्णु के सकल्पानुसार लक्ष्मी स्वय 'श्री, भू, दुर्गा' बनकर सृष्टि, स्थिति तथा लय का निर्वाह करती है। यद्यपि ये व्यापार लक्ष्मी के द्वारा सम्पन्न होते हैं फिर भी परमेश्वर विष्णु ही वास्तव मे (जगत के) सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता तथा सहारकर्त्ता भी है।

विष्णु जीव और जड पदार्थों के अन्तगत अन त रूप से अवस्थित है। अणु, रेणु एव तृण तक में वह व्याप्त है। वह पूण है। प्रत्येक वस्तु के द्वारा उसका व्यापार चलता है। वह प्रत्येक जीव को उसके कर्मानुसार फल प्रदान करता हुआ सारे ससार का सचालन करता है। सब वस्तुए और उनके सारे के सारे व्यापार सब दशाओ मे उसी के अधीन हैं। इस तरह से सवत न स्वतन्त्र विष्णु सवत्र व्यापक भी है व्याप्य भी है।

परमोच्च सर्वशक्तिमान विष्णु ने अपनी सृष्टि, आदि म स्वमेव कर ली। इस आत्मसृष्टि के पश्चात विष्णु लक्ष्मी के प्रादुर्भाव की परम्परा चली। प्रादुर्भाव का अथ है सभी युगों मे नित्य रूप म अवस्थिति और काल-विशेषो मे बाहर प्रकट होना। प्रादुर्भाव नये सिरे से आना नही। परमोच्च पद पर आसीन महाविष्णु लक्ष्मी के साथ मिलकर अनिरुद्ध के रूप म अवतरित होता है। उसी से जगत की स्थिति टिकी है। 'रमा' के अश से अनिरुद्ध की पत्नी शान्ति प्रकट होती है। इन दानो से सृष्टि-कार्य के कारण भूत अनिरुद्ध और उसकी पत्नी 'कृतिता' का प्रादुर्भाव होता है। इन दोनो के सयोग से 'सहारकारणवपु' सकषण और 'जया देवी उत्पन्न होती हैं और उनसे 'निज मुक्ति पद प्रदातृ' वासुदेव और मायादेवी प्रकट होती हैं। इन पन्चमूर्तियो का प्रादुर्भाव ही 'आत्म सृष्टि' कहलाता है। प्रत्येक प्रादुर्भाव मे भी विष्णु स्वयपूर्ण है —

'एक समोऽपि अखिल दोष समुज्झितोऽपि सवत्र पूण गुणकोऽपि समुज्झितोऽभूत।'

भगवान विष्णु का स्वामित्व वेद और उपनिषदो म भी उल्लिखित है। ईशावास्योपनिषद् को ही लीजिए। उसम यो कथित है—

ईशावास्यमिद सव यत्किच जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्॥

[इस ससार म जो कुछ है वह सब परमात्मा के आवासभूत है अर्थात परमात्मा के आश्रयभूत या वशीभूत है। इसलिए वह जो तज देगा उसी का तू भोगकर। परन्तु किसी अन्य के धन की कामना मत कर।] परमात्मा परमेश्वर है। वह जो देगा उसी को खाना और उसी की इच्छानुसार काम सारा किया करना—यही उपयुक्त उपनिषद्वाक्य का तात्पय है।

कौषितकि ब्राह्मण के इस वाक्य पर दृष्टिपात कीजिए —

एष ह्येव साधु कम कारयति त यमेभ्योलोकेभ्य उन्निनीषते,
एष उ एवासाधु कम कारयति त, यमधो निनीषत इति।'

(जिसे इस लोक मे उत्तम स्तर मे ले जाना चाहता है, उससे यह ब्रह्म ही उत्तम कम करवाता है। जिसे वह अधोलोक मे उतारना चाहता है उससे यह ब्रह्म असाधु ही करावेगा।) इससे ब्रह्म जीवो के प्रेरक प्रेय भाव सूचित होकर स्वामी भृत्य भाव की स्थापना भी होती है।

ब्रह्मसूत्र (२।१।३४) मे कथित है कि परमात्मा वषम्य या नैघृण्य से सवथा मुक्त है। अद्वैतमत के प्रतिष्ठानाचाय श्री श्री १०८ आदि शकर भगवत्पादाचायजी न इस सूत्र की यो व्याख्या की है

'ईश्वरस्तु पज यवत् द्रष्टव्य, यथाहि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारण कारण भवति, व्रीहियवादि वैपम्ये तु तत्तद्बीजगता नेव असाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरोदेव मनुष्यादि सृष्टौ साधारण कारण भवति, देव मनुष्यादि वैपम्ये तु तत्तज्जीवगतायेवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति।'

[ईश्वर को वर्षा के समान जानो। वर्षा धान, गेहूँ आदि अन्न की उपज का साधारण कारण है। उपज मे धान और गेहूँ के भेद का कारण उस प्रत्येक उपज के बीज की स्वभावसिद्ध असाधारण (विशेष) सामर्थ्य ही होता है। इसी तरह परमेश्वर मनुष्य, देव आदि की सृष्टि का साधारण कारण है—सृष्टि मात्र का वही कारण है। पर देव, मनुष्य आदि मे द्रष्टव्य भेद का उन उन जीवो के स्वभावसिद्ध कर्म ही असाधारण कारण होगे।]

यह द्वैत सिद्धान्त के अनुरूप ही है।

एक एव परो विष्णु सुरासुर निशाचरान्।
त्रिगुणानुगुण नित्यमनुगृह्णाति लीलया॥

[एक विष्णु ही सवश्रेष्ठ है। वह क्या देवता, क्या असुर, क्या राक्षस, क्या निशाचर—सब पर उनके सत्व-रजस्तमोरूपी गुणो अनुसार अपनी लीला से सदा अनुग्रह करता रहेगा।] इससे भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होगी।

बृहदारण्यक उपनिषद के इन वाक्यो मे उक्त है कि ब्रह्म को परमात्मा जानकर उसकी उपासना करनी चाहिए—

'आत्मेत्येवोपासीत।'

परमात्मा को हमे दशन का विषय बना लेना चाहिए। उसके बारे मे सुनना, उसे समझना और उसका अनन्य भाव से ध्यान करना चाहिए।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य।
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य।"

इससे विदित है कि परमात्मा हमारा स्वामी है। उसके अनुग्रह का सपादन करने के लिए उसकी उपासना करते रहना चाहिए।

(५) तारतम्य (जीवगणा नीचोच्च भावगता।)

दुनिया मे कोई दो आदमी एक से नही होते। कोई मोटा, कोई लम्बा, कोई गोरा-चिट्टा, तो कोई काला। इनका परस्पर तारतम्य प्रत्यक्षत सिद्ध है। वैसे उनकी अन्दरूनी बातो मे जाइए, पता चलेगा कि दोनो के सुखदुख भी भिन्न भिन्न हैं। इनमे भी तारतम्य स्पष्ट है। उनके गुण-दोषो मे भी तारतम्य रहता है। यह तारतम्य 'भेद-तत्त्व' पर आधारित है तथा 'विशेष-तत्त्व' से सामजस्य रखता है।

मध्वमत मे मुक्त जीवों मे भी तारतम्य भाव है। वह जीवों के स्वरूप गुणों पर आश्रित हैं।

अद्वैत मत के अनुसार अविद्या से पार पाया हुआ जीव स्वय ब्रह्मत्व का ज्ञानानुभव प्राप्त कर लेने तथा ब्रह्म मात्र की सत्यता स्वीकार करने से तारतम्य की बात नही उठती। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार हमारे देखने मे आनेवाला तारतम्य वस्तुत मिथ्या है (पारमार्थिक दृष्टि से), परव्यवहार की दृष्टि से सत्य है।

विशिष्टाद्वैती लोगों की मान्यता है कि समस्त जीव अन्त में ब्रह्म में समाविष्ट होकर परमात्मा (ब्रह्म) का अंश हो जाते हैं। उनका ब्रह्म से अवयव-अवयवी सम्बन्ध स्थापित होता है। वहाँ भी तारतम्य भाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

द्वैत सिद्धान्त विष्णु के सर्वोत्तमत्व का प्रतिपादन करता है। मुक्त्यर्ह जीव शाश्वत एवं दुःख-रहित सुख पाने हेतु अहैतुक भक्ति से निरन्तर परमात्मा की उपासना करके सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य नामक प्रभेदोंवाले मोक्षों में से किसी एक प्रकार के मोक्ष को भगवत कृपा से प्राप्त करता है। विष्णु की श्रेष्ठता-विरोधी जीव (कलि के जैसे) पुनरागमन-रहित नित्यनरक (अधतमस्) में जाकर गिरेगा। इन दोनों के मध्यस्थ नित्यसंसारी जीव 'चक्रनेमिक्रमेण' सुख दुःखों का पर्याय से अनुभव करता ही रहेगा। इस प्रकार से (मुक्त्यर्हता की दृष्टि से) जीव तीन प्रकार के हुए। मुक्त होने के पश्चात भी (यहाँ तक कि अधतमस् में पहुँचने पर भी इनमें तारतम्य-भाव बना ही रहेगा, यह आचार्य जी का मत है)

"अंधं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।"

(ईशावास्य)

(ईसाई तथा मुसलमानों का मत है कि ईश-द्वेषी लोग नित्य नरक को प्राप्त होते हैं। भारत के वेदान्ताचार्यों में से द्वैतमतावलम्बियों को छोड़कर और कोई इस मत को स्वीकार नहीं करते।

मुक्त जीवों के तारतम्यभाव का श्रुत्याधार स्पष्ट है। 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' कह कर 'मुक्त' के विषय प्रस्तावित करते हुए तैत्तिरेयोपनिषद् के 'ब्रह्मवल्ली' नामक अध्याय में कथित है कि मुक्तावस्था में सब जीवों के निर्दुःखानन्द के होते हुए भी उनके परस्पर में आनन्द की मात्रा में अन्तर रहेगा ही—

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः, स एको मनुष्य गन्धर्वाणामानन्दः।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः।

(सामान्य मुक्त (जीव) के आनन्द का सौगुना गन्धर्व-मानव का आनन्द होगा।—वैसे मुक्त प्रजापति के आनन्द का सौगुना ब्रह्मानन्द (ब्रह्मा का आनन्द) होगा।) मनुष्य, गन्धर्व, देवता, बृहस्पति, प्रजापति आदि मुक्त जीवगणों का तारतम्य यहाँ बताया गया है।

'उत्तरेषूत्तरेष्वेव यावद्वायुर्विमुक्तिगाः।'

वाले आचार्य विरचित अणुभाष्य में उल्लिखित वाक्य के अनुसार जीवों का परस्पर तारतम्य तथा वायु (जीव) की उच्चता स्थापित है।

[ॐ जगद्व्यापारवर्जं ॐ]

वाले ब्रह्मसूत्र में मुक्त जीव की भोग सुख क्षमता बतायी गयी है और कहा गया है कि 'यद्यपि जीव अपनी समस्त कामनाओं का अनुभव (उपयोग) कर सकता है, पर जगत की सृष्टि आदि व्यापार मात्र परमात्मा कर सकता है। (अन्य कोई नहीं) सृष्टिकार्य को छोड़कर संकल्प मात्र से अन्य कोई कार्य साधा जा सकता है।' आचार्य जी के अणुभाष्य में उक्त है—

जगत् सृष्ट्यादिविषयमहासामर्थ्यमप्युते।

यथेष्टशक्ति मन्तश्च विना स्वाभाविकोत्तमान्॥

(जगत् की सृष्टि, स्थिति लय-आदि विषयों में परमात्मा की अति अद्भुत शक्ति को छोड़कर 'मुक्त' शेष बातों में अपने से उत्तमों से कम होते हुए भी यथेष्ट शक्ति प्राप्त है)—यों कहकर तारतम्य को सिद्ध किया है।

ऊपर कहा गया है कि विष्णु-लक्ष्मी (परम प्रकृति) से किस प्रकार से आत्मसृष्टि सिद्ध हुई। उनकी इच्छा व्यापार से जड़ सृष्टि-क्रम भी प्रस्तुत होता है। महत्तत्व से अहंकार तत्त्व और उससे दशेन्द्रिय एवं पंचतन्मात्र तथा पंचभूत निकलते हैं। इस सृष्टिक्रम के मूलभूत महत्तत्व के अभिमानी देवता ब्रह्म (पुरुष नामक ब्रह्म से) विद्यमान है। विष्णु और लक्ष्मी ईश-कोटि के हैं। विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्म जीव कोटि का है। यह जगत् सजक है, जीव-कोटि में श्रेष्ठ है। तारतम्य क्रम में विष्णु सर्वोत्तम है, उसके अधीन लक्ष्मी हैं और उसके नीचे ब्रह्म है।

ब्रह्म के नीचे है वायु जो पद में नीचे होते हुए भी कक्षा में ब्रह्म के समान है। विष्णु की आज्ञानुसार वायु अपनी पत्नी भारती के सहित समस्त वस्तुओं में स्थित होकर तत्तद् व्यापारों का संचालन करता है, प्राण अपान, समान, उदान और व्यान—इन पंच 'वायु'ओं का यही अधिपति है। जीवों में लिंग शरीर इसका स्थान है। विष्णु के सहवर्ती होकर रहने से ही समस्त दैहिक एवं मानसिक व्यापार संचालित होते हैं। इसी दृष्टि से व्यवहार में इसे 'मुख्य प्राण' कहते हैं। जयतीर्थ आचार्य जी का कथन है कि विष्णु 'आप्यतम' है तो वायु 'आप्य' है। जीव और विष्णु के बीच वायु का व्यापार चलता है, वायु का काम यही 'मध्यस्थता' है। जीव-कोटि में ब्रह्म के साथ समान कक्षा में रहते हुए उत्तम होने के नाते इसे जीवोत्तम कहते हैं। यह ब्रह्म के समान ही 'द्वात्रिंशत् लक्षणोपेत' है।

आचार्य जी का दावा है कि 'प्राण देवा अनुप्राणति' (देव लोग प्राण को अनुप्राणित करते हैं) 'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो' (ब्रह्म को नमस्कार, हे वायु! तुझे नमस्कार) 'तस्मात् प्राण सर्वजीवोधिकोऽभूत' (इससे प्राण सब जीवों से अधिक हुआ) जैसे वेद वाक्यों द्वारा वायु की सर्वोत्तमता उल्लिखित है। इस तरह से वायु सर्व-वेद प्रतिपाद्य है। हनुम भीम-'मध्व'—इस अवतार-त्रयी का प्रस्ताव भी बलित्था-सूत्र में विद्यमान है। ऐसा माध्वमतीय लोगों का विश्वास है। मध्वाचार्य जी स्वयं वायु का अवतार हैं—इस कल्पना में गुरु के 'माध्यस्थ्य' के अंश की अनुपस्थिति नहीं है। मोक्ष दाता विष्णु के होते हुए भी वायु उसके आदेशानुसार स्वयं इस कार्य का निर्वाह करता है ('विष्णुर्हि दाता मोक्षस्य, वायुश्च तदनुज्ञया')

तारतम्य-क्रम में ब्रह्म और वायु के नीचे उन-उन की शक्ति स्वरूपी सरस्वती-भारती और उनकी निचली कक्षा में गरुड शेष-रुद्र विद्यमान हैं—ऐसी धारणा है। रमा देवी (लक्ष्मी), ब्रह्म वायु, सरस्वती भारती—इनको व्यवहार में पर शुक्ल त्रय' कहते हैं। इनको अज्ञानादि दोष छू भी नहीं जाते और इनमें कोई कलि-व्यापार नहीं है। ये बातें (लक्षण) गरुड,-शेष-रुद्रों के बारे में नहीं कहते। रुद्र मन के अभिमानी देवता हैं। 'तैल धारावत 'हरि' में मन लगाये रखनेवाला' यही है। अगले कल्प में वायु ब्रह्म बना और रुद्र शेष बना। गरुड शेष रुद्र के पश्चात् तारतम्य क्रम में विष्णु की छः पत्नियाँ (जाम्बवती आदि जिनमें लक्ष्मी का 'विशेष' अंश विद्यमान है) सौपर्णी वारुणी-पार्वती (गरुड-शेष रुद्र की शक्तियाँ) इन्द्र काम, अहंकार प्राण, अनिरुद्ध-बृहस्पति-रति स्वायम्भूमनु,दक्षप्रजापति शची, प्रवहवायु, शतरूपा-यम चंद्र-सूर्य, वरुण नारद, भृगु आदि आते हैं। इस तारतम्य का क्रम मध्वसिद्धान्त की विशिष्टता है। गुण तारतम्य, कक्षा-तारतम्य, आवेशावतार तारतम्य, आरोहण तारतम्य तथा अवरोहण तारतम्य जैसे तारतम्य प्रभेद पाँच माने जाते हैं। ये तारतम्य क्या देवता, क्या दैत्य और क्या मानव सबमें विद्यमान हैं।

मुक्ति का स्वरूप

सुख-दुःख का मूल कारण कर्म है। सत्कर्म में प्रवृत्त होकर और दुष्कर्मों का त्याग करते हुए जीवन यापन करते हुए जीव दुःखरहित सुख को प्राप्त कर सकेगा। हमें वह सुख अपेक्षित है जिसका अंत नहीं,

और हम दु:ख से पूर्णतया विमोचन की अपेक्षा करते हैं। यही 'मोक्ष' या 'विमोचन' है। 'विमोचन' किसका ? 'दु:ख' का। पर ससारी जीव दु:ख से बरी नही है। प्रवाह रूपी ससार से परे, पुनर्जन्म से छूट कर, दु:ख दूर कर लें तो हम मोक्ष-मार्ग की बाधाओं से मुक्त होगे। दु:ख के निवारण का तात्पर्य है अनिष्ट का निवारण। इतना पर्याप्त नही। हमे इष्ट की प्राप्ति भी चाहिए। बुभुक्षु को आहार प्राप्त हो तो दु:ख निवारण होगा, पर मिष्ठा न मिले तो सुरा प्राप्त होगा। मान लीजिए कि हमारी कार (गाडी) यात्रा मे खराब हो गई, तब दूसरा यात्री हमे गन्तव्य स्थान तक अपने वाहन मे ले जाय तो सुख होगा। केवल दु:ख का अभाव सुख नही है, हम भाव रूप सुख की अपेक्षा करते हैं।

मध्वमत मे मुक्ति या मोक्ष को 'नैजसुखानुभूति' कहा गया है। जीव अपने स्वरूप के अनुगुण (अनुसार) ही सुख का अनुभव प्राप्त करेगा। इसी को 'मोक्ष' कहेगे। दु:ख के पूर्ण निवारण बिना, सुख की प्राप्ति नही हो सकती। मान लीजिए हम प्राइम मिनिस्टर (प्रधान मन्त्री) या राष्ट्राध्यक्ष (प्रेसिडेंट) बनना चाहते हैं। वह प्रत्येक जीव के लिये दुर्लभ है। सुख दु:ख रहित सुख भले ही मिले पर वह हमारा अपेक्षित (उपर्युक्त राष्ट्राध्यक्षपद आदि प्राप्त करने का) नही अपितु हमारी योग्यता के लिहाज से उचित जो सुख हो वही प्राप्त होगा। अयोग्य या अनुचित सुखापेक्षी जीव अधोगति को प्राप्त होगा। गृहस्थ अपनी पत्नी के सहवास से रति कामना तृप्ति प्राप्त करेगा, पडोसी साध्वी के सहवास-सुख की कामना नही करेगा। ऐसी कामना करना अनुचित होगा।

'महाभारत तात्पर्य निर्णय' मे आचार्यजी कहते हैं—

'अयोग्यमिच्छन् पुरुष पतत्येव न सशय।'

(अपनी योग्यता के मुआफिक सुख की अपेक्षा न करके अनुचित की अपेक्षा करने वाला, मनुष्य अधोगति को प्राप्त होगा।)

'खाओ पिओ और मौज करो'—यही चार्वाको के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य है। उनका मत है—

यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत।

इस 'नास्तिक' मत मे 'मरण' ही मोक्ष है। क्योंकि 'मरण' से ही ऋण निवारण होगा। ऋण करके घी पीना—सुखोपभोग करना जायज है।

अज्ञान को दूर करो, निर्मल ज्ञान को पाओ—यही बौद्धो का मोक्ष है। समस्त विशेष गुणो का विमोचन वैशेषिको का मोक्ष है। कर्मनिष्ठ मीमासक स्वर्गप्राप्ति को मोक्ष मानता है। भ्रान्ति के मूल कारण भूत अविद्या के नाश से ब्रह्मत्व का अनुभव करना अद्वैतमत का मोक्ष है। दु:खरहितता ही इन सब मतो मे सुख माना गया। पर मध्वाचार्य के अनुसार दु:खरहित (दु:ख से अमिश्रित), शाश्वत, स्वरूप योग्य सुख को प्राप्त करना ही मोक्ष है—यह उनका निष्कर्ष है। इसमे आनन्दानुभव है।

'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।'

(तैत्तिरीय)

—इस वेदवाक्य से ज्ञात होता है कि मुक्त जीव (स) ब्रह्म-सामीप्य पाकर (सह ब्रह्मणा) उसके साथ ही अपने समस्त इष्टार्थों (सर्वान कामान) की सिद्धि पाता है। यही मोक्ष-सुख है।

स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन रममाण।

(छादोग्य)

[इस छादोग्य उपनिषद्वाक्य से ज्ञात होता है कि मुक्त जीव (वैकुण्ठ मे) वहाँ खाते पीते खेलते-कूदते रमे रहता है ।]

इसी तरह और वेदोक्तियो को लीजिए—

'अमृतत्व च गच्छति ।' (कठ)

[पुनरावर्तन रहित अमरत्व अर्थात् कभी मृत्यु को प्राप्त न होनेवाली स्थिति को (मुक्त जीव) पहुँच जाता है ।

'न स भूयोऽभिजायते (अमृत बिंदु)

[वह पुन (यहाँ) पैदा ही नही होगा ।]

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।' (छादोग्य)

[मुक्त जीव फिर (जन्म नही पाएगा) पुनरावृत्त नही होगा वह [कभी] पुनरावृत्त नही होगा ।]

'तेषां न पुनरावृत्तिः ।' (बृहदारण्यक)

[उनका पुनजन्म नहीं होगा] यह है मुक्तावस्था को शाश्वत स्थिति ।

'ब्रह्मलोकमभिसपद्यन्ते, न च पुनरावर्तते'

[ब्रह्मलोक जाने वाला फिर लौटकर कभी नही आवेगा] इससे 'सालोक्य' मोक्ष का कथन स्पष्ट है ।

'तथा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरजन परम साम्यमुपैति ।' (छादोग्य)

परमात्मा के बारे मे यथार्थ ज्ञान प्राप्त जीव अपने समस्त कममूल पुण्य-पापो से निवृत्त निर्दोष होकर परमात्मा के साथ 'साम्य' रूप अर्थात 'सारूप्य' मोक्ष पावेगा ।

विद्वान नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ।'

(षटप्रश्न)

[अर्थात् ज्ञानी अपने नाम रूप आदि समस्त ससार-बन्धनो से मुक्त होकर परमात्मा के पास पहुचेगा । यह है 'सामीप्य' अर्थात् परमात्मा के समीप रहने की स्थिति वाला मोक्ष ।]

'आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्ट्यैव पश्यति ।
गच्छेच्च हरिपादेन मुक्तस्येषा स्थितिमवेत् ।'

('मुक्त जीव हरि के हाथो आप आएगा, हरि की दृष्टि से आप देखेगा, हरि के पादो से स्वय चलेगा—यह होगी उसकी स्थिति ।—इस श्लोक मे 'सायुज्य' मोक्ष का वणन किया गया है ।)

तमेव विद्वानमृत इह भवति ।' (पुरुषसूक्त) ऋग्वेद

परमात्मा को इस प्रकार से ज्ञात जीव मरण रहित होकर 'अमृत' या मुक्त ही हो जाएगा ।

अणु भाष्य में आचार्यजी का कथन है—

यथासकल्प भोगांश्च चिदानन्द शरीरिण ।
जगत्सृष्ट्यादिविषयमहासामर्थ्यमप्यते ॥
यथेष्टशक्तिमतश्च विना स्वाभाविकोत्तमान् ।
अनन्यवशगाश्चैव वृद्धिह्रासविवर्जिता ।
दु खादि रहिता नित्य मोदतेऽविरत सुखम् ॥

(तात्पय यह है कि 'मुक्त जीव अपने सकल्प मात्र से समस्त अभीष्ट सुख प्राप्त करेंगे' उनके शरीर 'चित्' और 'आनन्द' से भरे रहेगे ('मुक्त' ज्ञान एव आनन्द से युक्त रहेंगे । उनके रक्त मासमय शरीर नही होगे ।)

उनको यथेष्ट सामर्थ्य प्राप्त रहेगी, परन्तु केवल परमात्मा द्वारा सम्पन्न होने वाली जगत् सृष्टि आदि सामर्थ्य उनको प्राप्त नही होगी, अपितु अपने से श्रेष्ठ सहजतया श्रेष्ठो से अधिक शक्ति प्राप्त नही करेंगे, न उनके सम्मुख वे ह्रास ही पाएँगे (अपने को बलहीन ही पायेंगे।) एक परमात्मा को छोडकर और किसी के अधीन वे नही रहेगे। अपने ज्ञान, आनन्द व शक्ति मे न वे वृद्धि को प्राप्त होंगे न ह्रास को ही दु ख आयास आदि उनको सताएँगे नही। कि बहुना, वे अनन्त सुख को प्राप्त होंगे।'

इस तरह अपने स्वरूपानुगुण शाश्वत सुख की प्राप्ति ही 'मोक्ष' की दशा होगी—यह है आचार्यजी का मत।

मोक्ष-प्राप्ति हेतु भगवान् का 'अनुग्रह' पाना परम आवश्यक है। 'मैं शास्त्रो का पारगत विद्वान हूँ, मैंने कितने ही सत्कर्म किये हैं।—ऐसे अभिमान को लेकर 'मुझे इनके फलस्वरूप निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्ति होगी।' ऐसी व्यापारी दृष्टि से कोई काम नही ले सकता।

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम्।
(कठोपनिषद)

[जिसे चुनकर परमात्मा अनुग्रहीत करेगा, वही मात्र परमात्मा के पास जाएगा। वह देवो का देव महादेव विष्णु भगवान् उसी को अपने स्वरूप का दर्शन देगा (जैसा श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को अपना अर्थात् विश्व रूप दर्शन का अनुग्रह किया था] इससे 'मोक्ष' की प्राप्ति हेतु भगवान के अनुग्रह की आवश्यकता स्पष्ट है।

भक्ति

भगवदनुग्रह मात्र से प्राप्त होने वाली ऐसी मुक्ति का साधन मार्ग क्या है। वह भक्ति या भक्ति माग। अर्जुन श्रीकृष्ण का परम भक्त था। उसने श्रीकृष्ण का विश्वरूप दर्शन पाया। द्रौपदी श्रीकृष्ण की भक्तिन थी, उसकी लाज रखी भगवान् ने। गजेन्द्र को नक्र से बचाकर भगवान ने मुक्ति प्रदान की। भगवान के माहात्म्य ज्ञान से युक्त नित्य प्रीति ही भक्ति है। माहात्म्य ज्ञान से श्रद्धा उत्पन्न होती है। राम ने समुद्र पर पुल बँधवाया। अपने लिए नही, अपितु लका प्रवेश करके युद्ध मे अधम के मूर्तिमान रावण को पछाड कर लोक मगल की स्थापना करने के लिए। ऐसे महान शक्तिमान कार्य को देख हमारे मन मे अपने आप उगने वाला भाव ही 'श्रद्धा' है। अनन्त शक्तिमान् भगवान राम के अदभुत बल से हम उसके सम्मुख स्वमेव अवनतशिर हो जाएँगे। उनके सामने हम छोटे हैं—बल मे गुण मे, और काय-कुशलता मे। ठीक ही कहा गया है—

'राम सो बडो है कौन मो सो कौन छोटो ?'

महच्छक्ति के सम्मुख अपनी दीनता की आनन्दमय स्वीकृति ही श्रद्धा है। इसमे भक्त की दीन भावना निहित है, हीन भावना नही। भक्त भगवान के सम्मुख दीन है।

इसके अलावा भक्त के हृदय मे भगवान् या अपने आराध्यदेव पर अटल विश्वास है। उसे इस बात की प्रतीति बल देती है कि मैंने जिस पर अपने को अवलम्बित किया है, जिसकी शीतल छाया मे मैंने आश्रय पाया है वह मुझे कभी नही छोडेगा। भगवद्गीता मे कहा भी तो है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज

भगवान ने स्वय कहा है कि सभी धम छोडकर एक मुझ पर भरोसा रखो। मेरी शरण मे आओ।

अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।(भगवद्गीता १८ ६६)

तब मैं तुझे सभी पापो से विमुक्त करके 'मोक्ष' प्रदान करूँगा। इसमे कुछ शका न करो। भगवान् की इस उक्ति में होते हुए भी जो भगवान का भरोसा न करेगा वही परम पापी होगा।

अहैतुकी भक्ति से ही भगवान की प्रीति सम्भव होगी। परमात्मा की भक्ति नौ प्रकार से की जाती है—

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्म निवेदनम्॥

(श्री हरि सम्बन्धी कथाओ का सुनना, भगवान का विशेषत भजन गाना, उसका सदा स्मरण करना, उसकी पाद सेवना करना, विष्णु का पूजन करना, उसे नमस्कार करना, श्रीहरि की दासता भाव से सेवा करना, उससे सखा या मित्रवत् भाव बरतना और उसकी शरण मे जाकर अपने को समर्पित कर लेना—यह है नवधा भक्ति।)

भक्ति श्री मध्वाचार्यजी की वेदान्त को सबसे बढ़कर देन है। आचार्यजी भक्तिपथ के अग्रणी रहे। भक्ति से परम मुक्ति है, यह अनुव्याख्यान मे कहा गया है।

भक्त्या ज्ञान ततो भक्ति ततो दृष्टि ततश्च सा।
ततो मुक्तिस्ततो भक्ति सैव स्यात् सुखरूपिणी॥

भक्ति से ज्ञान अकुरित होगा। ज्ञान से भक्ति उत्पन्न होगी। इससे भगवत्साक्षात्कार होगा जिससे भक्ति का पुट पाक होगा। तब जाकर मुक्ति प्राप्त होगी। मुक्तावस्था मे भक्ति आनन्द रूप को पाकर नित्य (स्थिर शाश्वत) होगी। भक्ति मुक्ति साधना का प्रथम सोपान होते हुए भी मुक्ति के भी अन्तर्गत होकर वह नित्य या परम भक्ति बनकर टिकी रहेगी।

['वहि फल वहि सब साधन फूला'—तुलसी]

भक्ति ज्ञानजन्य है—वह केवल भावावेश नहीं है। इसे आचार्यजी ने 'ज्ञानस्य विशेषा भक्ति' कहा है (अर्थात भक्ति भी ज्ञान विशेष ही है। परमोत्कृष्ट भक्ति परमोत्कृष्ट ज्ञान से ही फूटेगी। भगवान के निकट सान्निध्य से ही ऐसी भक्ति फूटेगी। तज्जन्य ज्ञानोदय 'अपरोक्षज्ञान' है। इस ज्ञान के बल पर जीव परमात्म तत्त्व का अनुभव करेगा।

भगवत्साक्षात्कार हृत्पूर्वक की गयी। पूजा के बलपर होगा। शास्त्राध्ययन एव तात्त्विक सशोधन से उत्पन्न परोक्ष विद्या से परोक्षज्ञान होगा जो उपासना से अपरोक्ष ज्ञान मे परिणत होगा।

उपासना की कई सीढ़ियाँ हैं। पामर लोग विग्रहो म भगवान का आवाहन करके उनकी पूजा करते हैं। याज्ञिक यज्ञ या होम के द्वारा अर्चन करते हैं। योगियो का हृदयस्थ ईश्वर का ध्यान ही अर्चन है। कुछ लोग बाह्य प्रकृति में भगवान के दर्शन करना चाहेंगे। पर वास्तव म भगवान सच्चिदानन्द है और सर्वान्तर्यामी है। उपासना दृढ और एक निष्ठ होनी चाहिए। वास्तव मे ब्रह्म जिज्ञासा उपासना का आधार हैं।

जिज्ञासा के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। इस प्रसग मे श्रुति ही प्रमाण है। मनन तथा *जिज्ञासा के लिए शास्त्राध्ययन आवश्यक है। साधन की निष्ठा, भक्ति और श्रद्धा भगवान के श्रवण, मनन* और निदिध्यासन से सिद्ध होगी।

अज्ञान जब तक न मिटे तब तक शास्त्राध्ययन करना आवश्यक है। (शृणुयात् यावदज्ञान)। शास्त्रो मे अयुक्तता जब तक दीखे तब तक अज्ञान बना ही रहेगा। इस अयुक्तता का निवारण होने तक विचार करना होगा (यावदज्ञान मति यावत् अयुक्तता)। फिर साक्षात्कार होने तक ध्यान मे निरत रहना चाहिए।

साधन माग के स्तर आरोहण क्रम मे यों हैं—
साधनचतुष्टय, १ विवेक अर्थात नित्यानित्य ज्ञान साधना २ वैराग्य साधना, ३ मोक्ष की तीव्र कामना तथा ४ भगवान मे अचल श्रद्धा, अहकार दमन, हृदयस्थ भगवान् मे तृप्ति या उपरति सुख-दु ख में समभाव या तितिक्षा तथा ध्यानपरता—इनसे युक्त शमादि सम्पत्साधना कर्मयोग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन अथवा उपासन, अपरोक्ष ज्ञान परम भक्ति, परम प्रसाद का क्रम बँधा रहेगा। भक्ति और प्रसाद (भगवत्प्रसाद) के मध्य मे ज्ञान विविध रीतियो म मिला हुआ है। आचायजी भगवन्नारायण के प्रसाद को ही अन्तिम तारक मानते हैं। उनका दैवो मांद व्यक्ति की चरमसीमा है। सक्षेप मे उन्होने भगवान वेदव्यास की ज्ञानज्योति को आमूलाग्र भक्तिपूर्वक प्रज्ज्वलित किया है।

उपसहार

द्वत सिद्धा त की सामा य रूपरेखाएँ

मध्व-दर्शन का उद्देश्य ब्रह्म या विष्णु नामक परतत्व तथा उसकी लोकातीत परिपूर्णता का साक्षात्कार करना है उसका सिद्धा त ईश्वर-केन्द्रित है। परमात्मा का होकर जीना ही मानव-ज म का साफल्य है। जीवात्मा परमात्मा के साक्षात्कार से जनित आन द का अनुभव करता है। यह आत्मा का नाश नही है। केवल उसकी पुन प्राप्ति भी नही हैं। न यह निर्वाण है, न कैवल्य ही। दैवसाक्षात्कार मे जीवन की परिपूर्णता है और ईश्वर-केन्द्रित अमरत्व है। भगवान विष्णु ही परम तत्त्व है। उसकी प्राप्ति ही परम पुरुषाथ है।

इस सिद्धा त मे 'साधन' का अथ है जीवात्मा का परमात्मा की तरफ क्रम क्रम से और सहज रीति से यान। यह है भगवत्साम्राज्य मे प्रवेश पाने हेतु किये जानेवाला निर्या त सवतोमुखी प्रयत्न।

स्वप्रयत्न और गुरुकृपा दोनो 'साधना' के अग हैं। इसमे गुरुकृपा ही प्रधान है।

> **गुरुप्रसाद स्वप्रयत्नो वा बलवान् ?**
> **गुरुप्रसाद एव बलवान्।**

पर स्वप्रयत्न भी अत्य त आवश्यक है।

अधिकारी

उत्तम ध्येय को लेकर श्रमपूवक साधना करनेवाला मोक्षाभिलाषी 'अधिकारी' कहलाता है। वह तीन प्रकार का है—

> **भक्तिमान् परमे विष्णौ यस्स्वध्ययनवान् नर।**
> **अमम शमादिसयुक्त मध्यम स उदाहृत ॥**
> **आब्रह्मस्तम्बपर्य त असार चाप्यनित्यकम्।**
> **विज्ञाय जातवैराग्य विष्णुपादक सश्रय।**
> **स उत्तमोऽधिकारी स्यात स यस्ताखिलकमवान ॥** (ब्रह्मसूत्र भाष्य १-१-१)

केवल शास्त्राध्यायी परम विष्णु भक्त अत्य त निम्न अधिकारी हैं। मनोदाढ य से इ द्रिय निग्रह द्वारा समचित्त प्राप्त साधक मध्यमाधिकारी है। समस्त जगत् की निस्सारता एव अस्थिरता का ज्ञाता जो केवल विष्णु के आश्रय मे अपने सारे सत्कर्मों को वैराग्य भाव से समर्पित करता है, वह अत्युन्नत श्रेणी का अधिकारी है।

कर्मयोग

कम मानव-क्रिया है। मानव के समस्त व्यापार व्यवहार उसके अन्तगत हैं। मनुष्य सहजतया स्वरक्षा हेतु जो भी व्यवहार करता है एव अपने समाज की श्रेयोभिवृत्ति के लिए जो भी नैतिक और व्यावहारिक काय करता है वे सब 'कर्म' के अन्तगत हैं। समाज अपना कुटुम्ब हो सकता है समस्त मानव कुल हो सकता है, या सारा प्राणी वग मात्र हो सकता है। धार्मिक काय—परपरागत पूजा, होम-यज्ञ आदि सब कम की व्याप्ति मे आ जाते हैं। अपने कुटुम्ब की श्रेय-वृद्धि सम्बन्धी कर्म स्वाथपूण होगा। लौकिक मानव कल्याण काय द्वितीय श्रेणी का कम होगा। धार्मिक जीवन मे प्रधानता मात्र प्राणीवग के योग क्षेम सम्बन्धी काय की है। अन्तिम स्तर मे कम त्याग करना होता है।

कम-रहित ज्ञान ही मोक्ष-प्रद है। यह अद्वैत का दृष्टिकोण है। इसका विरोध भगवद्गीता मे व्यक्त किया गया है। समस्त वेदान्ती गीता की विचारधारा को स्वीकार करते हैं। अपना निष्काम कम परमात्मा को समपण करना आत्म विमोचन का निश्चित माग है—गीता के इस कथन को सभी वेदान्ती स्वीकार करते हैं। उपनिषदो मे कथित है "ज्ञानेनैव मुक्ति" (ज्ञान मात्र से मुक्ति प्राप्त होगी) गीता में कमयोग का इसके साथ समन्वय कैसे किया जाय ? वेदान्ती ज्ञान की परम उत्कृष्टता को तज नहीं सकता। साथ ही कम के लिए भी स्थान देना होगा।

श्रीमान् आचाय जी ने इस प्रकरण का यो निर्वाह (बडी चतुराई से) किया है—

> 'येषां ज्ञान समुत्पन्न तेषा मोक्षो विनिश्चित ।
> ज्ञानेनव मोक्षो नियत ।
> यस्य ज्ञान तस्य मोक्ष इति नात्र विचारणा।'

(ब्रह्मसूत्र भाष्य ३-४-२५, २७)

ज्ञानोदय जिसका हुआ हो उसका मुक्त होना निश्चित है। ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति होगी—यह भी स्थापित किया गया है। यह प्रश्नातीत है कि ज्ञानी की मोक्ष-सिद्धि होगी ही।

फिर कम का क्या स्थान है ? गीता मे प्रतिपादित निष्काम कर्म माग ज्ञान-प्राप्ति हेतु आवश्यक है। ज्ञान के फलस्वरूप बन्धन-मुक्त जीव (अर्थात् ज्ञानी) के आनन्द की वृद्धि कर्म फल से होगी।

> 'सर्वधर्मापेक्षा ज्ञानस्य उत्पत्तौ।
> शुभकर्मभिराधिक्यम् ॥'

ज्ञानी के कम मे ज्ञान की प्रभा चमकेगी। धम काय से ज्ञानहृता प्राप्त होगी। ज्ञान लाभ के पश्चात् धार्मिक कम "मुक्त" की आनन्द वृद्धि एव उत्कप करेंगे। साधना की प्रारम्भिक दशा मे भी कम अनिवाय है। अतिम स्थिति मे भी वह निरथक नही है।

ज्ञान के प्रमाण

ज्ञान का निश्चित स्वरूप क्या है ? उसे कैसे प्राप्त किया जाय ? इसका निश्चय होना चाहिए। ज्ञान के तीन आधार हैं—

(१) प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-ज्ञान)

(२) तक (अनुमान)

(३) वेद, शास्त्र, पुराण, महाभारत, रामायण, भागवत आदि। आचार्य जी कहते हैं—

शास्त्रार्थयुक्तानुभव प्रमाण तूत्तम मत ।
मध्यम त्वागमोऽज्ञेय प्रत्यक्षमधम स्मृत ।
प्रत्यक्षयोरागमयो विरोधे निश्चयाय तु ।
अनुमानाद्या न स्वतन्त्रा प्रामाण्यपदवीं ययु ।

(ब्रह्मसूत्र भाष्य २-१-१८)

प्रत्यक्ष अनुभव एव शास्त्रार्थ के सामजस्य से प्राप्त ज्ञान अत्युत्तम है। केवल शास्त्राध्ययन-प्राप्त-ज्ञान मध्यम श्रेणी का है। मात्र इन्द्रिय-जन्य-अनुभव से प्राप्त ज्ञान अधम है। दूसरे और तीसरे प्रकार के ज्ञान मे जब विरोध होगा तब तर्क सहायक होकर उसका निवारण करेगा। परन्तु मात्र तर्क स्वतत्र रूप से ज्ञान का साधक नही है।

ज्ञान और भक्ति का योग

आचार्यजी का प्रवर्तित भक्ति पथ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। यह ज्ञानपूर्वक भक्ति है। यह दुनिया मे सर्वव्यापक है। कर्म भगवत् प्रीति हेतु ही कर्तव्य है। 'तत्कर्म हरितोषयत् ।'

(ब्र० सू० भा० १-२ २१)

भावात्मक तन्मयता से ही श्रवण, मनन, ध्यान तथा भक्ति की साधना हो सकती है।

श्रवण मनन चैव ध्यान भक्तिस्तथैव च ।
साधन ज्ञानसपत्तौ प्रधान नान्यदिष्यते ॥

ब्रह्मसाक्षात्कार से ही परम भक्ति का उदय होगा।

भक्त्या ज्ञान ततो भक्ति ततो दृष्टिस्ततश्च सा ।
ततो मुक्तिस्ततो भक्ति सैव स्यात् सुखरूपिणी ।

'भक्ति से वेदान्त ज्ञान उत्पन्न होगा। उस ज्ञान से भक्ति विवर्धित होगी। ऐसी भक्ति से ब्रह्म साक्षात्कार होगा। उस साक्षात्कार का फल है भक्ति-वर्द्धन और मोक्ष प्राप्ति। मोक्ष से भक्ति की और भी वृद्धि होगी। इस तरह से मोक्ष की परमावस्था मे आनन्द प्रधान भक्ति की अनुभूति होगी।

प्रसाद

आचार्य जी के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान और भक्ति मोक्ष के साधन के मूल आधार हैं। इन दोनो का समन्वय तब होगा जब इसमे तीसरे अश "प्रसाद" या दैवानुग्रह" की प्राप्ति होगी। उसके बिना मोक्ष लाभ न होगा।

नारायणप्रसादमृते न मोक्ष ।

(ब्र० सू० भा० १।१।१)

अपरोक्ष ज्ञान के बिना मुक्ति लाभ सभव नही है। भक्ति मात्र से बन्धन-विमोचन होगा। इस क्रम मे "प्रसाद" ही मोक्ष प्राप्ति का अन्तिम स्तर है। वह नित्य सिद्ध एव तारक है। प्रपन्न होकर जब भक्त याचना (प्रयत्न) करेगा तभी प्रसाद लाभ होगा। वह परिपक्व साधक को प्राप्त होनेवाली सिद्धि है। अपक्व साधक 'प्रसाद" या "दैवानुग्रह" का पात्र नही होगा। साधना का सूत्र है—'अपरोक्ष ज्ञान परम भक्ति प्रसाद ।' भक्त के साधन करने पर भी मोक्ष भगवान् का वर प्रसाद मात्र है।

आदि शकर भगवत्पादाचार्य जी का सिद्धान्त है 'अनेकता म एकता' की सिद्धि। श्री मध्वाचार्य जी का मत है—'एकता मे अनेकता' का दर्शन। यह व्यावहारिक दर्शन है। अद्वैत वेदान्त तक सब की

पहुँच नही है। पर द्वैत वेदान्त बहुत लोगों को आकर्षित करनेवाला व्यावहारिक दर्शन है। एक 'हरि' को सर्वोत्तम मान कर ब्रह्माण्ड के अनेकों क्रियाकलाप सम्पन्न होंगे। अर्थात् द्वैतमत ईश्वर-केंद्रित है, व्यावहारिक है, भक्ति-दायक है, लोक हितकारी है, समस्त ससार में मगल कारक है। अत सर्वग्राह्य है।

सदर्भ ग्रन्थ सूची

कन्नड ग्रन्थ—

(१) 'श्रीमन्मध्वमत प्रसार'—श्री एन० के० नरसिंहमूर्ति, अवकाश प्राप्त प्राध्यापक मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशक प्रभा मुद्रणालय, बसवनगुडी बेंगळूर ५६०००४ (प्रथम सस्करण १९७३)

(२) द्वैत सिद्धान्त—प्रो० एस० के० रामचन्द्रराव, मैसूर वि० वि० १९६८

(३) द्वैत-वेदान्त—प्रो० एस० एस० राघवाचार (कन्नड मे अनुवाद प्रो० सी० सेतुबाई) १९८६ प्रकाशक श्री पेजावर मठ, उडुपि (दक्षिण कन्नड, कर्नाटक)

अंग्रेजी ग्रन्थ—

(४) 'विशेष-तत्व' पर अप्रकाशित पी० एच० डी० प्रबन्ध—प्रो० श्रीनिवासमूर्ति, सस्कृत प्राध्यापक,
शारदाविलास कालेज, मैसूर-५७०००४

वेदान्तदर्शन : श्रीवल्लभाचार्य

म० म०, अध्या० केशवराम का० शास्त्री
विद्यावाचस्पति

भारतीय परिभाषा मे 'वेदान्तदर्शन' से जो अभिप्रेत है वह तत्त्वदर्शन है। अग्रेजी मे 'फिलोसॉफी' और फारसी मे 'फिल्सूफी' तत्त्वत अथवा पर्याय से वही वस्तु है। 'तत्त्वदर्शन' मे 'तत्त्व' से क्या अभीष्ट है ? हम हैं, हमारे सामने और परोक्ष मे भी यह जगत् दीख पडता है। तत्त्वत इन दोनो का स्वरूप क्या है उसके बारे मे हमारी जो खोज वही 'तत्त्वदर्शन है। इस विषय की गहराई मे जाने का जब हम विचार करते हैं तो हमारे सामने यह प्रश्न आकर खडा होता है कि ये तत्त्व क्या स्वयम्भू हैं अथवा उनका कोई सर्जक है। कोई सर्जक है ऐसा हम तर्क से तो सिद्ध कर नही कर सकेंगे। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ० उ० १-२-९) यह उपनिषद्वाक्य और 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २-१-११) यह ब्रह्मसूत्र-वाक्य स्पष्ट कह रहे हैं कि सृष्टिकर्त्ता कोई तत्त्व तर्क से निश्चित किया जा सकता नही है। यही कारण है कि भारतीय आस्तिक तत्त्वविचारको ने प्रमाणो मे शास्त्रप्रमाण को सर्वाधिकता दी है। इसी कारण आचार्यवर्य आद्यशकर (ई०स० ८वी शती) ने वेदो और बादरायण के ब्रह्मसूत्रो और गीता का प्रस्थानो के रूप मे स्वीकार किया। बादरायण के ब्रह्मसूत्रो पर भाष्य लिखने वाले सभी आचार्यों ने इसी मार्ग का ही अनुगमन किया। 'अखण्ड ब्रह्मवाद' किंवा 'अविकृत परिणामवाद', पीछे से जिसकी सज्ञा उत्तरकाल मे 'शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद' प्रथित हुई उस सिद्धान्त के पुरस्कारक आचार्य वल्लभ ने एक पद आगे बढाया, जैसा कि—

'वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम् ॥
उत्तर पूर्वसदेहवारक परिकीर्तितम्।
अविरुद्ध तु यत्तस्य प्रमाण तच्च नान्यथा।
एतद्विरुद्ध यत्सर्व न तन्मान कथञ्चन ॥

(तत्त्वार्थदीप निबन्ध १-७ से ९)

—वेद, श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान श्रीकृष्ण के वाक्य, बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रो और श्रीमद्भागवत मे व्यास के समाधिभाषाका विभाग, ये चार प्रमाण हैं। पूर्व पूर्व मे जहाँ कही भी सन्देह हो वहाँ वहाँ उसके बाद का ग्रन्थ सन्देहवारक है। (यो श्रीमद्भागवत पूर्व के तीनो ग्रन्थो के सन्देहो का सर्वथा निवारक होने का श्रीवल्लभाचार्यजी ने बताया है।) इन चारो प्रस्थानो से विरुद्ध न हो ऐसा क्यो किसी ने आज भी कहा हो, वह प्रमाण है, इनको अ-प्रमाण नही कहना। न चारो प्रस्थानो से विरुद्ध बात कहने वाले क्यो न प्राचीनतम हो, जैसा कि निरीश्वर साख्य सिद्धान्त वाले, किसी भी प्रकार से वे प्रमाण नही हैं।'

इन आचार्यों ने 'वेद' से क्या कहा है ? क्या सभी मन्त्र सहिताएँ, ब्राह्मणग्रन्थ सभी, सभी आरण्यक, सभी उपनिषदें तत्त्वदर्शन के लिए उपयोग मे लेने का अभीष्ट है ? मैं समझता हू—इसका प्रत्युत्तर गीता के निम्नश्लोक से मिल जाता है—

यावानर्थं उदपाने सवत सम्लुतोदके ।
तावा सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत ॥

(गीता २-४६)

—चारो ओर पानी पानी ही भरा पडा है उसमे से तृषात को पानी पीने का ही जितना उपयोग है, सभी वेदो मे से विद्वान विचारक को उतना ही उपयोग है।

[अमर कोशकार और श्रीशकराचार्य से लेकर प्राय सभी विद्वानो ने 'उदपान' का अथ 'जलाशय' दिया है। यह तो द्वैतीयिक अथ है, स्पष्ट अभिधाथ तो 'पानी पीना' ही है। गीताकार के समय मे एव हृदय मे यह पिछला अथ ही प्रामाणिक है।]

'वेदो मे से—इतना' क्या ? इसका उत्तर खोजने के लिए दूर जाना नही पडता। बादरायण के ब्रह्मसूत्रो मे विषयवाक्यो के रूप मे जिन जिन उपनिषदो, म से उद्धरण अभिप्रेत किये हैं वे बिनसाप्रदायिक प्राचीनतम उपनिषद हैं, जैसा कि—ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य तत्तिरीय, ऐतरेय छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकि ब्राह्मण जैसे अति प्राचीन। इनमे एकमात्र श्वेताश्वरतर उपनिषद मे प्रथम बार 'हर' (१-१०), 'रुद्र' (३,-२,४,५), 'शिव' (३-११) और 'महेश्वर' (४-१०) इन शब्दो से भगवान शिव का निर्देश है। 'हिरण्यगभ' (३-४) और 'ब्रह्मा' (६-१८) इन दोनो शब्दो से 'ब्रह्मा' अभिप्रेत है। श्वताश्वतर उपनिषद जो साख्य और योग की बात कहती है वही गीता मे है। अर्थात दोनो मे 'साख्य' ज्ञानमाग के लिए है न कि साख्यवादियो के साख्यसिद्धान्त के लिए। वेशक, श्वेताश्वतर उपनिषद का पयवसान तो परब्रह्म मे ही है। या तो मुण्डक उपनिषद् मे (१-१) 'ब्रह्मादेवाना प्रथम सबभूव देवो मे प्रथम ब्रह्मा का जन्म हुआ।' ऐसा सधान मिलता है, वे ब्रह्मविद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को देते हैं ऐसा उल्लेख के लिये प्राप्त है।

सिफ ऐतिहासिक दष्टि से देखा जाय तो प्राचीन उपनिषदो मे ही जगत जीव और परम तत्त्वरूप ब्रह्म का विचार विशदता से दिया गया है। छान्दोग्य उपनिषद मे घोर आङ्गिरस के शिष्य देवकी-पुत्र कृष्ण (३-१७ ६) का उल्लेख होने के कारण प्राचीन-उपनिषदो का समय भगवान श्रीकृष्ण के समय के बाद होना चाहिये, जो ई० पू० ३००० से लेकर १५०० के बीच आता है। गीता की रचना का समय भी इसके बाद का है।

द्वैपायन व्यास और बादरायण व्यास को साप्रदायिक दष्टि से अनन्य माना जाता है, किन्तु ब्रह्मसूत्रो मे बौद्ध एव जैनादि के सिद्धान्तो का भी जिक्र मिलता है इस कारण ई० पू० पाचवी शती से भी इस बाजू ब्रह्मसूत्रो का समय आता है। गीता के तेरहवें अध्याय मे हेतुमद् ब्रह्मसूत्रो का निर्देश हुआ है, ये ब्रह्मसूत्र बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रा के पूव समय के अन्य ब्रह्मसूत्र भी हो सकते हैं अथवा गीता मे यह श्लोक बाद से आया हो। यो ऐतिहासिक क्रम से १ उपनिषदें २ गीता और ३ बादरायण के ब्रह्मसूत्र। आचाय श्रीवल्लभ इनमे चौथे प्रस्थान के रूप में श्रीमद्भागवत को कहते हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टि से तो हम दोना व्यासो को एक मानने के कारण श्रीमद्भागवत का कर्तृत्व द्वैपायन व्यास को देते हैं, किन्तु ऐतिहासिक दष्टि से देखा जाय तो विष्णुपुराण—ब्रह्मपुराण के विकास मे श्रीमदभागवत पुराण का सजन हुआ है। विष्णुपुराण ई० स० चौथी पाचवी शतियो मे आता है, जबकि श्रीमदभागवत का वतमान स्वरूप ई० स० आठवीं शती से पूव में जा नही सकेगा। इतना होने पर भी श्रीमद्भागवत का मूल्य जरा भी कम नही हाता है। अठारहो पुराणो मे यह पुराण विषयो एव प्रौढि मे अनन्य है। आचाय श्रीवल्लभ ने और इनके पूव आचाय श्रीमध्व ने श्रीमदभागवत का मूल्याकन किया, वह

तो द्वैपायन व्यास की रचना मानकर, तथापि यह मूल्यांकन समुचित ही हुआ है। पान्चरात्र सम्प्रदाय किंवा सात्वत सम्प्रदाय किंवा भागवत मार्ग के भक्ति सिद्धांतों का सुंदर स्वाद चाहिए उनके लिए एकादश स्कन्ध (अ०-६-२९) उपयुक्त होगा। निरीश्वर सांख्य से आगे बढ़े हुए सेश्वर सिद्धांत का परिचय चाहिए उनके लिए तृतीय स्कन्ध (अ० २५-२९) है, जहाँ भागवत मार्ग के सिद्धान्तों का परिचय भी सुलभ है। तत्त्वज्ञान के असरवाले विचारों का परिचय आरम्भ के श्लोक (१-१-१) और वेद-स्तुति (१० ८७) से होगा, जहाँ आचार्यश्रीशंकर के विचारों की छाया का दर्शन होगा। भागवतमार्ग से विकसी हुई अनुग्रहात्मक निष्काम भक्ति का निरूपण हमें दशमस्कन्ध (खास करके पूर्वार्ध) में आसानी से प्राप्त होता है।

श्रीमदभागवत गीता की तरह ज्ञान कर्म एवं भक्ति का निरूपण करने वाला असामान्य पुराणग्रन्थ है। इसको चतुर्थ प्रस्थान के रूप में स्वीकार करके आचार्य श्रीवल्लभने 'अविरुद्ध तु यत्तास्य' कहकर भारतीय तत्त्वज्ञान के विचारकों पर बड़ा उपकार किया है।

समग्र वैदिक साहित्य में मन्त्रसंहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक। इन तीनों के बाद उपनिषदें आती हैं। उपनिषदों में वैदिक साहित्य का अन्त होता है इसी कारण वे 'वेदान्त' ग्रन्थ हैं। फिर उनमें जो तत्त्व ज्ञान का विचार किया उसी को भारतीयों ने 'वेदान्त' संज्ञा दी। या 'भारतीय तत्त्वज्ञान' यही भारतीय वेदान्त बना और हमारे यहाँ यह वेदान्त शब्द ही अंग्रेजी 'फिलॉसॉफी' और फारसी 'फिल्सूफी' से अनन्य बना।

ऐसे हमारे 'वेदान्त' में जिनका जिक्र किया गया है वे मुख्यतया १ जगत् २ जीव और ३ परात्पर परम तत्त्वरूप ब्रह्म। आचार्य श्रीवल्लभ ने अपने ब्रह्मसूत्राणुभाष्य और अन्य छोटे मोटे ग्रन्थों में उन तीनों के विषय में जो बताया है उसका ही सार प्रस्तुत करना अब यहाँ प्राप्त होता है।

जगत्

'हमारे सामने प्रत्यक्ष जो दीख पड़ता है और परोक्ष में है ऐसा सुना जाता है वह क्या है? तुरन्त कहेंगे कि वह 'जगत्' है। उसका शब्दार्थ देखा जाय तो उसमें गतिशीलता का अर्थ है। जो सदा ही चलता ही रहता है। उसके सामने प्रतिप्रश्न होगा कि हमारे सामने जो कुछ दीख पड़ता है वह जड़ है और वह जगत है कहने से अर्थ समुचित कैसे होगा। इसका उत्तर आसान है। कोई भी पदार्थ सदा के लिए स्थिर नहीं है। आज एक पदार्थ नया अपनी आँख के समक्ष खड़ा होता है, समय बीतने पर वह घिसता जाता, नष्ट हो जाता है। यही जड़ पदार्थ की गति है। ऐसे जगत की उत्पत्ति स्वयम्भू है कि कोई उसका सर्जक होगा? भारतीय आस्तिक तत्त्वज्ञानियों ने शास्त्र प्रमाण को ही लेकर सभी प्रश्नों का निर्णय दिया है। जैसा कि 'सत्त्वेव सोम्यदेमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति (छा० उ० ६-२-२,३)—प्रथम एकमात्र 'सत्' तत्त्व था अद्वितीय ही। उसने देखा—मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात सृष्टि की उत्पत्ति करूँ। उपनिषद आगे जाकर कहती है—'तज्जलान। (छा० उ० ३-२४-१)—उसी परम तत्त्व में से जगत की उत्पति आविर्भूति होती है, उसका वह पालन करता है और आखिर में उसमें ही तिरोहित हो जाता है।' जगत सदा गतिमान है और परिणामशील भी है यह हम देखते हैं, अनुभव भी करते हैं। एक बात स्पष्ट है कि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत (गीता २-१६)—जो नहीं है उसका अस्तित्व नहीं है और जो है उसका अभाव नहीं है।' जब कि हम अनुभव करते हैं कि हरेक पदार्थ का विनाश होता ही रहता है। वह विनाश 'अदर्शन' है, अव्यक्त रूप में जड़ का अस्तित्व किसी न किसी स्वरूप में होता ही है।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ऊपर 'ईक्षण' का सकेत उपनिषद ने किया है। इसमे एक और बात भी बताई गई है, जैसा कि—"सर्वं नैव रेमे। तस्मादकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास। (बृ० उ० १ ४-३) वह कभी खेलता नही था। क्योकि वह अकेला खेलता नही है। उसने दूसरे की इच्छा की। वह इतने स्वरूप मे हो गये।" ब्रह्मसूत्रकारने लोकवत्तु लीलाकैवल्यम। (ब्र० सू०-२-१-३३)-लोक जैसा दीख पडता है वह ब्रह्म की मात्र लीला है, उसका खेल है।" उसका ही अनुवाद श्रीभागवत म "क्रीडाभाण्डमिदविश्वम्। यह विश्व भगवान् का खेलने का बरतन रूप है।" वाक्य से कहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद एक दूसरी बात की ओर ध्यान खीचती है। जैसा कि—तद्धेद तह्य व्याकृत मासीत तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते (बृ० उ० १-४-७)—वह अव्याकृत-अनाख्येय-अव्यक्त था। वह नाम और रूप से व्याकृत-आख्येय-व्यक्त होता है।"

सिद्धान्त यह है कि परब्रह्म अपने अव्याकृत रूप मे रहा हुआ जो जगत उसका आविर्भाव करता है। यही जगत की उत्पत्ति। उसमे रहे हुए पाच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल एव पृथ्वी—उनमें से अनेक विध पूर्वस्थिति म अव्याकृत—नही दीखते आकारो का सजन, उसके बाद आत्मक्रीडन और खेल पूरा करने पर उन सभी दीखते पदार्थों को वापस ले लेना, अर्थात तिरोभाव। इस प्रकार समग्र सृष्टि सारी-न-सारी चालू रहती है। बृहदारण्यक उपनिषद् आगे कहती है कि—स यथोणनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका, सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। (२-१-२०)—जैसे ऊणनाभि अपनी लाला से जाले की रचना करता है, जैसे अग्नि म से छोटी छोटी चिनगारिया निकलती हैं, बराबर उसी तरह इस आत्मा (=परमात्मा) मे से सभी प्राण, सभी लोक-जगत, सभी देवगण और सभी जड चेतन तत्त्व निकलते हैं।" वह ऊणनाभि अपनी इच्छा से वहाँ तक अपने बनाए हुए जाल म घूमता है और फिर जब खेलने की इच्छा बन्ध करना हो तब जालके समग्र तन्तुओ को अपने मुखमे वापस लेकर समाप्त कर देता है। उसी प्रकार सत् परम तत्त्व-ब्रह्म परमात्मा खेलने के लिए ही जगत की उत्पत्ति करता है याने जगत का-जगत् के सभी जड चेतन पदार्थों का आविर्भाव करता है और जब इच्छा खेल बन्ध करने की हुई तब उन सबा का अपने मे तिरोभाव करता है। आचाय श्री वल्लभ ने इस सिद्धान्त की सज्ञा 'आविर्भाव तिरोभाववाद दी है। यही जगत् की गतिशीलता है। जगत् के सजन मे बीच म माया जैसा कोई तत्त्व हो ऐसा प्राचीन उपनिषदो मे मिलता नही है। 'माया' शब्द हमे श्वेताश्वतर उपनिषद मे मिलता है वहाँ भी यह कोई मध्यवर्ती 'एजेन्ट' नही हैं। यो तो गीता म भी वह शब्द आता है वहा भी यह भगवान् की एक शक्ति ही है। छान्दोग्य उपनिषद मे श्वेतकेतु को नववार उपदेश दिया है वहा कितना स्पष्ट है? जैसा कि—"स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिद सव, तत् सत्य, स आत्मा, तत् त्वमसि (६-८-वगैरह)—जो यह सूक्ष्म मे सूक्ष्म तत्त्व है वह वही है। इस आत्मा से व्याप्त यह समग्र जगत है। वह (जगत) सत्य है वह आत्मरूप है और वह आत्मा, वही (जीवात्मा) है।" वेदान्त मे इसको महावाक्य कहते हैं। इस महावाक्य मे जडचेतनात्मक सब पदार्थों का परम तत्व परमात्मा मे समावश हो जाता है ऐसा स्पष्ट बताया गया है। वस्तुतया ब्रह्म से अतिरिक्त अलग कोई वस्तु-पदाथ-तत्व है ही नही। यही 'ब्रह्मवाद' है। समझने जैसी बात यही है कि—'सव खल्विद ब्रह्म। (छा० उ० ३-१४-१)—यह सब कुछ ब्रह्म ही है।" जगत् का आविर्भावतिरोभाव होने के कारण उसका मिथ्यात्व सवथा नही है। अर्थात परमतत्व परब्रह्म परमात्मा सत्य है। जगत उससे बाहर कही है ही नही इस कारण वह सभी स्थितियो मे ब्रह्म ही है। यहा गुजराती भक्तकवि नरसिंह मेहता का यह वाक्य उपयुक्त होगा—

'जागीने जोउ तो जगत दीसे जहीं, ऊँघमां अटपटा भोग भसे,
चित्त चतय विलस तद्रूप छे ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म पासे।

अज्ञान दशा म ही जगत् के सभी जजाल का अनुभव होता है, ज्ञानदशा म तो जगत जगत के स्वरूप में अनुभूत नही है। चैतन्य ब्रह्म का जगत के रूप म ही खेल है। सवत्र ब्रह्म ही खेल कर रहा है, सब क्रियाओ मे ब्रह्म का ही अनुभव होता है। जगत ब्रह्म का ही आधिभौतिक स्वरूप है।

पर ब्रह्म ने अपने खेल के लिए जगत का आविर्भाव किया तो उसमे साथ-साथ जीवात्माओ का भी सजन किया। जैसा कि –

तदेतत् सत्य यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्र प्रभवन्ते सरूपा।
तथाक्षराद् द्विविधा सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चवापियन्ति॥ (मु० उ० २-१)

—यह बात सच्ची है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि मे से हजारो की सख्या मे स्फुलिङ्ग एक सरीखे उत्पन्न होते हैं उसी तरह अक्षर ब्रह्म मे से दो प्रकारों के भाव (जगत एव जीव अथवा दैवी और आसुर जीव) उत्पन्न होते हैं और अन्त मे विलीन होते हैं।

अपने देहमे 'मैं' ऐसा जिसको मान रहे हैं वैसे ही जगत के सभी चेतन सत्वो मे ऐसा 'मैं' भरा पडा है। शास्त्रो मे चार प्रकारो की सृष्टि का जिक्र मिलता है। जैसा कि—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। इन सभी चेतन सत्वो मे 'मैं' भरा पडा है। वह 'मैं' ही जीवात्मा है। सभी प्रकार के जीवात्मा परम तत्व परब्रह्म-परम आत्मा के विशिष्ट स्वरूप अक्षर ब्रह्म मे दो परम तत्व खेल के लिए ही निकल आये हैं।

गीता का यह स्पष्ट विधान ध्यान मे लेना चाहिए। जैसा कि—"ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन। (१५ ७)—जीवलोक अर्थात जगत मे जीवरूप मे रहा हुआ मेरा ही सनातन अश है। ब्रह्मसूत्र का भी कहना है कि 'अशो नाना व्यपदेशात' (२-३-४३)—अनेक हैं ऐसा कहा गया है उसी कारण जीव भगवान् का अश है, जो तत्वत ब्रह्म से अभिन्न ही है।" यहाँ आदि शकराचायजी के प्रबोधरत्नाकर के इस श्लोक को भी याद करना चाहिए। जैसा कि—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाह न मामकीन सत्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्ग, क्वचन समुद्रो न तारङ्ग॥

—आत्यन्तिक भेद नही है तथापि हे नाथ! मैं आपका हू, आप मेरे नही हैं। उदाहरण—तरङ्ग, समुद्र से बना हुआ है, समुद्र तरङ्गो का बना हुआ नही है।"

पुनजन्म का सिद्धान्त गीता मे सुचारु रूप मे मिलता है। जैसा कि—

"वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही॥
(गीता २-२२)

—पुरुष जीण वस्त्रो का त्याग करके दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, उसी तरह जीवात्मा जीण शरीरो का त्याग करके दूसरे नये शरीरा का स्वीकार करता है।"

हम अच्छी तरह से जानते हैं कि जगत मे हम परमात्मा से एकात्मकता का अनुभव होता नही है क्या कारण है? परमात्मा ने एक अविद्या तत्व (अज्ञान) अपने खेल के लिए युक्त किया है, जिसकी चुगाल मे फँसा हुआ जीवात्मा (१) स्वरूप का अज्ञान, (२) अपने देह मे अहन्ता अर्थात् 'मैं' का भाव, (३) इन्द्रियो मे भी अहन्ता, (४) प्राणा मे भी अहन्ता और (५) अन्त करण मे भी अहन्ता। ये पाच

अध्यासो से जकडा हुआ जीव अपने स्वरूप का असली ख्याल प्राप्त कर सकता नही है। जीव अहन्ता और ममता से प्रसभतया बँधा हुआ है। उच्च कोटि के ज्ञान के सिवा इन अध्यासो मे से मुक्ति पाता नही है और उसी कारण बार-बार अनेक योनियो मे रिखडता है। देखिये नरसिंह मेहता का वाक्य। जैसा कि "हुँ करुँ हुँ करुँ राज अज्ञानता शकटनो भार जिम श्वान ताणे—शकट के नीचे चला आता कुत्ता मानता है कि सारे शकट के भार को मैं उठा कर चला जा रहा हू," बस उसी तरह जीवात्मा अहन्ता से और ममता से भरा पडा है। ऐसा क्यो ? इसका उत्तर परम आत्मा का लीला वैचित्र्य।

यहाँ परम आत्मा मे विविध प्रकार के जीवो के विषय मे विषमता और निघृणता का दोष आने का भय है। किन्तु जीव अपने देहो से जैसा जैसा कर्म करता है वैसा ही फल मिलता है। परम आत्मा खेल देखता है। हाँ, इतना है कि अलग रह कर नही देखता, खुद ही उन जीवो के रूप मे है। 'ब्रह्म लटका करे, ब्रह्म पासे' का यही रहस्य है। देखिये मुण्डकोपनिषद् का यह मन्त्र। जैसा कि—

ब्रह्मैवेदममृत पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्व च प्रसृत ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठम्॥

(मु० उ० २-२-११)

—सामने यह ब्रह्म है, जो अमृत है, पीछे ब्रह्म है, दाहिनी ओर बायें ओर भी ब्रह्म है। नीचे और ऊँचे ब्रह्म ही फैल रहा है, यह विश्व भी उत्तमोत्तम ब्रह्म है।" जीव का स्वरूप कितना सूक्ष्म है उस विषय मे भी उपनिषदो मे स्पष्टता मिलती है। जैसा कि—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु। भागो जीव स विज्ञेय। (श्वे० उ० ५-९)

—बाल के अग्रभागका सोवा भाग, उसका भी सोवा भाग, यह जीव जानना।" इलेक्ट्रिसिटी के करेंट की तरह उसकी शक्ति सारे शरीर मे व्याप्त है।" दूसरी भी एक बात—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाय नपुसक।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥

(श्वे० उ० ५-१०)

—यह जीव न तो स्त्री है, न पुमान्। और नपुसक भी नही है। जो जो शरीर का वह स्वीकार करता है दूसरा लिङ्ग उसका कहा जाता है।

जगत और ससार

ब्रह्म के स्वरूप के विषय मे हम आगे बढें उससे पूर्व आचार्य श्रीवल्लभ ने एकार्थक जैसे इन दोनो शब्दो का भेद बताया है वह समझने जैसा है। मजा यह है कि 'ससार' का अर्थ ससरति जो चला जा रहा है' ऐसा ही है। यही कारण है कि हिन्दी भाषा मे 'जगत' शब्द के स्थान पर 'ससार' शब्द का ही प्रचार है। यहाँ हम देखें कि वल्लभीय परिभाषा मे 'जगत' का जो स्वरूप है वह इससे पूर्व बताया गया है। अर्थात् समग्र जड चेतनात्मक सृष्टि, जिसका पर्याय 'विश्व' भी है, 'ब्रह्माण्ड' भी है। किन्तु ससार से क्या कहा जाता है ? अहन्ता और ममतावाला लोगो मे जो पारस्परिक व्यवहार है वही ससार है। यह व्यवहार कहें, सबन्ध कहें, वह बन्धन करनेवाला है। मिथ्या है वह यह 'ससार' है। जगत मे रहते हुए हम 'ससार' से ज्ञानदशा मे मुक्त हो सकते हैं। वैराग्य के मूल मे यह ससारत्याग है, जगत का त्याग नही। 'ससार' या अज्ञान से व्याप्त बुद्धि मे बनाया हुआ सम्बन्ध मात्र है। अविद्या के पाचो अध्यास छूट जाने से जगत मे ही जीवन्मुक्त बनना आसान बन जाता है।

जगत और ससार का यह भेद समझने के बाद स्पष्ट प्रतीति होगी कि 'ससार' मिथ्या है, असत्य है, बधनकारक है। इससे मुक्ति का एक ही मात्र उपाय है वह अहता ममता का सर्वथा त्याग।

अविकृत परिणाम

जगत मे हम देखते हैं कि किसी भी पदार्थ मे से दूसरा कोई पदार्थ या भाव निकला तो स्वरूप बदल जाता है। जैसा दूध का दही हाँ धातुओ के विषय मे अनेक प्रकार के घाट बनाये जायें तथापि धातुपन नष्ट नही होता है। देखिये श्रीमदभागवत का यह वाक्य—

यथा हिरण्य स्वकृत पुरस्तात् पश्चाच्च सवस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहायमाण नानापदेशैरहमेय तद्वत्॥
(भाग० ११-२८-१९)

—जैसा कि आरम्भ मे शुद्ध सुवण है और पीछे से भी सब कुछ सुवण का ही है। बीच मे अनेक नाम और रूप प्राप्त करके गहने बनाये हैं वे सभी भी सुवण ही हैं, इसी प्रकार मैं ही तीनो अवस्था मे हूँ।" सूत्रकार बादरायण ने भी अन्य उदाहरणो से यही बात बताई है। जैसा कि—"उभयव्यपदेशा त्वहिकुण्डलवत। (ब्र० सू०३-२-२७)—सप सीधा पडा हो या कुण्डलरूप मे पडा हो, वह सप ही है, उसी तरह ब्रह्म की भी बात है।" आचार्यों के अभिप्रायो मे यहाँ निगुणता की बात है, अर्थात् विरुद्ध धर्माश्रय की बात है, तथापि सर्प के दष्टा त से अविकृत परिणाम के लिए भी उदाहृत हो सके। तैत्तिरीय उपनिषद का यह वाक्य। जैसा कि—"तदात्मान स्वयमकुरुत (तै० उ० २-७)—उसने अपने आत्मा मे से ही सृष्टि की उत्पत्ति की।" और बादरायण ने सूत्र मे कहा ही है कि—"आत्मकृते परिणामात। (ब्र० सू० १ ४ २६)—जगदादि अपने आत्मा की कृति है, वे सभी परिणाम हैं।" और यही अविकृत परिणाम है। "स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत। स हैतावानास। (बृ० उ० १ ४ ३) इससे पूव जगत की चर्चा मे बताया गया है।

यहा गुजराती भक्तप्रवर नरसिह मेहता (ई० सदी १५वी शती) का वचन भी देखें—

वदे तो राम वदे, श्रुतिस्मृति साखदे, कनक कुण्डल विडोभेद होये।
घाट घडिया पछी नाम रूप जूजुआं, अन्ते तो हेमनु हेम होये॥

—उपनिषदा मे बताया गया है कि सुवर्ण और उसमे से बनाये गये कुण्डलादि गहनो मे कोई अतर नही है। अनेकानेक गहनो का आकार बनाने के कारण उनके अलग अलग नाम व्यवहार के लिए देते हैं, तथापि इस प्रकार नाम-रूप होने पर भी सुवण तो तीनो स्थितियो मे सुवण ही है।'

मैं समझता हू बृहदारण्यक उपनिषद का निम्न मन्त्र सभी शङ्काओ का निवारण करता है। जैसा कि—

पूणमद पूणमिद पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते।
पूणस्य पूणमादाय पूणमेवावशिष्यते॥
(बृ० उ० ५ १-१)

—परोक्ष मे रहा हुआ सब कुछ पूण है। प्रत्यक्ष दीख पडता सब कुछ पूण है। पूण म से पूर्ण को ले लिया जाय तथापि पूण ही बाकी रहता है।'

बात इतनी ही है कि परम तत्व—परब्रह्म मे से अक्षरब्रह्म द्वारा समग्र सृष्टि का आविर्भाव होने पर भी न परब्रह्म मे, न तो अक्षरब्रह्म मे कोई विकार होता है। तीनो परिस्थितियो मे परब्रह्म ही है।

ब्रह्म और उसके महत्व के स्वरूप

जगत एव जीव का तो हमने जिक्र कर लिया। अब रहा परम तत्व—परब्रह्म—परम आत्मा—परम ईश्वर। ये चारो सज्ञा एक की ही वाचक हैं। वे मात्र पर्याय हैं। इस परब्रह्म के तीन स्वरूप उपनिषदो मे दीख पडता है। जैसा कि (१) परब्रह्म, (२) अक्षरब्रह्म और (३) अन्तर्यामी। ये तीनो अनन्य होने पर भी अपने खेल के लिए स्वल्प धमभेद उपनिषदो मे अभिव्यक्त होता है। हम यहा अन्तर्यामी, अक्षरब्रह्म और परब्रह्म ऐसे क्रम मे कुछ विचार करें यह समझने के लिए आसान होगा।

अन्तर्यामी—मुण्डक उपनिषद मे निम्न मन्त्र आता है। जैसा कि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ (मु० उ० ३-१-१)

—साथ रहनेवाले दो हस मित्र एक ही वृक्ष मे आश्रय कर रहे हैं। उनमे से एक उस वृक्ष के ऊपर का स्वादु पिप्पल-फल खाता है और दूसरा बिना खाये टगर टगर देख रहा है।

श्वेताश्वर उपनिषद मे भी यह मन्त्र प्राप्त है (श्वे० ४-६)। प्रथम अध्याय मे 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ (श्वे० १-९) 'ज्ञ' और 'अज्ञ' ऐसे दो अना की बात आती है वहाँ 'ज्ञ' अन्तर्यामी है ऐसा स्पष्ट नही, तथापि दो अज्ञो की साथ ही बात की है अत 'ज्ञ' वह अन्तर्यामी है ऐसा कहा जा सकता है। कठोपनिषद मे "ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ छायातपौ। (कठ० उ० १-३-१)—अच्छे लोक मे स्वग और मोक्ष के सुख का पान करनेवाले छाया (अज्ञान) और आतप (ज्ञान) रूप दोना जो गुहा (हृदयाकाश) मे प्रवेश करके बैठे हैं।' वहा एक जीव है दूसरा अन्तर्यामी है। "गुहा प्रविष्टावात्मानौ तद्दर्शनात्। (ब्र० सू० १-२-११) दोनो के विषय मे कठ उपनिषद् मे स्पष्टता है, अत गुहा (हृदयाकाश) मे प्रवेश करके बैठनेवाले एक जीव और दूसरा ब्रह्म का अन्तर्यामी स्वरूप है।

समग्र जीव जात मे यो यह साक्षी-रूप एक विशिष्ट तत्व जीवात्मा के साथ रहता है जो सम्पूर्ण रीत्या तटस्थ है। श्वेताश्वतर उपनिषद के एक मन्त्र मे इस प्रकार के साक्षी-स्वरूप का दर्शन होता है। जैसा कि—

एको देव सवभूतेषु गूढ सवव्यापी सवभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सवभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निगु णश्च॥ (श्वे० उ० ६।११)

—सब प्राणियो मे रहा हुआ, सवत्र व्यापक, सभी प्राणियो का अन्तरात्मा, कर्मों पर देखभाल रखनेवाला, सभी प्राणियो मे अपना निवास करनेवाला साक्षी केवल निगु ण चेतनात्मक एक देव है।"

वहा दूसरे दूसरे मन्त्रा मे ब्रह्म के विभिन्न स्वरूप बताते समय उपयुक्त मन्त्र मे साक्षीरूप अन्तर्यामी-अन्तरात्मा का ख्याल आता है।"

बृहदारण्यक उपनिषद मे (अ०-३, ब्राह्मण ७) सारा एक ब्राह्मण 'अन्तर्यामि ब्राह्मण' सज्ञा से प्रसिद्ध है, जिसमें उस उस शरीरादि का नियम न करनेवाले और शरीरादि मे साथ रहनेवाले आत्मा अन्तर्यामी का जिक्र मिलता है। वह परब्रह्म का ही स्वरूप है, जिसका समर्थन बादरायण ने "अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्धमव्यपदेशात। (ब्र० सू० १-१-१८)—उसके धमका सूचन होने के कारण अधिदैव अध्यात्म और अधिभूत आदि मे वह आत्मा अन्तर्यामी है।"

शायद गीता मे भी—

'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुष पर॥ (गीता १३।२२)

—इस देह मे एक दूसरा परपुरुष परमात्मा कहा है, जो सभी को देखने वाला, अनुमोदन देने वाला, रक्षण देने वाला और भोक्ता महेश्वर है।'

एक बात सही है कि अच्छा काम और बुरा काम करने के लिए जब हम तत्पर होते हैं तब अच्छे का अनुमोदन और बुरे को रोकने का सकेत देने वाले अन्तरात्मा के विषय मे सभी का अनुभव है। यह अन्तरात्मा ही अन्तर्यामी सज्ञा से कहा जाता है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ साक्षीवत रहने वाला यह अन्तर्यामी परब्रह्म का आनन्दाकाश ही है, ब्रह्म के साथ एकात्मक कहें, अनन्य कहे ऐसा है। यहाँ इतना भी समझना आवश्यक है कि जगत् मे जितने जीवात्मा हैं इतने ही अन्तर्यामी हरेक जीव के साथ हरेक शरीर मे हैं। देह को जीव ने छोड दिया तो साथ साथ अन्तर्यामी ने भी छोड दिया। अन्तर्यामी निरन्तर जीव के साथ ही है।

अक्षर

जिस द्वारा समग्र सर्जनक्रिया होती है वह एक दूसरा स्वरूप भी है। गीता मे इस स्वरूप का परिचय सुलभ है। जैसा कि—

'क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

(गीता १५-१६)

—सभी भूत प्राणीमात्र (जडचेतन) 'क्षर' हैं, जबकि सब से उच्चस्थान पर विराजमान तत्त्व 'अक्षर' है।' यह दूसरी कक्षा गीता बताती है। इससे भी एक ऊपर की कक्षा है। जैसा कि—

उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत।

(गीता १५-१६)

—इन दोनो से ऊपर एक अन्य पुरुष है, जिसको 'परमात्मा' कहा जाता है।' और आगे जाकर—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम॥

(गीता १५-१८)

—मे क्षर से पर हूँ एव अक्षर से भी उत्तम हूँ, इस कारण मुझे (परब्रह्म को) 'पुरुषोत्तम' सज्ञा दी गई है।'

इस विषय मे नीचे यथास्थान 'परब्रह्म' के विषय मे बताते समय दिया जायगा। हम 'अक्षर' के स्वरूप मे विचार करते हैं तब उपनिषदो मे 'अक्षर' क्या है वह समझना चाहिये।

तैत्तिरीय उपनिषद मे मानुष-आनन्द से लेकर शत शत गुणित करते करते ब्रह्म के आनन्द तक गिनती की है (वल्ली २-८वाँ अनुवाक)। यहा जो गणितानन्द है वह परब्रह्म से निम्न कोटिका ब्रह्म है, जो कि 'अक्षर' ब्रह्म है। उसी उपनिषद मे 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम् (२-१)—ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म की प्राप्ति करता है।' यहाँ यों 'अपर' और 'पर' ब्रह्म का हमे स्पष्ट भेद मिलता है। यहाँ सृष्टि का जो विकास बताया है वह स्पष्ट रूप से 'अपर' ब्रह्म मे से है।

गीता मे 'मम योनिमहद ब्रह्म तस्मिन् गर्भ दधाम्यहम (१४-३)—महद् ब्रह्म मेरे लिये स्त्रीजननेंद्रिय रूप है। उसमे जगदादि गभ रखता हूँ।' और समग्र सृष्टि का सर्जन होता है। गीता का सारा ८वाँ अध्याय अक्षर ब्रह्म की बात करता है।

गीता के विषय मे सोचने जैसी एक बात है। इसम चार प्रकारो के विधान आते हैं। जैसा कि—गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम (अर्थात् राजगुह्य) और सवगुह्यतम। ११वें अध्याय के आरम्भ मे अजुन ने

अध्यात्म विषयक जो बात सुनी वह गुह्य कही है। अक्षर का स्वरूप बताया गया है वह गुह्य बात है। यहाँ अक्षर के विषय में कहते समय 'अक्षर ब्रह्म परम (८-३)—'अक्षर परमब्रह्म है' ऐसा कहकर आगे जाकर—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु परमांगतिम्।
य प्राप्य न निवतन्ते तद्धाम परम मम ॥

(गीता ८-२१)

—'अव्यक्त को अक्षर कहते हैं। उसको ही उपासको के लिए परम गति कही है। इस अव्यक्त पुरुष की प्राप्ति के बाद जीव का पुनजन्म नहीं होता है। वही अक्षर मेरा धाम है।'

उसी पुरुष को अनन्य भक्ति से लक्ष्य कहा है और उस अक्षर पुरुष से ही समग्र सृष्टि का विस्तार हुआ है। (८-२२) जिसका ज्ञान चाहिये वह तो अक्षर है ऐसा अर्जुन के मुख मे आता है (११-१८) आगे जाकर अजुन परमात्मा को सद् और असद् से पर अक्षर कहता है। (११-३७)।

गीता मे अक्षर और परम आत्मा-पर ब्रह्म-परम ईश्वर का पार्थक्य इतना ठोस स्वरूप मे सुलभ है कि शका रहती नही है। अव्यक्त अक्षर की उपासना का काठिन्य भी बारहवें अध्याय मे बताया गया है।

उपनिषदो मे अक्षर का स्वरूप मिलता है वह देखें। बृहदारण्यक उपनिषद मे गार्गी के प्रश्नो मे अक्षर की बात मिलती है। ब्रह्मसूत्रकार ने 'अक्षरमम्बरान्तधते (१-३-९) यह बताया है कि याज्ञवल्क्य जिस अस्थूल अनणु अह्रस्व अदीर्घ अलोहित अस्नेह अच्छाय अतमस् अवायु अनाकाश असङ्ग अरस अगन्ध अचक्षुष्क अश्रोत्र अवाक अमनस् अतेजस् अप्राण अमुख अमात्र अनन्तर अबाह्य अनश्नत ऐसे स्वरूप के 'अक्षर' को प्रस्तुत करके उसके शासन में सूयचन्द्र द्यु-पृथिवी आदि अनेक कायरत हैं ऐसा कहते हैं। यह अक्षर परब्रह्म का ही स्वरूप है।' यह सत्य बात है कि सब कुछ परब्रह्म रूप ही है। आगे जाकर ब्रह्मसूत्रो मे मिलता है कि—'अक्षर धिया त्ववरोध सामान्यतद्भावाभ्याम औपसदवत् तदुक्तम (३-३-३३)'—इस सूत्र मे अक्षर' परब्रह्म से एक कोटि निम्न है। ज्ञानमाग म सम्प्राप्ति 'अक्षर' पयन्त की है ऐसा बताया गया है 'ब्रह्मविदाप्नोति परम् (तै० उ० २-१)' वाक्य वही बात कहता है।

परब्रह्म परमात्मा-पुरुषोत्तम-परमेश्वर सृष्टि का सजन पालन एव नाश (पारिभाषिक दृष्टि से आविर्भाव, बीच मे रक्षण और अन्त मे तिरोभाव) करता है वहाँ माध्यम गणितानन्द 'अक्षरब्रह्म' है। स्वय तो अगणितानन्द है। यो हमारे सामने यह क्रम आता है। जैसा कि—
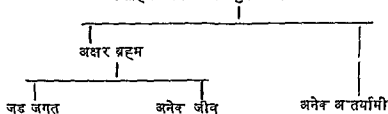
सक्षेप मे कहा जाय तो पर ब्रह्म अपने आनन्दाश को परिमित करके आदि मे अव्यक्त 'अक्षर' और 'अन्तर्यामियो को विकसित किया और आगे जाकर तथा 'क्षरात् सम्भवतीह विश्वम्। मु० उ०-१-१-७)—अक्षर ब्रह्म मे से विश्व का आविर्भाव होता है। इस वाक्य से सृष्टि की उत्पत्ति 'अक्षर ब्रह्म' से होती है ऐसा फलित हुआ। अक्षर ब्रह्म परब्रह्म का अध्यात्म स्वरूप है।

ब्रह्म

गीता मे 'मम योनिमहद् ब्रह्म' (१४-३) और 'तासा ब्रह्म महद्योनि' (१४-४) इन दोनों स्थानो मे कोई प्रकृति के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग मान रहे हैं, किन्तु सन्दर्भ से वह 'अक्षर ब्रह्म' है क्योंकि तस्मिन गर्भ दधाम्यहम्' (१४-३) और 'अह बीजप्रद पिता' से यह अकर्मण्य साख्य पुरुष नही है, किन्तु सृष्टि का सर्जक है, अक्षर ब्रह्म तो द्वार बन रहा है। अन्यत्र 'गीता ५-६,५-१९, ७-२९, ८-२, ८ ३, ८ २४,१०-१२ मे' भी अक्षर ब्रह्म दीख पडता है किन्तु—

ज्ञेय यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्वत पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च॥
बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च।
सूक्ष्मात्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत्॥
अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस परमुच्यते।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

गीता १३-१२ से १७

—जिसको जानने से अमृत अपुनर्भव (मोक्ष) मिलता है उस 'ज्ञेय' के विषय मे मैं कहूँगा। उस ब्रह्म का न आदि है, न अन्त है। वह पर है। उसको न सत कहते हैं, न असत्। चारो ओर उसके हाथ पैर आँखें मस्तक मुख कान हैं। वह समग्र जगत को घेर कर रहा है। सभी लौकिक इन्द्रियो का उसमे आभास होता है और सभी इन्द्रियो का उसमे अभाव है। कही भी उसको आसक्ति नही है एव सभी का पोषण करता है। खुद लौकिक गुणो से विहीन है तथापि गुणो का भोग करता है। सभी जडचेतन पदार्थो जीवो के बाहर भी है, भीतर भी है। फिरने वाला है स्थिर भी है। इतना बारीक है कि उसको विशेष रूप से जानना असम्भव है। वह दूर भी है, निकट भी है। चेतन पदार्थों से जुडा हुआ है और अलग हो ऐसा भी भास होता है। सभी जड-चेतन पदार्थों का पोषण करता है, वही ज्ञेय है। तिरोभाव करने वाला भी वह है और आविर्भाव करने वाला भी वही है। सभी प्रकाशमान पदार्थो का वह ज्योति है और अन्धकार से ऊपर है। वही ज्ञान है, वही जानने योग्य है। सभी के हृदयो मे वह रहा है।'

ऊपर के 'अनादिमत्पर' को 'अजादि मत्पर' ऐसा करने से ब्रह्म परमेश्वर से कम बन जाता है। ऐसा होने से सभी श्लोक अक्षर ब्रह्मपरक हो जाय, जो यथार्थ नही है। श्वेताश्वतर उपनिषद के तीसरे अध्याय मे परब्रह्म को ही लक्ष्य करके निरूपण किया है वहाँ पुरुषसूक्त के 'सहस्रशीर्षा' आदि दो मन्त्र (श्वे० उ०-३-१४ १५) देकर ऊपर के 'सर्वत पाणिपादतत्' और 'सर्वेन्द्रिय गुणाभास' ये दो श्लोक भी दिये गये हैं। यहा इस पिछले श्लोक का उत्तरार्ध 'सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्य शरण बृहत' भिन्नता है (श्वे० ३-१७) पर ब्रह्म के विष्णु धर्मामय के दो दूसरे मन्त्र भी यहाँ मिलते हैं जैसा कि—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण ।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रय पुरुष महान्तम् ॥
अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तो निहितोगुहायाम् ।
(श्वे० उ० ३-१९,२०)

—जिसको न हाथ है न पैर है तथापि गति करता है और पकडता है । आँखें नही होने पर देखता है और बिना कान सुनता है । जानने जैसी बात को वह जानता है और उसको जानने वाला कोई है नहीं । ऐसा महान पुरुष सबो का अग्रणी है । बारीक से बारीक और बडे से बडा है, ऐसा आत्मा इस जीवात्मा के हृदयरूप गुहा में रहा है ।'

श्वेताश्वतर उपनिषद मे जीवपरक और अन्तर्यामी तथा अक्षर ब्रह्मपरक मन्त्रो को बाद करने के बाद प्राय जितने मन्त्र हैं वे परब्रह्मपरक हैं। हाँ यहाँ शिव रुद्र हर जैसे नामो से साम्प्रदायिकता दीख पडती है । तथापि वर्णन तो परब्रह्म का ही है ।

शुक्ल यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के रूप मे प्राप्त ईशावास्य उपनिषद् के आरम्भ का मन्त्र 'ईशावास्यमिद सर्व यत्किचजगत्या जगत । (१)—यहा पृथिवी पर जो जगत् हम देखते है उसमे सर्वत्र निरवकाश ईश-ब्रह्म ही व्यापक है ।'

कठ उपनिषद् की दूसरी वल्ली मे 'जीव' और 'अक्षर' के स्वरूपो का विचार देते देते परब्रह्म के भी स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। 'एतद्धि एवाक्षर ब्रह्म' (क० उ०-२-१६) ऐसा कहकर न 'जायते म्रियते वा विपश्चित्' (क०-उ०-२-१८) और 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तु (क-उ०-२-१९) जीवपरक है, किन्तु 'अणोरणीयान'—(क० उ०-२-२०) से 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' (क० उ०-२-२२) तक के मन्त्र परब्रह्मपरक हैं। समग्र कठ उपनिषद मे यह विवेक रखना चाहिये ।

मुण्डकोपनिषद में—

दिव्यो ह्यमूर्त पुरुष सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परत पर ॥
(मु० उ० २-१-२)

—दिव्य, अनाकार, बाहर भी होने वाला और भीतर भी रहनेवाला, अजन्मा प्राणरहित, मनरहित और प्रकाशित जो कि अक्षर ब्रह्म के भी ऊपर है ।'

ऐसे स्वरूप का इस उपनिषद मे वर्णन आता है ।

मैं समझता हूँ—तैत्तिरीय उपनिषद मे परब्रह्म का स्वरूप लाक्षणिकता से दिया गया है। खास करके दूसरी ब्रह्मानन्द वल्ली मे अक्षर ब्रह्म और परब्रह्म इन दोनो का पार्थक्य सरलता से मिलता है। ब्रह्मविद आप्नोति परम् (तै० उ०-२-१) अक्षर ब्रह्म के स्वरूप का जिसको ज्ञान हुआ है उसको परब्रह्म की प्राप्ति होती है ।' तुरन्त—

सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म मो निहित वेद गुहायां परमे व्योमन्
सोऽश्नुते सर्वान कामान सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।
(तै० उ० २-१)

—परम आकाश मे अवकाश मे रहे हुए सत्य ज्ञानात्मक अन्त-रहित अक्षरब्रह्म का जिसको ज्ञान मिला है वह जीवात्मा विद्वान परब्रह्म के साथ रहकर सभी कामनाओ को प्राप्त करता है ।' यहा आज सृष्टि का जिस

आत्मा मे से आविर्भाव बताया है वह अक्षरात्मा है, आनन्दमय परब्रह्म के विषय मे आगे जाकर कहा गया है। (तै० ३ २ ८) 'अक्षर' गणितान द है जबकि परब्रह्म अगणितान द है।

सक्षेप मे सृष्टि की उत्पत्ति को देते कहा है कि—

'असद्वा इदमग्र अ सीत्। ततो वै सदजायत तदात्मान स्वयमकुरुत। तस्मात तत सुकृतमुच्यत इति/यद्वै तत्सुकृतम ॥ रसो वै स । रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति। (त० उ०-२-७) पहिले कुछ था ही नही (अर्थात् अव्यक्त था बाद मे सत का आविर्भाव हुआ। सत् तत्वने खुद अपने आत्मा का आविर्भाव किया। यही कारण है कि उसको 'सुकृत' (अच्छा किया) ऐसा कहते हैं अथवा वह सुकृत है। वह आत्मा 'रस' है। रस की प्राप्ति करके वह परम आत्मा आन दी हो जाता है।' वह आन द क्या है वह ८वें अनुवाक मे बताकर आन दमय परब्रह्म की सर्वोत्तमता बताई गई है।

ऐतरेय उपनिषद मे आत्मा ने देखा और सृष्टि का सर्जन करने का बताया है। जैसा कि—

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।' स इमाल्लोकानसृजत—। (ऐ० उ० १-१,२)—आरम्भ मे यह सब कुछ एक आत्मा ही था, दूसरा कुछ भी नही। उसने देखा—मैं लोको की सष्टि करूँ। उस आत्मा ने इन सभी लोगो का सजन किया—। तीसरे अध्याय मे उसी आत्मा के विषय मे जिक्र किया है।

हमारे सामने महत्व की अब दो उपनिषद उपस्थित होती हैं वे छान्दोग्य और बृहदारण्यक। दोनो अनेक तात्त्विक सवादो से भरी पडी है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने ब्रह्मसूत्रो के प्रथम अध्याय के चार पादो मे लिये हुए उपनिषद्वाक्यो मे इन दोनो उपनिषदो के विषय वाक्यो का आधिक्य है। शकास्पद वाक्यो को चुन चुन कर सूत्रों म चर्चित करके स्थापित किया है कि वे सभी वाक्य परब्रह्म परक हैं। सभी भाष्यकारो ने भी यही सिद्ध करने का ठोस उद्यम किया है।

परब्रह्म न अपने ही एक स्वरूप अक्षर ब्रह्म द्वारा ईक्षण करके एव इच्छा करके सृष्टि का आविर्भाव किया, जिसमे हेतु अपना खेल था। हम जानते हैं कि जगत मे कारण दो प्रकार के होते हैं। कुम्भकार जब मिट्टी के बरतन बनाता है तब खुद को लेकर बरतन बनाने के सभी साधन निमित्त हैं, किन्तु मिट्टी निमित्त कारण नही है, वह तो समवायी किंवा उपादान कारण है। सुवर्ण के गहने बनाने वाला सुवर्णकार और उसके सभी साधन निमित्त कारण हैं कि तु सुवर्ण समवायी किंवा उपादान कारण है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय मे तो निमित्त भी परब्रह्म है और अपने को ही जीव जगत के रूप मे रखने के कारण समवायी किंवा उपादान भी वही है। सष्टि अभिन्ननिमित्तोपादान है इसी कारण छान्दोग्य उपनिषद् मे 'सर्व खल्विद ब्रह्म। तज्जलान्। (छा० उ०-३-४-१)—यह सब कुछ ब्रह्म है। उसमे से जगत् का आविर्भाव होता है, उसमे स्थिति होती है और आखिर मे उसमे ही तिरोभाव होता है। ऐसा हो वहा ही अभिन्न निमित्तोपादान हो सकता है।

भारतीय वेदान्तियो मे एक प्रश्न सदा चर्चा का विषय बना रहा है। क्या ब्रह्म साकार है या निराकार? क्या सगुण है या निर्गुण? इसका उत्तर आचार्य श्रीवल्लभ ने बताया है कि परब्रह्म आनन्दाकार है। खुद विरुद्धधर्माश्रय है वह हमने इसे पूर्व देखा है। परब्रह्म सगुण है ऐसा कहते हैं तब तो वह अक्षर ब्रह्म है। सत्व रजस तमस तीनो गुणो का इस गौण ब्रह्म के साथ सम्बन्ध, परब्रह्म तो गुणातीत है निर्गुण से पर है परब्रह्म स्वय अपना आधिदैविक स्वरूप है।

उपसहार

भारतीय धर्म के सभी सम्प्रदायो—बौद्ध, जैन, अर्वाचीन सिख सम्प्रदायो सहित के—की प्रसन्नतम मान्यता है कि जीवो को एक देह के त्याग बाद दूसरे देह का आश्रय करना पडता है, अर्थात् सभी चेतन

प्राणियो का पुनर्जन्म होता है। गीता ने यह बात अच्छी तरह से निरूपित की है। इस प्रकार के पुनजन्म को हम क्या रोक सकते हैं? मानव प्राणी सिवा इस पुनर्जन्म को मिटाने की किसी भी अन्य प्राणी मे शक्ति नही है। मानव-जन्म म मात्र हो सकता है। वैदिककाल से आज तक अपुनर्भव के विषय मे अनेको ने गम्भीर विचार किया है। हम गीता को ही देखें। वहाँ कमज्ञान और भक्ति के तीन माग बताये गये। मैंने इससे पूव गीता मे बताई गई गुह्य गुह्यतर गुह्यतम-राजगुह्य और सवगुह्यतम पर अथवा परम गुह्य की बात प्रस्तुत की है। इसी दृष्टि से देखा जाय तो कममार्ग तो अन्ततोगत्वा बन्धन कारक है। इसी कारण गीता मे द्रव्ययज्ञो की निरथकता बताई है। फिर आता है ज्ञान माग। गुह्यमध्यात्मसज्ञितम्' (११-१) की बात पूव के ८वें अध्याय मे बताई गई ज्ञानमाग की बात है, जब कि 'इति ते ज्ञानमाख्यात गुह्याद् गुह्यतरम्' (१८-६३), जिसमे ईश्वर के शरण जाने का ज्ञान बताया गया है। इस प्रकार गुह्य और गुह्यतर बातें ज्ञानमाग की ही हैं। ९वें अध्याय के आरम्भ मे—'इद तु ते गुह्यतम—ज्ञानविज्ञान सहित—राजगुह्य (९-१,२) *। वहाँ उसको ही राजविद्या कही। १५वें अध्याय मे भी 'इद गुह्यतम शास्त्र'* (१५-२०) कहा गया है। वास्तव मे इन अध्यायो मे परम पुरुष परमेश्वर की ज्ञान का साथ रखने वाली भक्ति का प्राधान्य बताया गया है। जब हम सर्वगुह्यतम—परगुह्य-परमगुह्य की खोज करते हैं तब 'सवगुह्यतम भूय शृणु मे परमवच (१८ ६४)—मे से सर्व गुह्यतम वचन का श्रवण कर।' क्या बताया गया?

> 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
> अह त्वा सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥

(गीता १८-६५,६६)

मेरे मे मन का प्रवण कर, मेरा भक्त बन जा, मेरे निमित्त यजन कर, मुझे नमस्कार कर। मैं तुझे वचन देता हूँ कि तू मेरे पास ही आयेगा। दूसरे सभी धर्मों का—मार्गों का त्याग करके मेरा आश्रय करता रह। सभी पापो मे से मैं तेरा छुटकारा करवा दूँगा। शोक मत कर।'

यहा सव गुह्यतम बात शरण मार्ग की है, जिसमे ज्ञान का तो ठीक, माहात्म्य ज्ञानपूवक भक्ति की भी आवश्यकता नही है। आचाय श्रीवल्लभ ने गीता का द्वितीय प्रस्थान के रूप मे स्वीकार किया है और गीता मे सवगुह्यतम बात निष्काम भक्ति की होने के कारण इस प्रकार की भक्ति को केन्द्र मे रखकर अपने भक्ति माग का शरणार्थी जीवो के लिए प्रसार सोचा। आपने भक्ति का बीज उपनिषदो मे भी देखा था ही। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'स ह देवमात्म बुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये (६-१८) मोक्ष की इच्छावाला मैं अपनी बुद्धि से प्रकाश वाले उसी देव का शरण पाता हू।' यो 'शरण' मिलता है। वहा ही—

> 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवेत्तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन॥

(श्वे० उ० ६-२३)

—जिसको परम देव मे उत्तम भक्ति है, जैसी देव मे ऐसी गुरु मे है उस महात्मा को यहाँ कह गये रहस्य का प्रकाश होगा।"

बृहदारण्यक उपनिषद् मे भक्ति प्रक्रिया का भी दर्शन होता है। जैसा कि—

'आत्मा वारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य (बृ० उ० ४-५-६)—आत्मा का दर्शन (अर्थात् आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त करना), उसकी कथाओं का श्रवण करना, मनन करना और उसका ध्यान करना।' यहाँ दर्शन श्रवण मनन और ध्यान ऐसे भक्ति के चार प्रकार मिलते हैं।

अब जब हम गीता म आते हैं तब वहा भक्ति के ६ प्रकार मिलते हैं। जैसा कि—
कीर्तन—सतत कीर्तयन्तो मा (९-१४) बोधयन्त परस्पर और कथयन्तश्च (१०-९)
स्मरण—मामनुस्मर युध्य च (८ ७)
अर्चन—अर्चितु (७-२१), स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य (१८-४६)
वन्दन—नमस्यन्तश्च मा भक्त्या (९-१४)
दास्य—मत्कर्मपरमो भव (१२-१०), मा च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते (१४-२६)
अर्पण—तत्कुरुष्व मदर्पण (९-२७), मयि सन्यस्य (१८-५७)
चिन्तन—अनुचिन्तयन् (८ ८), अनन्याश्चिन्तयन्तो मा (९-२२), मा ध्यायन्त (१२-६), ध्यानयोग पर (१८-५२)
श्रीमदभागवत मे अब नवधा भक्तिपूर्ण स्वरूप मे है। जैसा कि—

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भाग ७-५-२३)

—विष्णु के श्रवण कीर्तन स्मरण पाद सेवा अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन।'

आचार्य श्री वल्लभ ने परम्परा से प्राप्त गोपाल कृष्ण को प्रधान इष्ट मानकर अपने भक्तिमार्ग का प्रचार किया। उनके हृदय मे गीता के कृष्ण का प्राधान्य था। उनको ही परात्पर परब्रह्म समझते थे। उनके हृदय मे महाभारत के कृष्ण और गोपालकृष्ण के बीच कोई अन्तर नही था। प्रथम अधिकारी जीव को निष्काम साधनभक्ति करना होता था। बाद मे योग्यता प्राप्त करके निष्काम निःसाधन प्रेमलक्षणा का अधिकारी होता था। ●

श्रीअरविंद दर्शन

डा० इन्द्र सेन

श्री अरविंद अत्यन्त रहस्यमय व्यक्तित्व हैं। उनके जीवन के मर्म के लिये हमें उनकी अन्त:प्रेरणा को खोजना पड़ता है। बाहर से बाह्य व्यवहार में हमें उनके जीवन का सार नहीं मिलता। शिक्षा उनकी सारी विदेश में हुई और भारत में लौटने पर उनकी जिज्ञासा संस्कृत भाषा का अध्ययन, संस्कृत साहित्य का अवगाहन, भारतीय जीवन का मर्म आदि उपलब्ध करने की हुई। यही उनके अन्दर उत्तरोत्तर विकसित होते गये, और उनके जीवन की गम्भीर अन्त:प्रेरणा बने।

भारत में लौटने पर उनकी प्रथम प्रेरणा, व्यक्त रूप में, राजनीति हुई। देश पूर्णतया एकात्म होना चाहिये, यह उनकी अन्दर की उत्कट प्रेरणा थी। और इसीके लिये वह कर्म रूप में प्रवृत्त थे। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में वे पूर्णतया राजनीति के आन्दोलन में आ गये। १९०९-१० में एक वर्ष अलीपुर बम केस में वे जेल में रहे। जेल का समय उनके जीवन को अन्तिम दिशा देनेवाला बना। वे राजनीति से आध्यात्मिक भाव और जिज्ञासा में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गये। आध्यात्मिक सत्य ही फिर उनकी गवेषणा का एकमात्र विषय बन गया और वे पांडिचेरी में आकर योग में लीन हो गये।

अध्यात्म अब उन्हें जीवन का सार लगने लगा। और यही भारतीय जीवन का बल था। इसीमें मानव विकास निहित है। उनकी आस्था का यही स्वरूप था। और यही उत्तरोत्तर विकसित तथा परिपुष्ट होती गई। वे, वर्तमान समय में, अपनी आस्था तथा प्रवृत्ति में उपनिषदों के ऋषियों की याद दिलाते हैं। इङ्गलैण्ड में रहते हुए योरुप के बहिर्मुखी वातावरण में पले पुसे, पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति में रमे हुए, वे गम्भीर भाव में अन्तर्मुखी रूप में, आत्म-जगत् की विभूतियों में संलग्न थे। उपनिषदों के ऋषियों की भी आस्था-प्रवृत्ति ठीक यही थी। अन्तर यह था कि श्री अरविंद फिर भी देश की स्वतन्त्रता चाहते थे, परन्तु अब आध्यात्मिक साधनों से। और मानव, विकास अध पशु भाव से देव भाव को प्राप्त हो, अथवा उस दिशा में अग्रसर हो। ये दो अंग उनकी आध्यात्मिक दृष्टि में नये थे। परन्तु आध्यात्मिक स्तर ही प्रधान तथा आधारभूत है, यह उपनिषद के ऋषियों और उनमें समानता थी। अपने अन्तर्जगत् की खोज में वे इतने तल्लीन थे कि बाह्य सम्पर्क अत्यन्त सीमित थे। रहते तो वे शहर में, एक साधारण मकान के एक साधारण कमरे में, साधारण मनुष्य की तरह, परन्तु मानो वे उपनिषदों के ऋषियों की तरह वन में ही रह रहे हों। उनके देश और जगत के समाचारों से सतत सम्बन्ध थे, और आश्रम के साधकों के प्रश्नों में भी पूरी संलग्नता रखते थे।

मानव, समाज तथा मानवता में आध्यात्मिक भाव जाग्रत हो, यह इनके जीवन का उद्देश्य था। ठीक इस उद्देश्य से प्रेरित श्री माता जी १९१० में अद्भुत प्रेरणा के अधीन परिस से आकर इनसे मिलीं और अनुभव किया कि श्री अरविंद के साथ मिलकर यह आध्यात्मिक जागृति का कार्य करना है। तब

उन्होंने निश्चय किया कि यहीं भारत में यह काम करना होगा। फिर १९२० में जो बार आकर वे यहीं स्थिर भाव में रह गई और १९२६ में आश्रम का कार्य नियमित रूप से शुरू हो गया।

दर्शन, योग और काव्य

१९१० में श्री माता जी की ही प्रेरणा से 'आर्य' मासिक पत्रिका शुरू हुई। इसी में धारावाहिक रूप में श्रीअरविंद का ग्रन्थ "दिव्य जीवन" प्रकाशित हुआ। इसमें उनका दर्शन विशद रूप में प्रस्तुत है। ग्रन्थ १००० पृष्ठ से ऊपर है।

इसीके साथ-साथ "आर्य" में श्रीअरविंद का योग प्रकाशित है। यह उनके योगमार्ग का प्रतिपादन करता है। इसका नाम है योग समन्वय। इसमें उन्होंने अनेक विध साधन शैलियों को समन्वित कर वर्तमान समय के लिए एक सर्वांगीण शैली का निर्माण किया है। इन दो प्रधान ग्रन्थों के साथ साथ और भी कई ग्रन्थों की रचना हुई, 'मानव समाज का विकास', 'मानव एकता का आदर्श', 'भावी कविता' आदि। उनका महाकाव्य 'सावित्री' नामक ग्रन्थ, जिसका संदेश भी अमर जीवन है, बहुत पीछे सम्पूर्ण हुआ।

श्री अरविंद के दर्शन का सार "दिव्य जीवन" है। दिव्य जीवन का उद्देश्य जो कि अमर जीवन की प्राप्ति है, योग मार्ग का ध्येय है। यही ध्येय काव्य रूप में 'सावित्री' में दिया है। इस ग्रंथ का थोड़ा परिचय अभीष्ट है।

इस ग्रंथ के प्रधान दो खंड हैं। पहले खंड का प्रधान विषय है 'सर्वगत सद्वस्तु और विश्व'। इसके अधीन २८ अध्यायों में व्यापक सत्ता तथा विश्व के विभिन्न प्रश्नों का विवरण है। प्रथम अध्याय का विषय है 'मानव जिज्ञासा' जिसका प्रधान विचार है "ईश्वर, ज्योति, स्वातन्त्र्य, अमरत्व—ज्ञान का यह आदि सूत्र ही उसका अंतिम सूत्र अभिलक्षित होता है।" इन २८ अध्यायों में ये विषय आये हैं चेतन और अचेतन, सार्वभौम सत्ता, मानव और विश्व, अहं और इसके द्वन्द्व, सच्चिदानन्द का स्वरूप, अतिमन, मन, जीवन और जड़ तत्त्व, इनमें उतार और चढाव, अविद्या का स्वरूप, माया आदि। इस खंड में श्रीअरविंद की पूरी दार्शनिक दृष्टि आ गई है। दूसरे खंड इसीके कुछ अंशों का विस्तार है। दूसरे खंड का प्रधान विषय है "विद्या एवं अविद्या आध्यात्मिक क्रम विकास।" इसमें ज्ञान और अज्ञान के विभिन्न प्रश्नों का विशद निरूपण है। और अंत में लगभग ५०० पृष्ठों में वैयक्तिक और सामूहिक मानव विकास का विस्तृत निरूपण है। मानव विकास की अंतिम सीढ़ी है दिव्य जीवन। अर्थात मानव-जीवन दिव्य भाव से तभी प्रेरित होने लगेगा। किन्तु वर्तमान समय में मानव जीवन को स्वार्थमय अहं चेतना प्रचालित कर रही है। यह परिवर्तन तभी सम्भव हो सकेगा जबकि विश्व सत्ता में चेतन भाव का विकास अचेतन भाव पर विजय प्राप्त कर लेगा। परन्तु यह कैसे हो पाएगा। ग्रंथ में अन्तिम पृष्ठों में ये वाक्य हैं "आवश्यक यह है कि मानव जाति में इस परिवर्तन के आदर्श की ओर दृष्टि मुड़े, उसका अनुभव थोड़े से या बहुत सारे लोगों को हो, उसकी अनुल्लंघ्य आवश्यकता अनुभूत हो, उसकी सम्भावना का बोध हो, उसे अपने अन्दर सम्भव करने और मार्ग पाने की इच्छा हो। वह प्रवृत्ति अनुपस्थित नहीं है और मानव जगत की नियति में संकटावस्था के तनाव की वृद्धि के साथ साथ यह प्रवृत्ति भी अवश्य बढ़ेगी, किसी निष्कृति या समाधान की आवश्यकता, यह भावना कि आध्यात्मिक समाधान के अतिरिक्त अन्य समाधान नहीं है संकटापन्न परिस्थिति की गुरुता के सामने वर्द्धित और अधिक अनिवार्य हुए बिना न रहेगी।'

'दिव्य जीवन' चेतन-अचेतन के संघर्ष से शुरू होता है। उत्तरोत्तर, चेतन भाव के विकास को स्पष्ट करता है और अंत में चेतन भाव की विजय की आशा पर निर्भर करता है।

ठीक यही क्रम उनके योग-मार्ग का है। व्यक्ति साधन द्वारा अपने अन्दर चेतनांश को विकसित करे। यह क्रम समाज में विस्तारित हो और समाज समष्टि भाव में विकास लाभ करे। उनके 'योग समन्वय' के ये वाक्य पथ-प्रदर्शक हैं "इस शब्द से हमारा मतलब सत्ता में प्रसुप्त क्षमताओं की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्म-परिपूर्णता के लिये किया गया विधिबद्ध प्रयत्न और मानव व्यक्ति का उस विश्वव्यापी और परात्पर सत्ता के साथ मिलन हैं, जिसे हम मनुष्य और विश्व में अंशतः अभिव्यक्त होता हुआ देखते है।" उनके काव्य ग्रंथ का भी यही लक्ष्य है। 'सावित्री' जब सत्यवान को पुनः जीवित करती है, तो कहती हैं—

> 'To lead man's soul towards Truth and God we are born
> To draw the chequered scheme of mortal life,
> Into some semblance of the Immortal's plan
> To shape it closer to an image of god,
> A little nearer to the Idea divine' (Savitri, 1994 809)

> "हम मानव आत्मा को सत्य के तथा
> प्रभु के प्रति जगवाने को आये हैं,
> और मर्त्य जीवन की रंग विरंगी
> एक योजना को अमर योजना के
> अनुरूप बना देने को आये हैं,
> और उसे 'प्रभु' प्रतिमा के समीप तक
> गढ़ औ' रच देने के हित आये हैं" (विद्यावती 'कोकिल')

इस प्रकार 'दिव्य जीवन' 'योग समन्वय' तथा 'सावित्री' महाकाव्य एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित हैं।

जगत् चेतना का क्रमिक विकास है। ईंट, पत्थर, वनस्पति, पशु और मानव, इस विकास के क्रम हैं, जो प्रत्यक्ष पहचाने जाते हैं। परन्तु मानव तो अपूर्ण ही है तथा विकसनशील है। क्या मानव से उच्चतर प्राणी इस विकासक्रम का ध्येय नहीं दीखता। इस विकासक्रम में नीचे तो जडतत्व है और ऊपर सर्वचेतन भगवान होंगे। सर्वचेतन की सत्ता भी स्पष्ट इंगित करती है, सारा सृष्टि क्रम भी उधर ही प्रवृत्त है। वर्तमान मानव अहंरूप है तथा द्वन्द्वग्रस्त है परन्तु उसमें एकत्व भाव की जिज्ञासा मौजूद है और इसके लिये वह यत्नशील है। मन से अतिमन का विकास भी दीखता है। ऐसा हमारा जगत और जीवन गतिशील है और अनेकविध उतार-चढ़ावों द्वारा युगों में आगे ही बढ़ रहा होगा। इसका आकर्षण सर्वचेतनसत्ता है। परन्तु मानव अब सजग व्यक्ति है जो चेतनतापूर्वक सारे क्रम को समझ कर इसे योगदान दे सकता है तथा विकास क्रम को द्रुततर गति दे सकता है। साथ ही अहंभाव में अधिक पड़ कर गति को मन्द भी कर सकता है। यह समग्र सत्ता की समग्र दृष्टि ही श्रीअरविंद का दर्शन है।

दर्शन की आधारगत चरितार्थताएँ

इसका विशद विस्तार उनका दर्शन शास्त्र है। परन्तु इसके मूल आधार में उनकी आध्यात्मिक चरितार्थताएँ हैं, जिससे श्रीअरविंद को जगत और जीवन के बारे में यह दृष्टि प्राप्त हुई इस विषय के उनके अपने शब्द ये हैं। श्रीअरविंद ने कुछ भ्रांतियों का निराकरण करते हुए लिखा था।

'Sri Aurobindo had already realised in full, two of the four great realisations on which his Yoga and his spiritual philosophy are founded The first he had gained while meditating with the Maharashtrian Yogi Vishnu Bhaskar Lele at Baroda in January 1908, it was the realisation of the silent, spaceless and timeless Brahman gained after a complete and abiding stillness of the whole consciousness and attended at first by an overwhelming feeling and perception of the total unreality of the world, though this feeling disappeared after his second realisation which was that of the cosmic consciousness and of the Divine as all beings and all that is, which happened in the Alipore jail and of which he has spoken in his speech at Uttarpara To the other two realisations that of the supreme Reality with the static and dynamic as its two aspects and that of the higher planes of consciousness leading to the Supermind he was already on his way in his meditations in Alipore jail'

(Sri Aurobindo on Himselfs and on the mother 1955, P 107-8)

"जो ऐसी दतकथाए फैलाते है वे इस वात से अनभिज्ञ जान पडते हैं कि उस समय श्रीअरविंद आध्यात्मिक नौसिखुए नही थे, न ही उन्हे किसी व्यक्ति से किसी प्रकार की दीक्षा की या आध्यात्मिक मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। जिन चार महान् अनुभूतियो पर उनका योग एव आध्यात्मिक दर्शन प्रतिष्ठित हैं उनमे से दो श्रीअरविंद पहले से ही पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुके थे। पहली उन्हें तब प्राप्त हुई थी जब वे जनवरी १९०८ मे वडौदा मे महाराष्ट्रीय योगी विष्णु भास्कर लेले के साथ ध्यान कर रहे थे। यह देशकालातीत शात ब्रह्म की अनुभूति थी जो समग्र चेतन को पूर्ण और स्थायी रूप से निश्चल करने के अनन्तर उपलब्ध हुई थी। आरम्भ मे इसके साथ-साथ उन्हे इस बात का भी एक प्रबल भान एव अनुभव हुआ कि यह जगत पूर्णतया मिथ्या है, यद्यपि दूसरी अनुभूति के बाद वह भान लुप्त हो गया। वह दूसरी अनुभूति विश्व चेतना की थी। उन्हे अनुभव हुआ कि सभी प्राणी और जो कुछ भी यहाँ है वह सब भगवान ही हैं। यह घटना अलीपुर जेल की है और इसकी चर्चा उन्होने अपने उत्तरपाडा के भाषण मे की थी। शेष दो अनुभूतिया ये हैं कि एक परम सद्वस्तु है जिसके निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म दो पक्ष हैं, और दूसरे, चेतना के एक से एक ऊँचे स्तर हैं जो अतिमानस की ओर ले जाते हैं। अलीपुर जेल मे ध्यान करते हुए वे इन दोनो अनुभवो की ओर वढ चले थे।"

इन चार-चरितार्थताओ अथवा आधारभूत आध्यात्मिक अनुभूतियो को एक बार फिर कह दें। प्रथम है निष्क्रिय एव निर्गुण ब्रह्म की, दूसरी है वैदिक चेतना ब्राह्मी चेतना के रूप मे, तीसरी है ब्राह्मी चेतना के दो रूपो की, सक्रिय और निष्क्रिय, चौथी मन के ऊपर के अतिमन तक चेतना के स्तरो की। इन चार चरितार्थताओ पर उनका दर्शन तथा योग आधारित हैं।

भारत की परम्परा मे ऐसी चरितार्थताए अथवा आधारभूत अनुभूतियाँ व्यक्ति की दार्शनिक दृष्टि को निर्धारित करती हैं। शकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के आधार मे प्रतिष्ठित है उनकी चरितार्थता "ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या", ब्रह्म सत्य है जगत मिथ्या है। ब्रह्म निष्क्रिय और निर्गुण है। इससे भिन्न श्रीअरविंद की तीसरी चरितार्थता ब्रह्म को सक्रिय तथा निष्क्रिय दोनो रूपो मे पाती है। जगत उनके लिये फिर ब्रह्म का क्रिया रूप बन जाता है। यह भगवान की लीला है, अभिव्यक्ति है, मिथ्या नही। फिर मन से अतिमन का विकास क्रम जगत् और ब्रह्म मे सम्बन्ध जोड देता है जिसके अभाव मे जगत का

समाधान कठिन पड जाता है। मन विभक्त चेतना है, ब्रह्म एकत्वमय है, इनमे मेल कैसे बने ? जगत् फिर सहज ही अनिर्वचनीय हो जाता है। पश्चिम की दार्शनिक परम्परा भिन्न है। वहाँ व्यक्ति सामान्य अनुभव पर विचार करता है और प्रत्यक्ष से परोक्ष के अनुमान लगाता है। फिख्टे एक बडा जमन दार्शनिक हुआ है। उसने कहा है कि मुझे किसी विचारक का चरित्र बता दो तो मैं उसके दर्शन का स्वरूप बतला दूँगा।

पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक परपराए

भारत की परम्परा से किसी दार्शनिक की आधारभूत आध्यात्मिक अनुभूति उसके दर्शन से निर्धारित होती है। श्रीअरविंद और शकराचाय की मौलिक अनुभूति उनके दर्शन की दिशा दिखा देती है। उन अनुभूतियो का विस्तारपूर्ण निरूपण बेशक बुद्धि का काम है। परन्तु पश्चिम की परम्परा मे शुरू से अन्त तक बुद्धि सक्रिय होती है। उसमे आध्यात्मिक अनुभूति के लिये कोई स्थान नही। बेशक स्वभाव, प्रकृति, अभिरुचि तो अज्ञात रूप मे प्रभावित करते ही हैं।

दर्शनो का मूल्याकन एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। श्रीअरविंद और शकराचाय के दर्शनो मे निर्णय करना, अथवा हेगल और शोपनहाउर मे अथवा पूव और पश्चिम के दर्शनो की तुलना कैसे की जाय ? व्यक्तित्व की भावना एक निर्धारक है, समय की सस्कृति की अवस्था एक और निर्धारक है, फिर पूव इतिहास एक और। पर इन सबमे व्यक्तित्व की भावना तथा प्रवृत्ति विशेष होती है।

मानव का व्यक्तित्व

मानव-व्यक्तित्व अत्यन्त समृद्ध वस्तु है। इसके मन, प्राण, शरीर सामान्य अग हैं। परन्तु इनकी भी वृत्तियाँ अनेक विध हैं और वे अपना-अपना सन्तोष माँगती हैं। सच्चे विकास के लिये मानव के स्वभाव का आदर करना होता है और उसे निजी अनुभव द्वारा अग्रसर होने का अवसर देना होता है। तभी मानव नए जीवन-पक्षो को उपलब्ध करता तथा उनमे विकसित होता है। मन, प्राण, शरीर से गठित व्यक्तित्व भी अनेक हैं। और वस्तुत इनके साथ व्यक्तित्व मे अनेक अग प्रच्छन्न रूप में इन्हें प्रभावित करते हैं। ये प्रच्छन्न भाग ये हैं, अन्तरात्मा, उच्चस्तरीय चेतनाएँ, उच्चतर मन, प्रबुद्ध मन, अन्तदृष्टि, अधिमन, अतिमन तथा सच्चिदानन्द। ये सब उच्चस्तरीय चेतनाएँ हैं जो थोडा बहुत अपना प्रभाव डालती रहती हैं।

इनके अतिरिक्त निम्नतर चेतनाएँ अर्थात अवचेतनाएँ, वैयक्तिक तथा सामूहिक, हम प्रभावित करती रहती हैं। इस प्रकार हमारा व्यक्तित्व बहुत ही सश्लिष्ट तथा समृद्ध वस्तु है, जो भिन्न भिन्न समयो पर भिन्न भिन्न तत्त्वो के अनुभव उपलब्ध करता है। और धीरे धीरे व्यापक रूप मे सचेतन बनता जाता है।

समग्र सत्ता का स्वरूप

जैसे मानव समृद्ध वस्तु है और धीरे-धीरे समग्र चेतना को उपलब्ध करता है, ऐसे ही समग्र सत्ता अथवा सत्य अत्यन्त समृद्ध तत्व है। और यह भी मनुष्य को धीरे धीरे भिन्न-भिन्न पक्षो मे उपलब्ध होता है। अत सत्य और सत्ता अत मे एक ही हैं। परन्तु मनुष्यो को वे धीरे-धीरे, उनकी माँग के अनुसार, जो उनके विकास की स्थिति पर निभर करती हैं, अलग-अलग रूपों मे प्राप्त होते हैं और वही रूप उनके लिये उपयुक्त होते हैं।

दर्शन मेरे लिए उपयुक्त वह है जो मुझे प्रेरित करे और मेरे विकास के अनुरूप हो।

इसलिए दर्शनो की तुलना हम करनी होगी—हमे देखना होगा कि व्यक्तित्व के किस भाग से काई दर्शन प्रेरित हुआ है तथा किस भाग को वह प्रेरित करता है। थोडी अथवा अधिक मान्यता हम सभी दर्शनो को देनी होगी।

हम किसी भी दर्शन को सत्य या असत्य नही कहेंगे। बल्कि यह कहेंगे कि यह इस प्रकृति के लिये उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त है।

जगत क्या है ?

दर्शन का मुख्य प्रश्न सदा यह होता है कि यह जगत् अथवा जीवन क्या है ? श्रीअरविंद का कहना है कि जगत् और जीवन विकासक्रम का स्वरूप हैं। जगत मे जडतत्व, वनस्पति, पशु और मनुष्य इन तीन स्तरो को प्रदर्शित करते हैं। मानव जीवन समष्टि-भाव मे भौतिक-प्राणिक जीवन तथा मानसिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन प्रस्तुत करते हैं। व्यष्टि रूप मे भी मानव बाल अवस्था म भौतिक-प्राणिक रूप है। फिर धीरे-धीरे मन का विकास होता है। प्रौढ व्यक्ति मे मन सशक्त रूप म प्रकाश म आता है। जो व्यक्ति आत्म-भाव की जिज्ञासा करते हैं और आत्म भाव को उपलब्ध करते हैं वे अद्भुत शाति तथा आनन्द का उपभोग करते दीखते हैं।

यह क्रम विकास विकास की उपलब्धि का क्षेत्र है। विकास अपने आप मे अद्भुत आनन्द का विषय है। मानव के बच्चे को रोज रोज नई नई बात सीखना कितना अच्छा लगता है। प्रौढ व्यक्ति को भी नई शक्ति उपार्जित करना, अधिक धन कमाना कितना अच्छा लगता है।

इस विकास क्रम मे जब कभी विशेष विघ्न आता है तब वह दुख मानता है। परन्तु प्रयत्न म लगे रहने पर जब वह उपयुक्त विकास लाभ करता है तो उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता है। इसमे सन्देह नहीं कि विशेष कठिनाई मे वह हतोत्साह भी हो जाता है और जीवन उसे असह्य हो जाता है। परन्तु सामान्य रूप मे कठिनाई मानो उत्साह की प्रेरक होती है और विकास और कठिनाई पर विजय पाना आनन्द का विषय है। यदि यह न होता तो जीवन सदा आगे कैसे चलता रहता।

मानव ससीमता से असीमता की ओर अग्रसर हो रहा है। यह निम्न प्राणियो से अधिक शक्तिशाली है, परन्तु उसकी शक्ति सीमित है। वह अधिकाधिक शक्तिमत्ता की ओर अग्रसर हो रहा है। दुख, शोक, व्याधि, जरा, मृत्यु सब शक्ति की ससीमता के परिणाम हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है।

परन्तु प्रश्न उठेगा कि सृष्टि के रचने वाले ने ऐसी अपूर्ण अधूरी सृष्टि क्यो रची ? बच्चों के सामने हम जान-बूझ कर ऐसी पहेली-रूप स्थिति रखते हैं और वे इसकी माँग करते हैं और समाधान खोजने मे आनन्द मानते हैं। इसमे सन्देह नही कि कुछ बच्चे एक पहेली अत्यन्त सरल पाते हैं, कुछ उसे प्रेरणादायक मानते हैं और कुछ असम्भव भी अनुभव करते हैं। इस प्रकारसे यह हमारा जगत् भगवान् का एक प्रयोग है। इसके अतिरिक्त और जगत् भी हैं। और श्रीअरविंद का कथन है कि आत्मा स्वेच्छा से इस जगत् के अनुभव के लिये इस जगत मे आई। उनके वचन हैं

> "Earth is the choser place of mightiest souls,
> Earth is the heroic spirit's battle field,
> The forge where the Arch-mason shapes his works"

(Savitri, P 770)

पृथ्वी तो धीर-धीर आत्माओ का ही इक अपना चुना हुआ प्रदेश है,
पृथ्वी तो धीर धीर आत्माओ का अपना चुना हुआ इक कुरुक्षेत्र है,
और कर्मशाला है कि विश्वकर्मा, जहाँ स्वकर्मों का स्वरूप गढता है।

(विद्यावती 'कोकिल)

इस जगत और जीवन का यह प्रथम सत्य है जिसे अनुभव करने से हमारी धारणा अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। और हम यह चिन्ता नही करते कि जगत् कैसा है और जीवन कैसा है, न ही इसमे दुःख मानेंगे। बल्कि यह प्रेरणा अनुभव करेंगे कि इस जगत् मे बल उपार्जित करके हम अमर तथा बलशाली बन जायेंगे।

श्रीअरविंद दर्शन है ही, अचेतन पर चेतन की उत्तरोत्तर विजय का दिग्दर्शन। मन से अतिमन तक विकास उत्तरोत्तर अचेतनता पर विजय प्रस्तुत करता है। मन से उच्चतर मन, फिर प्रबुद्ध मन, फिर अन्तर्दृष्टियुक्त मन, फिर अधिमन और अन्त मे अतिमन, जिससे मानव पूर्ण चेतन भाव को उपलब्ध करेगा।

सृष्टि के रचयिता ने यह जगत् अचेतन से चेतन के विकास मे प्रयोग के रूप मे रचा। इसका उद्देश्य है एक असीम विकास-क्रम का अनुभव प्रस्तुत करना। ब्रह्म जो कि पूर्ण चेतन है सकोच की क्रिया से अपने अन्दर जड तत्व को पैदा करता है। वह जड तत्व मे प्रच्छन्न भाव म मौजूद है। फिर उसमे से धीरे धीरे वह प्रकाश में आता है। यही विकास है। इससे आत्माओ को अज्ञान का अनुभव प्राप्त होता है और इस अनुभव से युक्त होकर अन्त मे वह फिर ब्रह्म-भाव को प्राप्त होती है। इसे श्रीअरविंद Taste of Ignorance अविद्या का आस्वाद कहते हैं। हम लोग मृत्युलोक म अज्ञान का अनुभव प्राप्त करने के लिये स्वेच्छा से आये हुए हैं। अपने इस सकल्प को हमे प्रसन्नतापूर्वक पूरा करना चाहिये।

अविद्या का स्वभाव

इस प्रकार से अविद्या भगवान की दया का रूप है। इससे हम शक्तिमत्ता को प्राप्त करते हैं। दुःख, व्याधि, जरा, मृत्यु अन्त मे अमरत्व और शक्तिमत्ता के साधन हैं और ये परिणाम हमारी चेतना के ससीम भाव के हैं।

यह जीवन-दृष्टि अपने अनुभव मे परख कर देखनी चाहिये और यदि यह सत्य प्रतीत हो तो इसे फिर मनन-निदिध्यासन द्वारा चरितार्थ करना चाहिये और उस अवस्था मे निवास करते हुए उत्साहपूर्वक जीवन-यापन करना चाहिये।

वर्तमान योरुप म आज एक सिद्धात चल रहा है जो जीवन मे चिंता को अन्तिम मान रहा है। परन्तु चिंता तो अह की वस्तु है, आत्मा तो सहज आनन्द मे रहती है।

भारत मे आत्मा और आत्मा का आनन्द ऐसे दुर्लभ नही। चिंता को अन्तिम मानना यहाँ कठिन है।

दर्शन, धर्म और सस्कृति का केन्द्रीय तथ्य है। उपरोक्त दर्शन अपने अनुरूप धर्म और सस्कृति का सृजन करेगा। उपनिषदो ने दार्शनिक भाव को प्रस्तुत किया। जो युगो के लिये प्रेरणा बनी, धर्म और सस्कृति दोनों के लिये।

उपनिषदो का समय दार्शनिक भाव मे अत्यन्त सृजनशील रहा है। उस दर्शन ने फिर धर्म और सस्कृति को अनेकविध प्रेरणाएँ दी हैं जिससे भारतीय जीवन मे नई नई समृद्धता उत्पन्न हुई।

परन्तु साथ ही अनेक नई जडताएँ भी बनती रही जो जीवन मे विकसनशील भाव को कम करती गई हैं।

देश की स्वतन्त्रता के बाद हमे जीवन मे धर्म और संस्कृति मे नव-सृजन का अवसर मिला है। बाह्य प्रभावो के कारण अनेक अच्छे-बुरे परिवर्तन आ रहे हैं। परन्तु विवेकपूर्ण परिवर्तन लाना और बात है।

आश्रम भारत के इतिहास मे सांस्कृतिक प्रयोगशाला रहे हैं। यहाँ नए मानदंड प्रयोग मे लाये जाते थे और फिर समाज मे वे विस्तारित हो जाते रहे हैं, श्रीअरविंद की एकमात्र प्रेरणा थी जीवन का नव निर्माण। श्रीअरविंद आश्रम की कल्पना ही यह थी कि यहाँ देश की अथवा संसार की संस्कृतियो का प्रयोग किया जाय और वे मानव-समाज का पथ-प्रदर्शन करें। इस दिशा मे पांडिचेरी आश्रम से अनेक संस्कार विस्तारित होते रहे हैं।

उपरोक्त श्रीअरविंद-दर्शन भारत का पथ प्रदर्शन करता है इससे देश के धर्म तथा संस्कृति मे अनेक संशोधन करने की आवश्यकता है। सार रूप मे यह दर्शन है, इसके अनुसार कर्म, सिद्धांत, पुनर्जन्म, जात पात म कुछ परिवर्तन करने होंगे। ये परिवर्तन सजगतापूर्वक तथा ज्ञानपूर्वक करने से हम सबल रूप मे सृजनशील भाव मे आ जायेंगे।

समय समय पर मानव को नया दर्शन चाहिये तथा नया योग भी। जीवन की धारा को सतत रूप मे स्थिति के अनुसार दर्शन तथा योग अपनाने ही चाहिये।

श्री अरविंद का संदेश

अंत मे हम श्रीअरविंद-दर्शन को उनके सन्देश के रूप मे यो कह सकते हैं —

श्रीअरविंद का निज स्वरूप परम देशभक्त, महायोगी, महादार्शनिक, महाकवि तथा अद्भुत युग-प्रवर्तक का स्वरूप है। वे देश को सचेत, सजीव माता के रूप मे अनुभव करते थे और उसके दुःख, शोक और ह्रास को अपना दुःख, शोक और ह्रास समझते थे। देश की स्वाधीनता उनके पुरुषार्थ का प्रथम लक्ष्य था, देश और देशवासियो के सुख के लिये तथा मानव मात्र के आध्यात्मिक पथ प्रदर्शन और सच्चे हित के लिये। देश की स्वाधीनता उनके चिन्तन का विषय तब भी बराबर बनी रही जबकि वे वैसे योग, शक्ति और ब्रह्मतेज के रहस्यो को उपलब्ध करने मे लगे हुए थे। दार्शनिक के रूप मे उन्होंने भारत की वर्तमान तथा भविष्य के लिय ऐसी सशक्त विशाल तथा उदात्त जीवन दृष्टि दी है जो हमारी परम्परागत दुविधाओ को दूर करती है तथा हमारी संस्कृति के शाश्वत सत्य को शुद्ध तथा सबल रूप मे प्रस्तुत करती है। इस जीवन-दृष्टि को अधिगत करने से हम जीवन के संघर्ष और सतत विकास के लिये अद्भुत बल अनुभव करने लगते हैं। कवि के रूप मे उन्होंने इस जीवन दृष्टि को ऐसे प्रेरणाप्रद भाव भावनाओ तथा शब्दो मे रखा है कि उन्हे पढ कर मनुष्य का हृदय जीवन के सच्चे आदर्शों के लिये उत्कंठित हो उठता है। युग प्रवर्तक के रूप में श्रीअरविंद का स्वरूप मानवमात्र के कल्याण के असीम हित चिन्तक का है। वे मानो मानव मात्र के अज्ञान और दुःख शोक से उद्विग्न हैं और इसका उपाय ही उनके अथक पुरुषार्थ का विषय है।

श्रीअरविंद का सन्देश तथा आवाहन, हमारे प्रति बडा गम्भीर, प्रेमपूर्ण आग्रह युक्त तथा बार बार अनेक रूपों में दर्शन, योग तथा काव्य की भाषा में कहा हुआ, सार रूप में यो है

ओ भारतीय! तेरे देश की संरक्षिका, संचालिका, पथ-प्रदर्शिका एक दिव्य सत्ता, भारतमाता है। तू उसे सदा स्मरण रख, उसकी प्रेरणा को प्राप्त कर और देश की सेवा कर। वह सत्ता अत्यन्त शक्तिशाली

सत्ता है, समूचे देश को दिशा देना, उसकी रक्षा करना, विशाल परिवतन लाना उसी का काम है। हमे इसका भान सतत रहना चाहिये तथा इसकी प्रेरणा को अगीकार करने के लिये सतत उद्यत रहना चाहिए और यदि हमारा यह मनोभाव सुन्दर, सुदढ होगा तो हमे देश की परम हितकारिणी प्रेरणाओ को प्राप्त करने मे अधिकाधिक सरलता उपलब्ध होगी।

ओ भारतीय! तू देश को सुदढ और शक्तिशाली बना। देश मे सद्भाव और सत्य ज्ञान का विकास कर और फिर जगत के प्रति जो तेरा कतव्य है उसे आनन्द से निभा।

परन्तु श्रीअरविन्द की देशभक्ति उनके मानव-कल्याण का अग थी और उनका वास्तविक सदेश बडा विशाल है। यह मानव प्रकृति वतमान जागतिक सकट तथा जगत के विधि-विधान और इसकी भवितव्यता से सम्बन्ध रखती है। इस विषय मे वे मर्मस्पर्शी शब्दो मे बार बार कहते हैं।

ओ मानव! यह शोक और दुख का जीवन तेरे लिये भगवान का अन्तिम विधान नहीं। तुझे उन्होंने तेरे गम्भीर अन्तस्तल में स्थित एक प्रकाश-स्वरूप आत्मा भी दी है। वह सहज प्रसन्न रहती है तथा अमर है। तू वास्तव में है ही वही। उसे तू घट मे खोज, और प्राप्त कर, और शोक, दुख और अज्ञान से पार हो जा।

यह खोज और उपलब्धि भारतीय जीवन की पुरानी जिज्ञासा है। परन्तु वर्तमान जगत-व्यापी सकट इसके लिये विशेष आग्रह कर रहा है। यह सकट वास्तव म है ही गम्भीर सास्कृतिक सकट। सामान्य जीवन के आधार पर, पुरानी सब परम्पराएँ खण्डित हो रही है और नये आधार अभी प्रकाश मे आये नही। जीवन में विचित्र असतुलन आ रहा है, और यह स्थिति है ही वस्तुत युग-परिवतन की। एक युग समाप्त सा होता दिखाई देता है और नया युग अभी अकुर रूप म है। साधारण दृष्टि यह सब पहिचान ही नही पाती, परन्तु योग दृष्टि के लिये यह स्पष्ट है।

श्री अरविन्द का सवेदनापूण आवाहन है

ओ मानव! तू इस सकट के सच्चे रूप को पहचान, बाह्य मानदण्डो की जगह अब आत्मिक मानदण्डो की भूमिका बन रही है। तू यत्नपूवक अपने अन्दर अपनी सच्ची आत्मा को खोज और प्राप्त कर और फिर तेरे लिये वतमान युग परिवर्तन शीशे जैसा साफ हो जायेगा। तू अदभुत सफलता अनुभव करेगा और दूसरो के लिये प्रेरक दृष्टान्त बन जायगा।

वतमान समय का मानो वैश्व पुरुषाथ ही मानसिक जगत से बडे एक अतिमानसिक अथवा आध्यात्मिक जगत की सृष्टि है और इससे एक नये सतयुग का सूत्रपात होगा। इसके लिये पूण योगदष्टि का कहना है कि भगवान के आदेश के अधीन एक महान अवतरण भी साधित हुआ है।

श्री अरविंद आग्रहपूवक कहते हैं—ओ मानव! यह अत्यन्त गुह्य आध्यात्मिक तथ्य है, तू इससे लाभ उठा, इसके प्रति सहयोग की भावना बना। वतमान कठिनाइयो से भयभीत न हो, आशावान रह और अवश्य ही तू जीवन मे अद्भुत आश्वासन, प्रकाश और आनन्द अनुभव करेगा, और जैसे जैसे यह अनुभूति अधिकाधिक व्यक्तियो को प्राप्त होगी, वैसे वैसे मानव समाज के सामान्य जीवन मे भी आश्चयजनक परिवर्तन आने लगेगा।

श्री अरविन्द के पारिभाषिक शब्द

भौतिक दार्शनिक के कुछ एक नये निजी शब्द होते हैं। उनके मौलिक विचारो को वही अभिव्यक्त करते हैं। उन्हे थोडा ध्यानपूवक समझ बूझ लेन से उनके दर्शन का समझने म बडी सहायता मिल जाती है। ऐसे ही कुछ शब्द, थोडी व्याख्या सहित, नीचे दिये हैं।

(१) दर्शन तथा इसका पर्याय 'फिलासॉफी' श्रीअरविन्द के लिये सत्य की जिज्ञासा, सत्य की साक्षात अनुभूति तथा उपलब्धि का मन-बुद्धि आत्मा द्वारा प्रयत्न है। यह केवल अहवादी बुद्धि की ही चेष्टा नही है, न ही इसका उद्देश्य केवल एक सुसगठित विचारात्मक रचना है। समग्र मानव, समग्र सतोप और तुष्टि के लिये समग्र सत्ता की जिज्ञासा करता है। यह दार्शनिक प्रवृत्ति है।

(२) विकास—जगत का सामान्य अनुभव भी हमे सत्ता के तीन स्तरो का परिचय देता है। ये है जडतत्व, प्राणतत्व और मानस तत्व और इनमे चेतना का जन्म तथा वृद्धि हम देखते हैं। क्या फिर चेतना की वृद्धि ही इस सारे क्रम का उद्देश्य नही ? क्या यह जगत अचेतन से पूर्ण चेतनभाव के विकास का ही प्रयोग नही है ? श्री अरविंद कहते हैं यही इसका स्वरूप है और वे यह भी कहते हैं कि यह तथ्य योग के लिये एक साक्षात अनुभूति है। मानसिक चेतना अत्यन्त अपूर्ण है, द्वन्द्वमय है, अज्ञान, दुखताप, असमर्थता से युक्त है। विकास-क्रम भी यहां समाप्त नही हो गया प्रतीत होता है। अत उच्चतर चेतनाएँ, जिन्हे योग द्वारा साक्षात् जाना जा सकता है, एक के बाद एक अभी और आयेंगी। वे हैं उच्चतर मन, प्रदीप्त मन, स्फुरणात्मक मन, अधिमन और अतिमन। अतिमन से पूर्ण चेतन के भाव तथा एकीकरण उपलब्ध होता है। उस चेतना के हमारे सामान्य मन-प्राण शरीर मे अवतरण होने से ये रूपान्तरित अर्थात अतिमन के एकीकृत तथा चेतन स्वभाव वाले हो जायेंगे।

यह विकास श्री अरविन्द-दर्शन का केन्द्रीय भाग है, उसी से उनके सत्ता के स्तर तथा रूपातर के यौगिक कर्म स्पष्ट होते हैं। निवर्तन (Involution) विकास अथवा विवर्तन (evolution) का पूर्वगामी पक्ष है। उच्चतर चेतना अचेतन तत्त्व मे पहले प्रच्छन्न भाव को प्राप्त होती है और फिर उत्तरोत्तर विवर्तन अथवा विकास क्रम से प्रकाश मे आती है। यदि यह चेतना पहले निहित रूप मे विद्यमान न हो तो यह प्रकाश मे कैसे आये।

(३) दिव्य जीवन—अतिमानसिक जीवन ही दिव्य जीवन है। उसमे अज्ञान नही, दुखताप नहीं असमर्थता नही, वह अत्यन्त सबल देव जीवन है। यही विकास क्रम मे निहित है, यह इस जगत का गुप्त भाव है, यही हमारे सामान्य जीवन का उद्देश्य है। और यह उद्देश्य केवल वैयक्तिक नही, बल्कि जातिगत है। जैसे आज मानव मात्र को मन प्राप्त है वैसे ही विकास क्रम की अनिवार्य प्रगति से मानव मात्र को अतिमन भी प्राप्त होगा, दिव्य जीवन उपलब्ध होगा।

(४) व्यक्ति और समष्टि—श्री अरविन्द दर्शन मे व्यक्ति और समष्टि घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध हैं। व्यक्ति समष्टि का ही अग है तथा उसकी अभिव्यक्ति है और समष्टि व्यक्ति का ही व्यापक भाव है। समष्टि के विकास स्तर पर व्यक्ति आधारित है और व्यक्ति के उच्चतर विकास साधित करने पर समष्टि का स्तर ऊपर उठता है। फिर व्यक्ति अधिकाधिक ऊपर तभी उठेगा जबकि समष्टि का स्तर ऊपर उठ जायेगा। वैयक्तिक मुक्ति और रूपातर यहां समष्टिगत मुक्ति और रूपातर का साधन है तथा उनकी अपेक्षा रखता है।

(५) सर्वांगीण भाव—श्री अरविंद दर्शन का सर्वाङ्गीण भाव, समग्र भाव उनके अतिमन से सम्बद्ध है। मन अत्यन्त एकागी तथा आशिक है इसलिये इस क्षेत्र म इतना विभेद है। ऊपर के स्तरो मे एकत्व भाव बढता जाता है परन्तु अधिमन मे भी अभी एक मात्रा की आशिकता रह जाती है। पूर्ण समग्र भाव अतिमन मे ही सिद्ध होता है।

जब अतिमन जीवन का ध्येय बनता है तब समग्रता का भाव एव सक्रिय आदर्श बन जाता है और इसका प्रभाव मानव सस्कृति पर व्यापक रूप से पडता है। सर्वाङ्गीण ब्रह्म, सर्वाङ्गीण सत्य, सर्वाङ्गीण

सस्कृति के अदभुत विचार उपलब्ध होते है। दर्शनो तथा धर्मों मे बाह्य जगत तथा भगवान के भिन्न भिन्न विचार मिलते है, सगुण, निगु ण आदि। अतिमन जो स्वय समग्र रूप है ब्रह्म और भगवान को समग्र भाव मे उपलब्ध करता है और उसमे सगुणता, निगु णता आदि सब समाविष्ट होते हैं। कैसा अदभुत सम वय है यह अनेक दर्शनो तथा धर्मो का। विभिन्न दर्शन तथा धम सब किसी न किसी सत्य को प्रस्तुत करते हैं। पर तु उनकी यथार्थता समग्र भाव मे पता लगती है।

समग्र सत्य भी इसी प्रकार अनेकविध सत्या—प्रकृति के वैज्ञानिक सत्यो, मानसिक-बौद्धिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सत्यो को—अद्भुत रूप से समन्वित करने का माग दिखाता है। आज प्रकृति के सत्यो को हम अ तिम मान बैठे हैं और जीवन म विषम सकट आ गया है। इन्हे हम समग्र सत्य मे लेना होगा, तब यह जीवन मे असतुलन पैदा नही करेंगे।

इसी प्रकार समग्र सस्कृति विभिन्न सस्कृतियो की अपनी अपनी विशेषता तथा सफलता को समग्र भाव मे दिखा देती है और इससे आनन्ददायक विशाल सम वय सम्भव हो जाता है।

(६) विकासात्मक सकट—मानव इतिहास का वर्तमान समय जबकि अपूव प्रकार का व्यापक सकट अनुभव हो रहा है श्री अरवि द विकास क्रम का सक्रमण समय बतलाते हैं। यह वैसा ही है जैसा कि पहले कभी अज्ञात समय मे प्राणमय जगत मे मन का उदय हुआ था। अब मन-बुद्धि अपर्याप्त पड रहे हैं, उनके समाधान सन्तोष नही दे रहे तथा किसी वृहत्तर सम वयकारी शक्ति की आवश्यकता महसूस हो रही है। यह समय, वास्तव मे, अब मन को अतिक्रात कर अतिमन की ओर आगे बढने का है। यही मूल में सकट का स्वरूप है और हमारे वतमान समय के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि विभिन्न कष्ट इसके परिणाम मात्र है।

इस समय की माग है इसके वास्तविक स्वरूप को समझना तथा उदीयमान अतिमन के लिये अपने आपका तैयार करना।

पूर्णयोग

योग दर्शन का सहगामी अग है। दर्शन जिस सत्य का प्रतिपादन करता है योग उसे ही चरिताथ करने का माग दिखाता है। अत योग के प्रधान विचार तो दर्शन के ही होते हैं, प्रक्रिया सम्ब धी नए विचारो के शब्द जरूर नए होते हैं। पर तु श्री अरवि द के दर्शन मे वस्तुत यह भी अधिकाश मे आ गये हैं। कुछ एक विचार और शब्द यहा दे रहे हैं

(१) प्रकृति का अचेतन योग—अचेतन से पूण चेतन का विकास ही जगत् का मम है। अब तक के विकास से जो सिद्ध हुआ है वह है जड तत्व के नदी, पवत आदि तथा प्राण तत्व के वनस्पति तथा प्राणी मात्र और मनस् तत्व का मानव। यह विकास मनस् तत्व मे पहुच कर किसी अश मे सचेतन होता है। इससे पहले का विकास सब अचेतन था और यह युगो मे सम्पादित हुआ है। इसे ही श्री अरवि द प्रकृति का अचेतन योग कहते है। प्रकृति ही अचेतन भाव मे साधना करती हुई जड तत्व, प्राण तत्व और मनस् तत्व की विविध उपलब्धिया को प्राप्त करती है।

(२) मानव का सचेतन योग—मानव अपने मन के विकास से एक अश मे आत्म सचेतनता प्राप्त करता है। तब उसमे यह सामर्थ्य पैदा हो जाता है कि वह अपने विकास को कही द्रुततर बना सकता है और प्रकृति का युगो का योग थोडे समय मे सिद्ध हो सकता है। पर तु योग है एक मर्यादा, एक बुद्धिगम्य अनुशासन और विज्ञान, यह कोई जादू नही।

(३) श्री अरविन्द के सर्वाङ्गीण (Integral) योग की केन्द्रीय वृत्ति—भारत में आध्यात्मिक इतिहास में अनेक साधनाओं के क्रमों का आविष्कार हुआ है और सभी का अपना अपना बल है। हठयोग शरीर और प्राण का अनुशासन केन्द्रीय तथा प्रधान मानता है राजयोग मन और मन की वृत्तियों के निरोध को। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग, ज्ञान, भक्ति और कृतित्व के अनुशासन को। तन्त्र कुण्डलिनी शक्ति के जागरण, शक्ति के अवतरण और प्रकृति के रूपांतर को। श्री अरविन्द का योग अतिमानसिक आदर्श पर केन्द्रित है और यह इसकी मौलिकता है परन्तु यह आदर्श बड़ा विशाल है और इसके अधीन अन्य सभी योग किसी न किसी रूप में समन्वित हो जाते हैं, इस आदर्श में सहायक हो जाते हैं अथवा हो सकते हैं।

परन्तु सर्वांगीण योग का केन्द्रीय भाव है ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों के समर्पण के साधनों ने अन्तरात्मा, (चैत्य पुरुष अथवा हृदय-स्थित आत्मा) को जाग्रत करने का, उसके साथ सम्पर्क स्थापित करने का तथा उसे अधिकाधिक सक्रिय बनाने और उसके पथ प्रदर्शन के अधीन समग्र व्यवहार को प्रेरित-प्रचालित करने का। अन्तरात्मा की उपलब्धि से फिर भागवत उपस्थिति का भान प्राप्त होता है और साधना सजग रूप में अतिमानसिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने लगती है।

इस साधना में पहले बहिर्मुखी वृत्तियों का अन्तर्मुख भाव में परिवर्तन साधित होता है और फिर अन्तरात्मा तथा भागवत चेतना के प्रभाव के अधीन उनका रूपांतर। अन्त में अतिमन की सूर्य समान उज्ज्वल चेतना के साथ सम्पर्क और उसके प्रभाव के अधीन वृत्तियों का अतिमानसिक तथा पूर्ण रूपान्तर।

यह योग शैली सर्वथा मनोवैज्ञानिक है और इसकी माँग यह है कि व्यक्ति अन्तःप्रेरणा से आध्यात्मिक जीवन की अभीप्सा (चाह) जगाये, निम्न प्रवृत्तियों का त्याग करे, अहं का भगवान के प्रति समर्पण करे तथा अपने आपको अधिकाधिक भागवत प्रभाव के अधीन लाता जाय तथा सिद्ध गुरु की सहायता से लाभ उठाये और उत्तरोत्तर चेतना में विकसित होता जाये।

इसमें व्यक्ति को स्वतन्त्रता से आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर रहते हुए चलने का निर्देश है और सामान्य सिद्धान्त सबके लिये जरूर एक है परन्तु आन्तरिक अभ्यास की गतियाँ व्यक्ति-व्यक्ति के साथ अलग अलग होंगी।

(४) पूर्णयोग का आदर्श—पूर्णयोग का आदर्श व्यक्तिगत मुक्ति नहीं, यद्यपि यह आध्यात्मिक जीवन के लिये अनिवार्य है। आदर्श, वास्तविक में, समूचे जीवन का, वैयक्तिक तथा सामाजिक का रूपान्तर है। रूपांतर का अर्थ है कि समूचे जीवन का आधार आत्मा परमात्मा बन जाय, वर्तमान काम, क्रोधादि प्राण की वृत्तियों तथा मन बुद्धि के मतव्यों की जगह।

(५) रूपांतर का यथार्थ भाव—आध्यात्मिक इतिहास भारत में तथा शेष जगत में आरोहण द्वारा आत्मा परमात्मा की उपलब्धि पर ही बल देता है। प्रकृति के बारे में सामान्यतया यही आस्था रखता है कि यह आध्यात्मिक भाव में समूल रूपांतरित नहीं हो सकती। थोड़ा परिवर्तन इसमें बेशक आ सकता है।

श्री अरविन्द का कहना है कि उच्चतर शक्ति के अवतरण से निम्न प्रकृति में समूल रूपांतर संभव है। रूपांतर में श्री अरविन्द तीन स्तर बतलाते हैं तथा इनकी अत्यन्त ब्यौरे से व्याख्या करते हैं। ये तीन स्तर हैं आंतरात्मीकरण, आध्यात्मीकरण तथा अन्तिम है अतिमानसीकरण, पहले में अन्तरात्मा द्वारा रूपांतर दूसरे में उच्चस्तरीय भागवती चेतना द्वारा और तीसरे में अतिमानसिक भागवती चेतना द्वारा। ●

भारतीय वैष्णव साहित्य

डॉ० जगदीश गुप्त

एक दृष्टि से विष्णु और ब्रह्म समानार्थी हैं। अत जिस धारणा मे सब कुछ समाहित हो जाय वही ब्रह्म का द्योतक है और वही विष्णु की भी। किन्तु ब्रह्म में निगुण और सगुण, अर्थात् निषेधात्मक विधि से नेति-नेति कहना और स्वीकारात्मक विधि से सबगुण सम्पन्न, सर्वात्मभाव-युक्त, सर्वान्तरव्यापी रूप निर्धारित होता है। 'सगुणो निर्गुणो विष्णु' इस रूप में जब विष्णु को व्याख्यायित किया जाता है तो उसमें निषेधात्मक और स्वीकारात्मक दोनो दृष्टियो का समावेश होता है पर चिन्तकों ने इसको मन और बुद्धि की सीमा मानकर ब्रह्म को अनिर्वचनीय और विष्णु को अचित्य माना है। वेदान्त ने ब्रह्म तक पहुचने के लिए ज्ञान का मार्ग अपनाया। किन्तु वैष्णवता ने विष्णु तक पहुँचने के लिए भक्ति का मार्ग उचित समझा। ऐतिहासिक दृष्टि एव साम्प्रदायिक दृष्टि से भी भक्ति के क्षेत्र में शैव उपासना पहले आती है। वैष्णव उपासना उसके बाद या अधिक से अधिक उसके समानान्तर आगे चलकर शिव और विष्णु की एकता घटित हो गयी किन्तु परस्पर विरोध का भी इतिहास छोटा नही है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने बहुत अन्वेषण किया है तथा अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं। हरिहरोपासना के विषय में मेरे निर्देशन मे एक शोधकार्य सम्पन्न हो चुका है जिसका प्रकाशन भी हो गया है। शिव मे अवतारवाद और उससे पहले व्यूहवाद की स्वीकृति थी जबकि शैव धम मे अवतार की जगह शक्ति और शिव नाना रूपो मे प्रकट होते दिखाये गये हैं। एकादश रुद्र और नवदुर्गा, शिव-शक्ति के व्यापक प्रसार म उतनी ही विशालता रखते हैं जितना अनादि और अनन्त रूप मे ब्रह्म और विष्णु को प्राप्त हुआ। विष्णु देवताओ द्वारा पूज्य हुए किन्तु शिव देवताओ और असुरो दोनो के द्वारा पूज्य हुए। अन्तत शिव महादेव कहे गये। विष्णु और शिव परस्पर अन्योन्याश्रित भक्ति भाव से जुडकर विभिन्न रूपो मे प्रकट हुए। शैव-धम ने वैष्णव-धर्म को और वैष्णव-धर्म ने शैव धम को इतनी दूर तक प्रभावित किया कि प्रतिमा विज्ञान और शिल्प शास्त्र दोनो उनकी एकता का प्रत्यक्ष प्रमाण बन गये। जिस तरह शैव-धम विश्वव्यापी बना उसी तरह वैष्णव धर्म भी अधिक विश्व तक व्याप्त हुआ। हिन्दू धर्म का आधार वैदिक धर्म ही है ऐसा सुविदित है पर वेदेतर धारणाएँ उसमें कितनी दूर तक समाहित हैं यह व्यापक चिन्तन का विषय रहा है। नटराज का रूप दक्षिण में सर्वोपरि रूप में प्रचलित है तो उत्तर में वैष्णव अवतारा में राम कृष्ण को सर्वाधिक महत्ता मिली। पूर्व में शक्ति को और पश्चिम में भक्ति को विशेष सम्मान मिला। दक्षिण से उपजी भक्ति पश्चिम से होती हुई वृन्दावन तक पहुची जहाँ उसको नवीन रूप मिला किन्तु वैष्णव साहित्य का अनुशीलन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि भक्ति का स्रोत उपनिषद साहित्य से गीता तक पहुँचा और श्रीमद्भागवत उत्तर और दक्षिण की एकता का प्रतीक बन गयी। सभी वैष्णव सम्प्रदायो मे गीता श्रीमद्भागवत का विशेष महत्व रहा है किन्तु दक्षिण भारत में आगमो को अतिरिक्त महत्ता मिली है। इस सम्बन्ध में इतना विशाल साहित्य मिलता है जिसमें पुराण, उपपुराण और विविध सूत्र ग्रन्थ आदि सभी समाविष्ट हो जाते हैं। वैष्णव धम के विकास में पांचरात्र से लेकर प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक

सभी कालो में वैष्णवता का उत्तरोत्तर विकास हुआ। उदारता के साथ उसमें सकीर्णता और छुआछूत का विचार भी पैदा हुआ जिसमें धर्मनिरपेक्षतावादी आधुनिक विचार-धारा, गांधीजी के हरिजन आन्दोलन से मिल कर नया स दभ प्रस्तुत करती है। नरसी मेहता का प्रसिद्ध पद जिस रूप में वष्णवता को व्याख्यायित करता है उस रूप में वह मानवता का पर्याय बन जाता है। मेरा अभीष्ट वैष्णव अवतारो, विभिन्न सम्प्रदायो, उपसम्प्रदायो का विवरण देना नही है क्योकि इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री सुलभ है। मैं वष्णव दृष्टि को महत्व देता हूँ और मानवता को उससे जोडकर देखता हूँ। 'मानवता और वैष्णव जीवन दृष्टि' को केन्द्र मे रखकर मैं विवेचन प्रस्तुत करता हूँ अन्त मे अपने शोध-कार्य 'गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' के आधार पर सिद्धान्त पक्ष का सक्षिप्त साराश भी दे रहा हूँ। इस प्रकार भारतीय वैष्णव साहित्य की पूरी महत्ता प्रकट हो जाती है।

मानवता और वैष्णव जीवन दृष्टि

वैष्णवता का उदय मानव विकास की उस अवस्था का द्योतक है जब मनुष्य ने हिंसा के सुदीर्घ अनुभवो की सरणि पार करने के बाद अहिंसा को परम धम स्वीकार किया। मूल्यात्मक दृष्टि का यह परिवतन वैदिक और अवैदिक दोनो विचार धाराओ मे लक्षित होता है। किन्तु, विष्णु को केन्द्र मानकर भारतवष मे जो उपासना-माग प्रवर्तित हुआ वह आज भी औरो से विशिष्ट सिद्ध होता है। कर्मकाण्ड की असहनीय जटिलता का विरोध, मानवीय तथा आध्यात्मिक आधार पर जैन-बौद्ध दोनो वेदेतर धर्मों ने किया परन्तु कृष्ण के गुरु घोर आगिरस से साधना की प्रेरणा लेकर जो वासुदेवोपासना ईसवी सन् से शताब्दियो पूव प्रवर्तित हुई, उसने अग्निपूजको को नयी दृष्टि और नयी प्रेरणा दी जिसमे न केवल कर्मकाण्ड का उत्कट विरोध था वरन अहिंसा से अधिक भक्ति और प्रेम की विश्वव्यापी उदारता एव असीम पतित-पावनत्व की क्रान्तिकारी शक्ति का परिचय दिया। सृष्टिव्यापी अन्तर्बाह्य एकता के साथ आस्थामूलक आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति ने वैष्णवता को मानवता का पर्याय बना दिया। उपनिषद, गीता, श्रीमदभागवत आदि अनेक वैष्णव पुराणो तथा रामचरितमानस जैसे लोक मगलकारी समन्वयपरक मानव कल्याण के उद्गाता भक्तों और सन्तो के साहित्य ने अखिल भारतीय स्तर पर जो प्रभाव विकीर्ण किया वह देश की मुक्ति के सघष म गहराई के साथ प्रेरक सिद्ध हुआ और श्रद्धा विश्वासमयी उस सास्कृतिक दृष्टि का उन्नायक बना जो गाधी रवीन्द्र युग तक विश्व मानव की धारणा मे पयवसित होता गया। अन्तत जिसने राजनैतिक पराभव को सास्कृतिक विजय मे परिणत कर दिया। गुजराती कवि नरसी मेहता का सुप्रसिद्ध पद उसी वैष्णव जीवन दृष्टि का प्रतीक है जिसमे आदर्श और यथाथ दोनो का भक्ति के क्षेत्र मे कमशील समावेश हुआ है क्योकि उसके कवि ने समाज के निम्न वग को सक्रिय प्रश्रय दिया।

'वैष्णव जन तो तेणे कहिये जे पीड परायी जाणे रे।'

इसी आधार पर तुलसी ने भी सन्तो को परिभाषित किया है।

'परदु ख दुखी सो सन्त पुनीता'

उनकी दृष्टि मे सन्त और भक्त अलग नही थे जैसा हिन्दी साहित्य के इतिहास मे माना जाने लगा है।

वैदिक अथ मे 'विष्णु' शब्द 'ब्रह्म' का पर्यायवाची सिद्ध होता है अत वैष्णवता और ब्रह्मवाद परस्पर विरोधी सिद्ध नही हो सके यद्यपि पहले दोनो मे अभेद नहीं था। अन्तत वैष्णवधम वैदिक धम का विकास प्रमाणित हुआ जिसमे परिष्करण और परिशोध के साथ असीम उदारता का सन्निवेश होता गया। पाचरात्रधर्म के 'व्यूहवाद' उसी 'वासुदेवोपासना' की धारा से निःसृत कृष्ण-केन्द्रित गीता के अवतारवाद

के रूप मे वैष्णवधर्म मे भी विकासक्रम लक्षित होता है जो मानव-विकास की आधुनिक धारणा को भी समर्थित करता है। मत्स्यावतार से बौद्धावतार तक सृष्टि के इतिहास के प्रतीक हैं। दसवा कल्कि-अवतार कदाचित अभी प्रतीक्षित है। गीत-गोविन्द की दशावतार स्तुति जो 'कलिकलुष शमयतु हरिरमितम्' की भावना से लिखी गयी है कल्कि-अवतार को इस रूप मे प्रस्तुत करती है।

म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालम्।
धूमकेतुमिव किमपि करालम्॥ केशवधत कल्कि शरीर जयजगदीश हरे[1]

यद्यपि 'कल्कि' की धारणा कलियुग से सम्बद्ध है तथापि दोनो एक नही माना जा सकता। पहला अवतारवाद के *चरम विकास का अद्यतन प्रतीक है जबकि दूसरा काल की चतुर्युगी कल्पना के आतंकमय* स्वरूप से जुडा है। यह सयोग है कि इस समय दोनो एक बिन्दु पर मिल गये हैं। वैष्णवता दोनो पर समान आस्था रखती है इसीलिए मानव-विकास की समस्या जटिलतर हो जाती है। कल्कि अवतार म्लेच्छो के आततायी रूप के परिशमन के लिये सशस्त्र-संघर्ष का प्रतीक होकर जन-मानस मे समाया हुआ है और कलियुग कलुष के सर्वव्यापी प्रसार को रसात्मक हरिलीला-गान और कीर्तन से निरस्त होगा—ऐसी भावना भी लोक-चेतना को अब भी परिचालित करती है। *विडम्बना यह है कि दोनो की युगपत स्थिति की* विषमता का ऐसा सरलीकरण हो गया है कि यथार्थ बोध जागृत नही होता। 'विवेकानन्द' जैसे मनस्वी द्रष्टा वैष्णवता की नयी व्याख्या करके देश की आस्था को जगाने का प्रयास करते हैं। चिंतन के स्तर पर श्री अरविन्द जैसे युग-पुरुष मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मे आध्यात्मिक जीवन मे अवतरण की नयी परिकल्पना करते दिखाई देते हैं। इन श्लाघ्य प्रयत्नो के विपरीत वैष्णव उदारता हर व्यक्ति को नया सम्प्रदाय आरम्भ करके स्वय को ईश्वर घोषित करना सहज एव विश्वसनीय बना देती है जबकि *उसमे दम्भ और पाखण्ड का* नग्ननृत्य देश विदेश मे सर्वत्र देखा जा रहा है। कलियुग की मध्यकालीन धारणा मे यह तेजस्विता थी कि ऐसी विकृतियो का स्पष्ट निवेदन कर सके। श्रीमद्भागवत और मानस मे उस पर आधारित वर्णन निजी प्रेरणा से सवलित अनुभूत सत्य के रूप मे भारतीय जीवन दृष्टि को समझने मे सहायक होते हैं।

साधुत्वे दम्भ एव तु—भागवत १२।२।५
जो कर दम्भ सो बड आचारी—मानस ७।९८।५

तुलसीदास ने यहा तक कह दिया है कि 'दम्भिन प्रकट किये बहु पथ।' यह कथन आज की स्थिति की सटीक व्याख्या करता है और वैष्णव दृष्टि को अनाविल और आविल दोनो स्तरो पर आकलित करने को प्रेरित करता है।

वैष्णव विचार-धारा मे मनुष्य की स्थिति किस रूप मे साधक मानी जाती है और कहाँ तक वह *आज के सन्दर्भ मे अर्थपूर्ण लग सकती है यह प्रश्न मेरे विचार से जागृत प्रश्न है जिसका* उत्तर सुविचारित रूप मे देना अभीष्ट है। भौतिकवाद इन प्रश्नो का उत्तर उपेक्षा और तिरस्कार की भाषा मे देता है जबकि यह भारतीय जनता मे व्याप्त परम्परा के अग हो गये हैं। 'मूँदिय आँख कतहु कोउ नाही' की नीति अपने यथार्थ से कटने की दिशा देती है सो भी यथार्थवाद के नाम पर। वास्तव मे पूर्व पक्ष को समझ कर ही सही उत्तर देना प्रभावी हो पाता है अन्यथा समस्या ज्यो की त्यो बनी रहती है।

हर वैष्णव *यह मानता है कि मानव* देह ईश्वर की कृपा का फल है तथा सर्वोपरि स्थान रखती है। उसकी सार्थकता यही है कि वह मुक्ति प्राप्ति का साधन बने और उससे भी ऊपर प्रतिष्ठित ईश्वर की भक्ति को जन्म-जन्मान्तर तक साध्य समझे। वैष्णव की दृष्टि मे भक्ति चारो पुरुषार्थो से अधिक श्रेयस्कर और मूल्यवान है।

सभी कालो में वैष्णवता का उत्तरोत्तर विकास हुआ। उदारता के साथ उ
का विचार भी पैदा हुआ जिसमें धर्मनिरपेक्षतावादी आधुनिक विचार-धारा,
से मिल कर नया सन्दर्भ प्रस्तुत करती है। नरसी मेहता का प्रसिद्ध पद
व्याख्यायित करता है उस रूप में वह मानवता का पर्याय बन जाता है। मे
विभिन्न सम्प्रदायो, उपसम्प्रदायों का विवरण देना नही है क्योंकि इस सम्बन्ध
मैं वष्णव दृष्टि को महत्व देता हूँ और मानवता को उससे जोडकर देखता हूँ।
दृष्टि' को केन्द्र मे रखकर मैं विवेचन प्रस्तुत करता हूँ अन्त मे अपने शोध-काय
कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' के आधार पर सिद्धान्त पक्ष का सक्षिप्त स
प्रकार भारतीय वैष्णव साहित्य की पूरी महत्ता प्रकट हो जाती है।

मानवता और वैष्णव जीवन दृष्टि

वैष्णवता का उदय मानव विकास की उस अवस्था का द्योतक है जब म
अनुभवो की सरणि पार करने के बाद अहिंसा को परम धम स्वीकार किया।
परिवतन वैदिक और अवैदिक दोनो विचार-धाराओ म लक्षित होता है। किन्तु,
भारतवष मे जो उपासना माग प्रवर्तित हुआ वह आज भी औरो से विशिष्ट सिद्ध
असहनीय जटिलता का विरोध, मानवीय तथा आध्यात्मिक आधार पर जैन बौद्ध दो
परन्तु कृष्ण के गुरु घोर आगिरस से साधना की प्रेरणा लेकर जो वासुदेवोपासना ई
पूव प्रवर्तित हुई, उसने अग्निपूजको को नयी दृष्टि और नयी प्रेरणा दी जिसमे न केव
विरोध था वरन् अहिंसा से अधिक भक्ति और प्रेम की विश्वव्यापी उदारता एव अस
क्रान्तिकारी शक्ति का परिचय दिया। सृष्टिव्यापी अन्तर्वाह्य एकता के साथ आस्थामूर
प्रवृत्ति ने वैष्णवता को मानवता का पर्याय बना दिया। उपनिषद, गीता, श्रीमदभागवत
पुराणो तथा रामचरितमानस जैसे लोक मगलकारी समन्वयपरक मानव-कल्याण के र
सन्तो के साहित्य ने अखिल भारतीय स्तर पर जो प्रभाव विकीर्ण किया वह देश की
गहराई के साथ प्रेरक सिद्ध हुआ और श्रद्धा विश्वासमयी उस सास्कृतिक दृष्टि का उन्न
रवीन्द्र-युग तक विश्व-मानव की धारणा मे पयवसित होता गया। अन्तत जिसने राज
सास्कृतिक विजय में परिणत कर दिया। गुजराती कवि नरसी मेहता का सुप्रसिद्ध पद
दृष्टि का प्रतीक है जिसमे आदर्श और यथार्थ दोनो का भक्ति के क्षेत्र मे कर्मशील समावेश
उसके कवि ने समाज के निम्न वग को सक्रिय प्रश्रय दिया।

'वैष्णव जन तो तेणे कहिये जे पीड परायी जाणे रे।'

इसी आधार पर तुलसी ने भी सन्तो को परिभाषित किया है।

'परदुख दुखी सो सन्त पुनीता'

उनकी दृष्टि मे सन्त और भक्त अलग नही थे जैसा हिन्दी साहित्य के इतिहास म
लगा है।

वैदिक अथ मे 'विष्णु' शब्द 'ब्रह्म' का पर्यायवाची सिद्ध होता है अत वैष्णवता
परस्पर विरोधी सिद्ध नही हो सके यद्यपि पहले दोनो मे अभेद नही था। अन्तत वैष्णवधम व
विकास प्रमाणित हुआ जिसमें परिष्करण और परिशोध के साथ असीम उदारता का सन्निवेश ह
पाचरात्रधम के 'व्यूहवाद' उसी 'वासुदेवोपासना' की धारा से निसृत कृष्ण-केंद्रित गीता के

अनुभव की गयी, उसे असीम अद्वितीयता देती है। भागवतोक्त उक्ति 'किरात हूणान्ध्र पुलिंद पुल्कसा' प्रभविष्णवे नम' ही रामचरितमानस मे इस रूप मे लोक विश्वास का आधार बनी।

स्वपच सबर खस जमन जड पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥

भक्तो का ही नही सन्तो का भी यही विश्वास था कि हरिनाम जाति पाँति की सीमाएँ नही मानता। 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' गोरखनाथ और रामानन्द इस बिन्दु पर एक दिखाई देते हैं। उनकी परम्परा हिन्दी ही नही इतर प्रान्तीय साहित्यों तक व्याप्त है। बलात धर्मच्युत कर दिये जाने वाले लोगो को इन्होंने वैसा ही आश्रय दिया जैसा आधुनिक युग मे आर्य समाज देता रहा है यद्यपि उसे वैष्णव नही वैदिक कहना उचित होगा। भागवत ने ऐसे कर्मनिष्ठ ब्राह्मण को भी श्वपच से हीन बताया है यदि वह वैष्णवता रहित है।

विप्रात् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभात।
पादारविन्दविमुखात्श्वपच वरिष्ठम्॥

यही बात तुलसी ने इस प्रकार कही है।

तुलसी भगत सुपच भलो जपै रैनदिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहां न हरि को नाम॥

भारतीय जीवन मे आस्तिकता के पूरे विकास का आनयन करते हुए सार रूप मे कहा जा सकता है कि वैष्णव-भाव धारा-वैदिक अग्निपूजको की तेजस्विता को यज्ञ विधान के कर्मकाण्ड की अमानवीय परिणतियों से उबारकर अहिंसा की ऐसी व्याख्या करती है जो हर युद्ध को धर्म युद्ध बनाकर मानव कर्तव्य से जोड देती है। जिसमे हिंसा का सर्वथा निषेध ग्राह्य नही। बौद्धधर्म की अहिंसा से वैष्णव-धर्म की अहिंसा यहा गुणात्मक परिवर्तन का मार्ग अपनाती है। इसीलिए गीता की परिणति महाभारत के युद्ध निषेध मे नही होती, वह दायित्व-पूर्ण कर्मशीलता और स्वधर्म का आधार ग्रहण करती है। वैष्णव दृष्टि निराशावादी न होकर तत्वत आशावादी है क्योकि जिस ईश्वर पर उसकी आस्था है वह सर्वव्यापक है अनैतिकता के परिशमन के लिए उसका आविर्भाव मानव-चेतना मे निरन्तर सम्भव है। गीता मे आर्षवाणी मे अवतारवाद का उद्घोष है—'सम्भवामि युगे युगे' समय-समय पर वैष्णव प्रेरणा से ईश्वर का अवतार होता रहेगा। और साधु-पुरुषो के परित्राण के लिए, दुष्कर्मियो द्वारा किये गये पाप के विनाश के लिए तथा धर्म की संस्थापना के लिए यह प्रक्रिया सदा चलती रहेगी।

वैष्णव धर्म ने अपनी साधना को केवल ज्ञान और योग तक सीमित नही रखा वरन् उसने ईश्वरत्व के निम्न वर्ग तक पहुँचने का मार्ग खोल दिया। दिव्य उन्नयन के विपरीत दिव्यता के अवतरण की धारणा भी मूलत क्रान्तिकारी थी जो बाद मे मानव-क्रियाशीलता को भाग्यवादी और परमुखापेक्षी बनाने मे सहायक होने लगी और उसकी तेजस्विता धीरे-धीरे समाप्त होती गयी। ईश्वर पर इतना अधिक विश्वास कि भक्त अपने दायित्व से हीन होकर समाज की उपेक्षा करने लगे। भक्ति के लिए ससार की निस्सारता का ही जीवन लक्ष्य मान ले तो निश्चय ही असामाजिकता को बल मिलेगा जैसा भारतवर्ष मे घटित हुआ और अब भी हो रहा है। वैष्णवो मे साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, कर्मकाण्डभीरुता ब्राह्मणवाद परक गुण-रहित जन्म विहित वर्णव्यवस्था, अतिशय वैयक्तिक साधना, अन्ध विश्वासमयी मूर्तिपूजा, नारी-निन्दा तथा स्वार्थमयी अहंकारवृत्ति का प्रवेश वैष्णवता के अमानवीय रूप को भी उजागर करता है फलत ऐसी विडम्बना सामने आ जाती है कि धर्म निरपेक्षता ही धर्म का आधार बनने लगती है और मानव-धर्म

प्रेमापुमर्थो महान्

पहले जो स्थान ज्ञान योग और मोक्ष को प्राप्त था वैष्णवता के प्रभाव से वह आगे भाव, पूजा और भक्ति का मिल गया। भक्ति स्वय भक्ति-याग म परिणत हो गयी। भाव साधना रूप होकर रसमय वन गया और नवधा-भक्ति दशधा भक्ति तक पहुच गयी। उपासना का रूप दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य तक पहुँच गया और उसका भी परकीया और स्वकीया भाव की श्रेष्ठता का द्वन्द्व सहना पडा। आज का युग इतनी उत्कट भावना को विज्ञान विरोधी मानता है उसम विश्लेपण सम्भव नही होता। वैष्णवता इस अर्थ मे विज्ञान-विरोधी है क्योंकि वह सश्लेपण को ही काम्य मानती है। अभक्ति से भक्ति की ओर ही उसकी गति सिद्ध होती है। इस विरोध का समाधान स्तर-भेद और क्षेत्र-भेद से हो सकता है।

वैष्णवता मानव और मानवता म अन्तर करती दिखायी देती है। मानव को आराध्य ईश्वर के समक्ष गौण मानकर उसका कर्तव्य केवल उसके—'नाम रूप-लीला-धाम' का चिन्तन, मनन, गायन और नर्तन तथा पूजा-अर्चापरक ही माना गया है। 'सब मानिअहि राम के नाते' 'कृष्ण एव गतिमय' जैसे सूत्रवाक्य जीवन-यापन के आधार बनकर मानव मानव के बीच भिन्न प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मानवता मानव केन्द्रित दृष्टि न होकर ईश्वर-केन्द्रित दृष्टि बन जाती है। श्रद्धा-विश्वास के बिना अपने ही अन्त करण मे स्थित ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव नहीं। अत 'याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्तस्थमीश्वर।' किन्तु इस दृष्टि मे भी 'दह्यन्ति नो मानव' की भावना सन्निहित दिखायी देती है। एक प्रकार से मानव को भव-रोग ग्रस्त मानकर उसके उपचार के लिये ही ईश्वर का सहारा लिया जाता है। 'भव भेपज' के रूप मे 'रघनाथ-जस' सहज आनन्द भाव से भिन्न दिखाई देता है। कृष्ण काव्य में इसीलिए रसात्मकता और तन्मयता विशेष रूप से रेखाकित करने योग्य हो जाती है क्योकि वहाँ मर्यादा की सीमा भी टूट जाती है। प्रेम सर्वोपरि मूल्य बन जाता है।

कोने तजी न कुल-गली है मुरली सुर-लीन

भागवत का गोपी भाव मानवता की उपलब्धि के रूप मे वरेण्य लगता है परन्तु वहा भी मानव का एक मात्र कर्तव्य है—सदा सर्वतो भावेन भजनीयो व्रजेश्वर। मनुष्य से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध उपेक्षित हो जाता है या उसकी दार्शनिक पीठिका अनुपस्थित मान ली जाती है। मानव से अधिक वैष्णवता मानवता को स्वीकार करने की ओर उन्मुख दिखाई देती है। इसीलिये—मानववाद से वैष्णवता की सगति उत्पन्न नही होती पर मानवता से उसका अपनाना न केवल सुदृढ होता रहा है वरन् उसी की भूमि पर वह फूली फली है। जीवन के प्रति वैष्णवता की विराट-दृष्टि इस मानवता को प्राण स्रोत की तरह उपकृत करती रही है। हम मानवता हीन वैष्णवता की कल्पना नही कर सकते यद्यपि सकीर्णता के कारण बहुधा इस देश मे भी शताब्दियो तक वैसा होता रहा है। नारी और शूद्र के प्रति सारे वैष्णव एक जैसा भाव नही रखते। वर्ण व्यवस्थावाद नीच-ऊँच के भेद भाव से युगो तक ग्रस्त रहा है कि मानवता का सहज उन्मेष सुधारवादी आन्दोलन और उससे पूर्व भक्ति-आन्दोलन के द्वारा ही सम्भव हुआ। जहा दोनो प्रवृत्तियाँ गतिशील रही वहा दोहरे स्तर का जीवन जिया जाने लगा या विडम्बना को जीवन का अग मान लिया गया वसे ही जसे विरुद्धधर्माश्रयता ब्रह्म की परिचायक हो जाती है। जन्म से जाति और वर्ण की मान्यता मानवता विरोधी है परन्तु न जाने कितने वैष्णव इस धारणा मे विश्वास करते हैं।

जहा तक भक्ति का सन्दर्भ है वहा अवश्य वैष्णवता उदारता की प्रतिमूर्ति बन जाती है। इतनी विशाल सहृदयता जितनी वैष्णव धर्म के उन्मेष काल मे थी और आन्दोलन के रूप मे एक से अधिक बार

अनुभव की गयी, उसे असीम अद्वितीयता देती है। भागवतोक्त उक्ति 'किरात हूणान्ध्र पुलिंद पुल्कसा' प्रभविष्णवे नमः' ही रामचरितमानस मे इस रूप मे लोक विश्वास का आधार बनी।

स्वपच सबर खस जमन जड़ पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥

भक्तों का ही नही सन्तो का भी यही विश्वास था कि हरिनाम जाति पाँति की सीमाएँ नही मानता। 'जाति पाँति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' गोरखनाथ और रामानन्द इस बिन्दु पर एक दिखाई देते हैं। उनकी परम्परा हिन्दी ही नही इतर प्रान्तीय साहित्यो तक व्याप्त है। बलात् धर्मच्युत कर दिये जाने वाले लोगों को इन्होंने वैसा ही आश्रय दिया जैसा आधुनिक युग मे आर्य-समाज देता रहा है यद्यपि उसे वैष्णव नही वैदिक कहना उचित होगा। भागवत ने ऐसे धर्मनिष्ठ ब्राह्मण को भी श्वपच से हीन बताया है यदि वह वैष्णवता रहित है।

विप्रात् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभात।
पादारविन्दविमुखात्श्वपच वरिष्ठम् ॥

यही बात तुलसी ने इस प्रकार कही है।

तुलसी भगत सुपच भलो भजै रनदिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहां न हरि को नाम ॥

भारतीय जीवन मे आस्तिकता के पूरे विकास का आनयन करते हुए सार रूप मे कहा जा सकता है कि वैष्णव भाव-धारा-वैदिक अग्निपूजकों की तेजस्विता को यज्ञ विधान के कर्मकाण्ड की अमानवीय परिणतियों से उबारकर अहिंसा की ऐसी व्याख्या करती है जो हर युद्ध को धर्म युद्ध बनाकर मानव कर्तव्य से जोड़ देती है। जिसमे हिंसा का सर्वथा निषेध ग्राह्य नही। बौद्धधर्म की अहिंसा से वैष्णव-धर्म की अहिंसा यहाँ गुणात्मक परिवर्तन का मार्ग अपनाती है। इसीलिए गीता की परिणति महाभारत के युद्ध-निषेध मे नही होती, वह दायित्व-पूर्ण कर्मशीलता और स्वधर्म का आधार ग्रहण करती है। वैष्णव दृष्टि निराशावादी न होकर तत्वतः आशावादी है क्योंकि जिस ईश्वर पर उसकी आस्था है वह सर्वव्यापक है अनतिकता के परिशमन के लिए उसका आविर्भाव मानव चेतना मे निरन्तर सम्भव है। गीता मे आर्षवाणी में अवतारवाद का उद्घोष है—'सम्भवामि युगे युगे' समय समय पर वैष्णव प्रेरणा से ईश्वर का अवतार होता रहेगा। और साधु-पुरुषो के परित्राण के लिए, दुष्कर्मियो द्वारा किये गये पाप के विनाश के लिए तथा धर्म की सस्थापना के लिए यह प्रक्रिया सदा चलती रहेगी।

वैष्णव धर्म ने अपनी साधना को केवल ज्ञान और योग तक सीमित नही रखा वरन् उसने ईश्वरत्व के निम्न वर्ग तक पहुँचने का मार्ग खोल दिया। दिव्य उन्नयन के विपरीत दिव्यता के अवतरण की धारणा भी मूलत क्रान्तिकारी थी जो बाद मे मानव-क्रियाशीलता को भाग्यवादी और परमुखापक्षी बनाने मे सहायक होने लगी और उसकी तेजस्विता धीरे-धीरे समाप्त होती गयी। ईश्वर पर इतना अधिक विश्वास कि भक्त अपने दायित्व से हीन होकर समाज की उपेक्षा करने लगे। भक्ति के लिए ससार की निस्सारता का ही जीवन लक्ष्य मान ले तो निश्चय ही असामाजिकता को बल मिलेगा जैसा भारतवर्ष मे घटित हुआ और अब भी हो रहा है। वैष्णवो मे साम्प्रदायिकता, सकीर्णता, कर्मकाण्डभीरुता ब्राह्मणवाद परक गुण रहित जन्म-विहित वर्णव्यवस्था, अतिशय वैयक्तिक साधना, अन्ध विश्वासमयी मूर्तिपूजा, नारी-निन्दा तथा स्वार्थमयी अहकारवृत्ति का प्रवेश वैष्णवता के अमानवीय रूप को भी उजागर करता है फलत ऐसी विडम्बना सामने आ जाती है कि धर्म निरपेक्षता ही धर्म का आधार बनने लगती है और मानव धर्म

की नयी व्याख्या आवश्यक हो जाती है। नये युग म ये साहित्य विशेषत नयी कविता म जिस नये मनुष्य की प्रतिष्ठा की गयी है और जो मानव मूल्यो की नयी व्याख्या करती है उसम मानवता को मानव की समता तथा ईश्वर निरपेक्ष भावना स परिभाषित किया गया है। वैष्णवता कुछ अशो मे उनके विरोध मे आती है पर अधिकाश उसम अविरोध दृष्टिगत होता है। मेरे विचार मे मानव सम्बन्धी की नये कल्पना म वैष्णवता आधार और आधेय दोनो रूपो म सहायक हो सकती है, हो रही है। मूल बात निष्ठा और आत्मीयता की है और समझदारी की भी।

विष्णु पत्नी के रूप मे पृथ्वी मात्र के प्रति श्रद्धा का भाव अप्रतिम है और आज भी हमे इस देश की सास्कृतिक समृद्धि से जोडता है। क्षमा से भी क्षमा निश्चय ही काव्यात्मक है।

समुद्र वसने देवि पर्वतस्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्य पादस्पर्श क्षमस्व मे।

सिद्धान्त पक्ष

आलोच्य काल का प्राय समस्त व्रजभाषा-काव्य विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायो की छाया में पल्लवित हुआ किन्तु गुजराती-काव्य का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ। उस पर स्पष्टतया किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रभुत्व प्रतीत नही होता। सम्प्रदाय और उसके अनुयायी कवियो मे अगागि भाव रहता है, सवथा अभेद नहीं। अतएव सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओ म तथा कवियो द्वारा व्यक्त सिद्धान्तो मे समानता के साथ कही कही असमानता भी प्राप्त होती है। काव्य सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से अनुप्राणित अवश्य रहा है, परन्तु सवत्र सर्वथा अनुयायी नही, जो आचाय और कवि के व्यक्तित्व की भिन्नता का परिणाम है। बहुत से कवि ऐसे हैं जिन्होने मान्यताओ के आग्रह को दढता के साथ ग्रहण किया है और अनेक ऐसे भी हैं जो या तो सिद्धान्त पक्ष से उदासीन हैं या अशत स्वतन्त्र। उपयुक्त तथ्य का ध्यान मे रखत हुए प्रस्तुत अध्ययन म काव्य मे व्यक्त सिद्धान्तो को प्रधानता दी गई है और साम्प्रदायिक दार्शनिक मान्यताओ को काव्य गत सैद्धान्तिक विचारो की व्याख्या अथवा विश्लेषण मे सहायक माना गया है।

व्रजभाषा की अपेक्षा गुजराती मे दार्शनिक एव सैद्धान्तिक पक्ष की ओर बहुत कम कवियो का ध्यान आकर्षित हुआ है। एक मात्र नरसी न इस विषय में विशेष पद-रचना की है। अन्य कवियो ने प्राय प्रसगवश सिद्धान्तों का निर्देश यत्र तत्र कर दिया है। व्रजभाषा मे वल्लभीय, राधावल्लभीय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अनेक कवि इस विषय मे सचेत रहे हैं। गौडीय सम्प्रदाय के कवियो मे अवश्य विशेष सामग्री प्राप्त नही होती। सिद्धान्त सम्बन्धी काव्य ग्रथो का परिचय वस्तु विश्लेषण के प्रसग में दिया जा चुका है।

सिद्धान्त पक्ष के समस्त विस्तार को निम्नलिखित विषयो में विभाजित कर लेने से विवेचन में सुगमता रहेगी—

१ ब्रह्म	२ जीव
३ जगत	४ माया
५ मोक्ष	६ भक्ति

ब्रह्म

कृष्ण का ब्रह्मरूप में ग्रहण गीता, गोपालपूर्वतापनीय, उपनिषद, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तादि पुराणो में सवत्र किया गया है। गीता में कृष्ण तथा ब्रह्म में नितात अभेद है।

कृष्ण ने जो भी ज्ञान अर्जुन को दिया वह सब ब्रह्म रूप मे स्थित होकर दिया है। अर्जुन भी कृष्ण को परब्रह्म कह कर सम्बोधित करते हैं—

पर ब्रह्म पर धाम पवित्र परम भवान्।

—गीता, अ० १०, श्लो० १२

—गोपालपूर्वतापनीय उपनिषद का भी प्रतिपाद्य कृष्ण का ब्रह्मत्व ही है—

तयोरैक्य पर ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।

—कल्याण, उप० अक०, पृ० ५५१

—भागवत ने कृष्ण को स्वय भगवान् के रूप मे "एते चाशकला पु स कृष्णस्तु भगवान् स्वय (१।३।२८) लिखकर स्वीकार किया और भगवान्, परमात्मा तथा ब्रह्म को एक ही अर्थ का बोधक बताते हुए उससे पूव ही लिख दिया है—

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।

—१।२।११

—इस प्रकार भगवान् कृष्ण ही ब्रह्म स्वीकृत हुए। ब्रह्मवैवतकार ने भी भागवत की इस मान्यता को ज्यो का त्यो ग्रहण करते हुए कृष्ण को पूण ब्रह्म माना—

१—एते चांशा कलाश्चान्ये सत्येव कतिधा मुने।

—कृष्ण जन्म खण्ड, अ० ९, श्लो० १२

२—भज सत्य पर ब्रह्म राधेश त्रिगुणात्परम्।

—वही, अ० १३३, श्लो० ७२

निम्बार्क, चैतन्य तथा वल्लभ द्वारा दार्शनिकतया कृष्ण के इस ब्रह्मत्व का पूण समथन हुआ और साम्प्रदायिक ग्रथो मे इस विषय का पर्याप्त विस्तार किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि आलोच्य काल मे दोनो भाषाओ के प्राय समस्त कवियो ने कृष्ण को परब्रह्म के रूप मे स्वीकार किया है। ब्रजभाषा के कवियो ने सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण किया है और गुजराती कवियो ने भागवतादि उपर्युक्त मूल ग्रन्थो के अनुसार। केवल कुछ अपवादो को छोडकर स्थिति प्राय ऐसी ही है।

जीव

सभी अद्वैतवादी दर्शन अन्तत जीव और ब्रह्म के तात्विक अभेद को स्वीकार करते हैं। 'जीवो ब्रह्मैव नापर' तथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन' आदि कथनो से यही प्रतिपादित किया गया है। 'अविकृत परिणामवाद' के सिद्धान्त मे जीव जगत के ऐक्य के साथ जीव ब्रह्म का ऐक्य भी स्वीकृत है। मुण्डक और बृहदारण्यक आदि उपनिषदो मे ब्रह्म को अग्नि और जीवो को स्फुलिगो का रूपक दिया गया है—

१ यथा सुदीप्तात् पावकाद विस्फुलिंगा सहस्रश प्रभवन्ते सरूपा,
तथा क्षराद् विविधा सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।

मुण्डक २-१-१

२ यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मन

बृहदारण्यक, २-१ २०

—शकराचाय ने भी इस औपनिषदिक रूपक को स्वीकार किया है—

परस्यव तावद् आत्मनो ह्यशो जीव अग्निरिव विस्फुलिगा

शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक वल्लभाचाय ने इस रूपक को अपनी सैद्धातिक व्याख्या मे विशेष स्थान दिया है। अपने तत्वदीप निबन्ध के शास्त्राथ प्रकरण मे उन्होने निम्नलिखित शब्दो मे इसे व्यक्त किया है—

विस्फुलिगा इवाग्नेस्तु सदशेन जडा अपि।
आनन्दाश स्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिण ॥३ ॥

जगत

जगत का मिथ्यात्व शकराचाय के उद्घोष 'जर्ग मिथ्या' के पश्चात् विकसित होने वाले विभिन्न दार्शनिक मतवादो के लिए एक अत्यन्त महत्वपूण विषय बना। रामानुज ने उसे अचित् के रूप मे ग्रहण करके ब्रह्म की उपाधि मात्र माना। अन्य आचार्यो ने भी अपना-अपना मत व्यक्त किया किन्तु वल्लभाचाय से पूव जगत् की सत्यता की पूण प्रतिष्ठा किसी ने भी नही की। शुद्धाद्वैत मे जगत को शुद्ध ब्रह्म का अविकृत परिणाम माना गया, जिसकी ओर ब्रह्म के प्रसग मे पहले सकेत भी किया जा चुका है। यही नही जगत और ससार मे स्पष्टतया सत्यासत्य का भेद स्थापित किया गया है। जगत् को विद्या माया से तथा ससार को अविद्या माया से उत्पन्न माना गया है।

माया

जगत् और ससार के भेद के साथ ही वल्लभाचाय ने माया के भी दो भेद किये—एक विद्या तथा दूसरा अविद्या। विद्यामाया वह जो ब्रह्म की वशवर्तिनी एव शक्ति है तथा जिसके द्वारा ब्रह्म समस्त जगत का निर्माण करता है और अविद्या माया वह जो जीव को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के द्वारा वशीभूत करके उसे पथभ्रष्ट करती रहती है—

विद्याविद्ये हरे शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दु खित्व चाप्यनीशता। ३५

—त० दी० निबन्ध, शास्त्राथ प्रकरण

मोक्ष

जीव की जन्म मृत्यु जरा व्याधि से छूटकर अखण्ड आनन्द प्राप्त करने की दशा को मोक्ष कहा गया है। इस स्थिति विशेष की सत्ता को प्राय सभी प्रमुख कवियो ने स्वीकार किया है। साम्प्रदायिक दर्शनो ने मोक्ष की स्थिति के अनेकानेक विभेद किये परन्तु सामान्यत ब्रजभाषा तथा गुजराती दोनो भाषाओ के कवियो ने चार प्रकार की मुक्ति का निर्देश किया है—

सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य।

भक्ति

साधना एव उपासना के अन्य मार्गो की अपेक्षा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता तथा महत्ता का प्रतिपादन वैष्णव चिन्ताधारा का मूल स्वर रहा है। गीता, भागवत, नारद भक्ति सूत्र, नारद पचरात्र तथा शाडिल्य भक्ति सूत्र आदि ग्रथो द्वारा भक्ति को कम तथा योग से भी श्रेष्ठतर स्थान दिया गया है जिसके परिणाम स्वरूप समस्त वैष्णव काव्य भक्ति की व्यापक आधार भूमि पर विकसित हुआ। गुजराती, ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य भी इसी सत्य का समथन करता है। प्राय सभी प्रधान कवियो ने भक्ति के महत्व को स्वीकार ही

नहीं किया अपितु स्पष्ट और सशक्त शब्दो मे उसका व्याख्यान एव गुणगान भी किया है। ब्रजभाषा के कवि अधिकतर किसी न किसी भक्ति सम्प्रदाय मे दीक्षित मिलते हैं। अतएव उनके लिए स्वाभाविक है कि वे भक्ति के यशमान काव्य रचें परन्तु गुजराती के कवियो ने भी, जिनका सम्बन्ध किसी भक्ति सम्प्रदाय से स्पष्टतया परिलक्षित नही होता, भागवत आदि के आधार पर भक्ति की प्रशसा मे तथा उनके महत्व को व्यक्त करते हुए पर्याप्त परिमाण मे काव्य रचना की है जिसकी ओर वस्तु विश्लेषण के प्रसग म निर्देश किया जा चुका है।

भक्ति का मुख्य भाव

भक्ति का मूल आधार भाव तत्व माना गया है। भावो की कोई सीमा नही निर्धारित की जा सकती अतएव भक्त और भजनीय के बीच के सम्बन्धों को भी सीमित नही किया जा सकता। फिर भी जिस प्रकार ससार मे मानव प्रेम के चार मुख्य रूप, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य मिलते हैं उसी प्रकार भक्ति मे भी इन्हीं को मुख्य भावो के रूप में स्वीकार किया गया है। दास्य सख्य का समावेश नवधा भक्ति मे 'दास्य सख्यमात्मनिवेदन' कह कर सातवें तथा आठवें प्रकार के रूप मे प्राप्त होता है। नारदभक्तिसूत्र म दी हुई एकादश आसक्तियों मे उन चारो भावो को सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, दास्यासक्ति तथा कान्तासक्ति के रूप मे ग्रहण किया है। शेष सात आसक्तियाँ इन मूल भावासक्तियो की सहगामिनी ही हैं। विरोधिनी नही। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु मे रागानुगा भक्ति के कामरूपा तथा सम्बन्ध रूपा को भेद करके और पुन सम्बन्धरूप के अन्यान्य उपभेद करके उक्त सभी मुख्य भावो को भक्ति के अन्तर्गत स्थापित किया गया है।

इन चारा भावो मे अन्तर्भाव का एक क्रम निर्धारित किया जाता है जिसके अनुसार प्रत्येक भाव मे उसके पूर्ववर्ती भाव या भावो का अन्तर्भाव हो जाता है जसे सख्य मे दास्य का वात्सल्य मे दास्य, सख्य दोनो का और माधुय मे दास्य, सख्य, वात्सल्य तीनो का।

भक्ति पथ मे सत्सग और नाम-कीर्तन की विशेष महत्ता

यो तो भक्त कवियो ने भक्ति से सम्बन्धित सभी वस्तुओ के महत्त्व को स्वीकार किया है परन्तु सत्सग तथा नाम-कीतन को विशेष महत्ता दी गयी है। सत्सग—भक्ति की उत्पत्ति एव विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करने वाला अद्वितीय साधन माना गया और बहुधा सतसग और साधु को उसके पर्याय रूप मे ग्रहण किया गया है। नाम कीर्तन अथवा नाम-स्मरण को भक्ति के अन्य साधनों म इसलिए सर्वाधिक महत्व दिया गया क्योकि भक्त को भगवान का परिचय नाम के ही आधार पर प्राप्त हो पाता है।

वैष्णव धम के इतिहास एव विकास की सक्षिप्त रूपरेखा

वैष्णव धम के उद्‌भव विकास और समग्र इतिहास के विविध पक्षा से सम्बद्ध अग्रेजी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ म प्रभूत काय हो चुका है। सस्कृत के आर्ष तथा लौकिक दोनो प्रकार के मूल ग्रन्थो का अनुशीलन करके निगमागम तथा इतर स्रोतो से प्राप्त सामग्री, जो उत्तरोत्तर उपलब्ध और विवचित होती रही है, किसी भी मनीषी के आगे एक चुनौती बनकर सामने आती है। वैष्णव साहित्य और उस पर आधारित शोध ग्रथो की सूची इतनी विशाल सिद्ध होगी कि उसके परिचयात्मक विवरण के लिये पूरा ग्रथ

अपेक्षित लगेगा, जिनमे पूर्व प्रयत्नो का समावेश हो तथा आगामी सम्भावनाओ का भी निर्देशन हो। मेरे सामने ऐसी कल्पना साकार रूप मे प्रस्तुत नही हुई है। विष्णु शब्द स्वय ही विस्तार और विराटता का द्योतक है अत 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' का सहारा लेकर मैं अनुक्रमात्मक एक लघु रूपरेखा नीचे दे रहा हूँ।

- वेदो मे विष्णु और उनके अवतार का मूल आधार, पुराणो मे दशावतारो और २४ अवतारो की विविध सूचियाँ और उनका नाम, रूप, लीलाधामपरक निरूपण।
- वैदिक उपासना का भक्ति मे रूपान्तरण।
- शैव स्रोत का वैष्णव स्रोत से सह-सम्बन्ध तथा अन्योन्याश्रित प्रभाव।
- विरोध का समाहार।
- पाचरात्र सहिताओ की भिन्न धारा का उद्भव।
- वेदेतर धारा म यज्ञ के कर्मकाण्डपरक रूप का विरोध
- विभिन्न उपनिषदो के सार रूप मे श्रीमदभागवत गीता का उदभव।
- नारायण और वासुदेव का एकीकरण।
- पाचरात्र अथवा भागवत सम्प्रदाय का विष्णुपूजा के रूप मे उद्भव और विकास।
- व्यूहवाद तथा अवतारवाद का अन्तर और अन्तर्भाव।
- विभिन्न पुराणो रामायण तथा महाभारत के आख्यानों, उपाख्यानो मे राम और कृष्ण की वरीयता।
- विष्णु के चतुर्भुज रूप से अनन्तबाहु रूप की बहुविध कल्पना और कला एव शिल्प तथा साहित्य में अवतारणा।
- यामुनाचाय आदि से समर्थित दक्षिण के आलवार भक्तो की विचारधारा और उनका प्रबन्धम।
- लीलातत्त्व का आविर्भाव।
- वैष्णव पुराणो मे—विष्णु पुराण, हरिवश पुराण, और श्रीमद्भागवत पुराण की विशेष स्थिति।
- विभिन्न वैष्णव कवियो के पद, सगीत साधना और उनकी गायन-प्रणाली।
- गीता के कृष्ण से हरिवश का बालचरित सम्बद्ध या असम्बद्ध, विभिन्न मत और वाद विवाद के अनेक सन्दर्भ।
- राम और कृष्ण के पौराणिक आख्यानो मे सूयवश और चन्द्रवश के इतिहास की सम्भावना महत्ता और सूक्ष्म अन्वेषण की दिशाएँ।
- विष्णु का स्वरूप विकास और राम और कृष्ण की ब्रह्म-रूप मे अवधारणा।
- राम और कृष्ण के अनादि अनन्त रूपो पर आधारित लीला विस्तार और उनका लोक मगलकारी रसात्मक स्वरूप।
- दृश्य-काव्य और श्रव्य काव्य के विभिन्न रूपो मे विविध विधाओ के अन्तगत नयी सम्भावनाओ, समस्याओ और कल्पनाओ का रचनात्मक विस्तार।
- श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा का एकात्म भाव।
- शक्ति-शिव के समान राधा कृष्ण और सीता-राम का द्वैता द्वैती स्वरूप।
- अद्वैत की सिद्धि और चरम आनन्द के साथ चरम पूर्णता का अनुभवात्मक साधनापरक निरूपण।
- भक्ति के विभिन्न सख्यादि, विभिन्न भाव।
- नवधा के विभिन्न स्वरूप।

- शाडिल्यभक्तिसूत्र, नारदभक्तिसूत्र जैसे विभि न भक्ति-सूत्रो का तुलनात्मक अनुशीलन और एकादश आसक्तियो मे उनका निर्वाह ।
- भक्ति के विभिन दार्शनिक सम्प्रदाय-रामानुज सम्प्रदाय (विशिष्टा द्वैत परक), निम्बार्क सम्प्रदाय (द्वैताद्वैतपरक), मध्व सम्प्रदाय (द्वैत परक), रुद्र-सम्प्रदाय अथवा वल्लभ सम्प्रदाय (शुद्धाद्वैत परक), चैत य सम्प्रदाय (अचि त्य भेदा-भेद परक)
- विभिन्न वैष्णव स्तोत्र, विष्णु सहस्रनाम—जैसे महिमा परक, ग्र थ और नाम जप के लिए विभि न नामो की महत्ता ।
- जैसे हरि शब्द मे सबका समावेश वैसे ही राम और कृष्ण शब्दो मे सबका अ तर्भाव ।
- मूर्तियो, म दिरो, तीर्थो तथा, यात्राओ का माहात्म्य धम, अथ, काम, मोक्ष और भक्ति के उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्वरूप का विकास ।
- दशधा-भक्ति अथवा प्रेमाभक्ति सर्वोपरि ।
- राधा कही भक्ति का रहस्यात्मक स्वरूप, कही ब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति ।
- वृ दावनीय भक्ति के नवोदित सम्प्रदाय—हरिदासीय सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय ।
- महाराष्ट्र मे वारकरी-सम्प्रदाय तथा गुजरात मे स्वामीनारायण-सम्प्रदाय आदि ।
- पूत्र सम्प्रदायो तथा नवोदित सम्प्रदाया के दाशनिक प्रवतक एव अनुयायी भक्त ।
- साधना के स्वरूप, उपासना-विग्रह और विभि न केन्द्रो का सख्यात्मक विस्तार ।
- शाकर अद्वैत की प्रक्रिया, भक्ति सम्प्रदायो की धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक पृष्ठभूमि ।
- 'स त' शब्द और 'भक्त' शब्द मे एकात्मता और अ तर ।
- भक्ति सम्प्रदायो का सन्त सम्प्रदायो से विलगाव ।
- वैदिक, अवैदिक धारा के विचार से विचार-भेद ।
- 'स त' शब्द का तुलसी, कबीर जैसे कवियो द्वारा समान प्रयोग ।
- भक्ति के उत्तरी और दक्षिणी विकासक्रम का तुलनात्मक अनुशीलन ।
- वैष्णव भक्ति का उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर मे आदान-प्रदान, इसी प्रकार पूव और पश्चिम मे भी वैष्णव धम का चतुर्दिक विकास, प्राचीन, मध्यकालीन एव आधुनिक काल मे विश्वव्यापी प्रभाव।
- नयी चेतना का उदय ।
- तिलक के गीता पर आधारित गाधीवाद वैष्णवता का पुनर्जागरण ।
- 'हरिजन' शब्द की नयी व्याख्या और सास्कृतिक महत्ता अ त्यजो और अछूतों को हि दू धर्म मे सहज स्वीकार, वण व्यवस्था तथा क्षेत्रीय भेद से ऊपर वैष्णवता का दायित्व ।
- वैष्णवता, मानवता का पर्याय ।

बौद्ध-दर्शन : अवदान साहित्य और दिव्यावदान

डॉ० श्याम प्रकाश

'अवदान' क्या है ?

बौद्धेतर सस्कृत साहित्य मे 'अवदान' शब्द का अथ है, पराक्रमपूर्ण कृत्य'। रघुवश के ग्यारहवें सर्ग के इक्कीसवें श्लोक मे 'अवदान' शब्द प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा गया है कि विश्वामित्र ने अपने शिष्य राम के अवदान (पराक्रम-पूण कृत्य) से प्रसन्न होकर उन्हे एक अलौकिक शस्त्र प्रदान किया।[१] कुमार-सम्भव[२] मे, एव दण्डी दशकुमारचरित[३] मे भी 'अवदान' शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

किन्तु बौद्ध सस्कृत साहित्य मे 'अवदान' शब्द का प्रयोग किसी धार्मिक या नैतिक स्मरणीय, साहसिक या महत् कम के अथ मे हुआ है इस प्रकार का महत् कर्म स्व-जीवनापण हो सकता है अथवा स्वर्ण-रत्न-पुष्पादि का दान अथवा स्तूप चैत्यादि का निर्माण।

अमरसिंह ने अमर कोश मे 'अवदान' का अथ 'कमवृत्तम्' किया है।[४] इस को 'अपदान' का पाठान्तर भी स्वीकार किया जाता है—अपदानमित्यपि पाठ।'

वस्तुत अवदान कथाएँ इस तथ्य का प्रतिपादन करती हैं कि कृष्ण कर्मों का फल कृष्ण और शुक्ल कर्मों का फल शुक्ल होता है। अत इनको कर्मकथा की भी सज्ञा दी जा सकती है। इन कथाओ से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार एक जीवन के कम, भूत या भविष्य जीवन के कर्मों के साथ सम्बद्ध हैं। ये कथाएँ स्वय भगवान बुद्ध के द्वारा कथित होने के कारण बुद्ध-वचन के समान प्रामाणिक मानी जाती हैं तथा बुद्ध-वचन के नाम से भी अभिहित की जाती हैं।

जातको के समान, अवदान भी एक प्रकार के प्रवचन हैं। प्राय अवदान के प्रारम्भ मे यह रहता है कि कहा (किस स्थान पर) और किस अवसर पर भगवान बुद्ध ने भूतकाल की कथा कही और अन्त मे, भगवान बुद्ध इस कथा से अपने नैतिक सिद्धान्त का निष्कर्ष निकालते हैं। अतएव एक अवदान मे एक प्रस्तुत कथा भूतकथा और तदनन्तर नैतिक-सिद्धान्त का सग्रह रहता है।

जातको मे कथा का नायक कोई बोधिसत्व अवश्य होता है। इस आधार पर यदि भूतकथा का नायक बोधिसत्व हो, तो अवदान को भी जातक द्वारा अभिहित किया जा सकता है।

---

१ तैस्त्वं तद्गमय मन्त्रवन्मुने प्रापदस्त्रमवदानतोषितात।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तक ॥

२ विश्वावसुप्राग्रहरै प्रवीणै सङ्गीयमानत्रिपुरावदान।
अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी ॥ (कुमारसम्भवम्, ७ ४८)

३ दशकुमारचरितम् उत्तरखण्ड द्वितीय उच्छ्वास।

४ अमरकोश, द्वितीय खण्ड, सकीर्ण वग।

कुछ अवदानो मे अतीत जन्म की कथा होती है, जिसका फल प्रत्युत्पन्न काल मे मिला। किन्तु कुछ ऐसे भी विशिष्ट प्रकार के अवदान हैं, जिनमे अतीत की कथा नही प्राप्त होती। ये अवदान 'व्याकरण' के रूप मे हैं, जिनमे भगवान बुद्ध ने एक भूतकथा के बजाय प्रत्युत्पन्न की कथा वर्णित कर अनागत फल (भविष्यत) का व्याकरण किया है।

प्रत्येक अवदान कथा के अन्त मे, साधारणत यह सिद्ध किया गया है कि शुक्ल कर्म का शुक्ल-फल, कृष्ण-कर्म का कृष्ण और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है।

इस प्रकार अवदान—कथाएँ कर्म प्राबल्य या कर्म फल को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से लिखी गई प्रतीत होती हैं।

बौद्धो के सस्कृत निविष्ट धर्मग्रन्थ बारह विभागो मे विभाजित है—

सूत्र गेय व्याकरण गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तक निदान वैपुल्य च सजातकम्।
उपदेशादभुतौ धर्मौ द्वादशाङ्गमिद वच ॥[1]

इन द्वादशागो मे बुद्ध के धर्मोपदेश निहित हैं—'द्वादशधर्मप्रवचनानि'। इन मे 'अवदान छठा अग है।

अवदान-साहित्य मे 'दिव्यावदान'

अवदान साहित्य मे सम्भवत 'अवदान शतक' सब प्राचीन है। 'दिव्यावदान' इस से कुछ समय के बाद का सकलन है। 'दिव्यावदान' जैसा इस के नाम से ही प्रकट होता है, दिव्य अवदानो का सकलन है। ये अवदान बौद्धो के धर्मग्रन्था-विनय, दीर्घागम, मध्यमागम, सयुक्तागम आदि मे यत्र तत्र बिखरे हुए थे जिनका एकत्र सकलन युवा भिक्षुओं के लाभ को दृष्टि मे रखते हुए किया गया प्रतीत होता है। अवदान की कथाएँ ('विनय') से ली गई हैं वो कई सूत्र से।

अवदान-साहित्य की कुछ अपनी विशेषताएँ है, जिनमे से एक है उनका समान उद्धरण अर्थात् ऐसे स्थलो की उपलब्धि जहाँ एक ही शब्द या एक ही (समान) वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे समान उद्धरण अवदान शतक के प्रत्येक अवदान में अपने पूर्ण स्वरूप मे प्राप्त होते हैं, परन्तु 'दिव्यावदान' मे इन उद्धरणो की प्राप्ति, कभी पूर्ण रूप मे, कभी विस्तार के साथ और कभी सक्षिप्त रूप मे 'पूर्ववत् यावत ' के साथ होती है।

इसी प्रकार बुद्धस्मिति (मन्द हास्य) का वर्णन एक दो वाक्य मे ही नही एक दो पृष्ठ तक एक से ही शब्दो मे अनेक स्थलो पर प्राप्त होता है[2]। तथागत सम्यक सम्बुद्ध किसी भविष्यत का व्याकरण करने से पूर्व स्मिति का उपदर्शन करते है। जिस समय भगवान बुद्ध मुस्कराते हैं, उस समय उनके मुख से नील, पीत, लोहित और अवदान वर्ण की किरणें निकलती हैं। इनम से कुछ किरणें अध लोक (नरक) मे और कुछ ऊपर देवलोक मे जाती है। अनेक सहस्र लोको का भ्रमण कर ये किरणें पुन भगवान् बुद्ध के पास लौट आती हैं और व्याकरण नियमानुसार उनके शरीर के विभिन्न अगो मे अन्तर्हित हो जाती हैं।

---

१ (हरिभद्र आलोक, बडौदा सस्करण, पृ० २५) डा० पी० एल० वैद्य सम्पादित 'दिव्यावदान' की प्रस्तावना, पृ० १७

२ ब्राह्मणदारिकावदान, पृ० ४१-४२, अशोकवर्णावदान, पृ० ८६, ज्योतिष्कावदान, पृ० १६३-६४, पाशुप्रदानावदान, पृष्ठ २३० ३१।

'दिव्यावदान' के अधिकतर अवदानो[1] की समाप्ति इन शब्दो के साथ हुई है—

'इदमवोचद्भगवान । आत्तमनसस्ते भिक्षवो भगवतो भाषितमभ्यनन्दन ॥

कई अवदानो[2] के अन्त मे भगवान बुद्ध ने भिक्षुओ को अपने इस नैतिक आदर्श की शिक्षा दी है—

'इति हि भिक्षव एकान्तकृष्णानां कर्मणामेकान्तकृष्णो,
विपाक, एकान्तशुक्लानां कर्मणामेकान्तशुक्लो विपाक,
व्यतिमिश्राणां व्यतिमिश्र । तस्मात् तर्हि भिक्षव एकान्त-
कृष्णानि कर्माण्यपास्य व्यतिमिश्राणि च, एकान्तशुक्ले-
ष्वेव कर्मस्वाभोग करणीय । इत्येव वो भिक्षव शिक्षितव्यम् ।'

'दिव्यावदान' के अवदानो की भाषा-शैली पृथक् पृथक् है । कुछ अवदान अपाणिनीय संस्कृत शैली मे जैसे 'चन्द्रप्रभबोधिसत्त्वचर्यावदान' और कुछ शुद्ध पाणिनीय संस्कृत शैली मे जैसे 'मैत्रकन्यकावदान' लिखे गये हैं । 'मैत्रकन्यकावदान' मे विभिन्न प्रकार के छन्दो का प्रयोग, गद्य शैली मे लिखे हुए लम्बे लम्बे वाक्यो से प्रतीत होता है कि इसका प्रणयन किसी लौकिक संस्कृत के निष्णात् पण्डित की लेखनी द्वारा हुआ है । इस अवदान के प्रारम्भ का अंश 'मातयपकारिण प्राणिन ' और अवदान के अन्त का 'तत्किमिद-भुपतीतम' इन अंशो की तुलना 'जातकमाला' के प्रारम्भ और अन्त के अंशो से करने पर यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि यह अवदान आयशूर कृत है ।

'पांशुप्रदानावदान' मे वर्णित उपगुप्त और मार की कथा, पाणिनीय संस्कृत शैली के आदर्श पर लिखित और नाट्यगुण-परिप्लुत है । यह सम्पूर्ण कहानी इतनी नाटकीय है कि इसे एक बौद्ध-नाटक माना जा सकता है । यह अंश शब्दत कुमारलात की 'कल्पनामण्डितिका' से उद्धृत किया गया है ।

'दिव्यावदान' के अवदानो का संकलन बिना किसी आयोजन के किया गया प्रतीत होता है । एक ही संकलन ग्रन्थ मे हमे 'तोयिकामहावदान' की प्राप्ति इन्द्रब्राह्मणावदान' की पुनरावृत्ति के रूप मे होती है । अवदानो के संकलन मे किसी विषय-क्रम के नियम को भी दृष्टि मे नहीं रखा गया है । संघरक्षित की कहानी बिना किसी आवश्यकता के ही दो भागो मे वर्णित की गई है और इन दो भागो के बीच मे एक अन्य अवदान 'नागकुमारावदान' का समावेश कर दिया गया है ।

अवदान शतक की सहायता से अवदान मालाओ की रचना हुई, यथाकल्पद्रुमावदानमाला, अशोकावदानमाला, द्वाविंशत्यवदानमाला । अवदानो के अन्य संग्रह भद्रकल्पावदान और विचित्रकर्णिकावदान भी है । अन्त मे, क्षेमेन्द्र की अवदान कल्पलता का उल्लेख भी अवदान-साहित्य मे आवश्यक है । इस ग्रंथ की समाप्ति १०५२ ई० मे हुई । इसमे १०७ कथाएँ संग्रहीत है । क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी और साथ ही इसमे एक कथा और जोड दी । इसका नाम है 'जीमूतवाहन-अवदान' । इस प्रकार इस ग्रंथ मे कथाओ की संख्या १०८ हो जाती है ।

'दिव्यावदान के स्रोत

'दिव्यावदान' का संकलन विभिन्न स्रोतो से हुआ है । यद्यपि यह ठीक है कि इसके कुछ अंश मूलसर्वास्तिवादियो के विनय से उद्धृत किये गये हैं तथापि यह कहना उचित नही कि ये अवदान केवल

---

१ कोठिकर्णावदान, पृ० १४, पूर्णावदान, पृ० ३३, मैत्रेयावदान, पृ० ४०, ब्राह्मणदारिकावदान, पृ० ४४, स्तुतिब्राह्मणावदान, पृ० ४६ इत्यादि ।

२ कोठिकर्णावदान, पृ० १४ पूर्णावदान, पृ० ३३, स्वागतावदान, पृ० ११९ इत्यादि ।

विनय के ही अश हैं। इसकी कई कथाएँ 'विनय' की तो कई 'सूत्र' की अग हैं। वस्तुत इसके स्रोतो की जानकारी के लिए सामान्य रूप से सस्कृत मे रचित सभी बौद्ध साहित्य का अन्वेषण करना पडेगा।

'प्रातिहार्यसूत्र' और 'दानाधिकारमहायानसूत्र' महायान पथ के पुराने सूत्रो के अवशेष हैं। इन दोनो मे शीर्षक मे 'सूत्र' शब्द भी प्राप्त होता है। 'नगरावलम्बिकावदान', 'मेण्ढकगृहपतिविभूतिपरिच्छेद, 'मेण्ढकावदान' 'सुधनकुमारावदान', 'तोभिकामहावदान' का अश गिलगिट की पाडुलिपियो मे प्राप्त होता है। 'मान्धातावदान' अशत विनयवस्तु से तथा अशत मध्यमागम से उद्धृत है। 'पाँशुप्रदानावदान' मे वर्णित उपगुप्त की कथा का सचयन कुमारलात की 'कल्पनामण्डितिका' से हुआ है और अन्तिम अवदान 'मैत्रकन्यकावदान' आर्यशूर की 'जातक-माला' से प्रभावित है।

ग्रन्थकार

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है, 'दिव्यावदान' एक सकलित ग्रन्थ है और इसका सग्रह विभिन्न स्रोतो से किया गया है। अतएव यह किसी एक ग्रन्थकार की कृति नही प्रतीत होती। फिर भी अन्तिम अवदान पर पहुँचते ही वह प्राचीन पौराणिक शैली बदल जाती है और उसके स्थान पर शुद्ध एव विदग्ध पाणिनीय सस्कृत शैली का दर्शन होता है, जिससे यह अनुमान होता है कि इस अवदान का सस्कार आर्यशूर द्वारा किया गया है। अतएव, सम्भवत यही प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्यशूर के द्वारा सग्रहीत किया गया होगा।

'दिव्यावदान का काल-निर्णय

दिव्यावदान' की सामग्री बहुत कुछ मूल-सर्वास्तिवादियो के 'विनय वस्तु' और कुमारलात की 'कल्पनामण्डितिका' से प्राप्त हुई है। गिलगिट पाडुलिपियो के विनय-वस्तु मे 'द्विसावदान' के अनेक अवदान पूर्णत या अशत प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ 'मान्धातावदान' अशत 'विनय वस्तु' से तथा अशत 'मध्यमागम' से लिया गया है। 'सुधनकुमारावदान', 'स्तुतिब्राह्मणावदान' आदि 'विनय वस्तु' से शब्दश उदधृत किए गए हैं। इस प्रकार जब दिव्यावदान' का सकलन विविध स्रोतो से किया गया है, तब यह निश्चित है कि इस ग्रथ के भिन्न-भिन्न अशो की रचना भी भिन्न भिन्न समय में हुई।

डा० एम० विन्टरनिटज की यह मान्यता है कि इसके कई अश निश्चित रूप से खिस्तोत्तर तृतीय शताब्दी के पूर्व लिखे गए हैं। किन्तु सम्पूर्ण सग्रह चौथी शताब्दी से बहुत पूर्व का नही हो सकता[1]। क्योंकि अशोक के उत्तराधिकारी ही नही, शुगवश के पुष्यमित्र तक के राजाओ (लगभग ई० पू० १७८) का उल्लेख इस ग्रथ मे प्राप्त होता होता है। 'दीनार' शब्द का प्रयोग भी अनेक बार हुआ है। एक बात और ध्यान देने की यह है, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है कि इस ग्रथ के सकलन कर्ता ने 'कल्पनामण्डितिका' से कुछ सामग्री का चयन किया है। अत यह समीचीन प्रतीत होता है कि कनिष्क के बहुत समय बाद उत्पन्न हुए 'कल्पनामण्डितिका' के लेखक कुमारलात के पश्चात पर्याप्त काल का व्यवधान हो, जिसमे 'दिव्यावदान' का सकलन कर्ता उसकी कृति की सामग्री का उपयोग कर सके। ये सब तथ्य इसके काल को लगभग ३५० ई० तक पहुँचा देते हैं।

---

१ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-२—डा० एम० विन्टरनिटज।

पुन 'शार्दूलकर्णावदान' का अनुवाद चीनी भाषा मे टिचू जा हू के द्वारा २६५ ई० मे हुआ प्राप्त होता है, जिसका चीनी नाम 'शो ताऊ कीन किंग' था[1]। इससे यह प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ का प्रस्तुत रूप मे सकलन खिस्तोत्तर २०० और ३५० के मध्य हुआ होगा।

'दिव्यावदान' का साहित्यिक मूल्यांकन

'दिव्यावदान' मे अनेक ऐसे साहित्यिक तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं, जिनका पृथक् अध्ययन किया जा सकता है।

'पांशुप्रदानावदान' मे उपगुप्त और मार की कथा इतने नाटकीय ढग से वर्णित हुई है कि यह तत्कालीन नाट्य शास्त्र के विकास का ज्ञान कराती है। स्थविर उपगुप्त मार से भगवान के रूपकाय को दिखलाने के लिए कहते हैं। वह इस शर्त पर भगवान् के रूपकाय को दिखलाने के लिए तत्पर होता है कि वह (स्थविर उपगुप्त) उसे उस रूप मे देखकर प्रणाम न करें। मार अपने रूप को अलकृत कर व्यामप्रभामण्डलमण्डित असेवनक दर्शन भगवान् बुद्ध का रूप धारण कर उपगुप्त के सामने आता है। वह भगवान् बुद्ध के उस कमनीय एव गभीर रूप का दर्शन कर उन्हें प्रणाम करते हैं। इस पर मार कहता है कि आपने मेरे नियम का उल्लघन कर दिया। परन्तु उपगुप्त कहते हैं कि मैंने तो भगवान को प्रणाम किया, तुम को नहीं[2]। तदनन्तर मार उपगुप्त की अभ्यर्चना कर वहा से चला जाता है।

'मैत्रकन्यकावदान' की भाषा शैली प्राजल है। उसमे दीर्घ समासो का प्रयोग हुआ है। छन्दो के अनेक प्रकार प्रयुक्त हुए हैं। यह पाणिनीय सस्कृत मे लिखा हुआ एक सुन्दर अवदान है। 'कुणालावदान' में कुणाल की कारुणिक कथा का वर्णन किया गया है।

अन्य कवियो ने भी 'दिव्यावदान' से अपनी कविता के भाव ग्रहण किए हैं। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अक मे पुरुरवा का उर्वशी के लिए विलाप उसी प्रकार से वर्णित हुआ है, जिस प्रकार से हमे 'सुधनकुमारावदान' मे सुधन के द्वारा मनोहरा के लिए किया गया विलाप मिलता है[3]। ●

---

१ दी सस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर आफ नेपाल—राजेन्द्र लाल मित्र

२ पांशुप्रदानावदान, पृ० २२८।

३ दिव्यावदान म सस्कृति का स्वरूप—डा० श्याम प्रकाश, पृ० १४

जैन दर्शन : स्याद्वाद या अनेकान्तवाद

गणेश ललवानी

तत्वाथ सूत्र मे कहा गया है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत। अर्थात् जिसमे उत्पत्ति (उत्पाद), विनाश (व्यय) एव स्थिति (ध्रौव्य) है वह सत् है। इसका तात्पय यह हुआ कि हर पदाथ मे उत्पाद, विनाश और स्थिति का काय एक साथ चल रहा है। पदाथ का जो अश ध्रुव है वह द्रव्य है, जो अस्थिर है वह पर्याय। पदाथ द्रव्य रूप मे नित्य है, पर्याय रूप मे अनित्य। परतु द्रव्य और पर्याय सवथा पूण भिन्न नही हैं, अभिन्न भी हैं। अत हर एक द्रव्य मे अनेक धर्म हैं। पदाथ के इन परस्पर विरोधी धम को भिन्न भिन्न अपेक्षा से स्वीकार करना ही स्यादवाद है। स्यादवाद के स्यात शब्द का अथ है कथचित् या किसी अपेक्षा से। उदाहरण स्वरूप एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, मामा, भानजा विभिन्न रूपो मे सम्मुख आता है। वह अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता, स्वय के पिता की अपेक्षा से पुत्र, भानजे की अपेक्षा से मामा और मामा की अपेक्षा से स्वय भानजा होता है। इसी प्रकार जीव आत्मा की अपेक्षा से नित्य, शरीर की अपेक्षा से अनित्य होता है। घट को ही लीजिए—वह नित्य भी है, अनित्य भी। घट रूप मे वह अनित्य है, किन्तु मृत्तिका के रूप मे नित्य है। कारण मृत्तिका के परमाणु किसी न किसी रूप मे सदैव ही रहेंगे। अत वस्तु को किसी एक धम को एकान्त या निश्चयात्मक रूप प्रतिपन्न करने से वह सत्य नही हो सकता। यदि हम कहें वह केवल पिता है तो यह प्रतिपादन सत्य नही हो सकता।

जैन दर्शन कहता है वस्तु के अनन्त धम होने पर भी सप्तभगी के द्वारा पदाथ का सर्वांगीण ज्ञान देना सम्भव है। सप्तभगी का सामान्य अर्थ है विचार धारा के सात प्रकार किसी एक वस्तु के अस्तित्वादि धम के विषय मे जिज्ञासा उपस्थित होने पर विरोधशून्य एव प्रत्यक्षादि प्रमाणो से निर्वाधरूपेण पृथक्-पृथक् या सम्मिलित रूप मे विधि एव निषेध की पर्यालोचना कर आपेक्षिकता से जो सात प्रकार का वचन विन्यास किया जाता है उसे सप्तभगी कहते हैं। क्योंकि इस प्रकार के वचन विन्यास सात ही होगे। किसी वस्तु को एक धर्म का प्रतिपादन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उस वस्तु की अन्य सम्भावनाएँ लुप्त न हो जाएँ। यथा घट द्रव्य का नित्यत्व धम व्यक्त करने के लिए 'स्यात घट नित्य', 'घट कथचित नित्य' या किसी अपेक्षा से घट नित्य है' इस प्रकार वचन विन्यास करना चाहिए। क्योंकि ऐसे वाक्य प्रयोग से घट अनित्य भी हो सकता है इसकी सम्भावना रह जाती है। वैसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एव स्वभाव की अपेक्षा से घट वस्तु का अस्तित्व है किन्तु अन्य द्रव्य घटादि की अपेक्षा से घट का अस्तित्व नही है।

उक्त सात प्रकार के वचन विन्यास इस प्रकार हैं —

१ स्यात् अस्ति—यह विधि कल्पना से प्रथम भग है।

२ स्यात नास्ति—यह निषेध कल्पना से द्वितीय भग है।

३ स्यात अस्ति नास्ति च—यह विधि निषेध कल्पना का तृतीय भग है।

४ स्यात् अवक्तव्य—यह एक साथ विधि निषेध कल्पना का चतुर्थ भंग है।
५ स्यात् अस्ति अवक्तव्यश्च—विधि कल्पना एव एक साथ विधि-निषेध कल्पना का पाचवाँ भग है।
६ स्यात् नास्ति अवक्तव्यश्च—निषेध कल्पना एव एक साथ विधि निषेध कल्पना का छठा भग है।
७ स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च—यह अनुक्रमण म विधि-निषेध कल्पना एव एक साथ विधि निषेध कल्पना का सातवाँ भग है।

जीव शब्द पर इस सप्तभगी का प्रयोग इस भाँति होगा

१ जीव किसी अपेक्षा से नित्य है—इस वाक्य मे जीव किसी अन्य अपेक्षा से अनित्य भी है इसकी सम्भावना रह जाती है।

२ जीव किसी अपेक्षा से अनित्य है—इस वाक्य मे जीव किसी से नित्य भी है यह सम्भावना रह जाती है।

३ जीव किसी अपेक्षा से नित्य एव अनित्य उभय प्रकार है।

४ जीव किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है—जीव के नित्यत्व एव अनित्यत्व धम को एक साथ प्रतिपादन करने की इच्छा करने पर उसे किसी शब्द से प्रकाश करना सम्भव नही है। अत अवक्तव्य कहा गया।

५ जीव किसी अपेक्षा से नित्य एव अवक्तव्य है—इस भग से जीव का नित्यत्व एव नित्यानित्यत्व एक साथ प्रतिपादित किया गया है।

६ जीव किसी अपेक्षा से अनित्य एव अवक्तव्य है—इस भग म जीव के अनित्यत्व एव नित्यानित्यत्व स्वभाव का एक साथ प्रतिपादन किया गया है।

७ जीव किसी अपेक्षा मे नित्य अनित्य एव अवक्तव्य है—इस भग मे जीव के नित्यत्व और अनित्यत्व सहित एक साथ नित्यानित्यत्व स्वभाव की बात कही गयी है।

इस प्रकार सात भग के अतिरिक्त आठवाँ भग नहीं हो सकता। जिस प्रकार जीव पर सात भगों का प्रयोग किया गया उसी प्रकार अन्य वस्तुओ पर भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

स्याद्वाद सशयवाद नही है जैसा कि स्यादवाद के विरोधी कहते हैं। सशयवाद तो उसे कहते हैं जिससे कोई तथ्य निर्णीत नही हो सकता। जैसे कि अन्धकार मे रस्सी को देखकर यह रज्जु है या सप यह निणय नही होता। परन्तु स्याद्वाद ऐसा नही है। स्यादवाद इसके विपरीत भिन्न भिन्न दृष्टियो से एक ही वस्तु के विभिन्न गुण प्रकट कर उसको पूण रूपेण प्रकाशित करता है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि भारतीय सस्कृति को जैन धम की जो सबसे बडी देन है वह है स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। कुछ लोगो का कथन है कि स्यादवाद के अनुरूप चिन्तन प्रणाली प्राचीन उपनिषद् एव प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो मे पायी जाती है। किन्तु सत्य तो यह है कि इस स्याद्वाद को व्यावहारिक एव तक सगत रूप देने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है। उन्होंने अपनी असाधारण चिन्तनशीलता एव मेधा से इसे पुष्ट किया है। वे यह पूणत समझ गये थे कि वस्तु म मात्र एक धम का आरोपण करने से उसका सही निरूपण नही हो सकता। क्योकि वस्तु मे विभिन्न धर्मों का समावेश देखा जाता है। जो एक दृष्टि से नित्य है वही अन्य दृष्टि से अनित्य। जिस प्रकार मैं एक दृष्टि से जीव को नित्य कह सकता हू ठीक उसी प्रकार दूसरा दूसरी दृष्टि से अनित्य भी कह सकता है। पर भ्रान्त जिस भाँति मुझे नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार उसे भी नही कहा जा सकता। लेकिन यह तो कहना ही होगा कि हम दोनो

मे से कोई पूर्ण सत्य के निकट नही है। पूर्ण सत्य तो तब प्रकट होगा जब कि उस वस्तु पर विभिन्न दृष्टि कोणो से तुलनात्मक पद्धति या अपेक्षा दृष्टि से विचार किया जाएगा।

इस स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का जैन धर्म के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि लोग जैन दर्शन को ही अनेकान्त दर्शन कहने लग गए। और यह भी समझ लिया कि अनेकान्त दर्शन का खण्डन ही जैन दर्शन का खण्डन है। अत दार्शनिकप्रवर शंकराचार्य से लेकर करीब करीब सभी जैनेतर दार्शनिकों ने स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का खण्डन करने का प्रयत्न किया। पर वे खण्डन कर न सके। करते भी कैसे ? स्याद्वाद प्रतिष्ठित है व्यवहार की सुदृढ भूमि पर।

शंकराचार्य कहते हैं एक ही वस्तु सद्-असद् दोनो नही हो सकती। ब्रह्मसूत्र के 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' की व्याख्या करते हुए ये कहते हैं कि स्याद्वाद के अनुसार एक ही वस्तु मे सत्ता और असत्ता का समावेश असम्भव है। अत स्याद्वाद निरर्थक है। परन्तु स्वप्रतिष्ठित अद्वैतवाद को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अनिर्वाच्या माया की सहायता से जगत प्रपंच का मिथ्यात्व निरूपण किया है। उनका कथन है 'जगजात वस्तु माया प्रसूत होने के कारण सत भी है असत भी है अत अनिर्वाच्य है। क्योंकि माया का स्वरूप सद् असद् होने के कारण अनिर्वाच्य है।' क्या ऐसा कहकर उन्होंने स्याद्वाद के 'अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य का प्रयोग नही किया ? तभी तो महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, ऐतिहासिक रामकृष्ण गोपाल भंडारकर आदि विद्वानो ने शंकराचार्य कृत स्याद्वाद खण्डन के प्रयास को मात्र पंडश्रम कहा है। इतना ही नही समग्र तर्कवाद मे न्याय वैशेषिक बौद्ध मतादि के खण्डन मे शंकराचार्य ने जिस युक्ति प्रणाली का अवलम्बन लिया है वह जैनाचार्यों के स्याद्वाद चिन्तन के अनुरूप है।

इसी प्रकार न्यायादि के स्याद्वाद के प्रमाणो को अस्वीकार करने पर भी स्याद्वाद का जो फल है वह उनमे स्पष्टत दिखाई पडता है। उपाधि भेद से एक ही वस्तु मे विभिन्न धर्मों का समावेश नैयायिक-गण मानते हैं। कहते हैं परमाणु नित्य होने पर भी परमाणु समष्टि अनित्य है। सांख्यकार पुरुष को मुक्त असंसारी मानते हुए भी प्रकृति सम्पर्क मे उसे बद्ध अंगीकार करते हैं। वेदान्तिकगण ब्रह्म को निर्गुण उपासनातीत कहते हुए सगुण रूप मे उसीका उपास्यत्व स्वीकार करते हैं। अत यह प्रत्यक्ष सत्य है कि साम्प्रदायिक दृष्टि दोष से ये स्यादवाद को भले ही नही माने पर अपने अपने स्वमत की प्रतिष्ठा मे इस स्याद्वाद का ही प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। क्योंकि जगत का स्वरूप वास्तव मे प्रहेलिकामय है। किसी भी वस्तु के लिए एकान्त रूप मे न यही कहा जा सकता है 'यह वही है'। न उसे एकान्त नित्य कहा जा सकता है न एकान्त अनित्य। न उसे एक कहा जा सकता है न अनेक। हर वस्तु अपने रूप मे प्रतिनियत है भी, नही भी है। इसीलिए तो स्याद्वाद कहता है किसी वस्तु को किसी एक विशेषण मे विशेषित मत करो। करने से ही भ्रम मे पडोगे।

अरस्तू के तर्क शास्त्र मे Law of Identity, Contradiction और Excluded Middle नामक तीन नियम हैं। इन नियमो का कार्य है भाव राज्य मे सामंजस्य स्थापित करना। Law of Identity के अनुसार जिस वस्तु को जिस रूप मे हम ग्रहण करते हैं उसी मे ग्रहण करेंगे। इसका व्यतिक्रम नही होगा। जैसे A is A घट घट ही है। यह घट पुराना है या नया यह नही कहा जायगा। Law of Contradiction कहता है—एक वस्तु मे दो विरोधी धर्म की कल्पना नही की जा सकती। A can not be both B and not-B घट मृत् संस्थान विशेष है भी, नही भी है यह नही कहा जा सकता। Law of Excluded Middle कहता है—कोई वस्तु द्विकोटि विनिर्मुक्त है यह नही कहा जा सकता। घट को या तो अस्ति कहो या नास्ति कहो, इसके अतिरिक्त और कुछ मत कहो किन्तु आजकल के पाश्चात्य Pragmatic

४ स्यात् अवक्तव्य—यह एक साथ विधि निषेध कल्पना का चतुर्थ भग है ।

५ स्यात् अस्ति अवक्तव्यश्च—विधि कल्पना एव एक साथ विधि-निषेध कल्पना का पाचवा भग है ।

६ स्यात् नास्ति अवक्तव्यश्च—निषेध कल्पना एव एक साथ विधि-निषेध कल्पना का छठा भग है ।

७ स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च—यह अनुक्रमण मे विधि-निषेध कल्पना एव एक साथ विधि निषेध कल्पना का सातवाँ भग है ।

जीव शब्द पर इस सप्तभगी का प्रयोग इस भाति होगा

१ जीव किसी अपेक्षा से नित्य है—इस वाक्य मे जीव किसी अन्य अपेक्षा से अनित्य भी है इसकी सम्भावना रह जाती है ।

२ जीव किसी अपेक्षा से अनित्य है—इस वाक्य मे जीव किसी से नित्य भी है यह सम्भावना रह जाती है ।

३ जीव किसी अपेक्षा से नित्य एव अनित्य उभय प्रकार है ।

४ जीव किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है—जीव के नित्यत्व एव अनित्यत्व धम को एक साथ प्रतिपादन करने की इच्छा करने पर उसे किसी शब्द से प्रकाश करना सम्भव नही है । अत अवक्तव्य कहा गया ।

५ जीव किसी अपेक्षा से नित्य एव अवक्तव्य है—इस भग से जीव का नित्यत्व एव नित्यानित्यत्व एक साथ प्रतिपादित किया गया है ।

६ जीव किसी अपेक्षा से अनित्य एव अवक्तव्य है—इस भग मे जीव के अनित्यत्व एव नित्यानित्यत्व स्वभाव का एक साथ प्रतिपादन किया गया है ।

७ जीव किसी अपेक्षा से नित्य अनित्य एव अवक्तव्य है—इस भग मे जीव के नित्यत्व अनित्यत्व सहित एक साथ नित्यानित्यत्व स्वभाव की बात कही गयी है ।

इस प्रकार सात भग के अतिरिक्त आठवाँ भग नही हो सकता । जिस प्रकार जीव पर सा का प्रयोग किया गया उसी प्रकार अन्य वस्तुओ पर भी इसका प्रयोग किया जा सकता है ।

स्याद्वाद सशयवाद नही है जैसा कि स्यादवाद के विरोधी कहते हैं । सशयवाद तो उ है जिससे कोई तथ्य निर्णीत नही हो सकता । जैसे कि अन्धकार मे रस्सी को देखकर यह रज्जु यह निणय नहीं होता । परन्तु स्याद्वाद ऐसा नही है । स्यादवाद इसके विपरीत भिन्न भिन्न एक ही वस्तु के विभिन्न गुण प्रकट कर उसको पूण रूपेण प्रकाशित करता है ।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि भारतीय सस्कृति को जैन धम की जो सबसे बडी दा स्याद्वाद या अनेकान्तवाद । कुछ लोगो का कथन है कि स्याद्वाद के अनुरूप चिन्तन प्र उपनिषद एव प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो म पायी जाती है । किन्तु सत्य तो यह है कि इस स्याद्‌ हारिक एव तर्क सगत रूप देने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है । उन्होने अपनी असाधारण एव मेधा से इसे पुष्ट किया है । वे यह पूणत समझ गये थे कि वस्तु म मात्र एक धम से उसका सही निरूपण नहीं हो सकता । क्योकि वस्तु म विभिन्न धर्मों का समावेश दे एक दृष्टि स नित्य है वही अन्य दृष्टि से अनित्य । जिस प्रकार मैं एक दृष्टि से जीव क है ठीक उसी प्रकार दूसरा दूसरी दृष्टि स अनित्य भी कह सकता है । पर भात जिस कहा जा सकता उसी प्रकार उसे भी नही कहा जा सकता । लेकिन यह तो कहना

संस्कृति

तर्कशास्त्रियो का मत है कि यह नियम परिणाम या परिवर्तनहीन भाव जगत् मे ही सम्भव है, वास्तविक जगत् मे नही। इसलिए Dr Schiller ने उनके 'Formal Logic' ग्रन्थ मे अरस्तू के मतवाद का खण्डन करते हुए कहा है कि यह नियम विचार का है या वस्तु का ? (Are they laws of thought or of things ?)

वास्तविक जगत मे हमारा सम्बन्ध वस्तु से ही है। एतदर्थ हमारी चिन्तन प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे वास्तविक जगत एव वस्तु समुदाय की प्रकृति का निर्णय किया जा सके। Dr Schiller जैसे प्रमुख आधुनिक पाश्चात्य तर्क शास्त्रीगण भी स्याद्वाद की भाति ही वस्तुप्रकृति की धारणा लेकर चिरन्तन वस्तु निरपेक्ष तर्कशास्त्र Formal Logic का सस्कार करने के लिए कटिवद्ध हुये हैं। वे कहते हैं—अरस्तू कथित एकान्त स्वरूपता प्रकृति सिद्ध वस्तु जगत् मे नही है। हर वस्तु नित्य भी है, परिणाम्यमान भी है। वह अपना मूल स्वरूप अटूट रखते हुए भी परिवर्तन को आश्रय दिए जा रही है। उसमे Identity है तो Difference भी है। जैन दर्शन की भाषा मे उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। वह अस्ति भी है, नास्ति भी है, अवक्तव्य भी है। ●

संस्कृति

भारतीय संगीतशास्त्र में निगम-आगम धारा का अनुप्रवेश

डॉ० प्रेमलता शर्मा

ओङ्कारपञ्जरशुकीमुपनिषदुद्यानकेलिकलकण्ठीम् ।
आगमविपिनमयूरीमार्यामन्तर्विभावये गौरीम् ॥

१ भूमिका

भारतीय सगीतशास्त्र मे सगीत के अधिभूत (भौतिक देश कालगत वितान), आधिदैवत (स्वर, राग, वाद्य, आदि के अधिष्ठाता देवतत्व) और अध्यात्म (मनुष्य के शरीर और अन्त करण-गत प्रक्रिया) का विशद वर्णन है और यह निरूपण पद्धति निगम-धारा से ही आई है। इसी पद्धति के साथ सश्लिष्ट है राग के देव-तत्व की स्त्री या पुरुष-आकृति के वर्ण (रग), उनके वस्त्र के वर्ण (रग), आयुध और वाहन के निरूपण की प्रणाली, नादोत्पत्ति का मनुष्य शरीर मे निरूपण, विभिन्न वाद्यो का निर्दिष्ट देव-देवियो की पूजा मे विनियोग आदि, जो कि आगम (तन्त्र) धारा से जुड़े हैं। ये दोना धाराएँ इतनी घुली-मिली है कि एक को दूसरी से पृथक् करना असम्भव है। सगीत शास्त्र की विषय निरूपण पद्धति मे ये दोनो धारायें सश्लिष्ट होकर किस प्रकार अनुप्रविष्ट हुई हैं, इसका दिग्दर्शन ही इस लेख का उद्देश्य है।

इस अध्ययन का मुख्य आधार बृहद्देशी और सगीत रत्नाकर हैं। राग-ध्यान के प्रसग म सगीतोपनिषत्सारोद्धार और सगीतराज का आधार लिया गया है। साथ ही, विशुद्ध रूप से तान्त्रिक पद्धति से लिखे गए एकमात्र ग्रन्थ "औमापतम्" का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है। सगीत शास्त्र के मूलभूत नाट्यशास्त्र मे निगम-आगम धाराओ का अनुप्रवेश किस प्रकार दिखाई देता है, यह भी हमारे दिग्दर्शन का विषय होगा। इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक का काल इस अध्ययन की परिधि मे रहेगा।

सगीतशास्त्र का, ऊपर कही गई दृष्टि से, अवलोकन भारतीय सस्कृति की समग्रता और अखण्डता की झलक दे सकेगा। दृश्य (ज्योति) और श्रव्य (नाद) की अभिन्नता, 'भूत' और 'देव' की अभिन्नता, 'अन्तर' और 'बाह्य' की अभिन्नता, 'पिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड' की अभिन्नता 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' की अभिन्नता, 'मूर्त' और 'अमूर्त' की अभिन्नता, 'प्रकृति' और 'सस्कृति' की अभिन्नता, 'शरीर' (कण्ठ) और 'वाद्य' की अभिन्नता, 'लोक' (इन्द्रियगत अनुभव) और 'वेद' (स्वय-प्रकाश ज्ञान) की अभिन्नता, 'भाव' और 'कर्म' की अभिन्नता, 'जड' और 'चेतन' की अभिन्नता, 'द्रव्य' और 'क्रिया, की अभिन्नता, इस प्रकार अनेक स्तरो पर हमारे इस अवलोकन मे से भारतीय प्रज्ञा की अखण्डता और समग्रता झाँकती रहेगी और इस झाँकी के दर्शन मे ही हमारे प्रस्तुत अध्ययन की सफलता होगी।

२ नाट्यशास्त्र मे निगमागम धारा का दर्शन

भरत का नाट्यशास्त्र नाट्य के साथ-साथ सगीत (गीत, वाद्य, नृत्य), काव्य एव अन्य कलाओ का भी आकर ग्रन्थ है। परवर्ती सगीतशास्त्र मे प्राप्त निगमागम धारा का प्रत्यक्ष दर्शन तो उसमे नहीं

भारतीय संगीतशास्त्र में निगम-आगम धारा का अनुप्रवेश

डॉ० प्रेमलता शर्मा

ओङ्कारपञ्जरशुकीमुपनिषदुद्यानकेलिकलकण्ठीम ।
आगमविपिनमयूरीमार्यामन्तर्विभावये गौरीम् ॥

१ भूमिका

भारतीय संगीतशास्त्र मे संगीत के अधिभूत (भौतिक देश-कालगत वितान), आधिदैवत (स्वर, राग, वाद्य, आदि के अधिष्ठाता देवतत्व) और अध्यात्म (मनुष्य के शरीर और अन्तःकरण-गत प्रक्रिया) का विशद वर्णन है और यह निरूपण-पद्धति निगम-धारा से ही आई है। इसी पद्धति के साथ संश्लिष्ट है राग के देव-तत्व की स्त्री या पुरुष-आकृति के वर्ण (रंग), उनके वस्त्र के वर्ण (रंग), आयुध और वाहन के निरूपण की प्रणाली, नादोत्पत्ति का मनुष्य शरीर मे निरूपण, विभिन्न वाद्यो का निर्दिष्ट देव-देवियो की पूजा मे विनियोग आदि, जो कि आगम (तन्त्र) धारा से जुडे हैं। ये दोनो धाराएँ इतनी घुली-मिली हैं कि एक को दूसरी से पृथक् करना असम्भव है। संगीत शास्त्र की विषय निरूपण-पद्धति मे ये दोनो धारायें संश्लिष्ट होकर किस प्रकार अनुप्रविष्ट हुई हैं, इसका दिग्दर्शन ही इस लेख का उद्देश्य है।

इस अध्ययन का मुख्य आधार बृहद्देशी और संगीत रत्नाकर हैं। राग-ध्यान के प्रसंग मे संगीतोपनिषत्सारोद्धार और संगीतराज का आधार लिया गया है। साथ ही, विशुद्ध रूप से तान्त्रिक पद्धति से लिखे गए एकमात्र ग्रन्थ "औमापतम्" का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है। संगीत शास्त्र के मूलभूत नाट्यशास्त्र मे निगम-आगम धाराओ का अनुप्रवेश किस प्रकार दिखाई देता है, यह भी हमारे दिग्दर्शन का विषय होगा। इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक का काल इस अध्ययन की परिधि मे रहेगा।

संगीतशास्त्र का, ऊपर कही गई दृष्टि से, अवलोकन भारतीय संस्कृति की समग्रता और अखण्डता की झलक दे सकेगा। दृश्य (ज्योति) और श्रव्य (नाद) की अभिन्नता, 'भूत' और 'देव' की अभिन्नता, 'अन्तर' और 'बाह्य' की अभिन्नता, 'पिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड' की अभिन्नता, 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' की अभिन्नता, 'मूर्त' और 'अमूर्त' की अभिन्नता, 'प्रकृति' और 'संस्कृति' की अभिन्नता, 'शरीर' (कण्ठ) और 'वाद्य' की अभिन्नता, 'लोक' (इन्द्रियगत अनुभव) और 'वेद' (स्वयं-प्रकाश ज्ञान) की अभिन्नता, 'भाव' और 'कर्म' की अभिन्नता, 'जड' और 'चेतन' की अभिन्नता, 'द्रव्य' और 'क्रिया, की अभिन्नता, इस प्रकार अनेक स्तरो पर हमारे इस अवलोकन मे से भारतीय प्रज्ञा की अखण्डता और समग्रता झाँकती रहेगी और इस झाँकी के दर्शन मे ही हमारे प्रस्तुत अध्ययन की सफलता होगी।

२ नाट्यशास्त्र मे निगमागम धारा का दर्शन

भरत का नाट्यशास्त्र नाट्य के साथ-साथ संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य), काव्य एवं अन्य कलाओ का भी आकर ग्रन्थ है। परवर्ती संगीतशास्त्र मे प्राप्त निगमागम-धारा का प्रत्यक्ष-दर्शन तो उसमें नहीं

होता, किन्तु नाट्योत्पत्ति, प्रेक्षागृह और उसका निर्माण, रग दैवतपूजा, पूर्वरग और रस के निरूपण के प्रसग मे इन दोनो धाराओ का सगम स्पष्ट दिखाई देता है। सक्षेप मे इन्ही प्रसगो का क्रमश विवरण प्रस्तुत है।

नाट्योत्पत्ति

(क) इसका वर्णन करते समय ब्रह्मा द्वारा 'योग' का आश्रय लेकर चारो वेदो का स्मरण और ऋक से पाठ्य, साम से गीत, यजुष से अभिनय और अथर्व से रस का ग्रहण करके नाट्यवेद (पचमवेद) के निर्माण की बात कही गई है। (ना० शा० १ १७) ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद मानात्मक या चित-प्रधान है, अत उससे 'पाठ्य' या 'वाक्' का, गीत्यात्मक और आनन्दप्रधान साम से 'गीत' का, क्रियात्मक या सत-प्रधान यजुर्वेद से अभिनय का और निर्णायक-स्थानीय या प्रायश्चित्तादि के विधाता अथर्ववेद से नाट्य मे औचित्य के अतिम निर्णायक 'रस' का ग्रहण बताया गया है।

(ख) नाट्य का प्रथम प्रयोग देखने से प्रसन्न होकर देव-देवियो द्वारा नाट्य के लिए जो उपकरण प्रदान किये गए, उनकी तालिका इस प्रकार है —

देव देवी		प्रदत्त उपकरण
१	शक्र	१ (इन्द्र) ध्वज
२	ब्रह्मा	२ कुटिलक (विदूषक का टेढ़ा डण्डा)
३	वरुण	३ भृङ्गार (टोटी वाला लोटा)
४	सूर्य	४ छत्र
५	शिव	५ सिद्धि (सफलता)
६	वायु	६ व्यजन
७	विष्णु	७ सिंहासन
८	कुबेर	८ मुकुट
९	सरस्वती	९ प्रेक्षणीय का श्रव्यत्व
१०	देव-गन्धर्व, मरुत, पन्नग	१० भाषित (वाचिकी शिक्षा)
		११ भाव
		१२ रस
		१३ रूप (मुखराग)
		१४ बल (आङ्गिक का)

(ना० शा० १ ४९ ६३)

ध्यान देने की बात है कि रस, भाव की शिक्षा का दायित्व मरुत, नाग, पन्नगो को दिया गया है। [illegible] मन का ही रूप है। (द्रष्टव्य [illegible] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन सहिता अ० ३४, मन्त्र २ 'यन्मूर्व' [illegible] प्रजानाम् अर्थात् जो मन प्रजाओं या प्राणियो के अन्तर [illegible] यक्ष अर्थात् प्रथम दर्शनीय के रूप मे स्थित है।) और नाग, पन्नग दिन रात [illegible] भाव रस का मन से सम्बन्ध है और मन की गति सूक्ष्म है ही।

(ग) नाट्यशास्त्र की रक्षा मे [illegible] विभाग मे नियुक्त [illegible] का [illegible] वर्णित है। (ना० शा० १ ८३ ९८)

रक्षणीय स्थल अथवा वस्तु	रक्षा में नियुक्त देव
१ मण्डप	१ चन्द्रभा (चन्द्रातप या चन्दोवा)
२ दिशाएँ	२ लोकपाल (बहुवचन)
३ विदिशाएँ	३ मारुत (बहुवचन)
४ नेपथ्यभूमि	४ मित्र
५ अम्बर	५ वरुण
६ वेदिका	६ वह्नि
७ भाण्ड (अवनद्ध वाद्य)	७ सर्वदिवौकस (सब देव)
८ स्तम्भ (बहुवचन)	८ चारो वर्ण (ब्राह्मणादि)
९ स्तम्भान्तर (बहुवचन)	९ आदित्य-रुद्र (बहुवचन)
१० धारिणी (बहुवचन)	१० भूत (बहुवचन, शायद पंच महाभूत हैं)
११ शाला (बहुवचन)	११ अप्सरा (बहुवचन)
१२ सर्ववेश्म (बहुवचन)	१२ यक्षिणी (बहुवचन)
१३ महीपृष्ठ	१३ महोदधि
१४ द्वारशाला	१४ कृतान्त + काल
१५ द्वारपत्र (कपाट)	१५ नागमुख्य महाबल (द्विवचन)
१६ देहली	१६ यमदण्ड + उस पर शूल (द्वार के उपरिकाष्ठ पर शूल)
१७ द्वारपाल	१७ नियति + मृत्यु (द्विवचन)
१८ रङ्गपीठ पार्श्व	१८ महेन्द्र
१९ मत्तवारणी	१९ विद्युत (दैत्यनिषूदनी)
२० मत्तवारणी के स्तम्भ	२० भूत (शायद भूतगण, पंच महाभूत नहीं) यक्ष, पिशाच, गुह्यक, महाबल
२१ जर्जर	२१ वज्र (इन्द्र का आयुध)
(क) शिर पर्व	ब्रह्मा
(ख) द्वितीय पर्व	शङ्कर
(ग) तृतीय पर्व	विष्णु
(घ) चतुर्थ पर्व	स्कन्द
(ङ) पंचम पर्व	शेष-वासुकि तक्षक-महानाग
२२. रङ्गपीठ मध्य	२२ ब्रह्मा
२३ रङ्गपीठ का अधोभाग	२३ पातालवासी यक्ष, गुह्यक, पन्नग
२४ नायक	२४ इन्द्र
२५ नायिका	२५ सरस्वती
२६ विदूषक	२६ ओंकार
२७ शेष प्रकृतियां (पात्र)	२७ हर

होता, कि तु नाट्योत्पत्ति, प्रेक्षागृह और उसका निर्माण, रग दैवतपूजा, पूर्वरग और रस के निरूपण के प्रसग मे इन दोनो धाराओ का सगम स्पष्ट दिखाई देता है। सक्षेप मे इन्ही प्रसगो का क्रमश विवरण प्रस्तुत है।

नाट्योत्पत्ति

(क) इसका वर्णन करते समय ब्रह्मा द्वारा 'योग' का आश्रय लेकर चारो वेदो का स्मरण और ऋक से पाठ्य, साम से गीत, यजुष से अभिनय और अथर्व से रस का ग्रहण करके नाट्यवेद (पचमवेद) के निर्माण की बात कही गई है। (ना० शा० १ १७) ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद ज्ञानात्मक या चित् प्रधान है, अत उससे 'पाठ्य' या 'वाक्' का, गीत्यात्मक और आन दप्रधान साम से 'गीत' का, क्रियात्मक या सत प्रधान यजुर्वेद से अभिनय का और निर्णायक-स्थानीय या प्रायश्चित्तादि के विधाता अथर्ववेद से नाट्य मे औचित्य के अ तिम निर्णायक 'रस' का ग्रहण बताया गया है।

(ख) नाट्य का प्रथम प्रयोग देखने से प्रसन्न होकर देव-देवियो द्वारा नाट्य के लिए जो उपकरण प्रदान किये गए, उनकी तालिका इस प्रकार है —

देव देवी	प्रदत्त उपकरण
१ शक्र	१ (इन्द्र) ध्वज
२ ब्रह्मा	२ कुटिलक (विदूषक का टेढा डण्डा)
३ वरुण	३ भृङ्गार (टोटी वाला लोटा)
४ सूर्य	४ छत्र
५ शिव	५ सिद्धि (सफलता)
६ वायु	६ व्यजन
७ विष्णु	७ सिंहासन
८ कुबेर	८ मुकुट
९ सरस्वती	९ प्रेक्षणीय का श्रव्यत्व
१० देव गन्धर्व, यक्ष, पन्नग	१० भाषित (वाचिकी शिक्षा)
	११ भाव
	१२ रस
	१३ रूप (मुखराग)
	१४ बल (आङ्गिक का)

(ना० शा० १-५९ ६३)

ध्यान देने की बात है कि रस, भाव की शिक्षा का दायित्व यक्ष, राक्षस, पन्नगों को दिया गया है। यक्ष तो मन का ही एक रूप है। (द्रष्टव्य शिवसंकल्प सूक्त, शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता अ० ३४, मन्त्र २. 'यत्पूर्व यक्षमन्त प्रजानाम्' अर्थात् जो मन प्रजाओं या प्राणियों के अन्दर में अपूर्व यक्ष अर्थात् प्रथम इन्द्रिय के रूप में स्थित है।) और राक्षस, पन्नग इच्छित रूप धारण करते हैं, मायावी हैं। भाव रस का मन से सम्बन्ध है और मन की गति गूढ है ही।

(ग) नाट्यमण्डप की रचना में भवन विभाग में निपुण देवों अथवा तत्वों का विवरण निम्न तालिका में दर्शित है। (ना० शा० १ ८१ ९८)

रक्षणीय स्थल अथवा वस्तु	रक्षा में नियुक्त देव
१ मण्डप	१ चन्द्रमा (च न्द्रातप या च न्दौवा)
२ दिशाएं	२ लोकपाल (बहुवचन)
३ विदिशाएं	३ मारुत (बहुवचन)
४ नेपथ्यभूमि	४ मित्र
५ अम्बर	५ वरुण
६ वेदिका	६ वह्नि
७ भाण्ड (अवनद्ध वाद्य)	७ सर्वदिवौकस (सब देव)
८ स्तम्भ (बहुवचन)	८ चारो वर्ण (ब्राह्मणादि)
९ स्तम्भान्तर (बहुवचन)	९ आदित्य-रुद्र (बहुवचन)
१० धारिणी (बहुवचन)	१० भूत (बहुवचन, शायद पच महाभूत है)
११ शाला (बहुवचन)	११ अप्सरा (बहुवचन)
१२ सर्ववेश्म (बहुवचन)	१२ यक्षिणी (बहुवचन)
१३ महीपृष्ठ	१३ महोदधि
१४ द्वारशाला	१४ कृतान्त + काल
१५ द्वारपत्र (कपाट)	१५ नागमुख्य महाबल (द्विवचन)
१६ देहली	१६ यमदण्ड + उस पर शूल (द्वार के उपरिकाष्ठ पर शूल)
१७ द्वारपाल	१७ नियति + मृत्यु (द्विवचन)
१८ रङ्गपीठ पार्श्व	१८ महेन्द्र
१९ मत्तवारणी	१९ विद्युत (दैत्यनिपूदनी)
२० मत्तवारणी के स्तम्भ	२० भूत (शायद भूतगण, पच महाभूत नही) यक्ष, पिशाच, गुह्यक, महाबल
२१ जर्जर	२१ वज्र (इन्द्र का आयुध)
(क) शिर पर्व	ब्रह्मा
(ख) द्वितीय पर्व	शङ्कर
(ग) तृतीय पर्व	विष्णु
(घ) चतुर्थ पर्व	स्कन्द
(ङ) पचम पर्व	शेष वासुकि-तक्षक-महानाग
२२. रङ्गपीठ-मध्य	२२ ब्रह्मा
२३ रङ्गपीठ का अधोभाग	२३ पातालवासी यक्ष, गुह्यक, पन्नग
२४ नायक	२४ इन्द्र
२५ नायिका	२५ सरस्वती
२६ विदूषक	२६ ओंकार
२७ शेष प्रकृतियां (पात्र)	२७ हर

होता, किन्तु नाट्योत्पत्ति, प्रेक्षागृह और उसका निर्माण, रंग दैवतपूजा, पूर्वरंग और रस के निरूपण के प्रसंग में इन दोनों धाराओं का संगम स्पष्ट दिखाई देता है। संक्षेप में इन्हीं प्रसंगों का क्रमशः विवरण प्रस्तुत है।

नाट्योत्पत्ति

(क) इसका वर्णन करते समय ब्रह्मा द्वारा 'योग' का आश्रय लेकर चारों वेदों का स्मरण और ऋक् से पाठ्य, साम से गीत, यजुष से अभिनय और अथर्व से रस का ग्रहण करके नाट्यवेद (पंचमवेद) के निर्माण की बात कही गई है। (ना० शा० १ १७) ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद ज्ञानात्मक या चित-प्रधान है, अतः उससे 'पाठ्य' या 'वाक्' का, गीत्यात्मक और आनन्दप्रधान साम से 'गीत' का, क्रियात्मक या सत प्रधान यजुर्वेद से अभिनय का और निर्णायक-स्थानीय या प्रायश्चित्तादि के विधाता अथर्ववेद से नाट्य में औचित्य के अंतिम निर्णायक 'रस' का ग्रहण बताया गया है।

(ख) नाट्य का प्रथम प्रयोग देखने से प्रसन्न होकर देव-देवियों द्वारा नाट्य के लिए जो उपकरण प्रदान किए गए, उनकी तालिका इस प्रकार है —

देव देवी	प्रदत्त उपकरण
१ शक्र	१ (इन्द्र) ध्वज
२ ब्रह्मा	२ कुटिलक (विदूषक का टेढा डण्डा)
३ वरुण	३ भृङ्गार (टोटी वाला लोटा)
४ सूर्य	४ छत्र
५ शिव	५ सिद्धि (सफलता)
६ वायु	६ व्यजन
७ विष्णु	७ सिंहासन
८ कुबेर	८ मुकुट
९ सरस्वती	९ प्रेक्षणीय का श्रव्यत्व
१० देव-गन्धर्व, यक्ष, पन्नग	१० भाषित (वाचिकी शिक्षा)
	११ भाव
	१२ रस
	१३ रूप (मुखराग)
	१४ बल (आङ्गिक का)

(ना० शा० १-५९-६३)

ध्यान देने की बात है कि रस, भाव की शिक्षा का दायित्व यक्ष, राक्षस, पन्नगों को दिया गया है। यक्ष तो मन का ही रूप है। (द्रष्टव्य शिवसंकल्प सूक्त, शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता अ० ३४, मन्त्र २, 'यदपूर्व' यक्षमन्तः प्रजानाम् अर्थात् जो मन प्रजाओं या प्राणियों के अन्दर में अपूर्व यक्ष अर्थात् प्रथम इन्द्रिय के रूप में स्थित है।) और राक्षस, पन्नग छिप कर वार करते हैं, मायावी हैं। भाव रस का मन से सम्बन्ध है और मन की गति सूक्ष्म है ही।

(घ) नाट्यमण्डप की रक्षा में उसके विभाग में नियुक्त देवों अथवा तत्वों का विवरण निम्न तालिका में दर्शित है। (ना० शा० १-८२ ९८)

रक्षणीय स्थल अथवा वस्तु	रक्षा में नियुक्त देव
१ मण्डप	१ चन्द्रमा (चन्द्रातप या चन्दोवा)
२ दिशाएँ	२ लोकपाल (बहुवचन)
३ विदिशाएँ	३ मारुत (बहुवचन)
४ नेपथ्यभूमि	४ मित्र
५ अम्बर	५ वरुण
६ वेदिका	६ वह्नि
७ भाण्ड (अवनद्ध वाद्य)	७ सर्वदिवौकस् (सब देव)
८ स्तम्भ (बहुवचन)	८ चारो वर्ण (ब्राह्मणादि)
९ स्तम्भान्तर (बहुवचन)	९ आदित्य रुद्र (बहुवचन)
१० धारिणी (बहुवचन)	१० भूत (बहुवचन, शायद पञ्च महाभूत है)
११ शाला (बहुवचन)	११ अप्सरा (बहुवचन)
१२ सर्ववेश्म (बहुवचन)	१२ यक्षिणी (बहुवचन)
१३ महीपृष्ठ	१३ महोदधि
१४ द्वारशाला	१४ कृतान्त+काल
१५ द्वारपत्र (कपाट)	१५ नागमुख्य महाबल (द्विवचन)
१६ देहली	१६ यमदण्ड+उस पर शूल (द्वार के उपरिकाष्ठ पर शूल)
१७ द्वारपाल	१७ नियति+मृत्यु (द्विवचन)
१८ रङ्गपीठ पार्श्व	१८ महेन्द्र
१९ मत्तवारणी	१९ विद्युत (दैत्यनिषूदनी)
२० मत्तवारणी के स्तम्भ	२० भूत (शायद भूतगण, पंच महाभूत नहीं) यक्ष, पिशाच, गुह्यक, महाबल
२१ जर्जर	२१ वज्र (इन्द्र का आयुध)
(क) शिर पर्व	ब्रह्मा
(ख) द्वितीय पर्व	शङ्कर
(ग) तृतीय पर्व	विष्णु
(घ) चतुर्थ पर्व	स्कन्द
(ङ) पञ्चम पर्व	शेष-वासुकि-तक्षक-महानाग
२२. रङ्गपीठ मध्य	२२ ब्रह्मा
२३ रङगपीठ का अधोभाग	२३ पातालवासी यक्ष, गुह्यक, पन्नग
२४ नायक	२४ इन्द्र
२५ नायिका	२५ सरस्वती
२६ विदूषक	२६ ओंकार
२७ शेष प्रकृतिया (पात्र)	२७ हर

अ यत्र (ना० शा० ३ ७४-८१) जजर वे पर्वों के देव और उन पर लिपटे वस्त्रो मे वर्ण (रग) भी बताए हैं। यथा—

पव	देव	वण (रग)
शिर पर्व	ब्रह्मा (सर्वदेवगण-सहित)	श्वेत
रौद्र पव	हर	नील
विष्णु पर्व	जनार्दन	पीत
स्कन्द पव	कुमार	रक्त
मृड पव	पन्नगोत्तम	चित्र (रग विरगा)

प्रेक्षागृह

(घ) प्रेक्षा गृह निर्माण के प्रसग मे चार स्तम्भो के देव-पूजा-द्रव्य, मूल मे देय धातु आदि इस प्रकार बताए हैं। (ना० शा० २ ४६ गद्य-५२)

नाम	दिशा	पूजा म दय द्रव्य और उनका वर्ण (रग)	मूल म दय धातु
१ ब्राह्मण-स्तम्भ	प्रथम (पूव ?)	सपपसस्कृत सर्पि (घत), सवशुक्ल, पायस	कनक
२ क्षत्रिय स्तम्भ	पश्चिम (?)	सवरक्त, गुडौदन	ताम्र
३ वैश्यस्तम्भ	पश्चिमोत्तर	सवपीत, घृतौदन	रजत
४ शूद्रस्तम्भ	पूर्वोत्तर	नीलप्राय, कृसर (चबेना)	आयस

स्तम्भो के निवेश की दिशाएँ इस प्रकार समझी जा सक्ती हैं—

३ पूर्वोत्तर — १ पूव

४ पश्चिमोत्तर — २ पश्चिम

इस प्रकार स्तम्भो का चतुष्कोण बनेगा।

चार दिशाओ मे बलि-प्रदान के सम्बन्ध मे विधान भी द्रष्टव्य है। (ना० शा० २)

१ पूव (शुक्लान्नयुत) — २ दक्षिण (नीलान्नयुत)

३ पश्चिम (पीतान्नयुत) — ४ उत्तर (रक्तान्नयुत)

अन्यत्र (ना० शा० ३ ३२) स्तम्भो की चार दिशाएँ प्रदक्षिणक्रम मे बताई हैं। यथा—

१ पूवस्तम्भ (सनत्कुमार)

४ उत्तर स्तम्भ (ग्रामण्य गणेश) — २ दक्षिणस्तम्भ (दक्ष)

३ पश्चिमस्तम्भ (स्कन्द)

इस क्रम के अनुसार स्तम्भा का निवेश विकण (diagonal) समझना होगा।

रङ्गदैवतपूजन

(क) रगदैवतपूजन के विधानपरक तृतीय अध्याय के आरम्भ मे (श्लो-३-९) पूज्य देव-देवियो की जो सूची दी गई हैं, वह इस प्रकार हैं।

१ महादेव-सवलोकोद्भव, भव (शिव) २ जगत्पितामह (ब्रह्मा) ३ विष्णु ४ इन्द्र ५ गुह (कार्तिकेय) ६ सरस्वती ७ लक्ष्मी ८ सिद्धि ९ मेधा १० धति ११ स्मृति १२ सोम १३ सूय १४ मरुत् (बहुवचन) १५ लोकपाल १६ अश्विन् (द्विवचन) १७ मित्र १८ अग्नि १९ सुर (बहुवचन) २० वण (बहुवचन, सम्भवत ब्राह्मणादि चार) २१ रुद्र (बहुवचन) २२ काल २३ कलि २४ मृत्यु २५ नियति २६ कालदण्ड २७ विष्णुप्रहरण २८ वासुकि (नागराज) २९ भूत (बहुवचन) ३० पिशाच (बहुवचन) ३१ यक्ष (बहुवचन) ३२ गुह्यक (बहुवचन) ३३ महेश्वर (बहुवचन) ३४ असुर (बहुवचन) ३५ नाट्यविघ्न (बहुवचन) ३६ दैत्य (बहुवचन) ३७ राक्षस (बहुवचन) ३८ नाट्यकुमारी (बहुवचन) ३९ *महाग्रामण्य (गणपति)* ४० *वज्र* ४१ *विद्युत* ४२ *समुद्र (बहुवचन)* ४३ *गन्धव (बहुवचन)* ४४ *अप्सरा* (बहुवचन) ४५ मुनि (बहुवचन)

इस सूची मे वैदिक और तान्त्रिक दोनो धाराओ का दर्शन होता है। विशेषत 'नाट्य कुमारी' मे स्पष्ट रूप से तान्त्रिक धारा झलकती है।

(ख) रगपूजा के लिए जिस 'मण्डल' के 'आलेखन' की बात कही गई है, उसमे 'रग' के मध्य और आठ दिशाओ मे देव-निवेश इस प्रकार बताया गया है। (ना० शा० ३ २४-३१)

१ मध्य मे पद्मोपविष्ट ब्रह्मा।

२ पूर्व मे भूतगण-सहित शिव, नारायण, महेन्द्र, स्कन्द, सूर्य, अश्विनी कुमार, शशी, सरस्वती, लक्ष्मी, श्रद्धा, मेधा।

३ पूव दक्षिण मे वह्नि स्वाहा—सहित विश्वेदेव, गन्धव, रुद्र, सपगण।

४ दक्षिण मे यम, मित्र, पितर, पिशाच, उरग, गुह्यक

५ नैऋति (दक्षिण-पश्चिम) मे राक्षस, भूत

६ पश्चिम मे समुद्र, वरुण यादसा पति (जल स्वामी)।

७ वायव्य (पश्चिमोत्तर) मे सप्त वायु गरुड, पक्षी

८ उत्तर मे धनद, नाट्यमाताएँ, यक्ष, गुह्यक

९ उत्तर-पूव मे नन्दी आदि गणेश्वर, ब्रह्मर्षि, भूतसघ

यहाँ नाट्यमाताओ का उल्लेख आगम (तन्त्र) के प्रभाव का सूचक है।

(ग) विभिन्न देवो की पूजा मे विहित उपकरणो का विवरण भी आगम धारा की दृष्टि से कम रोचक नही (ना० शा० ३-३५-४५)

देव देवी	पूजा मे विहित उपकरण
१ देवता	१ सित माल्य अनुलेपन
२ गन्धव, वह्नि, सूर्य	२ रक्त माल्य, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, धूप
३ ब्रह्मा	३ मधुपक, पायस
४ सरस्वती	४ पायस

५ शिव, विष्णु, महेंद्र आदि	५ मोदक
६ हुतभुक्	६ घृतौदन
७ सोम, अर्क	७ गुडौदन
८ विश्वेदेव, गन्धर्व, मुनि	८ मधु पायस
९ यम, मित्र	९ अपूय, मोदक
१० पितर, पिशाच, उरग	१० सर्पि, क्षीर, पक्वान्न (यहाँ तक सम्भवतः पितरों के लिए), मांस, सुरा, सीधु, फलासव
११ भूतसंघ	११ चणक पललाप्लुत (भीगे हुए चने)
१२ मत्तवारणी	१२ —„ —„ —„
१३ रक्षोगण	१३ पक्वाम मांस
१४ दानव	१४ सुरा, मांस
१५ शेष देव	१५ अपूय, उत्कारितौदन (फटके हुए चावल)
१६ सागर, सरित्	१६ मत्स्य, पिष्ट भक्ष्य
१७ वरुण	१७ घृतपायस
१८ मुनि	१८ नाना मूल, फल
१९ वायु, पक्षी	१९ विचित्र भक्ष्य भोजन
२० नाट्यमाता (बहुवचन)	२० अपूय, लाजिका (लाजा) मिश्र भक्ष्य-भोज्य

(घ) बलि प्रदानार्थ देवों का विहित क्रम और देव देवियों के नामान्तर भी निगमागम की तत्त्व-दृष्टि के सूचक हैं। (ना० शा० ३-४७-७१)

देव	विभिन्न नाम अथवा विशेषोल्लेख
१ ब्रह्मा	१ देवदेव, महाभाग, सर्व-लोकपितामह
२ गणेश	२ देवदेव, महादेव, त्रिपुरान्तक
३ विष्णु	३ नारायण, अमितगति, पद्मनाभ, सुरोत्तम
४ इन्द्र	४ पुरन्दर, अमरपति, वज्रपाणि, शतक्रतु,
५ स्कन्द	५ देवसेनापति-भगवान, शङ्करप्रिय, षण्मुख
६ सरस्वती	६ देवी, देवमहाभागा, हरिप्रिया
७ राक्षसेन्द्र (बहुवचन)	७ नानानिमित्तसम्भूत, पौलस्त्य, महासत्त्व
८ देवी (बहुवचन)	८ लक्ष्मी, सिद्धि, मति, मेधा, सर्वलोकनमस्कृता
९ वायु	९ सर्वभूतानुभावज्ञ, लोकजीवन, मारुत
१० अग्नि	१० देववक्त्र, सुरश्रेष्ठ, धूमकेतु, हुताशन
११ सूर्य	११ सर्वग्रहप्रवर, तेजोराशि, दिवाकर
१२ चन्द्र	१२ सर्वग्रहपति, सोम, द्विजराज, जगत्प्रिय
१३ महागणेश्वर (बहु०)	१३ नन्दीश्वर पुरोगम (बहु०)
१४ पितृगण	१४ — — —
१५ वामपाल (?)	१५ — — —
१६ गन्धर्व	१६ नारद, तुम्बुरु, विश्वावसु

१७ यम-मित्र (द्विवचन)	१७ ईश्वर, लोकपूजित
१८ रसातलगत पन्नग	१८ पापनाशन (बहु०)
१९ वरुण	१९ हंसवाहन, अम्भसा पति, ससमुद्रनदीनद
२० गरुड	२० वैनतेय, महासत्त्व, सर्वपक्षिपति
२१ कुबेर	२१ धनाध्यक्ष, यक्षपति, लोकपाल, धनेश्वर, सगुह्यक, सयक्षक
२२ नाट्यमाता (बहु०)	२२ ब्राह्मी आदि, सुमुखी, प्रसन्ना
२३ रुद्रप्रहरण	२३ त्रिशूलादि (?)
२४ विष्णुप्रहरण	२४ शङ्ख-चक्र-गदा पद्म (?)
२५ कृतान्त, काल	२५ सर्वप्राणिवधेश्वर
२६ मृत्यु, नियति	२६ (यम और काल, उसी प्रकार मृत्यु और नियति का जोडा बनाया गया है। दोनों जोडियां सदृश तो हैं, किन्तु एकार्थक नहीं। यम और काल सूक्ष्म हैं, मृत्यु और नियति स्थूल हैं।)
२७ वास्तुदेवता	२७ मत्तवारणी में स्थित (पूरे प्रेक्षागृह में मत्तवारणी को विशेष महत्त्व दिया गया है)।
२८ देव गन्धर्व (बहु०)	२८ दिव्य गन्धर्व, अन्तरिक्ष गन्धर्व, भौम गन्धर्व।

नाट्य माताओं के अन्यत्र (ना० शा० ३-८७) दिये गये नाम हैं—सरस्वती, धृति, मेधा, ह्री, श्री, लक्ष्मी, स्मृति, मति। और कहा है कि ये सौम्या हैं, सिद्धिदा हैं।

पूर्वरंग

पूर्वरंग में (ना० शा० ५ ४५-५२) विभिन्न अंगों के प्रयोग से जिन देवों का सन्तोष होता है, उनका विवरण इस प्रकार है।

पूर्वरङ्ग का अङ्ग	सन्तुष्ट देव
१ आश्रावणा (निर्गीत भेद)	१ दैत्य (बहु०)
२ वक्त्रपाणि (,,)	२ दानव (बहु०)
३ परिघट्टना (,,)	३ रक्षोगण (बहु०)
४ सङ्घोटना (,,)	४ गुह्यक (बहु०)
५ मार्गासारित (,,)	५ यक्ष (बहु०)
६ गीतक (बहु०)	६ देव (बहु०)
७ वर्धमान (गीतक भेद)	७ सानुग रुद्र
८ उत्थापन	८ ब्रह्मा
९ परिवर्तन	९ लोकपाल (बहु०)
१० नान्दी	१० चन्द्रमा
११ अवकृष्टा (ध्रुवा)	११ नाग (बहु०)
१२ शुष्कावकृष्टा (ध्रुवा)	१२ पितृगण
१३ रङ्गद्वार	१३ विष्णु
१४ जर्जर (वन्दन)	१४ विघ्नविनायक (बहु०)
१५ चारी	१५ उमा
१६ महाचारी	१६ भूतगण

'निर्गीत' – पदरहित अर्थात साथक पद के गायन के 'योग' के बिना वीणादिवाद्यप्रयोग । इसकी उत्पत्ति की कथा भी (ना० शा० ५ ३२-४३) बताई गई है, जो सक्षेप मे इस प्रकार है । देवो और दानवो की सम्मिलित सभा मे नारदादि गन्धर्वों ने देवस्तुतिपरक गान सुनाया, जिससे दैत्य-राक्षस मत्सर के कारण क्षुभित हो गए । और उन्होंने कहा कि हम तो वाद्य सहित निर्गीत का ग्रहण करेंगे (ताकि उसम देवस्तुति का प्रसग ही न आए) । देवताओ ने रुष्ट होकर नारद से कहा कि इस निर्गीत प्रयोग का नाश होना चाहिए । नारद ने कहा कि दैत्य-दानव राक्षसो का प्रिय निर्गीत नष्ट नही होना चाहिए । इससे वे सन्तुष्ट रहेगे और विघ्न नही करेंगे ।

रस-निरूपण

रसो के देव और वण (रग) इस प्रकार कहे गए हैं (ना० शा० ६ ४२-४५) —

रस	देव	वण (रग)
शृङ्गार	विष्णु	श्याम
हास्य	प्रमथ	सित
रौद्र	रुद्र	रक्त
करुण	यम	कपोत
बीभत्स	महाकाल	नील
भयानक	काल	कृष्ण
वीर	महेन्द्र	गौर
अद्भुत	ब्रह्मा	पीत

इस प्रकार हम ने सक्षेप में नाट्यशास्त्र मे अनुप्रविष्ट निगमागमधारा का दर्शन किया ।

३ स्वरगत निरूपण और नादोत्पत्ति मे निगमागम का प्रभाव

वेद मे जिस प्रकार प्रत्येक सूक्त के छन्द, ऋषि और देवता का निर्देश होता है, उसी प्रकार सप्त स्वरो के छन्द-ऋषि, देवता के अतिरिक्त, वण (रग), जाति, कुल आदि का भी निर्देश मिलता है । यथा —

स्वर	उच्चारयिता	कुल	जाति	वण (रग)	जन्मभूमि द्वीप	ऋषि द्रष्टा	देवता	छन्द	रस
षड्ज	मयूर	गीर्वाण	ब्राह्मण	पद्माभ	जम्बू०	वह्नि	वह्नि	अनुष्टुप	वीर
ऋषभ	चातक	ऋषि	क्षत्रिय	पिञ्जर	शाक०	वेधा	ब्रह्मा	गायत्री	वीर
गान्धार	छाग	गीर्वाण	वैश्य	स्वर्ण	कुश०	शशाङ्क	सरस्वती	त्रिष्टुप	करुण
मध्यम	क्रौंच	गीर्वाण	ब्राह्मण	कुन्दप्रभ	क्रौंच	लक्ष्मीकान्त	शव	बृहती	हास्य शृगार
पचम	कोकिल	पितृ	ब्राह्मण	असित	शालमली	नारद	श्रीश	पक्ति	हास्य शृगारक
धैवत	दर्दुर	ऋषि	क्षत्रिय	पीत	श्वेत	तुम्बुरु	गणेश्वर	उष्णिक	बीभत्स भयान
निषाद	गज	असुर	वैश्य	कर्बुर	पुष्कर	तुम्बुर	सहस्राशु	जगती	कल्याण
अन्तर काकली			शूद्र						

टिप्पणी—यह तालिका सगीत रत्नाकर (१-३ ४६ गद्य, ४७ कख ५२ ६० कख) के आधार पर बनाई गई है । इसके अतिरिक्त बृहद्देशी मे सप्त स्वरो के सक्षिप्त नामो स, रि, ग, म, प, ध, नि

को लेकर अकारान्त नामो स, ग, म, प, ध, मे 'विष्णुबीज' और इकारात नामो (रि, नि) मे वामबीज बताया गया है। (बृहद्देशी ६६ ७४ कख) बीजाक्षर की बात सीधे आगम से जुडी हुई है।

छ वेदाङ्गों में से प्रथम है शिक्षा और उसमें अक्षरो के वग (रग), जाति, दैवत आदि देने की परम्परा मिलती है (द्रष्टव्य याज्ञवल्क्य शिक्षा उत्तराध वण प्रकरण मे वणदेवादि अधिकार ?) 'नाद' और 'ज्योति' की अभिन्नता वही से परम्परा प्राप्त है। उच्चारयिता पशु-पक्षी भी 'शिक्षा' में से ही आए हैं। सप्त स्वरो के द्वीप, छन्द और रस की बात सगीतशास्त्र की उद्भावना है। रस तो नाट्यशास्त्र से ही आया है।

शिक्षा-ग्रन्थो के अनुसार ही सगीत रत्नाकर (१ ३ ३,४) मे नादोत्पत्ति का क्रम बताया गया है। यथा—

आत्मा विवक्षमाणोऽय मन प्रेरयति, मन ।
कायस्थ वह्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थित सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन ।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ॥

अर्थात् विवक्षा (बोलने की इच्छा) आत्मा मे उठती है। तब आत्मा मन को प्रेरित करता है और मन देह मे स्थित अग्नि पर आघात करता है। अग्नि वायु को प्रेरित करता है और ब्रह्मग्रन्थि से उत्थित वह वायु क्रमश ऊर्ध्वपथ मे चलता हुआ नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा और मुख मे ध्वनि का आविर्भाव कराता है। इन मे से सगीत में केवल प्रथम तीन स्थान ही उपयोगी हैं।)

पाणिनीय शिक्षा का निम्नोद्धृत अश यहां तुलनीय है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान मनो युक्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम ॥ ६ ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्र जनयति स्वरम।
प्रात सवनयोग त छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ ७ ॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुग मध्यम त्रैष्टुभानुगम्।
तार तार्तीयसवन शीर्षण्य जागतानुगम् ॥ ८ ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापाद्य मारुत ।
वर्णान् जनयते

अर्थात आत्मा बुद्धि के द्वारा 'अर्थों' को एकत्र करके विवक्षा के द्वारा मन को नियुक्त करता है। मन कायाग्नि पर आघात करता है और अग्नि वायु को प्रेरित करता है। मारुत उरस् (हृदय) मे 'चरण' करता हुआ, मन्द्र स्वर उत्पन्न करता है। इस मन्द्र स्वर का प्रात सवन से योग है और छन्द गायत्री है। कण्ठ मे उत्थित स्वर माध्यन्दिन (सवन) से युक्त है, त्रिष्टुभ उस का छन्द है। तीसरा सवन 'तार' है, जिसका स्थान शिरस् है और छन्द जगती है। वह मारुत मूर्धा पर आघात करने के बाद मुख मे पहुँच कर वर्णों को उत्पन्न करता है।

४ राग-रागिणी-ध्यान-परम्परा

सगीतशास्त्र मे तान्त्रिक प्रभाव का यह सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। सगीतशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थो मे से सगीतोपनिषत्सारोद्धार (१४वी शताब्दी) ही पहला ग्रन्थ है, जिस मे राग ध्यान दिए गए हैं।

इन रागध्याना मे राग और रागिणी को देव देवी माना गया है और इसका प्रमाण है प्रत्येक ध्यान मे शरीर के वण (रग), वस्त्रो के वण (रग), मुखो और हस्तो की सख्या, आयुध (हाथो मे पकडे हुए अस्त्र अथवा शख वीणादि वाद्य अथवा कमलादि पदाथ अथवा 'वर अभय' मुद्रा इत्यादि) और वाहन का वणन । इसी पद्धति का अनुसरण कुम्भाकृत सगीतराज मे हुआ है । ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि तान्त्रिक राग-ध्यान पद्धति का आरम्भ मतगकृत बृहद्देशी मे ही हो गया होगा । इस अनुमान के आधार इस प्रकार हैं—

(१) बृहद्देशी के देशी राग-प्रकरण के आरम्भ मे देवी का निम्नलिखित ध्यान है—

बन्धूकाभा त्रिनेत्रामृतकरकलाशेखरां रक्तवस्त्रा
पीनोत्तुङ्ग प्रवृत्तस्तनभरनमिता यौवनारम्भरुद्धाम् ।
सर्वालकारभूषा सरसिजनिलया बीजसङ्क्रान्तमूर्ति
देवी पाशाकुशाभ्याममयवरकरा विश्वमूर्तिनमामि ।

(बृह० पृ० १४१)

(२) *ग्राम-रागो के नाम पुल्लिग वाची और उनकी भाषा विभाषाओ (प्रकार भेदो) के नाम स्त्रीलिंगवाची* हैं । यही राग के पुरुषत्व और भाषा (रागिणी) के स्त्रीत्व का बीज है । उल्लेखनीय है कि राग ध्यान के प्रथम प्रतिपादक ग्रथ सगीतोपनिषत सारोद्धार मे 'रागिणी' के लिए 'भाषा' सज्ञा ही है ।

(३) सगीतराज मे देशी रागो के ध्यानो के प्रसग मे कई बार मतग का नाम लिया गया है । उदाहरण के लिए नट्टनारायण के ध्यान के प्रसग मे कहा है कि जो 'अमतग-मत' मे स्थित है, वे इस राग का ऐसा ध्यान देते हैं ।

सगीतोपनिषत सारोद्धार और सगीतराज मे राग ध्यान के प्रसग मे कुछ शब्द बार-बार आए हैं, जो इस प्रकार हैं ।

पाश, शख, अब्ज, शूल, जयमालिका, वीणा, बीजपूर, अकुश, फल, चक्र, गदा, अभयकर इत्यादि ।

तन्त्र मे पाश को इच्छाशक्तिमय, अकुश को ज्ञानरूपी, बाण-धनुष को क्रियाशक्तिमय, चक्र को त्रिया चैतन्य-रूप कह कर निरूपण किया गया है । (द्रष्टव्य नित्याषोडशिकाणव, वामकेश्वर तन्त्र का भाग, ६,४३-४५)

राग रागिणी को लौकिक पुरुष स्त्री अर्थात नायक नायिका के रूप मे रखकर शृगार की सयोग वियोगादि विभिन दशाओ मे उनका वणन परवर्ती परम्परा है, जिसका आरम्भ सोलहवी शती मे माना जा सकता है ।

५ वाद्य निरूपण

वाद्य के निरूपण मे सर्वप्रथम दो सन्दभ उल्लेखनीय हैं—एक तो नाट्यशास्त्र मे शारीरी वीणा के साथ वाद्यो का सम्बन्ध प्रतिपादन और दूसरा सगीतराज मे वह उल्लेख जिसमे वनस्पति म सरस्वती के प्रवेश की बात है ।

नाट्यशास्त्र का सन्दभ इस प्रकार है —

शारीर्यामथ वीणायाँ स्वरा सप्त प्रकीर्तिता ।
तेभ्यो विनिसृताश्चैवमातोद्येषु द्विजत्तमा ॥
पूर्वं शरीरादुद्भूतास्ततो गच्छन्ति दारवीम् ।
तत पुष्करज चवमनुयान्ति घन पुन ॥ (ना० शा० ३४ ३०,३१)

अर्थात् सात स्वर शारीरी वीणा मे ही कहे गये हैं। उन्ही (शारीरी वीणा-गत स्वरों) से आतोद्यो (वाद्यो) मे स्वर (प्रविष्ट) होते हैं। स्वर पहले शरीर से उद्भूत होकर फिर दारवी वीणा मे जाते हैं। वीणा के अन्तर्गत वश का ग्रहण हो ही जाता है और 'वश' समस्त सुषिर वाद्यो का उपलक्षण है। वहाँ (वीणा-वश) से स्वर पुष्कर (अवनद्ध) वाद्य मे और वहाँ से पुन घन मे जाते हैं।

इस वचन मे स्वरोत्पत्ति के प्रसग मे शारीरी वीणा का प्रथम स्थान और उसके बाद वाद्यो मे स्वर के उत्कर्ष की दृष्टि से क्रमिकता निहित है। पहले वीणा-वश, फिर अवनद्ध और फिर घन, यह स्वर मे उत्कर्ष का अवरोह क्रम है। मनुष्य शरीर का प्रथम स्थान वेद की 'अध्यात्म-परक' दृष्टि का द्योतक है।

सगीतराज का निम्नोद्धृत श्लोक द्रष्टव्य है—

पुराभिसर्पिणी वाणी देवेभ्यो ब्रह्मसद्मन ।
वनस्पतीन् विवेशातो दारुरूपा ध्वनन्त्यमी ॥

(सगीतराज ३-१-१ ८)

ये दारुरूप (लकडी के बने वाद्य) इसलिए ध्वनित होते हैं कि पूर्व मे अभिसर्पिणी (चारो ओर फैलने वाली) वाणी ने ब्रह्मलोक से उतर कर देवताओ के लिये अर्थात देवताओ की इच्छा से वनस्पतियो मे प्रवेश किया था।

अचेतन वाद्यो म वनस्पतिया के माध्यम से चितिरूपा वाग्देवता के प्रवेश की बात वेद से आई है। (द्रष्टव्य काठक सहिता २३-४, विशेष रूप से वेणु मे वाग्देवता के प्रवेश की बात तैत्तिरीय सहिता ५-१-१ मे कही गई है।)

वाद्य के अधिष्ठातृ-देवो का निरूपण दो प्रकार से हुआ है, एक तो एकतन्त्री वीणा के विभिन्न अगो मे देवताओ के निवास का वणन और दूसरे कुछ अवनद्ध वाद्यो के अधिष्ठातृ-देवो का वणन।

एकतन्त्री के विभिन्न अगा म देवताओ का निवास सगीत रत्नाकर (६-५५,५६) मे इस प्रकार बताया गया है।

वीणा का अङ्ग	अधिष्ठाता देव देवी
१ दण्ड (डाड)	१ शम्भु
२ तन्त्री	२ उमा
३ ककुभ (घुडच)	३ कमलापति
४ पत्रिका (ककुभ पर लगी धातु की पत्ती)	४ इन्दिरा
५ तुम्ब	५ ब्रह्मा
६ नाभि (तुम्बे की)	६ सरस्वती
७ दोरक	७ वासुकि
८ जीरा (जवारी)	८ सुधाशु
९ सारिका (पर्दा अथवा एक तन्त्री पर बाएँ हाथ से तार घषण करने के लिये प्रयुक्त 'कम्रा' अर्थात् शलाका। पर्दा तो एकतन्त्री मे है ही नही।)	९ रवि

मनुष्य शरीर के अङ्गो, उपागो और प्रत्यगो मे देवताओ का निवास बताने की पद्धति वैदिक है और आगम धारा मे भी उपासना के समय शरीर के विभिन्न अगो मे देवताओ का न्यास करने की प्रणाली सवविदित है। एकतन्त्री के प्रसग मे इन दोनो धाराओ का सगम देखा जा सकता है।

अवनद्ध वाद्यो मे अधिष्ठातृ देवो का निरूपण सगीत रत्नाकर मे इस प्रकार मिलता है।

वाद्य नाम	अधिष्ठातृदेव
१ पटह	१ स्कन्द (स० र० ६-८१७)
२ मदल	२ नन्दिकेश्वर (वही, ६-१०३०)
३ हुडुक्का	३ सप्त माताए (वही, ६-१०७७)
४ करटा	४ चर्चिका (वही, ६-१०८५)
५ कुडुक्का	५ क्षेत्रपाल (वही, ६-१०९८)
६ रुञ्जा	६ भृगी (वही, ६-११०८)
७ त्रिवली	७ त्रिपुरा (वही, ६-११४४)

कुछ अवनद्ध वाद्या के विनियोग मे देव देवियो के नाम मिलते है। यथा।

१ मण्डिडक्का	१ चर्यागान अथवा शक्ति-पूजा मे
२ दुदुभि	२ देवतालय मे

विष्णु मन्दिर म शख और शिव-मन्दिर मे डमरू वजाने की परम्परा आज भी लोक म है। गुजरात मे देवी पूजा या देवी के आवेश के प्रसग मे डाकला (शायद डक्कुली) नाम का वाद्य ही बजाया जाता है।

शिव के पच मुखा मे से प्रत्येक से अवनद्ध वाद्यो के सात सात हस्तपाटो का उदभव सगीत रत्नाकर (६ ८५० और उसके बाद के गद्याश) में वर्णित है।

सुषिर वाद्यो के प्रसग मे वश के १४ भेदो के नाम द्रष्टव्य है। ये भेद मुखरन्ध्र औरताररन्ध्र के अन्तर (एक अगुल से लेकर १६ अगुल तक) को लेकर बनाए गए है। १४ नाम इस प्रकार है। (स० र० ६-४३१-३६)

मुख रन्ध्र और तार रन्ध्र का अन्तर	भेद नाम
१-एक अगुल	१-एकवीर
२-दो अगुल	२ उमापति
३-तीन अगुल	३ त्रिपुरुष
४ चार अगुल	४-चतुमुख
५-पाँच अगुल	५ पचवक्त्र
६ छह अगुल	६-षण्मुख
७-सात अगुल	७ मुनि [सप्तर्षि]
८-आठ अगुल	८ वसु
९-नौ अगुल	९ नाथेन्द्र [पाठभेद नागेन्द्र]
१०-दस अगुल	१० महानन्द
११-ग्यारह अगुल	११-रुद्र
१२-बारह अगुल	१२-आदित्य
१३-चौदह अगुल	१३-मनु
१४-सोलह अगुल	१४-कलानिधि

इस नामकरण मे निगम और आगम दोनो का प्रभाव स्पष्ट है।

पाविका नामक सुषिर वाद्य के लिये कहा गया है कि वह 'नाग' और 'यक्ष' को आवेश दिलाने वाली है (स० र० ६-७८६ क ख) यहाँ 'लोक' और 'निगमागम' का सगम है।

घन वाद्यो में प्रथम है 'ताल' या मजीरा। इसके लिये कहा है—

अल्पनादो भवेच्छक्तिर्मूर्तिनाद शिवो भवेत्।
शिवे स्निग्धे घनो नाद शक्तो स्यात् तद् विपर्यय
वामेन धारयेच्छक्ति शिव दक्षिणपाणिना।
अश्वमेधफल चैव प्राप्नुयाद् दोषमन्यथा।
देवता तुम्बुरुयुग्मे शक्ति शक्तौ शिवे शिव।
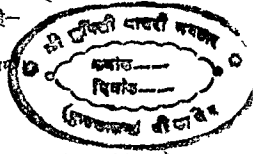
(स० र० ६-११७८ गद्य-११८०)

'अर्थात् 'ताल' (मजीरे) का बाएँ हाथ मे पकडा जाने वाला भाग शक्ति-रूप है और दाएँ हाथ मे पकडा जाने वाला भाग शिवरूप है। 'शिव' का नाद बडा और स्निग्ध है और शक्ति का नाद छोटा और रूक्ष है। वाम और दक्षिण हस्त का यथायथ प्रयोग करने से अश्वमेध का फल मिलता है और इसमे अन्यथा करने से दोष होता है। जोडे के देव तुम्बुरु हैं और वाम भाग की देवता शक्ति और दक्षिण भाग के देव शिव हैं।

कुछ अन्य घन-वाद्यो मे देवता निवेश इस प्रकार बताया गया है—

वाद्य का नाम	अधिष्ठातृ देव-देवी
१-कास्यताल (ताल से कुछ बडा)	१-नारद (स० र० ६ ११८४)
२-घण्टा	२-सवदेव, देवतार्चन मे वादन (वही, ६-११८८)
३-शुक्तिवाद्य	३-यक्ष, रुद्रप्रिय
४ पट्टवाद्य	४-सप्त देवमुनि

वाद्य निरूपण मे निगमागम धारा की कुछ झलक हमने देखी।

६ ग्राम-मूर्छना के अधिष्ठातृ देवों और तान-श्रुति नामों में निगमागम का प्रभाव

षडज मध्यम और गान्धार नामक तीन ग्रामो के अधिष्ठातृ देव सगीत रत्नाकर (१-४ ७) मे क्रमश ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर कहे गए हैं। मूर्छनाओं की देवता इस प्रकार हैं—(स० र० १-४-२९,२१)

मूर्छना नाम		देवता
१-उत्तरमन्द्रा (षड्जग्राम)		१-यक्ष
२ रजनी	,,	२-रक्षस
३-उत्तरायता	,,	३ नारद
४-शुद्धषाड्जी		४ अब्जभव (ब्रह्मा)
५-मत्सरीकृता	,,	५ नाग
६-अश्वक्रान्ता	,,	६-अश्विन
७ अभिरुद्गता	,,	७ पाशिन् (शिव)

८ सौवीरी (मध्यमग्राम)	८ ब्रह्मा
९-हरिणाश्वा ,,	९-इन्द्र
१०-कलोपनता ,,	१०-वायु
११ शुद्धमध्या ,,	११-गन्धर्व
१२-मार्गी ,,	१२ सिद्ध
१३ पौरवी ,,	१३-द्रुहिण (ब्रह्मा)
१४ हृष्यका ,,	१४-भानु

नारद के नाम से (सर० १- ४३३ २४) मूर्छनाओं के अन्य नाम भी दिये गए हैं, जो कि इस प्रकार हैं।

षडजग्राम की सात मूर्छनाएँ ऋषियो की हैं, ऐसा कहकर ये सात नाम दिये हैं—१-उत्तरवर्णा, २ अभिरुद्गता, ३ अश्वक्रान्ता ४ सौवीरी, ५ हृष्यका ६ उत्तरायता ७ रजनी

मध्यमग्राम की सात मूर्छनाएँ पितृगण की हैं, ऐसा कहकर उसकी मूर्छनाओं के नाम दिए हैं। १-नन्दा, २ विशाला ३ सुमुखी ४ चित्रा ५ चित्रवती ६ सुखा ७ आलापा

षड्ज मध्यम दोनो ग्रामो की मूर्छनाओ मे से एक या दो स्वर वर्जित करके उनके जो षाडव-औडव रूप बनते हैं, उन्हे नाट्यशास्त्र मे मूर्छना-तान कहा है और उनकी संख्या चौरासी निश्चित की है। बृहद्देशी मे इन्ही चौरासी तानो को यज्ञो के नाम दे दिये गये हैं। सगीत रत्नाकर एव सगीतराजादि परवर्ती ग्रन्थों मे यही यज्ञ नाम दोहराए गए हैं। निगम-धारा के प्रभाव का यह ज्वलन्त उदाहरण है। सगीत रत्नाकर (१-४-७२-९० तक) के आधार पर यह नाम सूची प्रस्तुत है।

षड्जग्राम—षड्जहीन षाडव तानें—१-अग्निष्टोम २ अत्यग्निष्टोम ३-वाजपेय ४ षोडशी ५-पुण्डरीक ६-अश्वमेध ७-राजसूय

ऋषभहीन षाडव तानें—१ स्विष्टकृत् २-बहुसौवर्ण ३-गोसव ४ महाव्रत ५ विश्वजित ६-ब्रह्मयज्ञ ७-प्राजापत्य

पंचमहीन षाडव तानें—१-अश्वक्रान्त २-रथक्रान्त ३-विष्णुक्रान्त ४ सूर्यक्रान्त ५-गजक्रान्त ६-बलभित् ७-नागपक्ष

निषादहीन षाडव तानें १-चातुर्मास्य २ संस्था ३ शस्त्र ४-उक्थ ५-सौत्रामणी ६-चित्रा ७ उदभित

मध्यम ग्राम—षडजहीन षाडव तानें—१-सावित्री २-अर्धसावित्री ३ सर्वतोभद्र ४-आदित्यानामयन ५-गवामयन ६-सर्पाणामयन ७ कौणपायन

ऋषभ-हीन षाडव तानें —१-अग्निचित २ द्वादशाह ३-उपांशु ४ सोम ५ अश्वप्रतिग्रह ६-बर्हि ७-अभ्युदय

गान्धारहीन षाडव तानें—१-सर्वस्वदक्षिण २-दीक्षा ३ सोम ४-समित ५ स्वाहाकार ६-तनूनपात ७ गोदोहन

षड्जग्राम—षडजपंचमहीन औडुव तानें—१-इडा २-पुरुषमेध ३-श्येन ४-वज्र ५-इषु ६-अङ्गिरा ७-कङ्क

निषाद—गन्धार हीन औडुव तानें—१ ज्योतिष्टोम, २-दर्श ३-नान्दी ४-पौर्णमास ५-अश्वप्रतिग्रह ६-रात्रि ७ सौभर

ऋषभ-पंचमहीन तानें—१-सौभाग्यकृत २-कारीरी ३-शान्तिकृत् ४ पुष्टिकृत ५ वैनतेय ६-उच्चाटन ७वशीकरण

मध्यमग्राम—ऋषभधैवतहीन औडव तानें—१-भैरव २ कामद ३-अवभृथ ४-अष्टकपालक ५ स्विष्टकृत् ६-वषट्कार ७ मोक्षद

तानो के यज्ञवाचक नाम देने के तुरन्त बाद यह कहा गया है कि जो तान जिस यज्ञ नाम से कही गई है, उसके प्रयोग से उसी यज्ञ का फल मिलता है। (स० र० १-४-९० गद्य)

बाईस श्रुतियो के नामकरण मे भी निगम आगम दोनो का प्रभाव दिखाई देता है। ये नाम नाट्य-शास्त्र मे तो नही ही हैं—बृहद्देशी मे भी नही है। व्यवस्थित रूप से ये सगीत रत्नाकर (१ ३-३५ गद्य-३८) मे ही सवप्रथम मिलते हैं। यथा—

१-तीव्रा २-कुमुद्वती ३-मन्दा ४-छन्दोवती ५-दयावती ६-रञ्जनी ७-रतिका या रक्तिका ८-रौद्री ९-क्रोधा १०-वज्रिका ११-प्रसारिणी १२-प्रीति १३ मार्जनी १४-क्षिति १५-रक्ता १६-सदीपिनी १७-आलापिनी १८-मदन्ती १९-रोहिणी २०-रम्या २१-उग्रा २२-क्षोभिणी

औमापतम् मे विशेष रूप से आगम धारा का दर्शन

गवनमेण्ट आरिएण्टल मेनुस्क्रिप्टस लाइब्रेरी, मद्रास से १९५७ मे श्री के० वासुदव शास्त्री द्वारा सपादित 'औमापतम्' नाम का सगीतशास्त्र-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है किन्तु शिव-पावती के सवाद के रूप मे रचित यह ग्रन्थ आगम-परम्परा का महत्त्वपूण उदाहरण है। मूल पाठ केवल ७६ पृष्ठो मे है, इसके दो एक रोचक प्रसग यहाँ उद्धृत हैं।

'राग' को त्रिविध बताया है—सजीव, मिश्र और निर्जीव। नरकण्ठज को सजीव, वैणिक को निर्जीव और वेणुज को मिश्र कहा है। (२१-३६०)

शुद्ध रागो को शिवरूप, सालग (छायालग) रागो को शक्तिरूप और सकीण रागो को शिवशक्ति का मिश्र रूप बताया है। (१२-१९२ गद्य, १९३)

उपसहार

अत्यन्त सक्षेप मे हमने नाट्यशास्त्र और परवर्ती सगीतशास्त्र मे विकीण उल्लेखो के आधार पर नाट्य और सगीत के शास्त्रीय निरूपण मे अनुप्रविष्ट निगमागम धारा का अवलोकन किया। इस अवलोकन से हमे भारतीय प्रज्ञा की समग्रता और अखण्डता का यत्किंचित् अनुदर्शन हो सके और उसे समझने की प्रेरणा मिले, यही इस लेख की साथकता होगी। ●

भारतीय शिल्प में अन्तरधर्मीय प्रतीक

डॉ० रमेश चन्द्र शर्मा

आदि काल से ही मानव ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए प्रतीको को माध्यम बनाया है। प्रागतिहासिक युग अर्थात् भाषा की उत्पत्ति के पूर्व तो प्रतीको का महत्व था ही किन्तु अब जबकि भाषा साहित्य और लेखन समाज के अभिन्न अंग है इनका महत्व अक्षुण्ण है। विभिन्न दलो व राष्ट्रो के ध्वजा मे प्रयुक्त चिन्ह सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक उत्सवो एव अवसरों पर शोभा सज्जा के लिए बनाई रूपाकृतियो से अनुमान लगता है कि तकनीकी दृष्टि से विकसित विज्ञानवादी युग मे भी प्रतीको का सार्वभौम प्रयोग है।

प्रतीको से मात्र धार्मिक तथा आध्यात्मिक सूक्ष्म तत्वो की ही व्याख्या नही होती अपितु उनसे मानव मन और उसके व्यवहार का भी अच्छा दिग्दर्शन होता है। इस प्रकार भावो की अभिव्यक्ति मे प्रतीको की भाषा वाणी से कही अधिक सक्षम एव सशक्त है।

देश काल और परिस्थिति जन्य विशिष्टताओ के अनुसार प्रतीको म प्रकारान्तर से भेद दिखाई देता है किन्तु उनमे अनेक ऐसे हैं जिनका अर्थ रहस्य अथवा सन्देश प्राय समान है। अवश्य ही ऐसे प्रतीक विभिन्न व्यक्ति समुदायो मे एकता की कडी का कार्य कर सकते है और उनसे अन्तरधर्मीय सामजस्य एव समन्वय की वृद्धि होती है।

भारतीय सस्कृति की आत्मा तो प्रतीको के माध्यम से ही ग्राह्य है। प्रागतिहास, पुरा इतिहास एव इतिहास तीनो युगो म प्रतीको का भरपूर प्रयोग हुआ है। यद्यपि धर्म, दर्शन एव साहित्य मे भारतीय सामाजिक सरचना अत्यधिक प्रभावित रही है किन्तु कला जो मानव के अन्तर्मन को मुखरित करने का एक विशिष्ट माध्यम बनी, आरम्भ से ही प्रतीको से आच्छादित रही। क्योकि कला और धर्म का प्रगाढ सम्बन्ध था। अत धार्मिक विचारो और मान्यताओ के स्पष्टीकरण और व्याख्यानो के लिए प्रतीको को आधार बनाया गया¹। आरम्भ मे ही यह अनुभूति हो गई थी कि प्रतीक अर्थ के सच्चे सवाहक हैं। यदि प्रतीक शोभा चिन्हों के रूप मे भी अंकित हुए होते तो भी उनका आधिदैविक महत्व और रहस्य अक्षुण्ण बना रहता।

भारत मे मिले प्रागैतिहासिक गुहा चित्रो (जैसे [illegible] मे अनेक प्रतीक द्रष्टव्य है²। सिन्धु अथवा हडप्पा सस्कृति के मृत्पा[illegible] [illegible] पर भी इनका प्रचुर अंकन है³।

वैदिक साहित्य तो प्रतीको का भण्डार है। इसम [illegible] का सांकेतिक विवरण अवर्णनीय है। [illegible] गूढ [illegible] अग्नि-सोम, द्यावा-पृथिवी, हिरण्यगर्भ [illegible] सूक्ष्म परतें छिपी हैं⁴। उनका उचित [illegible] वैदिक प्रतीको को परवर्ती साहित्य [illegible]

उपमा, उद्धरण, प्रकृति वर्णन अथवा उसके कमनीय स्वरूप शब्द चित्र, विभिन्न यज्ञों की प्रक्रिया एवं सम्पादन आदि में प्राय प्रतीक भाषा का प्रयोग हुआ है।

यह भी रोचक तथ्य है कि भारत में मुद्रा पद्धति का विकास प्रतीकों से ही हुआ। प्राचीनतम सिक्के जिन्हे आहत मुद्रा कहते हैं लगभग ई० पू० सातवीं शती से दूसरी शती ई० पू० के हैं[५]। इनमें अनेक प्रकार के चिन्ह अंकित रहते हैं जिनकी संख्या सैकड़ों में पहुंच चुकी है। इनका वास्तविक उद्देश्य क्या था यह अभी तक पूर्णतया स्पष्ट नहीं है तथापि विद्वानों का अनुमान है कि ये धार्मिक आध्यात्मिक तथा कलात्मक अभिरुचि अभिव्यक्त करते हैं। इन सिक्कों का मुद्राशास्त्रीय महत्व तो था ही क्योंकि विभिन्न व्यापार श्रेणियों द्वारा व्यापार के लिए अपने अपने चिन्ह अंकित कर इन्हे परिचालित किया था और इन्हे सिक्कों के रूप में मान्यता प्राप्त हुई।

इस प्रकार भारतीय समाज प्रतीकों से आरम्भ से परिचित रहा और इनका कला सौष्ठव, धार्मिक तथा सामाजिक अनुष्ठानों कर्मकाण्डीय विधान, आध्यात्मिक प्रवचनों तथा साहित्य सृजन आदि की अभिव्यक्ति के माध्यम के फलस्वरूप महत्व बना रहा। इनमें से अधिकांश प्रतीक सर्वमान्य थे और धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक बन्धन से मुक्त थे। प्राचीन भारतीय स्थापत्य चाहे वह हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन धर्म से सम्बन्धित हो, प्रतीकों के प्रदर्शन के बारे में उदार दृष्टिकोण का द्योतक है। अन्यान्य कलारूपों के परस्पर सम्मिलन से विभिन्न धर्म तथा मतावलम्बियों में भी सामंजस्य एवं सौहार्द की वृद्धि हुई क्योंकि उन्हे अन्यत्र भी अपने अन्तर्मन की भावना का ही दिग्दर्शन हुआ। कभी-कभी मान्यताओं के भेद से प्रतीकों की व्याख्या अथवा अर्थ परिवर्तन होने पर भी स्वरूप प्राय अपरिवर्तित रहता क्योंकि विद्वानों का शास्त्रार्थ और खण्डन मण्डन एक विशिष्ट बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित रहता और लोक में आरूढ़ प्रतीकों के प्रति निष्ठा अक्षुण्ण बनी रहती। फलत अधिकांश प्रतीकों की सर्वमान्यता स्थिर रही और वे धर्म विशेष की सीमा में आबद्ध नहीं रहे।[६]

इस प्रकार के अन्तरधर्मीय प्रतीक भारत में अनेक हैं तथापि सुविधा की दृष्टि से उनका निम्नवत वर्गीकरण हो सकता है।[७]

१ वनस्पति तथा पशुपक्षी जगत	विभिन्न वृक्ष, पुष्प, पशु, पक्षी और उनके विविध काल्पनिक स्वरूप।
२ आयुध	जैसे त्रिशूल, वज्र, इन्द्र, यष्टि, गदा, धनुष, बाण, दाश, चक्र आदि।
३ शोभा चिह्न	पूर्ण कुम्भ या मंगल कलश, यूपस्तम्भ या स्तम्भ रत्न, निधि (सम्पत्ति), पात्र, केतु, या ध्वज, छत्र, आसन, रथ आदि।
४ दार्शनिक/आधिदैविक	यक्ष, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वामन, अग्निसोम मातृका तथा अन्य देवतागण।

भारतीय समाज में जहाँ प्रत्येक सुन्दर व विशिष्ट वस्तु में दिव्यता का अधिष्ठान अभिप्रेत हो[८] वहाँ शुभ चिन्हों की संख्या का परिसीमन सम्भव नहीं है तथापि इन्हे अष्टमंगल चिन्ह की संज्ञा से आठ की परिधि में बाधा गया है किन्तु यह संख्या सर्वमान्य रूप से कभी स्थिर नहीं रही। जो आठ मंगल प्रतीक जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्मस्थलों में बहुधा मिलते हैं वे हैं पूर्ण कुम्भ, वृक्ष, स्वस्तिक, चक्र, मीन मिथुन अथवा मत्स्य युग्म, शराव सम्पुट (सकोरों का जोड़ा), भद्रासन या मंगलपीठ और त्रिरत्न जिसमें चक्र, कमल और नन्दि पद का संयुक्त अंकन रहता है। ये मंगल चिह्न महापुरुषों के भी परिचायक हैं। चक्रवर्ती राजा, अवतार और महान विभूतियों जैसे बुद्ध, महावीर आदि, को शोभा चिन्हों से युक्त प्रदर्शित करने की परम्परा रही है। मध्य, मुगल और आधुनिक युग में भी मंगल चिन्ह की मान्यता बनी हुई है।

भारतीय शिल्प में अन्तरधर्मीय प्रतीक

डॉ० रमेश चन्द्र शर्मा

आदि काल से ही मानव ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों को माध्यम बनाया है। प्रागैतिहासिक युग अर्थात भाषा की उत्पत्ति के पूर्व तो प्रतीकों का महत्व था ही किन्तु अब जबकि भाषा साहित्य और लेखन समाज के अभिन्न अंग हैं इनका महत्व अक्षुण्ण है। विभिन्न दलों व राष्ट्रों के ध्वजों में प्रयुक्त चिह्न सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक उत्सवों एवं अवसरों पर शोभा सज्जा के लिए बनाई रूपाकृतियों से अनुमान लगता है कि तकनीकी दृष्टि से विकसित विज्ञानवादी युग में भी प्रतीकों का सार्वभौम प्रयोग है।

प्रतीकों से मात्र धार्मिक तथा आध्यात्मिक सूक्ष्म तत्वों की ही व्याख्या नहीं होती अपितु उनसे मानव मन और उसके व्यवहार का भी अच्छा दिग्दर्शन होता है। इस प्रकार भावों की अभिव्यक्ति में प्रतीकों की भाषा वाणी से कहीं अधिक सक्षम एवं सशक्त है।

देश काल और परिस्थिति जन्य विशिष्टताओं के अनुसार प्रतीकों में प्रकारान्तर से भेद दिखाई देता है किन्तु उनमें अनेक ऐसे हैं जिनका अर्थ रहस्य अथवा सन्देश प्रायः समान है। अवश्य ही ऐसे प्रतीक विभिन्न व्यक्ति समुदायों में एकता की कड़ी का कार्य कर सकते हैं और उनसे अन्तरधर्मीय सामंजस्य एवं समन्वय की वृद्धि होती है।

भारतीय संस्कृति की आत्मा तो प्रतीकों के माध्यम से ही ग्राह्य है। प्रागैतिहास, पुरा इतिहास एवं इतिहास तीनों युगों में प्रतीकों का भरपूर प्रयोग हुआ है। यद्यपि धर्म, दर्शन एवं साहित्य में भारतीय सामाजिक संरचना अत्यधिक प्रभावित रही है किन्तु कला जो मानव के अन्तर्मन को मुखरित करने का एक विशिष्ट माध्यम बनी, आरम्भ से ही प्रतीकों से आच्छादित रही। क्योंकि कला और धर्म का प्रगाढ़ सम्बन्ध था। अतः धार्मिक विचारों और मान्यताओं के स्पष्टीकरण और व्याख्यानों के लिए प्रतीकों को आधार बनाया गया[1]। आरम्भ में ही यह अनुभूति हो गई थी कि प्रतीक अर्थ के सच्चे संवाहक हैं। यदि प्रतीक शोभा चिह्नों के रूप में भी अंकित हुए होते तो भी उनका आधिभौतिक महत्व और रहस्य अक्षुण्ण बना रहता।

भारत में मिले प्रागैतिहासिक गुहा चित्रों (जैसे मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा उड़ीसा) में अनेक प्रतीक द्रष्टव्य हैं[2]। सिन्धु अथवा हड़प्पा संस्कृति के मृत्पात्रों पर तो शोभा चिह्न चित्रित हैं ही, मुहरों पर भी इनका प्रचुर अंकन है[3]।

वैदिक साहित्य तो प्रतीकों का भण्डार है। इसमें प्रकृति के उपादानों एवं उनसे उद्भूत क्रियाओं का सांकेतिक विवरण अवलोकनीय है। सरल शब्द भी गूढ़ रहस्य से गुम्फित प्रतीत होते हैं। पिण्ड ब्रह्माण्ड, अग्नि-सोम, द्यावा पृथिवी, हिरण्यगर्भ आदि ऐसे प्रयोग हैं जिनमें सृष्टि की प्रक्रिया और उसके विकास की सूक्ष्म परतें छिपी हैं[4]। उनका उचित प्रयोग और व्याख्या स्वयं ही एक गूढ़ और महत्वपूर्ण विषय है। वैदिक प्रतीकों को परवर्ती साहित्य और कथानकों के माध्यमों से स्पष्ट करने का प्रयास हुआ। वैदिक

उपमा, उद्धरण, प्रकृति वणन अथवा उसके कमनीय स्वरूप शब्द चित्र, विभिन्न यज्ञो की प्रक्रिया एव सम्पादन आदि मे प्राय प्रतीक भाषा का प्रयोग हुआ है।

यह भी रोचक तथ्य है कि भारत मे मुद्रा पद्धति का विकास प्रतीको से ही हुआ। प्राचीनतम सिक्के जिन्हें आहत मुद्रा कहते हैं लगभग ई० पू० सातवी शती से दूसरी शती ई० पू० के हैं[५]। इनमे अनेक प्रकार के चिन्ह अकित रहते हैं जिनकी सख्या सैकडो मे पहुच चुकी है। इनका वास्तविक उद्देश्य क्या था यह अभी तक पूणतया स्पष्ट नही है तथापि विद्वानो का अनुमान है कि ये धार्मिक आध्यात्मिक तथा कलात्मक अभिरुचि अभिव्यक्त करते हैं। इन सिक्को का मुद्राशास्त्रीय महत्व तो था ही क्योकि विभिन्न व्यापार श्रेणिया द्वारा व्यापार के लिए अपने अपने चिन्ह अकित कर इन्हें परिचालित किया था और इन्हे सिक्को के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई।

इस प्रकार भारतीय समाज प्रतीको से आरम्भ से परिचित रहा और इनका कला सौष्ठव, धार्मिक तथा सामाजिक अनुष्ठानो कमकाण्डीय विधान, आध्यात्मिक प्रवचनो तथा साहित्य सृजन आदि की अभि-व्यक्ति के माध्यम के फलस्वरूप महत्व बना रहा। इनमे से अधिकाश प्रतीक सर्वमान्य थे और धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक बन्धन से मुक्त थे। प्राचीन भारतीय स्थापत्य चाहे वह हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन धम मे सम्बन्धित हो, प्रतीको के प्रदर्शन के बारे मे उदार दृष्टिकोण का द्योतक है। अन्यान्य कलारूपो के परस्पर सम्मिलन से विभिन्न धम तथा मतावलम्बियो मे भी सामजस्य एव सौहार्द की वद्धि हुई क्योकि उन्हे अन्यत्र भी अपने अन्तमन की भावना का ही दिग्दर्शन हुआ। कभी कभी मान्यताओ के भेद से प्रतीको की व्याख्या अथवा अथ परिवतन होने पर भी स्वरूप प्राय अपरिवर्तित रहता क्योकि विद्वानो का शास्त्राथ और खण्डन मण्डन एव विशिष्ट बुद्धिजीवी वग तक ही सीमित रहता और लोक मे आरूढ प्रतीको के प्रति निष्ठा अक्षुण्ण बनी रहती। फलत अधिकाश प्रतीको की सवमान्यता स्थिर रही और वे धम विशेष की सीमा मे आबद्ध नही रहे।[६]

इस प्रकार के अन्तरधर्मीय प्रतीक भारत मे अनेक हैं तथापि सुविधा की दृष्टि से उनका निम्नवत वर्गीकरण हो सकता है।[७]

१ वनस्पति तथा पशुपक्षी जगत्	विभिन्न वृक्ष, पुष्प, पशु, पक्षी और उनके विविध काल्पनिक स्वरूप।
२ आयुध	जैसे त्रिशूल, वज्र, इन्द्र, यष्टि, गदा, धनुष, बाण, दाश, चक्र आदि।
३ शोभा चिह्न	पूण कुम्भ या मगल कलश, यूपस्तम्भ या स्तम्भ रत्न, निधि (सम्पत्ति), पात्र, केतु, या ध्वज, छत्र, आसन, रथ आदि।
४ दार्शनिक/आधिदैविक	यक्ष, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वामन, अग्निसोम मातृका तथा अन्य देवतागण।

भारतीय समाज मे जहा प्रत्येक सुन्दर व विशिष्ट वस्तु मे दिव्यता का अधिष्ठान अभिप्रेत हो[८] वहा शुभ चिन्हो की सख्या का परिसीमन सम्भव नही है तथापि इन्हें अष्टमगल चिन्ह की सज्ञा से आठ की परिधि में बाधा गया है किन्तु यह सख्या सर्वमान्य रूप से कभी स्थिर नही रही। जो आठ मगल प्रतीक जैन, बौद्ध और हिन्दू धमस्थलो मे बहुधा मिलते हैं वे हैं पूण कुम्भ, वृक्ष, स्वस्तिक, चक्र, मीन मिथुन अथवा मत्स्य युग्म, शराव सम्पुट (सकोरो का जोडा), भद्रासन या मगलपीठ और त्रिरत्न जिसमे चक्र, कमल और नन्दि पद का सयुक्त अकन रहता है। ये मगल चिह्न महापुरुषो के भी परिचायक हैं। चक्रवर्ती राजा, अवतार और महान विभूतियो जैसे बुद्ध, महावीर आदि, को शोभा चिन्हा से युक्त प्रदर्शित करने की परम्परा रही है। मध्य, मुगल और आधुनिक युग मे भी मगल चिन्ह की मान्यता बनी हुई है।

मन्दिर, स्तूप, चैत्य, मठ विहारो के अतिरिक्त राजप्रासाद, सार्वजनिक भवन तथा निजी इमारतों एवं मकानो को भी प्रतीकों से सजाया जाता था। दान सम्बन्धी अभिलेखो, ताम्रशासनो और इसी प्रकार के इष्टापूत कार्यों के सम्पादन के उल्लेख के पूर्व मङ्गल चिन्हो को उत्कीर्ण करने की प्रथा रही। कभी कभी इन्हे इतना बद्धमूल ढंग से अतिरंजित कर प्रदर्शित किया गया है कि उनके यथार्थ स्वरूप का निर्धारण एक समस्या बन जाती है। दूसरी ओर प्रतीको के माध्यम से सम्पन्न विधान की प्रवृत्ति का बोध भी होता है। जब चौबीस तीर्थकरो का प्रायः एक सा प्रतिमा विधान होने से उनके पहचान की कठिनाई प्रतीत हुई तो उसका समाधान विभिन्न लाञ्छनो से किया गया। तदनुसार ऋषभनाथ को कंधो पर लटकी जटाओ और पार्श्वनाथ या सुपार्शनाथ को सर्पफणो की छतरी से आच्छादित दिखाया गया तथापि अन्य बाईस की समस्या बनी रही, फलतः गुप्तोत्तर काल मे सभी चौबीस जिनो की प्रतिमाओ के नीचे उनकी पहचान का एक चिन्ह बना दिया गया। जैसे ऋषभनाथ के नीचे बैल, शान्तिनाथ के नीचे हरिण और महावीर के नीचे सिंह का अंकन होने लगा। यद्यपि उनमे से सभी या तो दण्ड या कार्योत्सर्ग मुद्रा मे खड़े होकर अथवा ध्यानस्थ भाव मे तपस्यारत दिखाया गया है।[९]

कुछ प्रतीक तो इतने लोकप्रिय हुए कि वे अनेक देशो मे किसी-न किसी रूप मे अब तक प्रचलित हैं। यहा यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये मात्र मंगल चिन्हो के रूपो मे ही ग्राह्य नही हुए। किन्तु कभी-कभी उनसे एक विचित्र आतंकमय स्थिति का भी बोध होता है और इस दृष्टि से उन्हे त्याज्य या अमंगल सूचक मान लिया गया। उदाहरण के लिये स्वस्तिक आदि काल से ही बहुत लोकप्रिय रहा। किन्तु इसे हिटलर ने अपनाया और जर्मनी के राज्य चिन्ह का गौरव भी दिया, साथ ही उसने यहूदियो पर भीषण अत्याचार कर अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया तो स्वस्तिक को अधिनायकवाद, आतंक और अत्याचार के प्रतीक के रूप मे माना जाने लगा है और आज भी इसके प्रयोग के रूप मे शंका उठाई जाती है। वास्तव मे दोष प्रतीक का नही अपितु उसके प्रयोग के पीछे निहित मनोवृत्ति या विचार धारा का दोष है जिसके फलस्वरूप एक सुन्दर और मंगलदायी प्रतीक भयावह रूप मे मान लिया गया। इसी प्रकार तन्त्रोपचार मे अनेक प्रतीक स्वीकार किये गए। उनमे से बहुत से विचित्र और अमंगलकारी प्रतीत होते हैं जैसे मानव कंकाल या मुण्ड। अवश्य ही इससे मंगल भावो का प्रस्फुटन न होकर भय और मृत्यु की सूचना मिलती है और ये प्रतीक किसी क्रिया विशेष के लिए आवश्यक और ग्राह्य हो सकते हैं किन्तु उन्हे शोभा प्रतीक के रूप मे समाज ने नही अपनाया।

अन्तरधर्मीय शोभा चिन्हो की संख्या तो बहुत है किन्तु यहा कतिपय विशिष्ट चिन्हो पर ही प्रकाश डालना सम्भव है।

कल्पवृक्ष

इच्छाओ या कामनाओ को पूर्ण करने के लिए मान्यता प्राप्त वृक्ष को कल्प वृक्ष या कल्पद्रुम कहते हैं। दिव्य शक्ति से अधिष्ठित होने के फलस्वरूप इसे सुरतरु अथवा देवतरु भी कहा जाता है। कला मे इसे न केवल पत्र पुष्प और फलो से लदा दिखाते हैं अपितु इसे बहुत से वस्त्र एवं आभूषणो से भी मण्डित बनाया जाता है। भाव यह है कि मनुष्य के जितने भी इष्ट पदार्थ है वे सभी कल्पतरु से प्राप्त हो सकते हैं। मनोवाञ्छित पदार्थों की उपलब्धि किसे ग्राह्य नही होगी? व्यक्ति किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, समूह या देश का हो ऐसे वृक्ष की वह पूजा करेगा ही। अभिज्ञान शाकुन्तल मे उल्लेख है कि जब शकुन्तला वन से तपोवन के लिये विदा हुई तो वृक्षो ने वस्त्र एवं आभूषण उसे प्रदान किये।[१०] रामायण,

महाभारत, जातक कथाओ, सस्कृत साहित्य और जैन ग्रन्थो मे कल्पवृक्ष के अनेक सन्दभ मिलते हैं। भरहुत, साची, भाजा, मथुरा, गधार तथा अन्य कला शिल्पो म कल्पवक्ष का अकन द्वितीय शती ई० पू० से तृतीय शती ई० तक मिलता है।११ भारतीय सग्रहाल्य, कलकत्ता मे द्वितीय शती ई० पू० का विदिशा, मध्यप्रदेश से प्राप्त एक प्रस्तर शिला को कल्पद्रुम का यथावत स्वरूप प्रदान किया गया है। तदनुसार एक वटवृक्ष से अष्ट निधिया को निकलता दिखाया है।१२

कभी-कभी नर और नारी युगला को प्रणयरत भाव मे कल्पवृक्ष पर उत्कीण किया है। सम्भोग का सुख मनुष्य की चरम अभिलापा मानी गई है और धम, अथ, काम और मोक्ष इन चार पुरुपार्थो मे काम का भी महत्वपूण स्थान है। अत कल्पवृक्ष को इस इच्छा के पूरक के रूप मे भी सम्मान मिला। कल्पद्रुम के स्त्री भेद भी मिलते हैं जिन्हे कल्पलता, नारीलता या कामलता के नाम से शिल्प मे अकित किया है। यदयपि इन सभी का अभिप्राय समान है। कल्पवृक्ष के पीछे अनेक कथाओ अथवा इतिहासपरक घटनाओ का घटाटोप है और उनसे भी इसकी दिव्यता पर प्रकाश पडता है। मार्कण्डेय मुनि को वटवृक्ष पर बाल कृष्ण का दशन हुआ था। महात्मा बुद्ध ने बोध गया मे पीपल के वृक्ष के नीचे महान सकल्प लेकर तपस्या की और अन्तत बोधि का परम लक्ष्य प्राप्त किया। फलत आरम्भिक शिल्प मे बुद्ध को बोधि वृक्ष के नीचे तपस्यारत दिखाया जाता है। कभी-कभी घटनाक्रम मे बुद्ध स्वय उपस्थित नही रहते और मात्र बोधिवक्ष के अकन से बोधि प्राप्ति की घटना का आभास होता है। फलत भक्त गया वृक्ष की पूजा, अर्चा और परिक्रमा तथा उस पर पुष्प माला आदि अर्पित करते है। बोधिवृक्ष को प्राचीन शिल्प मे प्रासाद या भवन के मध्य भी अकित किया गया अथवा भवन से वृक्ष की शाखाएँ निकलती रहती है। इस दृष्टि से लगभग प्रथम शती ई० पू० की मथुरा सग्रहाल्य मे सुरक्षित एक तोरण सूची उल्लेखनीय है।१३ अनेक तीर्थो मे अभी तक यह मान्यता बलवती है कि वृक्ष विशेष पर वस्त्र या कलावा चढाने से मनोवाछित फल की प्राप्ति होती है। इस श्रद्धा की पृष्ठभूमि मे कल्पवक्ष की मान्यता ही वद्ध मूल है।

कल्पवृक्ष के आधिदैविक स्वरूप का चिन्तन भी वरेण्य है। इसका अभिप्राय है अभीष्ट के प्रति उत्कट सकल्प भावना और प्रयासपूवक लक्ष्य की प्राप्ति। कल्प का अथ है कल्पना या चिन्तन। यह दो प्रकार का हो सकता है सत कल्प अथवा सकल्प और दूसरा विकल्प। सत्कल्प का अथ है अच्छा विचार विकल्प का अथ है दुर्विचार। सकल्प समाधि की ओर प्रेरित करता है जिससे उचित फल की प्राप्ति होती है। विकल्प (बुरे विचार) व्याधि अथवा अनिष्ट की ओर ले जाते है वस्तुत कल्पवृक्ष के नीचे स्थित होना एक मानसिक स्थिति है जिसमे सभी प्रकार की आकाक्षाओ और वासनाओ का उपशम होता है और जब वासना ही समाप्त हो गई तो किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयास का प्रश्न ही नही उठता। यह मन की आत्यन्तिक सन्तुष्टि की स्थिति है 'मनसि च सन्तुष्टे कोऽथवान को दरिद्र।' इस प्रकार सुकल्प वृक्ष के नीचे अर्थात सुचिन्तन से हमारा अभाव स्वय ही समाप्त हो जाता है और याचना के लिये कुछ शेष बचता ही नही है। यही कल्पवृक्ष का प्रतीक रहस्य है इसके महत्व के कारण इसे चाव से भारतीय शिल्प मे यत्र तत्र अकित किया गया है।

पूर्ण कुम्भ

समृद्धि, बाहुल्य, और हर्ष म प्रतीकपूण कलश का प्रचुर अकन भारतीय कला म मिलता है और यह सभी मतावलम्बियो म लोकप्रिय रहा है। पूणकुम्भ, पूणकलश, पूणपात्र, भद्र पात्र, मगल कलश, मगल पात्र, पूणघट, भद्रघट आदि इसके अनेक नाम मिलते हैं। जल भरे पात्र से निकलती लता, पुष्प

अथवा पत्रो सहित दिखाने का इसका विधान है। इसके सुन्दर रचना सौष्ठव को देखकर ही मगल भावनाओ का हृदय मे सचार होने लगता है। पात्र से निकलती सपुष्पलता जीवन के सुख और अभ्युदय की सूचक है। अत वैदिक काल से ही भद्र कलश का विधान मिलता है 'एतानि भद्रा कलश क्रियाम'।[१४] कीर्ति और समृद्धि का विस्तारक यजमान का पूण कलश पीने के लिये सदा भरा पूरा रहे —

आपूर्णो अस्य कलश स्वाहा। सिक्तेव कोश सिसिचे पिवध्यै[१५] कभी-कभी पूण कलश का स्वण से बना और दूध से भरा होने का उल्लेख है।[१६] और उससे चमकीला द्रव निकलता रहता है।[१७] यह भी सकेत किया गया है कि जब सोम रस कलश मे प्रवेश करता है तो उसके साथ विश्व की समस्त शोभा पात्र मे निवास करती है।[१८] अत सोम व श्री परस्पर सम्बद्ध हैं। ऐसे प्रसगा मे सोम पुरुष और श्री नारी तत्व के प्रतीक हैं। उनके सयोग से जीवन का चरम आनन्द प्रस्फुटित होता है। अथर्ववेद मे पूण कुम्भ को समय का भी प्रतिमान माना गया है जिसे अनेक रूपो मे देखा जा सकता है —'पूण कुम्भोऽधिकाल अहितस्त वै पश्यामो बहुधा नु सन्तम्'।[१९] यहा बहुधा शब्द बडा साभिप्राय प्रतीत होता है। ऋतुओ के परिवतन से कालचक्र भिन्न रूपो मे दिखाई देता है। जीवन मे भी समय की गति बदलती रहती है। सृष्टि का क्रम भी परिवतनशील है। इसीलिये पूण कलश भी विविध रूपों मे अकित पाया जाता है। उससे निकलती पत्रावली नित्य नवीनता की प्रतीक है।

परिपूर्णता पूर्ण कलश की मुख्य विशेषता है जीवन को पूण बनाने की प्रक्रिया के रूप मे पूणघट को व्यक्त किया गया है। अथववेद मे जीवन के समस्त सुख, आनन्द, प्रसन्नता आदि का अधिष्ठान यह मगल कलश ही माना गया है —

आनन्दा मोदा प्रमुदोऽभीमोद मुदश्च ये।
हसो नरिष्टा नत्तानि शरीमनु प्राविशन[२०]।

जीवन की यही सम्पूणता उपनिषद मे बताई गई है जो सभी परिस्थितियो मे पूण है पूणमद पूणमिद पूर्णात् पूणमदुच्यते। पूणस्य पूर्णमादाय पूणमेवावशिष्यते।[२१]

पूण कुम्भ की यह पूववर्ती विशेषता परवर्ती काल मे भी अक्षुण्ण रही और बौद्ध व जैन साहित्य एव शिल्प मे इसे विविधता एव रोचकता के साथ अपनाया गया। भरहुत, साची, मथुरा, गधार, अमरावती आदि मे इसका प्रचुर अकन किया गया। बौद्ध साहित्य मे घरो को मगल कलश से अलकृत करने का उल्लेख है और ऐसे घरो को 'पुण्ण घट परिमडित घर' बताया है[२२]। मध्य कालीन मन्दिरो में स्तम्भो के मूल भाग को प्राय पूर्णघट से उत्कीण करने का विधान था। आज भी विवाह आदि मागलिक अवसरो पर पूणघट की प्रतिष्ठा चली आ रही है।

स्वस्तिक

परस्पर मिलती आगे बढती दो रेखाएँ स्वस्तिक बनाती हैं। यही रेखाए चारो ओर वृत्त की ओर अग्रसरित होती हैं। स्वस्तिक शुभ का पर्याय है और सम्भवत यह वैदिक स्वस्तिक वाचन से लिया गया है जहा कार्यों की सिद्धि सफलता के लिए स्वस्ति वाचन किया जाता था। स्वस्तिक की रचना परस्पर मिलकर वृद्धि की ओर सकेत करती है। अकेला एक ही दिशा मे चलेगा रेखा भी एक ही ओर बढती है किन्तु बहुत से लोगो के मिलन पर जीवन की दिशाएँ खुल जाती हैं। विचार विमर्श होता है और आगे की व्यूह रचना की जाती है। चारो ओर खोज होती है। आगे चलकर पुन मुडते हैं और जीवन चक्र आगे बढ़ता जाता है।

अग्रभाग के दाहिनी ओर मुडने पर स्वस्तिक चक्रवत् दिखाई देता है और तब यह सूय का प्रतीक होता है। यही पुरुष शक्ति, तेज या पौरुष का अभिप्राय है कि व्यक्ति शक्ति सम्पन्न हो निरतर गतिशील रहे। यदि स्वस्तिक के अग्रभाग बाई ओर मुडते हैं तो यह चन्द्रमा का प्रतीक माना जाता है जिसकी शीतलता, कोमलता और सौदय से स्त्री का लावण्य अभिव्यक्त होता है।

चारो दिशाओ मे उन्मुख होने के फलस्वरूप स्वस्तिक को चारो वेद या वेदपाठी चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप मे मान्यता प्राप्त है। कुछ लोग इसे जीवन की चार अवस्थाओ के रूपो मे स्वीकार करते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। जीवन के चार प्रमुख लक्ष्य भी इसमे अनुमानित होते हैं धम, अर्थ, काम एव मोक्ष। चार वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र का समवेत भाव भी इससे अभीष्ट है। इस प्रकार कुल मिलाकर स्वस्तिक एकता का सकेत करता है। चतुष्पदा गो या चारो ओर समुद्र से घिरी पृथ्वी का स्वस्तिक सकेत देता है। ज्ञान का प्रकाश चारो ओर फैलाने के रूप मे बौद्ध व जैन परम्पराओ ने भी स्वस्तिक को मान्यता दी।

सिन्धु सस्कृति मे स्वस्तिक का स्पष्ट अकन है। जैन व बौद्ध स्थापत्य म भी इसे प्रचुरता से उत्कीर्ण किया गया है। स्तूप अथवा चैत्य स्वस्तिक की आकृति के आधार पर ही निर्मित किए जाते थे। ऐसी सरचना का व्यावहारिक कारण यह था कि वन्य पशु सीधे प्रवेश न कर सकें क्योकि आगे की ओर मुडी भुजाए उनके प्रवेश मे प्रतिरोध का काय करती थी वैसे स्तूप या चैत्य का विकास वैदिक यज्ञ वेदी से हुआ[२३]। जहा स्वस्ति वाचन यज्ञ का आवश्यक अग माना जाता था अत शुभ के प्रतीक के रूप मे स्तूप की सरचना का आधार यज्ञवेदी हुई। महान् विभूति की समाधि या स्मारक के रूप मे बने स्तूप या चैत्य से उस विभूति के स्मरण से उत्तम सचार होता था जिससे सु अथवा शुभ की अभिवृद्धि होती थी[२४]। ईसाई धर्म मे स्वस्तिक 'क्रॉस' को ईसा मसीह के चरम बलिदान के रूप मे समादृत किया जाता है। इस प्रकार स्वस्तिक चिन्ह का सभी युगो मे सावभौम प्रतीक के रूप मे प्रयोग हुआ।

पद्म

भारतीय कला मे कमल सबसे सुन्दर शोभाचिन्ह है और इसे सभी धम व सम्प्रदायो ने अलकरण के रूप मे अपनाया है। यह ज्ञान एव प्रकाश का प्रतीक है। सूय सृष्टि अथवा ब्रह्मा के रूप मे मान्य है और सृष्टि का विकास एव उत्पत्ति कमल द्वारा अभिव्यक्त होती है। सूर्य के उदय होने के साथ ही कमल विकसित होते हैं और सूर्यास्त के समय वे मुकुलित हो जाते हैं। कमल को महापुरुषो की मूर्तियो अथवा चित्रो मे प्रभा मडल के रूप मे प्रदर्शित किया जाता है और यह उनके ज्ञान अथवा प्रकाश का प्रतीक है।

क्योंकि कमल सृष्टि व विकास से सम्बन्धित है अत ब्रह्मा को कमल पर आसीन दिखाया जाता है और यह विष्णु की नाभि से निकलता है।

ब्रह्म ह व ब्रह्माण पुष्करे ससृजे[२५]

कमल की पखुडियो को सृष्टि का गभ बताया गया है।

'योनिर्वै पुष्कर पर्णम्'[२६]

जैन तथा बौद्ध स्तूप की वेदिकाओ म कमल के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं और इसलिये इन्हे पद्मवर वेदिका कहा गया है। पद्म या कमल के अन्य भी नाम मिलते हैं जैसे सरसिज, पुष्कर, पकज। कभी-कभी कमल के विविध प्रकार उसके नामो से भी अभिव्यक्त होते हैं जैसे शतदल, सहस्रदल से पखुडियो की सख्या का अनुमान लगता है उसी प्रकार 'नीलोत्पल, नीलाम्बुज, रक्ताम्भोज से कमल के वण का आभास मिलता है।

कमल से सौन्दय व लावण्य भी अभिप्रेत हैं। दिव्य अथवा कमनीय व्यक्तियो के शारीरिक अवयवो की तुलना कमल से की गई है जैसे मुख कमल, नेत्र कमल, पद्मपाद आदि। विशेप रूप से नेत्रो की उपमा प्राय कमल से दी जाती है। कुषाण युगीन हिन्दू, जैन व बौद्ध मूर्तिया मे प्राय खुले किन्तु छोटे आकार के कमल के समान नेत्र मिलते हैं किन्तु गुप्त कालीन मूर्तियो मे नेत्र रचना अर्धोमीलित बडी कमल कली के सदृश है। प्रथम प्रकार ससार के कष्ट और दु खो को देखना, समझना और स्मित भाव से सहने को सकेत करता है और दूसरा दु खो के निवारण के प्रयास मे अन्तमु खी व ध्यान भाव है जो लोकोत्तर ज्ञान की छटा से प्रकाशित है।

भारतीय शिल्प मे कमल का अकन पूण विकसित, अधविकसित अथवा कली के रूप मे किया गया है। इससे विकास के विभिन्न सोपान इ गित होते हैं। यदा कदा कमल को लता के रूप मे भी स्तूपो के उष्णीप मन्दिरो या सामाजिक भवनो के द्वार शाखा, शीष पट्टी अथवा स्तम्भों पर उत्कीर्ण किया गया है। इनमे बीच-बीच मे मानव आकृतिया भी दिखाई गई हैं यह रचना बहुत मनोज्ञ प्रतीत होती है।

चक्र

चक्र समय और गति का प्रतीक है और भारत मे इसका अकन सभी मान्यताओ मे अभीष्ट है।

हमारे राष्ट्रीय ध्वज मे चक्र केन्द्र बिन्दु के रूप मे चिन्हित रहता है। समय के प्रतिमान के रूप मे इसे काल चक्र कहते है। तानो की सख्या के आधार पर भी इसकी व्याख्या की जाती है। यदि सख्या छ है तो ऋतुओ का सकेत है और बारह होने पर महीनो की सूचना मिलती है। विष्णु के हाथ मे हजार तानो वाला सुदर्शन चक्र रहता है[२७]। महात्मा बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश को 'धम चक्र प्रवतन' कहते हैं और कला मे कभी-कभी उन्ह चक्र को छूते दिखाया है। बौद्ध व जैन शिल्प मे खम्भे पर पहिया दिखाया गया है और इस स्तम्भ चक्र का भक्त बडे सम्मान से पूजन व परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार के प्रदशन का तात्पय है महापुरुषो के उपदेशो के प्रति आदर भाव। अशोक के तृतीय शताब्दी ई० पू० के प्रसिद्ध सारनाथ सिंह स्तम्भ के ऊपर एक विशाल चक्र था जो कालगति से टूट गया। यह बुद्ध वाणी का धमचक्र था जो सिंह रूपी शक्ति का नियत्रक था अथवा बुद्ध का धर्मोपदेश सिंह नाद के समान था क्योंकि बुद्ध को शाक्य सिंह कहा गया है। सूय के रथ को एक चक्र रथ बताया है। इससे सूय की निरन्तर गतिशीलता अभिव्यक्त होती है। उसे कही रुकना नही होता[२८]। यदि अकेला पहिया रुक गया तो वह तुरन्त गिर जाएगा उसकी स्थिति निरन्तर गति बनाए रखने मे ही है। जीवन मे सुख-दुखो का आवागमन चक्र के अरे की गति की भाति होता है[२९]। चक्र को भारतीय कला ने आदि काल से ही स्थान दिया।

श्री लक्ष्मी

श्री अथवा लक्ष्मी को कमल पर आसीन दिखाया जाता है। इससे शोभा (श्री) और समृद्धि (लक्ष्मी) दो पक्ष इ गित होते है इसीलिए कभी कभी श्री और लक्ष्मी को पृथक दिखाने की भी परम्परा रही है। ऋग्वेद के श्री सूक्त मे श्री लक्ष्मी का प्रथम बार वणन मिलता है और इसे कमल से सम्बर्धित बताया है[३०]। देवी को पद्म सम्भवा', 'पद्मवर्णा', 'पदिमनी', 'पदमेस्थिता', 'पद्माक्षी', 'पद्मोरू' आदि नामो से सम्बोधित किया गया है।

समृद्धि की अधिष्ठातृ देवता के रूप मे लक्ष्मी को सवर्णाभूपण युक्त तथा सरोवर निवासिनी बताया है। जल और कमल लक्ष्मी के दो अभिन्न सहचर हैं। ये दोनो सृजन के भी प्रतीक हैं। पौरा

णिक परम्परा के अनुसार लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र से हुई। कला मे लक्ष्मी को दो हाथियो द्वारा अभिषेक करते दिखाया गया है। ये हाथी भी दिग्गज अर्थात् दिशाओ के प्रतिनिधि स्वरूप हैं।

श्री लक्ष्मी या गज लक्ष्मी का अकन भारतीय शिल्प मे द्वितीय शती ई० पू० से मिलता है। क्योकि शोभा और समृद्धि की अभिलाषा मानव मात्र को है अत इस प्रतीक को सभी ने समान रूप से अभिरुचि पूर्वक अपनाया और इसम धम, सम्प्रदाय या मान्यताओ की सीमाए बाधक नही बनी। यहा तक कि धम निरपेक्ष तथा नास्तिको को भी लक्ष्मी के वैभव ने निरन्तर आकृष्ट किया। दीपावली के प्रकाशोत्सव की शोभा मे लक्ष्मी पूजन आज भी एक महत्वपूर्ण आकषण है।

श्रीवत्स

इसका अथ है श्री का पुत्र और इसका अकन विभिन्न रूपो मे किया गया है किन्तु अभी तक उसका वास्तविक स्वरूप अनिर्धारित ही है। मुख्य रूप से यह अतिरजित मानव वक्ष की भाति अण्डाकृति का है कभी-कभी लम्बोतरी ढाल की भाति प्रतीत होता है। विष्णु के वक्ष पर श्रीवत्स का चिन्ह एक अपरिहाय रूप से मिलता है। मथुरा से प्राप्त कुषाण युगीन वराह मूर्ति भी इससे लाछित है। प्राचीन जैन तीथङ्करो के वक्ष पर भी श्रीवत्स चिन्ह उत्कीण है। किन्तु इससे भी पूव का अकन द्वितीय शती ई० पू० के भरहुत शिल्प मे मिलता है। छन्दा यक्षी के कण्ठ हार मे इसे स्थान मिला है। साची मे श्रीवत्स का पक्तिवद्ध अकन प्राप्त हुआ है और नासिक की गुहा स० १२ के चैत्य मे भी यह प्रतीक आलेखित है।[२२] यह आश्चर्य की बात है कि लगभग एक सहस्र ई० पू० के ताम्रयुगीन उपकरणो मे से कुछ मानवाकृतिया श्रीवत्स चिन्ह से बहुत मिलती हैं। कभी-कभी श्रीवत्स की दो भुजाओ के बीच एक दूसरे को देखते हुए दो सपफणो की भाति बनाते हैं।[२३] कुछ दक्षिण भारतीय भवनो मे श्रीवत्स का अकन दो भुजाएँ उठाए शिशु के रूप मे करते हैं। साथ ही इसे कमल पर आसीन और दो हाथियो द्वारा अभिषिक्त दिखाया गया है। इस अकन मे गजलक्ष्मी से पर्याप्त साम्य है जिससे इस चिन्ह का नाम श्रीवत्स साथक प्रतीत होता है।[२४]

यक्ष

यक्षो का अकन भी प्राचीन भारत के सभी धर्मो मे मान्य था। इसकी व्युत्पत्ति यज शब्द से है। जिसका अभिप्राय है यजन या पूजन और यह वैदिक यज्ञ से सम्बन्धित है। अथव वेद मे विश्व व्यापी यक्ष की कल्पना की गई है 'महद् यक्ष भुवनस्य मध्ये'[२६] अन्यत्र ब्रह्म को ही शक्ति सम्पन्न यक्ष माना है।[२७] उपनिषद मे अन्य भी देव यक्ष की शक्ति से परिचित हो नतमस्तक होते हैं।[२८] कालान्तर मे यक्ष सम्बन्धी यह अवधारणा ह्रासोन्मुख होती जाती है और यक्ष इष्ट कारक एव अनिष्टकारक दो वर्गो मे मिलते हैं। उनकी अलौकिक शक्ति का कारण जादू टोना बताया है। विशेष रूप से यक्षिणिया इन कलाओ मे बहुत सिद्धस्थ रही। अपनी ऐसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनकी स्थिति या मान्यता गिरी और वे केवल राजसी लोगो की पूजा के लक्ष्य बने एव सात्विक लोगो ने उनकी उपक्षा की।[२९]

यजन्तु सात्विका देवान् यक्ष रक्षासि राजसा,
प्रेतान् भूत गणाश्चान्ये यजते तामसा जना ॥

कालान्तर मे यक्षो को दुष्ट प्रकृति का माना जाने लगा और उनको यज्ञ विध्वसक राक्षसो से तुलना की गई। फलत उनका दमन आवश्यक माना गया और यह प्रक्रिया हिन्दू, जैन एव बौद्ध तीनो धर्मो मे मिलती है। जैन शिल्प मे यक्ष और यक्षिणियो को तीथ करो म अनुशासन देवता के रूप मे अकित

किया जाता है और भगवान् बुद्ध ने यक्षो को शासित कर उन्हे सन्मार्ग का उपदेश दिया। इस प्रकार यह अन्य लोक प्रचलित देवो के अधीन परिचारक रूप मे रह गये।[४०] और उनकी प्रवृत्ति को सुधारा गया। शनै शनै यक्ष परम्परा या तो अन्य धर्मों मे समाहित हो गई अथवा लोक धर्म के रूप मे चलती रही। अभी तक जाख, जखैया या वीर का पूजन अथवा उनसे सम्बन्धित स्थानो पर मेले यक्ष पूजन के साक्षी हैं। भारतीय शिल्प व कला मे उनका प्रतिनिधित्व मौर्य युग से ही हो गया और अभी तक प्रचलित है। इस प्रकार यक्ष परम्परा एव अन्तर धर्मीय परम्परा के रूप मे समादृत रही है।

आधिदैविक का दार्शनिक प्रतीक

बहुत से प्रतीक ऐसे भी हैं जो दार्शनिक महत्व के हैं। उनके लीलावपु का कथानक के रूप मे विस्तार अवश्य हुआ किन्तु उनमे अन्तर्निहित सन्देश आधिदविक कोटि का होने से वे सवमान्य अथवा अन्तधर्मीय बने रहे। 'दैवासुरम्' जिसमे देवताओ और असुरो के सघष मे अन्ततोगत्वा देवो की विजय होती है अन्धकार पर प्रकाश की अथवा असत्य पर सत्य की विजय का प्रतीक है। दुर्गा द्वारा असुरो का सहार तथा श्रीराम की रावण की विजय इसी चिरन्तन सत्य की व्याख्या है इसी प्रकार विष्णु के दशावतारो मे सृष्टि के क्रमिक विकास का रहस्य छिपा है। वामन विष्णु अथवा त्रिविक्रम का कथानक पिण्ड और ब्रह्माण्ड अर्थात सूक्ष्म व विराट के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। गजेन्द्र मोक्ष जीव की मुक्ति के लिये आत पुकार है।

इन सभी प्रतीको, कथानको एव आख्यायिकाओ मे अन्तर्निहित चिन्तन एव भावना मानव मात्र की सूक्ष्म सवेदना का साक्षात्कार है और यह देश, काल, परिस्थिति एव मत मतान्तरो की मर्यादा से ऊपर है। किसी धम विशेष द्वारा अपनाने पर भी प्रतीक का लोक महत्व बना रहा और उसकी अन्तरधर्मीय रूप मे किसी न किसी रूप की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही। भारतीय शिल्प इस अन्तरधर्मीय आदान प्रदान का प्रामाणिक कोष है।

सन्दभ

१ अग्रवाल, वासुदेव शरण, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, वाराणसी, १९६५, पृ० ७
२ साकलिया, एच० डी०, प्रि हिस्टोरिक आट इन इण्डिया, नई दिल्ली, १९७८, पृ० ८८
३ मैके, ई० एच० जे०, फदर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहनजोदडो, नई दिल्ली, १९३८, पृ० ३३९-४२
४ अग्रवाल वासुदेव शरण स्पाक फ्रोम दि वैदिक फायर, वाराणसी १९६२, आमुख
५ गुप्त परमेश्वरी लाल, क्रानोलोजी आफ पच मार्क्ड कोइन्स, वाराणसी, १९६६, पृ० ७
६ सन्दभ सख्या १ पृ० ४७
७ वही, पृ० ४४ ४७
८ गीता १० ४१
९ ललित विस्तर, अध्याय २१
१० अभिज्ञान शाकुन्तलम् अक ४
११ अग्रवाल, वासुदेव शरण, इण्डियन आट वाराणसी, १९६५, पृ० ५३
१२ इण्डियन म्युजियम जनरल गाइड बुक कलकत्ता १९८२ पृ० २
१३ मथुरा सग्रहालय एम०।

१४ ऋ० वे० १०-३२-९
१५ वही ३-३२-१५
१६ वही ४-३२-१५
१७ वही ४-२७-५
१८ वही ९-६२-१९
१९ अ० वे० १९-५३-३
२० वही ११-८-२४
२१ ईशावास्योपनिषद शान्तिपाठ
२२ धम्म पद अट्ठ कथा १-१४७
२३ सन्दर्भ स० ११ पृ० १२०
२४ शर्मा रमेशचन्द्र, ए फ्रेश अप्रेजल ऑफ भरहुत, इण्डियन म्युजियम बुलेटिन स० २०, पृ० ३२-३७
२५ गोपथ ब्राह्मण १-१-१६
२६ शतपथ ब्राह्मण ६-४ १-७
२७ जिम्मर, एच०, मिथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलाइजेशन, न्यूयार्क, १९५५, पृ० १५९
२८ 'भानु सकृद्युक्त तुरग एव' अभिज्ञान शाकुन्तलम ५
२९ नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्र नेमि क्रमेण, मेघदूत २ ५२
३० जिम्मर, एच० दि आर्ट आफ इण्डिया एशिया, न्यूयार्क १९५५, पृ० १५९
३१ जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम, मथुरा स्कल्पचर, मथुरा १९६६ फलक १०१
३२ अग्रवाल, पृथ्वीकुमार, श्रीवत्स दि बेब आफ गॉडेस श्री, वाराणसी १९७४, पृ० १०-१
३३ वही, पृ० २१ आकृति ३०
३४ वही, पृ० २० आकृति २६
३५ श्रीवास्तव, ए० एल०, श्रीवत्स, इलाहाबाद, १९८३ पृ०
३६ अथर्व वेद १०-७-३८
३७ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-१२-३१
३८ केनोपनिषत् ३ १५ तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४-२
३९ गीता १७-४
४० शर्मा रमेशचन्द्र, बुद्धिस्ट आर्ट आफ मथुरा, दिल्ली, १९८४ पृ० १५९ ●

भारतीय चित्रकला और धर्म

डा० प्रभाकर माचवे 'चित्रभानु'

अब हिंदी मे चित्रकला पर लिखनेवाले रायकृष्णदास या डा० मोतीचन्द्र कहा हैं ? इस अभाव म वस्तुत, हिंदी मे, उपर्युक्त विषय पर, मौलिक लेख लिखाने की बात जब उठी, तो दिल्ली स्थित सस्था केंद्रीय ललित कला अकादेमी मे इस विषय पर अधिकार पूवक लिखनेवाले व्यक्तियो का अभाव पाया गया। अधिकतर कला समीक्षक जो दिल्ली मे हैं वे या तो अग्रेजी म लिखते हैं या उनका दृष्टि क्षेत्र आधुनिक तथा समकालीन कला तक सीमित है। चित्रकार कई सुविख्यात हैं, परन्तु वे अधिकतर अहिन्दी भाषी हैं और धम निरपेक्ष हैं। और जो धम-विश्वासी इक्के दुक्के चित्रकार हैं वे भी लेख लिखने मे असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति मे इस महत्त्वपूण विषय पर एक सकलनात्मक लेख तैयार करने का उत्तरदायित्व हमने लिया है। इसमे विविध विद्वानो के ग्रथो और सन्दभ कोशो से जानकारी एकत्रित की गई है। इससे विचारोत्तेजना हो सकेगी ऐसी आशा है।

धार्मिक विषयो पर उदाहरणो का अकन करना न तो धार्मिक चित्रकला है न 'चित्रकला मे धम' है। अन्यथा सारे सस्ते कलेंडर और चित्र-कथाएँ और अमर चित्रमालाएँ इस कोटि मे आ जाती। अनेक धमस्थानो मे आधुनिक काल मे विपुल चित्रकृतियाँ दीवारो पर अकित होती हैं, परन्तु वे व्यावसायिक चित्र कला की कोटि मे आती हैं। वे धम-प्रेरित चित्रकला अथवा चित्रकला और धर्म के गहरे सम्बन्धो को व्यक्त नही करती। वैसे भी भारत मे अनेक धम है, परन्तु प्रमुख धम हिन्दू, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई, सिख आदि का ही हम विचार करेंगे, अनेक पथ-उपपथ और धम सदृश्य मत मतान्तरो का नही। अत वे सब प्रयत्न जिनमे सम्प्रति धम का उपयोग अपनी लोकप्रियता बढाने के लिए या विदेशी कलाप्रेमियो का ध्यानाकषण करने के लिए किया जाता है, हमारे लेख की कक्षा मे नही आते। यदि मक्बूल फिदा हुसैन बागलादेश की मुक्ति के समय श्रीमती इन्दिरा गाँधी को व्याघ्रवाहिनी देवी दुर्गा बना दें, या अपना उत्सव मे गन्धमादन पवत उठाकर उडने वाले विराट हनुमान का पोस्टर लाल किले मे बना दें तो यह उनकी रुचि और रस का प्रश्न है, ठीक जैसे गुलाम रसूल सन्तोष नामक आधुनिक काश्मीरी चित्रकार तान्त्रिक आकृतिया और यन्त्रो का प्रयोग करते है, परन्तु उनका विचार हम यहाँ नही करेंगे। किसी चित्र मे धार्मिक प्रतीको का प्रयोग चित्रकार अनेक प्रयोजनो से कर सकता है। अभी हाल मे एक विदेशी चित्रकार ने एक कैनवास पर होली के गीले सुख रग छिटक दिये, और उसे 'होली कहा, वैसे ही एक अन्य चित्रकार ने पूजा-सामग्री के उपकरणो का वास्तविक अकन करके चित्र का शीषक दिया—'उपासना' तो उससे चित्र-कला और 'धम' विषय का समाधान नही हो जाता। चित्रकार को छूट है कि वह चाहे जसे मूल विषय को सतही, या आकृति-मूलक या कभी विकृत रूप मे भी प्रस्तुत करे। परन्तु वह किसी धम की आस्था से बहुत दूर, निरा विहगम अवलोकन होगा। न्यूयाक मे मुझे एक भारतीय चित्रकार ने पच्चीस वष पूव कहा था कि 'ससार के महान धमग्रन्थ भगवदगीता' के अनुवाद के पृष्ठाकन के लिए उसने एक भगवे कागज पर एक चदनी रग से पैरो की छाप और एक स्वस्तिक बना दिया था—प्रकाशक ने परम प्रसन्न

होकर पाँच सौ डालर दिये थे (जिसका उपयोग चित्रकार अपने ढग से करता रहा—उस जीवनपद्धति से धम-अधम का कोई विचार नही था।

धर्म केवल साधन नही है, साधना है। चित्रकला भी केवल रेखा-रगो का चतुर या कुशल सन्धान नही है, चित्रकार की आत्माभिव्यक्ति है। यही इन दोनो बिन्दुओ का—धम और चित्रकला का—मेल या समेकन है। यहाँ भारतीय चित्रकला के प्रदीर्घ इतिहास से कुछ प्रमुख प्रमाणो से अपनी बात पुष्ट करने का यत्न किया जा रहा है। जहा तक प्रागैतिहासिक आदिम मानव के गुफाचित्रो का प्रश्न है डा० वाकणकर, डा० जगदीश गुप्त के ग्रथ और अ य लेखो मे आखेट, व यवशु, प्राणी, उत्सव, नृत्य आदि के रेखाकन तो हैं, पर तु कोई धार्मिक सकेत उस समय के मृगयाजीवी आदिवासियो मे नही मिलते। नील्गाय, साभर, हाथी, बाघ, भौकते कुत्ते आदि के अकन लाल गेरू के रग से, और कही सफेद चूने के रग के मिले है, विध्य पर्वत मे महादेव गिरि, मिर्जापुर मे भालदुरिया मे, कैमूर की घाटी मे, बादा मे, सोन घाटी मे लिखूनिया मे। घोडमगर और हरिण हरना मे गैंडे के शिकार के भी दृश्य हैं, भाले और लाठियाँ, धनुषवाण आदि हैं। पर तु कही कोई धार्मिक अकन नही मिलता। पचमढी मे एक बदर बाँसुरी बजा रहा है ऐसा दृश्य भी गहरी घाटी मे पाया गया। दक्षिण मे बेलजारी जिले मे कापगल्ल मे हाथी, पक्षी, कूबडवाले बडे बैल आदि ऐसे रेखाकनो म है।

वस्तुत जब भारतीय समाज कृपिजीवी अवस्था मे आया, तभी ललितकलाआ का विकास अधिक हुआ। रगकम, चित्रकम आदि तभी विकसित हुए। सस्कृत भाषा मे चित्र, अर्धचित्र, चित्रमाला (दुष्य त सु दर रूप को देखकर 'स्खलतिव म दृष्टिर निम्नोन्नतेपु' कहता है) और चित्रकला के षडग दिये गये हैं-

—रूप भेद (वराइटी आफ फाम)
—प्रमाण (प्रोपोशन)
—भाव-योजना (इ फ्यूजन आफ इमोश स)
— लावण्य योजना (क्रियेशन आफ लस्टर और इरिडेसे स)
—सादृश्य (लाइकनेस)
— वणिका भग (कलर-मिक्सिग)

ये अग्रेजी पर्यायवाची डा० सी० शिवराममूर्ति ने दिये है। 'विष्णुधर्मोत्तरसूत्र' में चित्रकला सम्ब धी और आदेश पाये जाते है—'रेखाम प्रशस त्यचर्याह'—चर्या की रेखा की प्रशसा की जाती है।

'वर्तनम् अपरे जगु '—कुछ लोग 'शेडिंग' और 'माडेलिंग' प्रसद करते हैं।
'स्त्रियो भूपणम् इच्छ ति'—स्त्रिया भूषण पस द करती हैं।
'वर्णाढ्याम हतो जन '—सामा य दशक रगो का चटखपन चाहते हैं।

'वर्तन' या 'शेडिंग' तीन तरह का होता था—'बि दुजवतन', 'पत्रावतन' और 'रैखिक वतन'—यानी बि दुओ से, पत्रो की तरह या रेखाओ से। विद्धशालभजिका' मे विदूषक कहता है—'सबसे अच्छा चित्र वह है जो सकेत से पूरा आशय बता दे' (अपि लघु लिखितेयम दश्यते पूर्णमूर्ति)

डा० शिवराममूर्ति के अनुसार प्राचीन चीनी चित्रकार जसा आँख देखती है। वैसा ही सपाट चित्रण करते थे। भारतीय प्राचीन चित्रकलाए केवल आँखें ही नही देखती, 'स्पश' भी प्रधान है। यानी चित्र मे गोलाई, घनता, चित्रकार की कल्पना, मन की वृत्ति सब आ जाती है। भास के 'दूतवाक्य' मे दु शासन द्रौपदी का वस्त्र हरण करता है यह एक चित्र-पट खोलकर दिखाया जाता है। 'प्रतिमा' नाटक मे शबीह या 'पोर्ट्रेट' प्रमुख है। भारतीय चित्रकला का 'रस' से सम्ब ध है। और 'रसो वै स' है।

'न्यायकोश' मे 'अ+क्षर' का अर्थ दिया है 'वर्ण स्मारक रेखात्मक लिपिसन्निवेश' (वर्ण का स्मरण करा देनेवाला रेखात्मक लिपि प्रकार)। हमारे यहाँ प्राचीन दर्शन मे 'वर्ण' शब्द भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त है 'वर्ण' शब्द जिस धातु से बना है उसका अर्थ है 'रगना' या रजित करना। वर्णात्मक अक्षरो की खोज सिन्धु सभ्यता के समय से ही हो गई थी अथवा नहीं इसके विषय मे दो मत हैं। परन्तु वैदिक काल मे भारतीय अक्षर और वर्ण का सम्बन्ध जान गया था यह ऋग्वेद मे वर्णमाला को अक्षर कहा गया है (१ १६४ तथा २४ से ३९)। तब अक्षर उत्कीर्ण किये जाते थे—खोदकर बनाये जाते थे, जिनमे मसि डाली जाती थी। जिसमे से मसि न झरे वह 'अक्षर'। वर्णों के छन्द-रचनायें शुभ, अशुभ और दग्ध वर्गीकरण के अनुसार काव्यरचना म प्रथमाक्षर अशुभ नही होना चाहिए यह विधान था। महादेवी वर्मा ने हमसे एक बार कहा कि कविता की प्रथम पक्ति म वे महाप्राण वर्ण का प्रयोग नही करती थी, इसलिए 'टीस' वे नही लिखती थी, 'पीर' से काम चल सकता था। अक्षर अ-क-च ट-त-प य श इस अष्टवर्ग मे विभाजित थे, जिनके देवता और फल निम्नांकित थे—

	देवता	फल
अ	सोम	आयुवृद्धि
क	अगारक	कांति
च	बुध	धनप्राप्ति
ट	गुरु	सौभाग्य
त	शुक्र	कीर्ति
प	शनि	मदता
य	सूर्य	मृत्यु
श	राहु	शून्यता

अंतिम दोनो यानी केवल 'य श' के पीछे लगनेवालो को मृत्यु और शून्य ही प्राप्त होता है। 'अ क-प ट' लोग दीर्घायु, कांतिमान, धीमे परन्तु सौभाग्यशाली होते हैं।

वर्ण शब्द भी संस्कृत मे अनेकार्थी था। आवेस्ता मे, पारसियो का धर्म ग्रन्थ है, चार वर्ण—पुजारी सफेद, योद्धा लाल, व्यापारी पीला और दास या शूद्र कृष्ण वर्ण से अभिहित थे। ऋग्वेद मे वर्ण 'रग' के अर्थ म ही है, वर्ग के अर्थ मे नही। *आर्य-अनार्य सघर्ष होता तो काला और सफेद दो ही रगो* का झगडा होता। परन्तु इसम अनेक वर्ण वाली वर्णमाला बनी। उसके भी ध्वनि और अक्षर दो रूप हुए। सगीत और चित्रकला का बीज इसी मे से उत्पन्न हुआ। आगे चलकर तन्त्र शास्त्र ने तो प्रत्येक वर्ण की मातृका बनाकर बीज मन्त्र और उसके लेखन को ज्यामितीय आधार दिया। मडल, त्रिकोण, पचकोण, षट्कोण आदि बने। और वृत्ताकार रचना मे से सहस्रदल-कमल तक यह योजनाएँ बनती चली।

आदि मानव को प्रकृति के रगो ने बहुत लुभाया होगा। इसलिए अरुण, हिरण्यगर्भ, नीलकंठ, पीताम्बर, *'या कुन्देन्दु तुषारहार धवला या श्वेतपद्मासना' आदि देवमाला मे विविध रगो के रूप मे उनका* ध्यान और वर्गीकरण पुराण काल तक निश्चित रूप से हो गया होगा। रगो के साथ मागलिक और अमागलिक गुण इसी कारण से लोकमानस मे जुडते चले गये। कुछ प्रमुख रगो के साथ लोकविश्वासो का भारत मे मेल आकस्मिक नहीं है। लोकविश्वास धीरे धीरे धार्मिक आचार बन जाते हैं।

श्वेत

शुभ/दुग्ध, सफेद तुरेंवाले पेड, सफेद फूल (जैसे धतूरा), जुही, मोगरा, श्वेतकमल देवता को चढाते हैं। सरस्वती 'शुभ्रवसना' है। शिव का अट्टहास हिमधवल है। शिव की पावती का नाम ही गौरी है। कर्पूर चढाया जाता है। चन्दन, कपास की वर्तिका, चाँदी सब भाग्यदायक माने जाते हैं। मगलकाय मे श्वेतवस्त्र, जिसे रगीन किनारी हो, प्रयुक्त करते हैं। सफेद कपास और घुटने के नीचे सफेद टाँगावाला घोडा शुभ मानते हैं। मुस्लिम भी धमस्थान मे सफेद पोतते हैं। ईसाई धम म भी वह पवित्र रग है। पारसी धम मे भी।

हरा

यह प्रकृति की हरियाली और फसल का रग है। अत फलदायी माना जाता है। गभवती स्त्री को हरी चूडिया, हरी साडी और चोली पहनाते हैं। केले के हरे पत्ते मे भोजन देते हैं। शुभ काय के लिए मण्डप को हरे पत्तो के तोरण से सजाते हैं। 'शाकम्भरी' देवी का वर्ण हरा है मुस्लिम भी 'सब्जा' पवित्र मानते हैं। स्वर्ग मे सब हरे कपडे पहनते हैं ऐसी उनकी धारणा है।

लाल

शक्तिशाली रग। रक्त का रग होने से देवी को प्रिय। कुकुम सिन्दूर जवाकुसुम, दाडिम, रक्तकमल ये सब लाल हैं। हनुमान और गणपति, भैरव और ग्रामदेवता लाल रग के बनाते हैं। जादू करने वाले, मान्त्रिक, यन्त्रनिर्माता सब लाल कपडे का प्रयोग करते हैं। स्वस्तिक लाल रग से बनाया जाता है। मगलाक्षत कुकुम रजित होते हैं। मेहदी भी लाल होती है। रथयात्रा मे गुलाल हवा मे बिखेरते हैं। होली मे इस रग की महिमा है। ईसाई धम म ईसा के रक्त की तरह लाल मदिरा प्रसाद मानी गई। इसी रग से केशरिया और जोगिया, यह दो प्रवृत्ति और निवृत्ति-परक दो रग छटाएँ समाज मे आदृत हुईं।

पीला

यह श्रीकृष्ण को प्रिय रग है। पीताम्बर, पीत कटि-काछनी, पीत बाँसुरी मुकुट किरीट कुण्डल भी स्वर्णाभ हैं। वैष्णव मन्दिरा म वसन्तपचमी के बाद देवताओ को पीले वस्त्र पहनाते है। कुकुम के साथ हरिद्रा का विधान है। वधुवर के विवाहकक्ण मे हलदी की गाँठ बाँधते हैं। सिंध मे किसी की नजर न लगे। इसके लिये पीली चप्पलें पहनते है। बौद्ध भिक्षु पीतचीवर ही पहनते हैं। मन्त्र लिखते समय गोरोचन का प्रयोग करते हैं।

काला

अशुभ माना जाने वाला यह रग अभिचारकम मे, गडा बाधने मे काला डोरा, बालक, बटू, वधुवर को बुरी नजर न लगे इसलिए काला डिठौना या चिह्न लगाते हैं। अपवाद रूप है काली कपिला गाय, जो बहुत पुण्यवती मानी जाती है। महानुभाव पथ के लोग और कुछ फकीर (स्याहपोर) काले वस्त्र पहनते हैं। ईसाई धम मे काले वस्त्र कुछ पादरी पहनते हैं। ईसाई लोग मृत्यु के समाचार के पत्र के चारो ओर काली चौखट बनाना, बाँह पर काला फीता पहनना आदि करते हैं। यम को काले रग का और बुरे कार्यों को कृष्ण कृत्य कहा जाता है।

संस्कृत काव्य मे रगो से सम्बंधित अनेक सकेत हैं। महाकाव्यो मे स्त्रियो के पैरो मे लाल रग का महावर या अलता लगाने का वर्णन है। कुमार सम्भव मे काले बालो मे आरक्त मधूकपुष्पमाल को हरी दूर्वा मे बाधने का उल्लेख है। कानो मे पीले यवाकुर (जौ के कोमल कोपल), अधरो पर 'रक्तराग' और आंखो मे काले काजल का वर्णन है। नैषध मे सिन्दूर तिलकित भाल, और जूडे के साथ माग मे सिन्दूर का भी उल्लेख 'ऋतु सहार' मे है। 'उत्तरमेघ' मे काले बालो मे सफेद कुन्द पुष्प पहनने का उल्लेख है। 'कालिदास मे भारत' ग्रथ मे डा० भगवतशरण उपाध्याय पूरा तेरहवा अध्याय चित्र, शिल्प और मृण्मूर्तियो के बारे मे लिखते है। उनके अनुसार 'मालविकाग्निमित्र' मे 'चित्रशाला गता देवी' का उल्लेख है। वह 'सगीतशाला' का ही भाग थी। धारिणी वहा एक ऐसे चित्र की प्रशसा करती है, जिसके रग अभी सूखे नही हैं। प्रत्यग्रवणरागा चित्रलेखा)। रघुवश मे घरो म दीवारो पर चित्र होते थे (सदमसु चित्रवत्सु), और मेघदूत मे 'सचित्रा प्रासाद' का वर्णन है। आगन की दीवारो पर दरवाजो तक चित्र बने रहते थे। इन चित्रो मे 'सरोवरो मे नहाते हाथी, कमलनाल उपहार मे देती हथिनियाँ, का वर्णन 'रघुवश' मे है— ऐसा ही चित्र अजता की सत्रहवी गुफा मे अकित है।

'प्रतिकृति' या व्यक्तिचित्रो का जैसे कालिदास के काव्यो और नाटको मे उल्लेख हैं, वैसे ही समूह चित्रो का भी। यक्ष अपनी 'प्रणयकुपिता' प्रिया का चित्र बनाकर मेघ को दिखाता है, चट्टान पर गेरू से। ऊर्वशी और मालविका के चित्रो का नाटको मे उल्लेख है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' म तो भय, उत्सुकता, श्लथता, घमबिन्दु इन सब के विवरण सहित एक के बाद एक भावो का अनुक्रम चित्र मे लिखा गया, ऐसा महाकवि का कहना है—'रागबद्ध चित्रवृत्तिरालिखित इव सवतो रग'। दुष्यन्त उस चित्र मे कमिया गिनाता है—कान पर जूडे की गाठ नही है। शिरीष के फूल कहा हैं जो कपाल पर भुके होते, और दोनो वक्षो के बीच मृणाल बिसतन्तु कहा है ? कालिदास दश्यावलि के चित्रण का भी अदभुत शब्दचित्र देते हैं। पाश्व का कदब वृक्ष हो या मालिनी नदी मे हसयुग्म, हिमालय की उपत्यका मे विश्राति लेते हिरण हो या वृक्षो की शाखाओ पर लटकते वल्कल, कृष्णमृग के सीग से अपनी बाई आख रगडती मृगी भी वहा है ! कितना सूक्ष्म और कोमल चित्र बन्ध कवि ने बाधा है। चित्रसामग्री भी कालिदास ने गिनाई है—शलाका, वर्तिका तूलिका, लम्बकूर्चा, चित्रफलक, वण, राग, वार्तिका-करडक। पेंसिल, ब्रश, बोड, रग, रगमजूषा सब कुछ तब थे—डेढ हजार वष पूर्व या शायद दो हजार वष पूव ! शुक्रनीति के अनुसार चित्रकला केवल मनोरजन की वस्तु नही थी। वह एक प्रकार का 'योग' था। 'मालविकाग्निमित्र' मे कालिदास चित्रकार के दोष को शिथिल समाधि कहते हैं।

अकेले कालिदास ही नहीं, भारत के सभी प्राचीन चिन्तक और कलाकार, मनीषी और महाकवि कला को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' मानते थे। 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत विद्वानो ने तीन प्रकार से बताई है—(१) कला-सुन्दर, कोमल, मधुर, सुखद (२) कल्शब्द का तालबद्ध वादन (३) कम आनन्द लाति इति—आनन्द देने वाली। वैसे तो सस्कृत शब्दकोश मे 'कला' के बीस अथ दिये हैं, पर वे परिवर्तित होते गये काल की कल्पना से चन्द्र-'कला' की तरह बढते गये हैं। ऋग्वेद मे प्रथम उल्लेख (८-४७-१७ मे) यो हैं —

यथा कला यथा शफ यथा ऋण स नयामसि

काय कौशल्य या शिल्प के अथ म यह शब्द नही था। भरत के 'नाटयशास्त्र' मे इसे ज्ञान, शिल्प, विद्या के समकक्ष रखा गया। अभिनवगुप्त उस पर टीका लिखते हुए 'कला गीतवाद्यादिका' कहता है। प्राय प्रथम ईस्वी सदी तक उपयोगी और ललितकलाएँ एक ही 'शिल्प' शब्द से अभिहित थे। शिल्प म

माव्य नही था। शुक्रनीति, कामदक तन्त्र, कामसूत्र आदि मे जो चौंसठ कलाएँ दी गई हैं उनमे चित्रकला के निकट आनेवाली निम्न १५ कलाएँ हैं

आलेख (चित्रांकन)
विशेषकच्छेद्य (तिलक लगाने के साँचे बनाना)
तण्डुल कुसुमावलि विकार (चावल और फलो से रागोली या रगावलि अथवा अल्पना बनाना)
पुष्पास्तरण (फूलो की शय्या बनाना)
दशनवसनागरात (दाँत, वस्त्र आदि रँगना, सजाना)
मणिभूमिकाकर्म (ऋतु के अनुसार घर सजाना)
शयनरचना
चित्रयोग (वृद्ध को तरुण बना देना)
माल्यग्रन्थविकल्प (मालाएँ गूँथना)
केशशेखरापीड-योजना (बालो मे फूल आदि सजाकर मुकुट बनाना)
नेपथ्ययोग
कणपत्र भग (पत्तो, फूलो से कणफूल बनाना)
सूत्रकर्म (रफू करना या रगीन डोरो से बेल बूटे बनाना)
पट्टिकावेत्र वाण विकल्प (बत या निवार से बुनना)
तक्षण (लकडी पर खुदाई करना)

इन हस्तशिल्पो मे वशानुगत निमग्न कई लोग धमप्रवण भी थे। ये उपविधाएँ कहलाती थी। परन्तु 'कला' की दो परिभाषाओ से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध इनसे अवश्य था। क्षेमराज की 'शिवसूत्रविमर्शिनी' मे लिखा है—'कलान्तर किसी वस्तु मे अपने आत्म-स्वरूप का आविष्कार करता है।' और भोजराज ने 'तत्त्वप्रकाश' मे कहा कि—'ईश्वर की कर्तृ शक्ति की व्यजना ही कला है।'

कला अभिव्यजना है इस बारे मे दो मत नही है। परन्तु डा० आनन्द कुमार स्वामी मानते हैं कि कलाकार नई सृष्टि निर्मित नही करता, परन्तु जो सौन्दय प्रसुप्त है उसे प्रकट करता है। अब वह प्रकृति मे है, या मानव कल्पना या मानव भावना म, इस विषय मे सौन्दय शास्त्रियो मे अनेक मत-मतान्तर हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर उसे मानव के भीतर की 'सृजनात्मक एकता' का ही आविष्कार मानते हैं।

भारतीय धार्मिक कला मे सौन्दय के दो विश्व हैं —दैवत केंद्रित और सिद्ध केंद्रित। हिन्दू चित्र-कला विश्व की उत्पत्ति स्थिति लय को ईश्वर केंद्रित मानती है। बौद्ध और जैन कला मानवी विश्व का सिद्ध-केंद्रित दशन है। इसलिए हिन्दू कला मे मिथुन-भाव वर्जित नही है। शिव शक्ति, राधा-कृष्ण आदि रूपो म वह अभिव्यक्त है। बौद्ध जैन चित्र शिल्पो म इस तरह के शृगारचित्र वर्जित है। बाद मे तान्त्रिक प्रभाव से तिब्बत, नेपाल आदि की बौद्ध चित्रकला मे 'टीका' मे पुन पुरुष-स्त्री शक्ति साधना मे निरत दिखाई देते हैं। प्राचीन भारतीय चित्रकला बहुताशत आदशवादी और प्रतीकाश्रित है। इसका एक उत्तम उदारण वे सस्कृत ग्रन्थ और उनके नाम हैं, जिनमे चित्रकला का विचार और समीक्षा है। ऐसे कुछ ग्रन्थ हैं

—चित्र सूत्र (विष्णु धर्मोत्तर पुराण का अश)
—अभिलषिताथ चितामणि

—शिवतत्त्व रत्नाकर
—नारदशिल्प
—सरस्वतीशिल्प
—प्रजापति शिल्प

'चित्रसूत्र' के विषय मे 'कुट्टनीमत' मे दामोदर गुप्त ने कहा है कि 'यह कला सगीत, नृत्य, आयुर्वेद जैसी ही विशेषज्ञता चाहती है, इसलिए यह ग्र थ लिखा गया है।' इस ग्र थ मे चित्रो के प्रकार, चित्रकला के आवश्यक उपकरण, चित्रो के गुण दोष की चर्चा है। इस ग्रन्थ मे चित्र के चार प्रकार बताये गये हैं— (१) सत्य, (२) वैणिक, (३) नागर, (४) मिश्र। ऋषि नारायण ने अपनी जघा पर एक सुदरी का रेखाकन किया, और उसमे से ऊवशी की सृष्टि हुई। इसी तरह चित्रकला का आरम्भ हुआ, ऐसी 'विष्णुधर्मोत्तर-सूत्र' मे कथा दी गई है। नारायण ने यह कला विश्वकर्मा को सिखायी।

उदाहरणाथ इस ग्र थ मे बालो का चित्रण कैसे हो, इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं—

(१) कुतल—लम्बे, घने बाल
(२) दक्षिणावत—दाहिनी ओर मुडे हुए
(३) तरग—लहराते हुए
(ज) वारिधारा—पानी की धार की तरह
(५) जटाट-शर—कुचित और गुच्छिल

आखो के रूप दिये हैं —

(१) चापाकृति—धनुष जैसी
(२) उपल पत्राभ—नीले कमल की पखुरी जैसी
(३) मत्स्योदर—मछली के पेट जैसी
(४) पद्मपत्रानिभ—कमल-दलसी
(५) सानाकृति—गोल

इस ग्रथ मे दीवार कैसे चिकनी की जाये ताकि उसपर चित्र बनाये जायें, इसे 'भित्तिसस्कार' प्रकरण मे विस्तार से बताया है। प्राथमिक और द्वैतीयिक रगो का भी विचार है। इसमे रगो का रसों से क्या सम्बन्ध है, यह भी दार्शनिक चर्चा है। 'विष्णु धर्मोत्तरम्, 'भाग-३', स्टेल्ला क्राम्रीश ने अग्रेजी मे सम्पादित-अनुवादित कर, १९२४ मे, कलकत्ता से प्रकाशित किया था। यह चित्रकला सम्बन्धी प्राचीनतम ग्रथ है। यह पाँचवी शताब्दी मे रचित पुराण है। इसमे कई महत्त्वपूण सूत्र हैं। यथा

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोकस्यानुकृति स्मृता।
(नृत्य की तरह चित्र म भी त्रिलोक की अनुकृति होती है।)
दृष्टयश्च तथा भावा अगोपागानि सवश ।।
(सब भाव, अग और उपाग मिलकर सम्पूण अनुकृति होती है।)
कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्त चित्र पर स्मृतम् ।।
(महानृत्य मे जैसे हस्ताभिनय होते हैं, वसे ही चित्र मे भी होते हैं।
चित्र एक तरह से श्रेष्ठ नृत्य है।) (३-३५-५-७)

इस ग्रन्थ मे यहाँ तक कहा गया है कि नृत्यशास्त्र के बिना चित्रशास्त्र समझना कठिन है। जो वाद्य नही जानता, वह नृत्य नही कर सकता। इस प्रकार से ललितकलाओ की परस्परावलंबिता पर बल दिया गया है। डॉ० हाजरा के अनुसार यह पुराण कश्मीर या पंजाब मे लिखा गया।

दक्षिण भारत मे उपलब्ध अन्य ग्रन्थो मे चित्रकला सम्बन्धी जानकारी इस प्रकार से मिलती है। बारहवी शताब्दी मे राजा सोमेश्वर विरचित 'अभिलषितार्थ-चिंतामणि' मे न केवल 'वज्रलेप' से भित्ति-संस्कार विधि दी गई है, परन्तु रसिकचित्र, धूलिचित्र, भावचित्र, विद्धचित्र, अविद्धचित्र, ऐसे अनेक प्रकार भी समझाये हैं। सत्रहवी शतीका 'शिवतत्त्व रत्नाकर' भी उपयुक्त ग्रंथ का ही विशदीकरण मात्र है।

श्रीकुमार के सोलहवी शती के शिल्परत्न म 'चित्र-लक्षण' नामक एक अध्याय है। इसमे 'चित्र, अर्द्धचित्र और चित्रभाषा' इन तीन शब्दो से शिल्प और चित्र का भेद बताया गया है। पाँच प्राथमिक रंग—श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण, नील दिये गये हैं। रंगमिश्रण और सुवर्ण कैसे पिघलाकर लगाया जाये यह भी विधि है।

'नारदशिल्प' मे दो अध्याय हैं -'चित्रशाला' तथा 'चित्रालङ्कृति रचनाविधि'। पहले मे कला-दीर्घाओ (आर्ट गॅलरी) की चर्चा है, तो दूसरे मे जमीन पर, भीत पर और छत पर बनाये जानेवाले चित्रो का भौमिक, कुड्यक, ऊर्ध्वक विभाजन विश्लेषण है। सरस्वती शिल्प मे यही बातें हैं, वर्णसंस्कार की भी चर्चा है। 'प्रजापति शिल्प' ग्रन्थ अब नही मिलता।

भारतीय चित्रकला का इतिहास सातवाहन काल से (द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व से द्वितीय शताब्दी ईस्वी) आरम्भ होता है। अजंता की सबसे पुरानी गुहाचित्रावलि का यही काल है। सातकर्णी के समय बनाये गये ये बौद्ध जातक और अवदान पर आश्रित चित्र हैं। भरहुत और अमरावती के शिल्पो मे और अजंठा की दसवी गुफा के चित्रो म बहुत साम्य है-उष्णीष, कंठमालाएँ, कर्णाभूषण, पूजाम हस्तमुद्राएँ, सिरपर जूड़ा भी साँची की तोरण शालभंजिका जैसा ही है।

नौवी गुफा के चैत्य म दो स्तर के चित्र हैं कुछ पुराने और कुछ पाँचवी सदी ईसापूर्व के। और कुछ चित्रो मे बोधिवृक्ष की पूजा दिखाई गई है। समजातक और छद्दन्त जातक की दो कथाएँ यहाँ अंकित हैं। समजातक की कथा श्रवणकुमार की कथा जैसी है। अंधे माँ बाप के पुत्र बोधिसत्त्व सम पानी भरने नदी मे जाता है, राजा का बाण लगता है। इस पर बनारस का शिकारी राजा दुखी होकर उन अंधे माँ-बाप की सेवा के लिए आगे आता है। देवी प्रसन्न होकर अंधे को दृष्टि और पुत्र को पुनर्जीवन देती है। यह निश्चित रूप से चित्रकला को ऊँचे आध्यात्मिक मूल्यो के लिए प्रयुक्त करने का २२०० वर्ष पूर्व का प्रयत्न है।

दुर्भाग्य से हिन्दू धार्मिक चित्रकला के कोई अवशेष अब उपलब्ध नही है। परन्तु अजंता की चित्रकला मे बौद्ध जातक कथाओ बुद्ध जीवन की घटनाओ और अन्य कई मानवाकृति चित्रण मे दैवी गुणो का आरोपण यह सिद्ध करता है कि भारतीय चित्रकला की प्रेरणा केवल ऐहिक नही थी। दसवी और छब्बीसवीं गुफा के चित्र विशेष भित्याकार है। यह करीब सात सौ वर्षों की चित्रकला का भित्तिचित्र इतिहास है। ये चित्र जिन्होने बनाये उनके नाम कही नही हैं। कोई अचल या आचार नामक अर्हत की कथा कहता है, जिसकी माता मर गयी थी। वह पुनर्जन्म के बाद यहाँ आई है, यह जानकर वह वहाँ आया। भिक्षा देने के लिए आई हुई बालिका के स्तन से दूध झरने लगा। उसीको साथ लेकर वह यहाँ आया और संघाराम खुदवाये। उन्नीसवीं गुफा के पाँचवी शती के शिलालेख मे यह अचल नाम है। बालक को दूध पिलाती हुई माता इन भित्तिचित्रो मे है, जसे कुबेर के पांचिक सेनापति की पत्नी हारीति का

चित्र। बुद्ध के चित्र तो अनेक आसन बधो मे हैं। शिविजातक मे एक कबूतर को बचाने के लिए राजा अपने शरीर का मास कटवाकर तुलवाता है। रूरु जातक मे बोधिसत्त्व मृग बन गये हैं। वृक्ष-वलमी प्राणीमात्र के लिए भूतदया और मैत्री तथा करुणा का स देश इन चित्रो मे बिखरा पडा है।

सत्रहवी गुफा को क्रांति-वृत्त की चित्र-गुफा कहा जाता है। वस्तुत यह पूरे ससार का लघुरूप है। गाव और राजप्रासाद की विविध जीवन-शैलियो के ये चित्र अनेक पशु पक्षी, नाचरग, प्रेमी युगल के विलास, वन प्रा तर मे आत्मानात्मविचार निमग्न ऋषि सब चित्रित हैं। यह चक्र किसी भयानक आकार के प्राणी (नियति) के हाथो प्रचालित दिखाया गया है। अज ता के चित्रो मे मूर्छित हुई रानिया, पुनर्जन्म, बुद्धजीवन के अनेक प्रसग चित्रित हैं। पर तु मृत्यु का चित्रण कही नही है। बुद्ध के परिनिर्वाण की तेईस फुट लम्बी मूर्ति छब्बीसवी गुफा मे है, यह एकमात्र अपवाद है। पद्मपाणि बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का वह चिर-रहस्यमय स्मित, और सम्बोधि के बाद पुन भिक्षा के लिए लौटे हुए बुद्ध और भिक्षा देने आई हुई यशोधरा और राहुल को भिक्षा मे देने का चित्रण बडा दी भव्य है। ये चित्र अनेक सस्कृतियो वाले भारतीय और भारत के बाहर के भिक्षुओ द्वारा अकित है। यह इस बात का प्राणवत उदाहरण है कि हमारी कला मे इह और पर, केवल हि दू ही नही पर तु अ य दर्शनो का सुखद सन्निवेश और एकात्म सम्पु जन है।

हमारी यह कला ईसा की प्रथम और तीसरी शती मे शु गो के बाद कुषाण आज के भारत की सीमाओ को लाघकर अफगानिस्तान तक पहुची, मध्य-एशिया मे गई। दण्डन औइलिक मे एक कमलो से भरे सरोवर मे से एक सद्य स्नाता ऊपर उठ रही है, उसके साथ एक बच्चा है। यह मध्य एशिया मे उपलब्ध चित्र कालिदास के 'उद्दण्ड पद्मम गृह दीर्घिकानम नारी-नितम्बद्वयसम बभूव' की याद दिलाता है। बालावस्ते नामक स्थान से प्राप्त बुद्ध का चित्र दिल्ली के नैशनल म्यूजीयम के 'मध्य एशिया पुरातत्त्व खण्ड मे है, जो विश्व के सभी बुद्ध-चित्रो मे अदभुत है। उसमे बुद्ध के वक्ष पर रजत 'श्रीवत्स' चिह्न है। यह बुद्ध एक चोगा पहने हुए हैं। दोनो स्कधो पर च द्र सूय अकित हैं। वासुकी को रस्सी बनाकर मेरु-म थन का दृश्य भी उस चोगे पर है। यह विराट पुरुष का बुद्ध के रूप मे चित्रण है। इस 'विश्वरूप' मे दोना बाहुओ पर कमल पर एक ज्वालाओ से युक्त स्तम्भ है, जिसके शीष पर तीन ज्वालाए हैं। पत्तो की तरह ज्वालाए जिनसे निकलती है ऐसे वज्र चिह्न हाथो पर भी अकित हैं। तीन ज्वालाए बुद्ध, धम, सघ' की प्रतीक हैं। अमरावती से प्राप्त खडे बुद्ध पर भी ऐसे ज्वालास्तम्भ शिल्पो मे मिले हैं।

चौथी और पाचवी शती के गुप्त काल मे सभी कलाओ का व्यापक विकास हुआ। च द्रगुप्त द्वितीय के सिक्के पर वह हाथ मे लीलाकमल लिये हुए हैं। उसे रूपकीर्ति' कहा गया है, उस सिक्के पर। ग्वालियर राज्य मे धार के पास बाग गुफाओ म दूसरी चौथी और पाचवी गुफा म जो चित्र थे, उनकी न दलाल बसु और असितकुमार हाल्दार ने उत्तम प्रतिकृतिया बनाई, जो ग्वालियर म्यूजीयम मे सुरक्षित है। यहा भी बुद्ध और चँवरी धारी बोधितत्त्व मकरारूढ नदी की देवी, और अब खण्डित प्राय एक जातक कथा का अ श है। दो स्त्रियो मे एक दु ख कर रही है, दूसरी सान्त्वना दे रही है, और एक चित्र मे शक्र या इ द्र, और आका श म उडने का चमत्कार दिखाने वाले भिक्षु और उ हें साश्चय देखने वाली स्त्रिया चौथी और पाचवी गुफा की दीवार पर अकित है। एक हल्लीश-लास्य' या लोकनृत्य भी वहा दिखाया गया। ढुड्डुक और कास्यताल बजाने वाली वादिकाए भी चित्रित हैं। घोडे और हाथी सहित एक जुलूस भी है। बाग के हाथी अजता के हाथियो की तरह विराट और वभवशाली हैं। कमल-मृणाल ब ध और हसमालाए अलकरण के रूप मे विपुलता से वहा मण्डन के लिए प्रयुक्त हैं।

चौथी से छठी शती तक वाकाटक-वश मे जो चित्रण हुआ वह अजता की सोलहवी गुफा मे अकित है। पेटिका-लिपि मे शिलालेखा से पता चलता है कि राजा हरिषेण (पाचवी शती का उत्तरार्द्ध) के समय यह सुगत-चैत्य का बुद्ध भद्र द्वारा दान इन चित्रो मे है। गेरुआ, पीला, कज्जल, नील और श्वेत रगो का प्रयोग किया गया है। पहले गहरे भूरे या काले रग से रेखाचित्र बनाये जाते थे। और बाद मे रगा से 'शेडिग' दी जाती थी, ऐसा स्पष्ट है। प्रकृति का निरीक्षण सूक्ष्म है। जैसे दसवी गुफा मे बरगद के वृक्ष के नीचे विश्राम करते हुए हाथी, या सत्रहवी गुफा मे हस जातक। चित्रकार का मन राज प्रासाद के वैभव विलास का उतनी ही तत्परता से चित्रण करता है, जैसे ग्रामीणो के सादा जीवन के आनन्द का। मुनियो के आश्रमो की शान्ति और गरीब भिक्षुक की मुद्रा सब एक से प्रेम से चित्रकार अकित करता है। सत्रहवी गुफा मे श्रीलका मे बौद्धभिक्षुओ के आगमन का चित्र है। प्राय सभी चित्रण बौद्ध धर्म से सम्बद्ध हैं। नाग राजकन्या इरन्दती को झूले पर दिखाया है, जिसके लिए यक्ष पुण्णक द्यूत खेला था। बोरोबुदूर मे जो महिष जातक अकित है, वह अजता मे मिलता है। मार द्वारा बुद्ध को लुभाने के प्रयत्न, बुद्ध द्वारा मस्त नालागिरि हाथी को वश मे करना आदि बहुत ही कुशलता से अकित भव्य भित्तिचित्र हैं।

छठी से आठवी शती मे पश्चिम चालुक्यकालीन चित्रकला के उत्तम दर्शन बादामी की गुफाओ मे मिलते हैं। मगलेश चित्रकारो का प्रधान आश्रयदाता दिखाया गया है। मुख्य व्यक्ति का चेहरा अब मिट गया है, पर राजदरबार के इस दृश्य मे मुक्तावलि मडित मुकुट और मोतियो का यज्ञोपवीत स्पष्ट है। चामरधारिणियाँ और अन्त पुर की स्त्रियाँ हैं। बायें हाथ मे दण्डहस्त मुद्रा म एक चतुर नतक दिखाया है, और पृष्ठस्वस्तिक मुद्रा मे एक नर्तिका। यह इन्द्र का दरबार शायद होगा, जो वैजयन्त प्रासाद मे था। हो सकता है नतक स्वयम् भरत और तण्डु हो। यहाँ भी आकाशचारी विद्याधर हैं। वीणा वादिका कालिदास की 'इन्दीवरस्यामतनुनपोसौ त्वम रोचनगौर शरीरयष्टि' (रघुवश) की याद दिलाती है।

आठवी शती मे उडीसा के केंओझर जिले मे सीताभिजी मे भजकालीन सीता, लव, कुश, रावण आदि के चट्टानो के नीचे अकित चित्र हैं। एक बडी शोभायात्रा भी हैं, जिसमे हाथीपर बैठा राजा छत्र-चामर युक्त दिखाया गया है। ये चित्र भी बाग की ही शैली मे हैं। ध्यातव्य है कि अजता और बाग की चित्र शैली का प्रभाव भारत से बाहर दूरदूर फैला था—अफगानिस्तान मे बामियान मे, श्रीलका मे सिगिरिया में, तिब्बत और नेपाल के ध्वज-धारिणी पटो में, चीन की तुड हुआन गुफाओ में और जापान की होरियाजी के बौद्ध मदिर तक में वह पाया जाता है। भारतीय भित्तिचित्रा की विशेषता यह है कि उनमें अनेक व्यक्तियों के समूह दिखाने पर भी हर व्यक्ति अलग है। 'नानात्व' में भी कलाकार खो नही जाता। उस विराट दिव्य भव्य केन्द्र का आभास उसकी कला में सर्वत्र परिव्याप्त है। वह प्रकृति और विश्वात्मा के आगे जिज्ञासु भाव से नतशिर है। वह पाश्चात्य चर्च चित्रकारों की तरह देवताओ के सभय, विलास और पाप तथा परिताप की गाथाएँ मानवीकृत नही करता। मानव से ऊपर कोई सत्ता है, जो वह पूरी तरह चित्राकित नही कर सकता, यह अहसास भारतीय चित्रकार को सदा अनाम रहने को बाध्य करता है।

अब थोडा दक्षिण भारत की ओर मुडें। सातवी से नौवी शती ईस्वी के काचीपुरम् के पल्लव राजवश के राजा बडे कलाप्रेमी थे। उनके विरुद थे—विचित्रचित्र, चित्रकार पुलि (चित्रकारो में व्याघ्र) मत्तविलास आदि। महेंद्रवर्मन और नृसिहवमन प्रथम स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला काव्य के आश्रयदाता थे। मामदूर के चित्र अब लुप्तप्राय हैं। पानामलाई और काचीपुरम् के मन्दिरो में थोडे से अवशेष बचे हैं। यहाँ भी 'सोमस्कन्द' के चित्र धार्मिक प्रेरणा के प्रमाण है। इसी समय की पाडय-वश की सिहविष्णुकालीन चित्रकला मे कुछ नमूने तिरुमलैपुरम गुफा मन्दिर में मिले है। इनमें कुछ दृश्य रोम और ग्रीस की कला से

प्रभावित लगते हैं, चूँकि इस समय मदुरा में यवनो की एक बस्ती थी, और यहाँ के मोती रोम के बाजारो मे बेचे जाते थे। सित्तनवासल मे गुफाचित्र छतों पर है। यह अधिकाश राजदरबार-सम्बंधित चित्र हैं। चेरकालीन चट्टानो मे उकेरे मन्दिरो मे भी अब बहुत अस्पष्ट, चित्राश मिलते हैं।

आठवी से दसवी शताब्दी मे दन्तिदुग के राष्ट्रकूटो के समय एलौरा मे कैलाशनाथ मदिर जैसे गरिमा-मडित स्थापत्य की रचना हुई। एलौरा की गुफाओ मे जैन चित्रकला के अदभुत अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहा भी प्रेरणा धार्मिक ही है। चोलकालीन मदिरा मे नौवी से तेरहवी सदी तक के चित्रकला के कुछ नमूने तजावर म पाये जाते हैं। नायक कालीन चित्रकला के ऊपरी स्तर के गिरने पर नीचे के चोलकालीन चित्र यहा श्री गोविंद स्वामी को मिले। बृहदेश्वर मदिर के प्रदक्षिणामाग मे पश्चिमी और उत्तरी दीवारों पर एक व्याघ्राबर पर बैठे योग-दक्षिणामूर्ति शिव का विराट चित्र है। उसकी कमर पर पम क बध है। वह दा अप्सराओ का नृत्य देख रह हैं। एक लघु-मानव गण मृदग बजा रहा है। विष्णु और कई विद्याधर अभेद वाद्य बजाने मे मस्त हैं। सुन्दर मुनि और चेरामन मुनि घोडे पर और हाथी पर बैठे आ रह है। एक बूढे के भेस मे शिव आये और तिरुवेण्णैनल्लूर मे एक पत्रा दिखाकर वर को कैसे ले गये, बाद के विवाहोत्सव के भी दृश्य उसमे है। एक बहुत बडा नटराज चिदम्बरम् की दीवार पर अकित है। यहाँ भी प्रेरणा चित्रकारो को धम से ही मिली है। त्रिपुरान्तक शिव के रथ को ब्रह्मा खीच रहे हैं। अष्टहस्त आलीढ मुद्रा मे असुरो से लडने धनुर्वाणसज्ज, भयभीत करने वाली आखें और ज्वालाओ जैसी जटावाले शिव के पीछे पीछे मयूरारुढ कात्तिकेय, चूहे पर गणेश और सिंहवाहिनी काली भी हैं। यह चोल कला की एक श्रेष्ठ कृति है।

मैसूर के ग्यारहवी से तेरहवी शती मे होयसाल वश के शिल्पकला के अनेक प्रमाण हैं, परन्तु चित्रकला के कोई प्रमाण नही हैं। केवल मूडाबिद्री मे जैन तालपत्र पोथियो मे कुछ बचे हैं। ये चटख रगो मे बडे ताल पत्रो पर बने हैं। १११३ ईस्वी की धवला पाडुलिपि मे एक सुपाश्वनाथ की यक्षी काली का चित्र है। वह वृषभारुढ है। इसमे एक तीर्थङ्कर महावीर के आसनस्थ और उत्तिष्ठ दोनो मुद्राओ मे रेखाकन है। दिगम्बर जैन मूर्ति के मकर मडित पार्श्व-सिंहासन और चामर धारको का अकन बडी कुशलता से किया गया है। प्राय एक ही रग मे चित्राकन होने पर भी, उसमे निम्नोन्नत तल का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट है। यक्षी अम्बिका एक सिंह और दो बच्चो के साथ दिखाई गई है। होयसाल चित्रकार श्रुतिदेवी (मयूरारुढा सरस्वती), या महामानसी (हसारुढा सरस्वती), या यक्ष अजित (कूर्मारूढ) सब बडे ही अलकृत ढग से चित्रित करते हैं। इन पुस्तको की किनारिया फूलपत्तियो के सुन्दर बेलबूटे से सजी हैं, और कलाकार का अपनी तूलिकापर असाधारण अधिकार दिखाते हैं।

इसी काल के काकतीय-वश के वारगल, पालमपेट, त्रिपुरान्तक, माचेर्ला मदिरो मे धर्माश्रित चित्रकला के दर्शन होते हैं। मदार पवत से लिपटे वासुकी और अमृतमन्थन के दृश्य को माचेर्ला मे देखा जा सकता है शिल्परूप मे, और पिल्लल्लमरी मे चित्र के रूप मे। त्रिपुरान्तकम् मदिर की काकतीय चित्रकला का अभी पूरा अध्ययन होना शेष है।

चौदहवी से सत्रहवी शती के विजयनगर के वैभवशाली कला क्षेत्र मे ऐश्वय का अब कोई नामोनिशा नही रहा। परन्तु लेपाक्षी के वीरभद्र, हम्पी के विद्वान, वेल्लोर के जल्कठेश्वर मदिरो के मडपो-गोपुरो मे कुछ चिह्न शेप हैं। हम्पी के विरूपाक्ष मदिर मे पद्रहवी शती के, विद्यारण्य की शोभायात्रा का दृश्य, लेपाक्षी म शिवलीला, राम राज्याभिषेक, किराताजुन युद्ध, वटपत्रशायी कृष्ण आदि उत्तम प्रमाण हैं। लेपाक्षी के वीरभद्र मदिर मे सोल्हवी शती का एक चित्र है जिसमे शिव रूठी हुई पावती को मना रहे हैं।

दक्षिण की सारी चित्रकला शैव विषयो या रामायण-महाभारत तथा पुराणो के प्रसगो पर आधारित है। मध्ययुगीन काल मे केरल के तिरुर्वाचिवुलम् मे सत्रहवी शती की गोपी, और पदमनाभपुरम तथा कृष्णपुरम् गोपुरम् मे वैष्णव विषयो पर चित्र अधिक हैं। एक चित्र मे कुम्भकर्ण के नथुनो और कर्ण-विवरो मे छोटे छोटे बाल-वानर खेल रहे हैं। जो चित्रकार के विनोद भाव का सूचन करते हैं।

मध्य युग मे नौवी से सोलहवी शती मे भारत के पूर्व मे, मुख्यत बगाल मे पालवश का राज्य था। यहाँ बौद्ध और बाद मे शैव-तान्त्रिक प्रभाव वाले चित्रो से मडित पोथियो के और तालपत्र ग्रथो के दर्शन होते हैं। 'प्रज्ञापारमिता', 'गडव्यूह', 'साधनमाला' आदि पोथियों मे ये चित्राकन हैं। पाल और सेनवश ने चित्रकारो को बडा आश्रय दिया। सुन्दरवन से पाये गये धातु मे उत्कीर्ण वैष्णव भक्तो के चित्रो का गुजरात की जैन पोथियो की चित्राकन शैली से बडा साम्य है। इसी समय उत्कल मे जयदेव के 'गीतगोविंद' पर आश्रित अनेक चित्ररेखित पाडुलिपियाँ मिलती हैं। इन्ही से आगे चलकर उडीसा की 'पट'-चित्रकला (जगन्नाथ प्रसाद दास आई० ए० एस० की शोध-पुस्तक द्रष्टव्य है), और बगाल के प्रसिद्ध कालीघाट शैली के पट विकसित हुए। राजाश्रित कला और लोकाश्रित कला यो एकाकार हुई। इस तरह के चित्रण का प्रभाव गगनेन्द्र नाथ ठाकुर के व्यग्यचित्रो और जामिनी राय की परवर्ती कला पर भी, बीसवी सदी मे आते-आते, पडा।

'भित्तिचित्रो' की परम्परा कम होकर अब पोथियो मे कथा के चित्राकन वाली जैनशैली गुजरात, राजस्थान, मालवा मे विकसित हुई। 'कल्पतरु', 'सिद्धहेमलघुवृत्ति', 'कुमारपाल चरित', 'कालकाचार्यकथा' के उत्तम नमूने तालपत्र और कागज पर मिलते हैं। मुगल लघुचित्रो से पूर्व के ये चित्र हैं। ग्यारहवी शती से ये प्राप्य हैं। जैसलमेर के जैन पुस्तक भडारो मे और अन्यत्र गुजरात मे ये पोथिया देखी जा सकती हैं। लकडी की दोनो ओर की पुस्त पर भी सिन्दूरी और काले सफेद रगो मे अकित ये चित्र, यद्यपि धर्माश्रित और पुराण कथाश्रित थे, कई चित्र रूढियो का निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार से बौद्ध और जैन धर्मो मे भिक्षुओ मुनियो ने शैव और वैष्णव राजाओ द्वारा प्रोत्साहित मदिरभित्तियो पर सामताश्रित चित्रकारो ने भारतीय कला को दूसरी शती ईसापूर्व से सत्रहवी सदी तक यानी उन्नीस सौ वर्षो तक टिकाये रखा। इसके आगे की तीन सदियो की भारतीय चित्रकला की कहानी इस्लामी और ईसाई धर्म प्रभावित मुसव्विरों और पाश्चात्य-शैलियो से अभिभूत हमारे अर्द्धाग्ल 'पेंटरो' की कथा है, जब धर्म-भाव क्षीण से क्षीणतर होता जाता है और चित्रकला के मुख्य विषय ऐहिक होते जाते हैं।

मुस्लिम राज्यकाल मे यह भेद अधिक उभरकर सामने आया। इस्लाम में बुतपरस्ती या मूर्तिपूजा निषिद्ध थी। अत धर्म निरपेक्ष चित्रकला ही पनप सकती थी। मुगल शैली के लघुचित्र प्राकृतिक दृश्यो के परिपार्श्व पर बादशाह, नवाब, मुसाहिब या उनकी रूपवती रानियो की शबीहो से अटे पडे हैं। कही-कहीं शिकार के, युद्ध के, उत्सव के दृश्यो मे साधारण जन भी दिखाई देते हैं—एकाध खानकाह, एकाध चडूखाना या रसोई का इन्तजाम, एकाध बीमार मरता हुआ उमराव अकित है, जो अपवाद रूप से हैं। अधिकतर चित्र विलास मडित हैं। इन्ही का प्रभाव राजपूत, कागडा, राजस्थानी (बीकानेर, जयपुर), पहाडी कलम के चित्रो पर भी पडा है। बशौली या नूरपूर के लघुचित्र या भित्तिचित्रो मे भी रगो की आकर्षक सरचना, मानवाकृतियो का सुधार और सूक्ष्म हू-ब हू अकन, पशु-पक्षियो, प्रासादो, वृक्षो, लताओ का बारीक और कई स्थानो पर यथार्थवादी चित्रण है। परन्तु धार्मिक विषय इस कालखड मे प्राय नही के बराबर है। चीनी तुर्किस्तान और ईरान से कई चित्रशैलियाँ जहाँगीर और अकबर के दरबारो तक

आई। मुगल बादशाहो के जिदगीनामो—'बाबर नामा' तुजुके जहागीरी, 'आईने-अकबरी' आदि की पोथियो मे ये चित्र बनाये जाने लगे। बेहज़ाद आदि प्रसिद्ध चित्र-गुरु भारतीय शिष्यों को अपनी उस्तादी कलम सिखाने लगे। जैसे अकबर के समय के विख्यात चित्रकार थे मनोहर, फारुकचेला, बसावन, मधू आदि। इस मुगलिया मुसव्विरी की दास्तान शीराज से आये ख्वाजा अब्दुल समद से शुरू होती है जिसे हुमायू ने राजाश्रय दिया। एक पालकी ढोने वाले का गरीब पुत्र दसवत उसका चेला बना। यही से चित्रो पर कलाकार अपने दस्तखत करने लगे मुकुद, खेमकरन, हरबस, केशवलाल आदि नाम मिलते हैं। परतु उनकी जीवनियो के बारे मे बहुत कम मालूमात है। फतहपुर सीकरी का निर्माण अकबर का शिकार प्रेम, दूसरे पुत्र मुराद की जम घटनाएँ उसमे उल्लेखित हैं। जहागीर ने इस कला को आगे बढवाया—मसूर और बिशनदास उसके जमाने के अच्छे चित्रकार थे। उस समय की शबीहो की तारीफ इग्लैंड के सर जाशुआ रेनाल्डस ने भी की है। शाहजहा ने भी भवन निर्माण तो किया, पर चित्रकला तब छीजने लगी। औरगजेब के राज्यकाल मे उसको प्रतिगति मिली। चित्रकारों को अब प्रश्रय अमृतसर, लाहौर, लखनऊ, अवध, मुर्शिदाबाद, गोलकुण्डा मे मिलने लगा।

राजस्थानी और पहाडी लघुचित्रो मे रामायण और महाभारत के प्रसगो पर कई चित्र बनाये गये, कृष्ण की बाललीलाएँ, नल दमयती आख्यान, चण्डी या दुर्गा का चरित चित्रकारो का प्रिय विषय था। अब विविध राग रागिणियो के चित्र बनाये जाने लगे। विविध प्रकार की नायिकाओ को चित्रित किया गया। 'बारहमासा' पर खूबसूरत चित्र सभी चित्र शैलियो मे, सभी प्रदेशो मे अट्ठारहवी-उन्नीसवी सदी मे मिलते हैं। मेवाड, बूँदी, जयपुर, जोधपुर की चित्र-कलम अलग-अलग व्यक्तित्व प्राप्त करने लगी। मालवे मे माडू-कलम बन गई। राजस्थानी शैली मे 'चौर पचाशिका' के चित्र बनाये गये। किशनगढ कलम ने लम्बे नाक-नक्शवाले राधाकृष्ण लोकप्रिय बनाये। नाथद्वारा मदिर की एक अलग चित्रशैली विकसित हो गई। गुलेर, चम्बा और गढवाल की चित्र शैलियो पर लेख और पुस्तकें लिखी गई हैं। उन पुस्तको मे कहीं कहीं परिचित धार्मिक पौराणिक विषय हैं, परतु उन चित्रो को धम प्रधान या धर्मावलम्बित या धम विचार-प्रेरक चित्रकला नही कहा जा सकता।

पश्चिम के भारत मे आगमन, जेसुइट, पुर्तगाली, फ्रेंच, डच, ब्रिटिश, अमेरिकी, कनाडियन मिशनरियो और बाद मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी, और अन्त मे ब्रिटिश राज की स्थापना के बाद उन्नीसवीं शती मे योरोपीय और ब्रिटिश चित्र शैली हमारे अनेक चित्रकारो का मानो आदर्श बन गई। जो कला-शिक्षा-निकाल्य बम्बई, मद्रास, कलकत्ता मे खुले वहाँ भी ब्रिटिश अध्यापको, आश्रयदाताओ और कला-समीक्षकों का ही जोर था। अत हमारे सारे सामाजिक सास्कृतिक, राजनैतिक, साहित्यिक, दार्शनिक, ललितकलाविषयक डेढ़ सदी के विचार मन्थन म तीन तरह के मतवाद इस पुनर्जागरणकाल मे, प्रतिक्रिया रूप स्पष्ट रूप से उभरे—

(१) पश्चिम से आयातित हर विचार के विरोधी विद्वेषी या उन्मूलक

(२) पश्चिम से आयातित हर विचार या वस्तु के अन्ध समर्थक, अनुकरणकर्ता

(३) पश्चिम और पूर्व के सर्वोत्तम का समन्वय करना चाहने वाले

प्रथम दो अतिवादों में, दूसरा, ऐहिक-भौतिक लाभ और विज्ञान तथा तान्त्रिकी (तकनीकी) तेज विकास के कारण अधिक हावी हुआ यद्यपि प्रथम मत विश्वास ने भी अलग अलग रूपों म अपना सिर उठाया।

भारतीय चित्रकला और धर्म के मामले मे जहाँ अवनींद्रनाथ ठाकुर और बगाल स्कूल के चित्रकार अजता की शैली, मुगल लघुचित्रा की शैली से सीखकर एक पुनरुत्थान, एक प्रकार से मूल स्रोतो की ओर जाने का यत्न करने लगे, वहाँ उनके प्रयत्न बहुत क्षीण प्रत्युत्तर पाने मे समर्थ हुए। यहाँ चित्रकला प्रेमियों को अवनींद्रनाथ ठाकुर के 'वाश' शैली मे, 'ताजमहल की ओर देखता शाहजहाँ', बुद्ध और सुजाता' प्रवास का अन्त (मरुभूमि) मे एक थका हुआ ऊट), 'भारतमाता' या 'बाउल रवीन्द्रनाथ' चित्र सहज याद आयेंगे। उन्ही के शिष्य नन्दलाल बसु के 'शिव विषपान करते हुए', या 'विरही यक्ष' या 'राधा-कृष्ण' के चित्र भी याद आयेंगे। उसी परम्परा मे असितकुमार हालदार या रामगोपाल विजय वर्गीय, कृपाल सिंह या जगन्नाथ अहिवासी, मनु देसाई, या रविशकर रावल, क्षीरोद मुजूमदार या सुधीर खास्तगीर आदि चित्र बनाते रहे। इसी पुनरुज्जीवनवादी शैली का प्रभाव अब्दुरहमान चुगताई पर पड़ा, जिन्होने अपने 'माडेल' मुगल चित्रकला से लिए। परिणाम यह हुआ कि यही चित्रशैली सारे उत्तर भारत मे, बिहार म (उपेंद्र महारथी), दिल्ली मे (शारदा उकील, कुमारिलस्वामी), गुजरात और राजस्थान मे फैल गई महादेवी वर्मा के अपनी कविता पर चित्राकन भी उसी 'वॉश शैली म हैं।

१९३६ मे मुझसे एकबार नारायण श्रीधर बेन्द्रे ने कहा कि बगाल के चित्रो मे ये पुरुष ऐसे सुकोमल, सपनीली आँखो वाले, लम्बी लम्बी उँगलिया, लम्बे बाल और लम्बे उत्तरीय पहने क्यो होते हैं? स्त्रियाँ भी विरहिणियो की तरह, पांडुरोगिणी, भावुक और असहज क्यो हैं? केवल दो बगाली प्रमोदकुमार चटर्जी (राणा प्रताप के चेतक की मृत्यु और 'शिवाजी और रामदास' के चितेरे), और देवीप्रसाद रायचौधरी उस समय तक अपवाद थे। बाद म तो स्वयम रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, और 'बगाल स्कूल' के विरोधी अनेक तरुण यथार्थवादी, पश्चिमी-कला से प्रभावित विश्वनाथ मुखर्जी से बिकास भट्टाचार्य तक, भवेश सान्याल और गणेश पाइन, चित्त बसु, रथीन मित्रा, शैलोज मुखोपाध्याय और अन्य कई कलाकार बगाली चित्रकला म हुए, जैसे शिल्पकला मे रामकिंकर बैज, चिन्तामणि कर या प्रमोद दासगुप्त। पश्चिम की कला का प्रभाव बम्बई स्कूल पर सबसे अधिक पड़ा। धुरधर हा या त्रिनिदाद, लालकाका या आचरेकर, बेन्द्रे या हुसैन, हब्बर या गुलाम मुहम्मद शेख, भूपेन खक्खर या हिम्मतशाह, जेराम पटेल या भावसार, रजा या लक्ष्मण पै, गाडे या गायतोडे सबके पश्चिमी 'माडेल' या आदर्श मूल पुरुष मौजूद हैं। उनमें से कई जैसे सतीश गुजराल, रामकुमार स्वामीनाथन, विवान सुन्दरम् आदि पश्चिम के प्रभाव को पचा गये हैं ऐसा कहते हैं। परन्तु अधिकाश आधुनिक भारतीय चित्रकार पूर्व और पश्चिम का भेद नही मानते। उनके लिये सारसग्राहक या 'एक्लेक्टिक') शब्द अधिक उपयुक्त होगा। कुछ चित्रकारो ने जैसे गगनेन्द्रनाथ ठाकुर या भूपेन खक्खर ने अंग्रेजी सभ्यता के कुप्रभाव, कम्पनी शैली के चित्रो का पर्याप्त मजाक भी उड़ाया है। पर फ्रास के कला आन्दोलन इम्प्रेशनिज्म, पोस्ट-इम्प्रेशनिज्म, क्यूबिज्म, फ्यूचरिज्म, फाइन्टिज्म और जर्मन एक्स्प्रेशनिज्म या अमेरिकी अमूर्त कला से अनेक चित्रकार प्रभावित अवश्य हुए हैं।

पूर्व पश्चिम समन्वय के भी कई रूप हैं। एक तो राजा रविवर्मा का ढग था कि उन्होंने इटैलियन 'ग्रेट मास्टर्स' या डच यथार्थवादियो की रगशैली और मानवाकृतियो का अनुकरण कर उन्हें भारतीय परिधान देकर देवी देवताओ के चित्र बनाये। उदाहरणार्थ बोट्टिचेल्ली के 'बर्थ आफ वीनस' मे एक सीप मे से दिगम्बरा सुन्दरी खड़ी होती है, कमल म से हमारी सुपरिचित लक्ष्मीजी लाल साड़ी पहने मुकुट धारे चार हाथों वाली है। रावण द्वारा सीता हरण और जटायू के पखो पर चन्द्रहास तलवार के वार का प्रसिद्ध चित्र 'कैडमस के युरोपा हरण' वाले यौरोपीय चित्रपर आधारित है। यानी एक प्रकार से इटैली

या डेनमाक की रगमजूषा लेकर उस कल्पना चित्रण का 'भारतीयकरण रविवर्मा ने कर डाला, जो व्यावसायिक दृष्टि से अत्यन्त सफल रहा। भारतीय सिनेमाचित्र भी ऐसा भावान्तरण 'रूपातरण' बडे पैमाने पर करते रहते है।

दूसरा ढग रवी द्रनाथ का था। उन्होंने चाहे पश्चिमी चित्र अनेक देखे हो—उनका अनुकरण कही नही किया है। उनकी चित्रण शैली पर पश्चिमी एक्सप्रेशनिस्टो का चाहे प्रभाव रहा हो पर १९३० म जब उनके चित्र पेरिस और मास्को मे प्रदर्शित हुए, वे चकित रह गये। यहाँ उनकी मौलिकता अभूतपूव है।

पर तु आधुनिक चित्रकारो मे धम-प्रवण या उस तरह से आस्थाशील मैंने केवल दो ही चित्रकार देखे हैं—हो सकता है मैं बहुत लोगो से नही मिला हूँ—एक तो शातिनिकेतन मे पले-बढे महाराष्ट्रीय ईसाई विनायक मासोजी। उ होने गाधीजी के जीवन पर चित्र बनाये, भारतीय शैली मे। विनोबा का चित्र बनाया। त्रिपुरी काग्रेस की मण्डप सज्जा न दलाल वसु के साथ की। दूसरे हैं बदरीनारायण—वे पश्चिमी धार्मिक चित्रकार रूआ और हमारी मध्य युगीन पोथियो के चित्रो से प्रभावित हैं। जौजकीट सिंहली कलाकार थे, जि होने जातक कथाओ का रेखाकन उसी निष्ठा से किया था मैंने कुछ धम-निष्ठावान शिल्पी देखे हैं, जसे कलकत्ता के सुनील्पाल (बैराकपुर मे गाधी मण्डप के शिल्पकारी) तथा उनके सहयोगी अशोक गुप्त। परन्तु अधिकाश हिंदू चित्रकारो को मैंने अपने धर्म के प्रति उदासीन पाया।

मुस्लिम समाज मे ज म लेने वाले अनेक प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार हैं, जैसे मकबूल फिदा हुसैन, रजा, अकबर पदमसी, आरा, आलमेलकर, गुलाम मुहम्मद शेख, आदिल म सूरी, बिल्ग्रामी आदि। मैंने इनमे एक भी ऐसा कलाकार नही जाना जो कट्टर मुस्लिम हो। उलटे, वे सब कट्टरता के घोर विरोधी हैं।

ईसाई कलाकारो मे सूजा, न्यूटन, दक्षिण के और बगाल के कुछ कलाकार है जिनके नामो से पता नही चलता कि वे ईसाई हैं, मासोजी, अजोली मेनन आदि। उनमे से कुछ लोगो ने ईसाई धमकथा या मिथकों पर चित्र बनाये हैं। पर धम उनका प्रमुख विषय नही।

सिख चित्रकार शोभासिंह और ठाकुर सिंह ने गुरुनानक, गुरु गोबिंद सिंह आदि विषयों पर चित्र बनाये और लोकप्रिय भी हुए। वे अच्छे सिख की तरह धार्मिक आस्था वाले भी थे। और भी होंगे जि हे मैं नही जानता।

पारसी चित्रकार श्यावक्ष चावडा, जहागीर साबावाला (और वैसे तो भाभा भी चित्र बनाते थे)- बहुत थोडे हैं। यहूदी मत वाले चित्रकार मैं एक भी नही जानता जो भारतीय नागरिक भी हो।

जैन और बौद्ध चित्रकार भी बहुत थोडे हैं जिनका बडा नाम हो। वैसे साध्वी सघ मे अनेक जैन भिक्षुणिया अच्छा चित्रकाय करती हैं। कुछ भारत मे बसे भोट, नेपाली बौद्ध भी अच्छे चित्रकार हैं।

इस दृष्टि से आधुनिक भारतीय चित्रकला पर गहरा विचार बहुत कम किया गया है कलाकार को हमने नीति निरपेक्ष मान लिया है, फिर वह चित्रकार हो या सगीतकार, शिल्पकार या स्थपति, अभिनेता या नतक नतकी। और अब तो कवि साहित्यकार भी अपने आपको अ सामाजिक 'नीति अनीति से परे' (नीत्शे की पुस्तक का नाम) मानने मे गव अनुभव करते हैं। पर तु इस तरह के चि तन मे यह अध्याहृत है कि भारतीय समाज से धम का प्रभाव विलुप्त हो गया है।

क्या यह सच है? 'रामायण' जैसे टी० वी० सीरियल का व्यापक जनप्रभाव छोडिये, धमस्थानो मे बढते हुए चढावे, देश मे धार्मिक प्रवचनकारो की बढती हुई लोकप्रियता, भगवान के सीधे दूत अपने आपको माननेवाले और प्रचारित करनेवाले बाबा स्वामी, आचाय, ब्रह्मचारी महर्षि, भगवान आन दो की

देश मे (और विदेश म भी) बढती हुई माँग यह सब क्या दिखाते हैं ? क्या भारत इतना उद्योग-प्रधान देश बन गया है कि वह धर्म-निरपेक्ष और धर्म विमुख अपने आपको माने। यदि ऐसा होता तो साम्प्रदायिक दंगे यो देश मे क्यो बढते ? 'तमस' पर या देवराला की 'सती' पर इतना होहल्ला क्यो मचता, इतने पन्ने अखबार क्यो रगते ? एक ओर धर्म आतकवाद की, 'फंडामेंटलिज्म' की गोद म जा बैठा है। और दूसरी ओर वह अन्धविश्वास, चमत्कारवाद, अतीन्द्रिय अनुभव, तीसरी शक्ति, पराविद्या के नव्य-रहस्यवाद मे खो गया है। भारतीय कला इस समय दिग्भ्रमित है। कलाकारों मे जैसे सगीत, नृत्य, आदि के क्षेत्र मे विष्णु दिगम्बर पलुस्कर या भातखडे, प० ओकारनाथ या विनायकराव पटवर्धन आदि धर्म प्रवण गायक या 'भरतनाट्यम्' का पुनरुद्धार करने वाली रुक्मिणी अरुडेल या बालासरस्वती का, 'कथकली' के पुनरुज्जीवक कवि वल्लत्तोल नारायण मेनन का ओडिसी मे गुरु केलुचरण महापात्र का नाम लिया जाता है, भारतीय चित्रकला के क्षेत्र मे आज ऐसा एक भी बडा नाम नही है जो 'भारतीयता' के कारण भारत से बाहर, या समूचे भारत मे प्रख्यात हो। क्या दृश्यकलाएँ अधिक शीघ्र परिवर्ती, नव नवीय प्रयोगो और प्रभावो से अधिक सहज वेध्य होती है, श्रव्य कलाएँ कम होती हैं। या कि जीवन से धर्म मूल्यो के प्रति आस्था का ह्रास हो गया है। काव्य का उदाहरण लें तो 'कामायनी' या सावित्री' के बाद कौनसा प्रबन्ध काव्य लिखा गया ? डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जिनकी जन्म शताब्दी इस वर्ष ५ सितम्बर को है। या प्रो० रा० दा० रानडे जैसे दार्शनिक आज हमारे देश म कम हैं, जो प्राचीन और नवीन से सच्चे सेतु थे। चित्रकला की समीक्षा करनेवाले आनन्द कुमार स्वामी, ओ० सी० गागुली, हिरियण्ण जैसे लोग भी अब कहाँ हैं ? क्या गये तीन दशक एकदम वन्ध्या हो गये इस क्षेत्र मे ? इस पर विचार आवश्यक है। वैसे अंग्रेजी मे पत्रकारिता के स्तर पर अच्छी-बुरी चित्रकला समीक्षा लिखने वाले एक दजन नाम मुझे याद आ रहे हैं, मैंने उनमे से अनेको को पढा है, पर किसी एक से पूर्णत आश्वस्त नही हो पाता हूँ। छह नाम तो सहज याद आ रहे हैं —मुल्कराज आनन्द, ए० एस० रामन, ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, कृष्ण चैतन्य, केशव मलिक, रगरजन आदि। हो सकता है मेरा दृष्टिदोष हो पर कला समीक्षक की अपनी कोई जीवन-दृष्टि या दर्शन आवश्यक नही ? क्या कला का धर्म से कोई सम्बन्ध अब नहीं रहा ?

आधुनिक काल मे जीवन के सभी अगो मे मूल्यो का ह्रास हुआ है, उसमे चित्रकला अपवाद नही। भारत मे बीसवी सदी मे स्वतन्त्रता सग्राम की सन बीस, तीस और चालीस मे गांधीजी द्वारा सचालित एक से एक बढकर तरगे उठी, परन्तु नन्दलाल बसु या विनायक मासोजी जसे इक्के दुक्के कलाकारो ने गांधी को अपने भित्तिचित्रो का विषय बनाया। कनु गांधी और देवी प्रसाद रायचौधुरी ने रेखाकनो और शिल्पो म इस विशाल जनजागरण को अकित किया। पर कोई महनीय कृति हमारे सामने भारतीय शैली मे नही आई। उसका कारण यह हुआ कि विष्णुधर्मोत्तर सूत्र' (४१, १-५) मे जिन तीन शैलियों के चित्र वर्णित थे—सत्य, वैणिक और नागर उन्हे छोडकर चौथी शैली 'मिश्र' के ही रूप अधिक दिखाई देते हैं। उस ग्रन्थ मे कहा गया —

> सत्य च वैणिक चैव नागर मिश्रमेव च।
> चित्र चतुर्विध प्रोक्त तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
> यत्किचल्लोकसादृश्य चित्र तत्सत्यमुच्यते।
> दीर्घांग सप्रमाण च सुकुमारम सभूमिकम् ॥
> चातुरस्र सुसपूर्ण न दीर्घ नोल्बणाकृतम्।
> प्रमाण स्थानलम्बाढ्य वैणिक तन्निगद्यते ॥

दृढोपचित सर्वांग वतुल नह्यनुल्वणम् ।
चित्र तु नागर ज्ञेय स्वल्पमाल्यविभूषितम् ।।

सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र चार चित्र-प्रकार हैं । जो प्रकृति के वास्तविक पदार्थों के समान होते हैं, जिनमे कोमल भावनाओ की अभिव्यक्ति होती है, जो प्रमाणवद्ध, दीर्घांग, सुकुमार और पार्श्वभूमि सहित होते हैं, वे 'सत्य' हैं । जिनमे शरीरो के अवयवो की निर्मिति सुघड, अनुपातयुक्त, जो चौकोर पर अतिदीर्घ नही उत्कृष्ट आकार, प्रमाण और आधारयुक्त होता है, वह 'वैणिक' चित्र हैं । जिसमे चित्रगत व्यक्ति के सब अग सुदृढ और सुपुष्ट होते हैं, जो केवल गोलगोल या जल्दी जल्दी मे सिर्फ तूलिका के स्पर्श मात्र के चित्र नही होते, जिनमे पुष्प और अलकारो की भीड नही होती वे 'नागर' होते हैं ।

चित्रकला भी एक साधना थी । केवल कुशलता या रगो का चमत्कार नही थी । वह सब दुर्भाग्य से, आज के व्यावसायिक युग मे लुप्त प्राय हो गया है । पाश्चात्य देशो से हमने केवल वर्णाढ्यता और विद्रूप लेकर दर्शको को चकित और आहत करने का ढग तो ले लिया, पर कोई चिर-स्मरणीय राष्ट्रीय चित्रकार नही पैदा किया । वैसे हर प्रदेश के एक दो महनीय कृतिकार हैं, किन्तु भारत के बाहर जिनको बहु-प्रचारित किया जाता है वे 'मकबूल' चाहे हो, पर भारतीयता का उनमे वह अखड प्रेरणा उत्स नही दिखाई देता, जो प्राचीन चित्रकारो मे था । ये नये चित्रकार सामयिक विषया के आलेखक (इलस्ट्रेटर) हैं, या फिर अमूर्त, अगम्य मनोरम आकारो के रग-क्रीडक, परन्तु भाव-सम्पन्न, सार्थक चित्रकृतिया बहुत कम देखने को मिलती हैं । चित्रकारों ने अपना मूल 'धर्म' छोडकर प्रचार या विकार-विचार अपना लिया यह दुखद सत्य है । ●

Kangra Painting 17-18th century, Boston Museum
डा० कालिदास नाग सम्पादित 'डिस्कवरी आफ एशिया' के परिशिष्ट से

दढोपचित सर्वांग वर्तुल महात्तुल्बणम्।
चित्रं तु नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्पविभूषितम्॥

सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र चार चित्र-प्रकार हैं। जो प्रकृति के वास्तविक पदार्थों के समान होते है, जिनमे कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है, जो प्रमाणबद्ध, दीर्घांग, सुकुमार और पार्श्वभूमि सहित होते हैं, वे 'सत्य' हैं। जिनमे शरीरो के अवयवों की निर्मिति सुघड, अनुपातयुक्त, जो चौकोर पर अतिदीर्घ नही उत्कृष्ट आकार, प्रमाण और आधारयुक्त होता है, वह 'वैणिक' चित्र हैं। जिसमे चित्रगत व्यक्ति के सब अंग सुदृढ और सुपुष्ट होते हैं, जो केवल गोलगोल या जल्दी जल्दी मे सिर्फ तूलिका के स्पर्श मात्र के चित्र नही होते, जिनमे पुष्प और अलंकारो की भीड नही होती वे 'नागर' होते हैं।

चित्रकला भी एक साधना थी। केवल कुशलता या रगों का चमत्कार नहीं थी। वह सब दुर्भाग्य से, आज के व्यावसायिक युग में लुप्त प्राय हो गया है। पाश्चात्य देशो से हमने केवल वर्णाढयता और विद्रूप लेकर दर्शकों को चकित और आहत करने का ढग तो ले लिया, पर कोई चिर-स्मरणीय राष्ट्रीय चित्रकार नही पैदा किया। वसे हर प्रदेश के एक दो महनीय कृतिकार हैं, किन्तु भारत के बाहर जिनको बहु प्रचारित किया जाता है वे 'मकबूल' चाहे हो, पर भारतीयता का उनमे वह अखड प्रेरणा-उत्स नही दिखाई देता, जो प्राचीन चित्रकारो में था। ये नये चित्रकार सामयिक विषयो के आलेखक (इलस्ट्रेटर) हैं, या फिर अमूर्त, अगम्य मनोरम आकारो के रग-क्रीडक, परन्तु भाव सम्पन्न, सार्थक चित्रकृतियां बहुत कम देखने को मिलती हैं। चित्रकारो ने अपना मूल 'धर्म' छोडकर प्रचार या विकार-विचार अपना लिया यह दुखद सत्य है। ●

1

Kedara Ragını

भारतीय सस्कृति बनाम द्रविड़ संस्कृति

डा० सुमति अय्यर

मानव द्वारा प्रकृति पर प्राप्त विजय की क्रमबद्ध कहानी ही सस्कृति है। एक आदर्श निर्धारित करना और उनके अनुरूप आवश्यक जीवन-पद्धति की रचना करना सस्कृति की व्याख्या का सारतत्व है। सस्कृति शब्द 'सम्यक्'-कृति' दो शब्दो का सम्मिश्रण है, मानी कि सुधारा हुआ एव सुव्यवस्थित तथा सस्कार सम्पन्न जीवन का स्वच्छ स्वरूप। सस्कृति मानव जीवन का साम्य सौंदय पक्ष है।

सस्कृति और सभ्यता—दोनो की प्रगति साथ साथ होती है, इस प्रकार से दोनो ही एक दूसरे से प्रभावित भी होते हैं। एक शब्द म यदि कहा जाए तो सस्कृति प्रेरणा है, और सभ्यता उसी प्रेरणा की एक बाह्य अभिव्यजना। सस्कृति ऐसी वस्तु नही कि इसकी रचना सौ पचास वर्षों मे हो सके। इसके स्वरूप को बनने म शताब्दियाँ लग जाती हैं। अनेक शताब्दियो तक एक समाज के लोग जिस प्रणाली और पद्धति का अनुसरण करते हैं, उनके विचारो-आचारो और जीवन पद्धति से उनकी सस्कृति की पहचान मिल सकती है। वस्तुत सस्कृति अनुभवो की एक सतत प्रणाली है जो शताब्दियो से एकत्र होते होते समाज के अन्दर प्रवेश कर जाती है। इसका सम्बन्ध हमारे आभ्यन्तर जीवन से है, जो जन्म-जन्मान्तर से हमारे साथ है, और जन्म-जन्मान्तर तक हमारे साथ चलती रहेगी।

सस्कृति आदान-प्रदान से आकार लेती है, घटती और बढती है। जब एक देश के निवासी दूसरे देश के निवासियो से मिलते जुलते हैं तो एक की सस्कृति दूसरे को प्रभावित करती है। धीरे धीरे वह दूसरी सस्कृति हमारे अन्त करण पर अपना सस्कार करने लगती है। दूसरी सस्कृतियो का परस्पर प्रभाव इसी तरह पडता है। आदान प्रदान की प्रक्रिया सास्कृतिक उन्नति व अवनति मे सहायक होती है। सास्कृतिक मान्यता का प्रतिबिंब दार्शनिक जीवन व अन्त करण पर पडता है। इसी तरह एक देश के आचार-विचार की प्रणालियाँ दूसरे देशो मे स्वीकार की गयी हैं। एक जाति के सदियो के अनुभव, दूसरी जाति सहज ही अपना लेती है। यद्यपि सस्कृति का मूल आधार मानवता है, तथापि देश विदेश के वातावरण की विशेषता के कारण वह उस देश के भाग मे विदित होने लगता है।

भारतीय सस्कृति का स्वभाव सर्वव्यापी है। उसने कई सस्कृतियो को अपने मे समेट रखा है। भारतीय सस्कृति की लगभग पाच हजार वर्षों से चली आ रही अदभुत अविच्छिन्नता इसकी ओजस्विता को प्रमाणित करती है। इसकी जडें इनकी मानवीय भावना और मूल्यो व सामाजिक विधान की विशिष्ट व्यवस्था मे समाई हुई हैं और वे मानव-जाति की शक्ति और स्थायित्व के प्रभाव स्रोतो पर प्रकाश डालती हैं।

भारतीय सस्कृति ने अनेक शताब्दियो से एशियाई सभ्यता की एकता स्थापित की है। विशिष्ट सकीर्ण सस्कृति न होकर सार्वभौम व्यापक सस्कृति इसकी विशेषता है। मानव जीवन और समाज की समस्याओं पर, सभ्यता के अरुणोदय से ही भारत मे जो सशक्त चिन्तन चला, उससे एक ऐसा मानसिक

प्रतिमान उत्पन्न व परिपुष्ट हो गया, जो पाश्चात्य तथा पूव एशियाई प्रतिमान से अलग है। इसम शान्ति और सामजस्य की खोज के लिये अगाध निष्ठा का प्रमुख स्थान है। युद्ध-क्लात जगत उसमे रुचि लिए विना नही रह सकता।

वस्तुत जब हम भारतीय सस्कृति की बात करते हैं तो अनजाने ही द्रविड/हूण/ कोल सभी सस्कृतियो की बात करते हैं। आज भारतीय सस्कृति का जो भी रूप है, उनमे यह तय कर पाना कठिन कि किसका क्या प्रभाव है, या यह कितने अश मे विशिष्ट सस्कृति का प्रभाव है।

द्रविडो के मूल के विषय मे कई अटकलें हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह आर्यो के मूल के विषय में लगाई जाती है। कुछ विद्वानो का अभिमत है कि द्रविड बाहर से आये और उत्तरी पश्चिमी रास्ते से भारत आए। इसके प्रमाण मे बलुचिस्तान मे आदि द्रविडो द्वारा बोली जाने वाली भाषा ब्राहुई का उदाहरण देते हैं, जो तमिल के निकट है। कुछ विद्वान इसके ठीक विपरीत बात कहते हैं। उनके अनुसार द्रविड इस महादेश के आदि निवासी है। वे ही यहा से उत्तर पश्चिम की ओर जा बसे।

इसकी प्रागैतिहासिक स्थिति भले ही विवादास्पद हो पर यह निर्विवाद सत्य है कि तोलकाप्पियर (ई० पू० चौथी शता०दी) इलगो अडिगल सिर्कतियर (अगस्त्य के शिष्य तथा सगीत शास्त्र के ग्र थो के प्रणेता) तमिल प्रदेश की सीमाओ के अन्दर ही काय करते रहे। इस द्रविड प्रदेश की सीमा मलाबार से लेकर बगाल की खाडी तक तथा तिरुपति से लेकर कन्याकुमारी तक फली है। दक्षिण के चार प्रमुख (चोल, चेर, पाडिय तथा चालुक्य) शासन के दौरान द्रविड सस्कति खूब फली फूली। राजनीतिक एव व्यापारिक आदान प्रदान एव सम्पक के कारण उत्तर की आय सस्कति—या यो कह कि वैदिक ब्राह्मण सस्कति का प्रभाव उस पर पडना स्वाभाविक था। हालाकि इससे पहले भी ई० पू० छठी शती मे आय ऋषि अगस्त्य और उनके साथ आय ब्राह्मणो का पहला दल दक्षिण आया और यही बस गया। यही से द्रविड सस्कृति और आय सस्कृति के मिश्रण की प्रक्रिया आरम्भ हुई।

एक मिथक के अनुसार शिव के पुत्र कार्तिकेय अपने पिता से रूठकर दक्षिण के सह्याद्रि-पर्वत पर जा विराजे। अपने पिता के डमरू से निगत देववाणी सस्कत के ही समकक्ष एक नयी भाषा का उन्होने निर्माण किया और उसमे ग्रन्था का प्रणयन भी किया गया। हालाकि तमिल के पुराने विद्वान इस मिथक को केवल कपोल कल्पना मानते हैं, पर कालान्तर मे जब ब्राह्मण सस्कृति का प्रभाव पडने लगा, तथा विद्वानो का परिचय तमिल के अतिरिक्त सस्कृत से भी होने लगा, तो उनके विचार बदलने लगे। सस्कत के प्रति आदर भाव जगा क्योकि उनके वेदपुराण इसी भाषा मे लिखे गये थे। सस्कृत का प्रभाव द्रविड भाषा पर पडने लगा। आदि द्रविड भाषा तमिल का सस्कृत पर प्रभाव पडा। सत्य यह है कि आर्यों की भाषा सस्कृत रही और द्रविडो की तमिल। सस्कृत ने भले ही कालान्तर मे इन भाषाओ को प्रभावित किया हो, पर तमिल की प्राचीन शब्दावली मे सस्कृत का एक शब्द भी नही है। इसके विपरीत सस्कत मे तमिल-कलाओ से सम्बधित जो भी शब्द है उनका उत्स द्रविड भाषाओ मे मिलता है। द्रविडो के प्रागैतिहासिक एव ऐतिहासिक प्रमाणो से सिद्ध होता है कि वहा कला और साहित्य उन्नत स्थिति मे रहे हैं। अगस्त्य से लेकर तोलकाप्पियर (पाँचवी शती ई० पू०) तक, भाषा के व्याकरण के लिए भले ही द्रविडो को आय ब्राह्मणो से सहयोग मिला हो, पर अभिव्यक्ति की पूणता के लिये, सस्कत के मुहावरे और बुनावट दोनो को द्रविड तमिल ने बहुत प्रभावित किया है।

द्रविड भाषा एव सस्कति की प्राचीनता और राजनीतिक दृष्टि से उनकी स्वतन्त्रता ने वहां की सस्कृति को अपनी गरिमा के साथ विकसित होने का पूरा अवसर दिया। मध्यकालीन तमिल साहित्य

वैदिक ब्राह्मणवाद से अवश्य प्रभावित रहा। परन्तु उसके पूर्व का विशद साहित्य अहनानूरु पुरनानूरु, पत्तुपाटटु, शिलप्पदिकारम, मणिमेखलाई, तोलकाप्पियम ये केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक कृतियां ही नहीं हैं। वे तत्कालीन द्रविड राजाओं की शासन प्रणाली, उनके प्रताप एवं उदारता एवं द्रविड संस्कृति की गौरव गाथाएँ हैं।

जैसे-जैसे उत्तर का वैदिक ब्राह्मणवाद दक्षिण में पहुँचने लगा, वहां संस्कृत के पठन पाठन का प्रचार बढने लगा। शिव, विष्णु के अतिरिक्त सुब्रह्मण्य, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि का भी प्रभाव पडा। धर्म से जुडे संस्कृत शब्द व्यवहार में आने लगे और धर्म की भाषा, अध्यात्म की भाषा संस्कृत बनने लगी। इसमें उत्तर से दक्षिण आ बसे हिन्दू आर्य ब्राह्मणों का योगदान रहा। स्कंदपुराण, तिरुविलैयाडल पुराण पेरियपुराण, चिन्तामणि में द्रविड एवं ब्राह्मण संस्कृति का सुन्दर समन्वय देखा जा सकता है।

नवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में सुदूर दक्षिण का प्रतिभावान युवक ब्राह्मण भिक्षु चिदम्बरम से काश्मीर तथा काशी से केदारनाथ तक दार्शनिक दिग्विजय में संलग्न था। आदि शंकर के ही प्रयत्नों का परिणाम था कि भारतीय हिन्दू धर्म का अभिनवीकरण इस सीमा तक सम्भव हो सका कि वह लोक प्रचलित बौद्ध दर्शन और जीवन प्रणाली पर भी हावी हो गया। सातवीं शताब्दी में वज्रयान के धर्म संस्कारों तथा बौद्ध विहारों की अनैतिकता के कारण बौद्ध धर्म लोगों की दृष्टि में गिर गया था।

ब्राह्मण संस्कृति को बौद्ध धर्म के अतिरिक्त मुसलमान आक्रमणकारियों से भी खतरा था। मलाबार तट के अनेक कस्बों में मुसलमान व्यापारी समुद्री मार्ग से आकर बस गये थे। कोदमागल्लूर के *अन्तिम मलाबारी शासक राजा चेरुमान पेरुमाल ने इस्लाम को स्वीकारा था। दक्षिण भारत में मन्त्रियों* सेनानायकों और कर उगाहने वाले पदों पर नियुक्त मुसलमान भी मस्जिदों का निर्माण कर रहे थे। शंकराचार्य ने सर्वप्रथम मीमांसकों के मिथ्याचार एवं हठधर्मिता से लोहा लिया। शंकर ने वैदिक कर्तव्य व्यवस्था एवं विशुद्ध ज्ञान का समन्वय स्थापित किया। यह समन्वयवाद दक्षिण की संस्कृति का आधार है। शंकर ने ब्राह्मण मठ स्थानों की नींव रखी—शृंगेरी, गोवर्धन, द्वारका, बद्रीनाथ। शंकर ने वैदिक ज्ञान के सन्दर्भ में शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति एवं विशेषाधिकारों की समानता पर जोर दिया। भारतीय संस्कृति में सुधार की यह प्रक्रिया—यदि शंकर जीवित रहते तो आगे बढती।

द्रविड संस्कृति में शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति एवं विशेषाधिकारों की समानता की एक झलक, शंकराचार्य के इस सुधार में मिल सकती है। स्त्रियों को आद्या शक्ति के रूप में देखने एवं उन्हें समान अधिकार दिलाने की परम्परा वहीं से शुरू हुई है। शिलप्पदिकारम एवं मणिमेखलई में तात्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति का सुन्दर वर्णन है।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब उत्तर भारत तुर्क अफगान आक्रमणकारियों के विनाशकारी आक्रमणों से त्रस्त था, उसी समय दक्षिण में गौरवशाली राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण हो रहा था। राजराज चोल (९८५-१०१८ ई०) ने तंजौर का शासन भार ग्रहण किया था। उनके काल में तमिल साम्राज्य शीर्ष पर पहुंच गया। इसके समुद्रीय साम्राज्य का विस्तार श्रीलंका, निकोबारद्वीप समूह मलय प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह तक था। इसी युग में दक्षिण भारत के विशाल एवं वैभवशाली वर्गाकार शिव मन्दिरों का निर्माण हुआ। इसी युग में प्रेम और धर्मनिष्ठा से परिपूर्ण तमिल साहित्य एवं संस्कृति का प्रसार श्रीलंका, जावा, कंबुज तक हुआ। दक्षिण पूर्वी एशिया में द्रविड संस्कृति के प्रसार के उद्घोषक पगान, बोरोबुदुर, और अंगकोर वाट थे।

द्रविड सस्कृति प्रबल एव बन्धनमुक्त रही। उसमे धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता, अमूतता एव गीतात्मकता का अपूव समन्वय था। द्रविडो की मूर्ति कला की भव्य आत्मा के दर्शन बादामी, एलोरा, एलीफेंटा मे शिव के अलौकिक वैभव एव निर्लिप्तता मे होते हैं।

द्रविड मन्दिरो के गोपुरम मे धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक दृश्य परत पर परत अर्द्धोत्कीर्ण शिल्प मे बने हैं—इनके पीछे धारणा है कि देवता सव-व्यापी हैं। मन्दिरो के भीतर विमानो मे विशाल लिंगम् अथवा क्षीरसागर मे विश्राम करते शेषशायी विष्णु की विशाल मूर्तिया हैं—ये दोनो ही ईश्वर की पारलौकिकता की प्रतीक है। सुन्दरतम कास्य-मूर्तियो को चोल साम्राज्य के वैभव शाली समय मे गढा गया था। चोल राजाओ के गौरवशाली युग मे बने भव्य मन्दिरो मे प्राचीन सस्कृति सुरक्षित है। द्रविड सस्कृति मे नृत्य सगीत और साहित्य को समान महत्व दिया गया है। 'इयल' 'इसै' 'नाटकम्' की अवधारणा के पीछे यही आग्रह है। तमिल का साहित्य बहुत पुराना है। तमिलो की नृत्य सगीत की अपनी अलग परम्परा रही। द्रविडो के वाद्य और गायन दोनो ही पूण विकसित रूप मे बढे होगे। चोल साम्राज्य के दौरान निर्मित मन्दिरो मे बने बडे मच, खुले प्रागण सगीत एव नत्य की उसी वैभवशाली परम्परा के प्रमाण हैं। विभिन्न देवताओ की प्रिय नृत्य शैलियो की चर्चा भी तमिल साहित्य मे उपलब्ध है। शिलप्पदिकारम् मे इसी नाट्य तत्व का पूण विकसित रूप मिलता है। मच, अभिनेता, गायक, वादक का विपद विवरण उस ग्रन्थ मे मिलता है। प्रत्येक मन्दिर मे कई नतकिया, गन्धव कन्याएँ रहा करती थी। कालातर मे द्रविड सगीत मे बाहर का प्रभाव पडने लगा। आज सगीत और नत्य का जो रूप है—वह द्रविड एव आय सस्कृति का सम्मिलित रूप है। पर यह द्रविड सस्कृति की ही विशेषता है कि सगीत, एव नृत्य दोनो राज्याश्रित होते हुए भी धम एव अध्यात्म से सम्बन्धित रहे। नृत्य सगीत को यह सम्मान द्रविड सस्कृति मे ही दिया गया। इस्लामी राजाओ ने साहित्य नत्य, सगीत को राज्याश्रयी बनाया। पर तुलसी, सूर, मीरा जैसे—सत कवि भी रहे जिन्होने 'सन्तन को कहा सीकरी से काम' का नारा बुलन्द किया। यह निश्चित रूप से दक्षिण की भक्ति-सस्कृति के पुनर्जागरण का परिणाम है।

सातवी से नवी शताब्दी के बीच दक्षिण मे भ्रमणशील भजनीको अथवा आलवारो का प्राधान्य रहा। इन्होंने प्रेममय एव कोमल, मानवीय तथा दैवी भावना धारा को जन्म दिया। इस धारणा मे उत्तर का सतप्त मानस युगो तक आप्लावित और शीतल होता रहा। इस धारा के कारण भी शिव और कृष्ण की अनेक सुन्दर प्रेममय मूर्तियाँ बन सकी हैं। उदाहरण है, कला और साहित्य के सरक्षक शिव तथा सपनत्य मे लीन कृष्ण की मूर्तियाँ। आलवार वास्तव मे रामानुज परम्परा के सच्चे सदेश वाहक थे। सबसे प्रसिद्ध आलवार थे 'नम्माळ्वार'। 'तिरुविरुत्तम' मे ईश्वर के प्रति असीम प्रेम का समावेश है।

आल्वारो ने ईमानदार धम को ही नही स्वीकारा, बल्कि, साथ ही ब्राह्मण धर्म, पुजारी वचस्व एव वण-व्यवस्था को अस्वीकार किया। आलवारो ने इसी बात पर जोर दिया कि परमात्मा की कृपा सभी जीवो पर समान भाव से होती है भले ही जन्म कैसे भी हुआ हो, और जीवन मे उनकी कोई भी स्थिति हो। आलवार धम मे सावभौम मुक्ति को स्थान था। इसी परम्परा का आगे चलकर रामानन्द से लेकर कबीर तक पर प्रभाव पडा। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध ज्ञानपीठ काची मे 'श्रीमद्भागवतम्' की रचना नवी शताब्दी के दौरान हुई। इस ग्रन्थ का प्रभाव उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन पर पडा। इसका महत्त्व एव प्रभाव 'भगवदगीता' से भी अधिक था। मध्ययुग मे इसे 'महाभागवत' कहा जाने लगा। उत्तर मे जब महमूद गजनवी आध्यात्मिक जडो को हिला रहा था, तब अन्तिम सत नम्मालवार के उनके शिष्य नाथमुनि ने प्रबन्धो का सग्रह किया। ये प्रबन्ध आज भी दक्षिण मे गाये जाते हैं। इनका पाठ वृन्दावन के

दाक्षिणात्य मन्दिरों मे होता है। 'दिव्यप्रबन्ध' का हिन्दी अनुवाद शांतिनिकेतन से छपा है। इसी समय वैष्णवों और शैवों का पारस्परिक अन्तर समाप्त हो गया। हरिहर देवता बने। दक्षिण का समन्वयवाद एक बार फिर उभर कर आया। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत ने समकालीना को कई अर्थों म प्रभावित किया। मानव के प्रत्येक कार्य, प्रेम, सहयोग और सेवा मे सभ्यता और धर्म का समावेश हो जाता है। नाथमुनि और उनके पौत्र आलवन्दार ने भी, जिन्होंने दक्षिण की आलवार परम्परा मे पाचरात्र का समावेश किया, विशिष्टाद्वैत को बहुत प्रभावित किया था। रामानुज का विशिष्टाद्वैत उत्तर भारत के पुराने भागवत धर्म तथा दक्षिण भारतीय आलवारो के भावोन्माद के सम्मिलन का फल है। शंकर के समान उन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की। बनारस, अयोध्या, द्वारका, जगन्नाथ, बदरी, केदार भी गये। वे जात-पांत से ऊपर थे और उनके शिष्य अधिकांश अब्राह्मण थे। वैष्णव धर्म द्रविड प्रदेश मे शांति के साथ फैल गया। इसके कारण थे—तमिल प्रबन्धो के अध्ययन और प्रसार, मन्दिरो मे उत्सवो की प्रथा, अब्राह्मणो को वेदपाठ तथा उच्च धर्मावलम्बियो के जाति चिन्हो और जीवन पद्धति को अपनाने का अधिकार समान भाषा तथा धर्म से समानता, ईश्वर के मन्दिर मे पंचमो के प्रवेश की अनुमति।

निंबार्क, लोकाचार्य, वेदांत-देशिक ने इस मत को आगे बढ़ाया। १३वीं सदी मे दक्षिण मे रामानन्द का जन्म हुआ। रामानन्द ने उत्तर भारत मे एक सामाजिक, धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया, जो कई दृष्टियों मे बौद्धधर्म के समान था। इस आंदोलन ने जात पांत, के बंधनो, कर्मकांडो को उखाड दिया और सभी जातियो को शिष्यत्व प्रदान करने तथा धर्म प्रचार के लिए जनभाषा के प्रयोग का सूत्रपात किया। हालांकि दक्षिण मे एक जैन राजा के प्रधान मंत्री बसव ने भी शैवमत मे सुधार किये थे। जात-पांत का भेदभाव समाप्त कर दिया। जीवो को समान सामाजिक स्थिति प्रदान की। पर रामानन्द ने इसकी सही ढंग से शुरुआत की। शंकर के धर्म सुधार का प्रभाव बौद्धिको पर हुआ तथा दार्शनिक मतो, संस्कृत विद्यापीठों पर हुआ। पराजित और निराश उत्तर भारत को सुधार की प्रेरणा, पुनर्जागरण का संदेश दक्षिण से मिला। स्त्री शक्ति आंदोलन के रूप मे कभी शंकर के अद्वैत ज्ञान के रूप मे, फिर फिर टूटती आस्था को सहेजने मे द्रविड संस्कृति एवं द्रविड मतो का योगदान महत्वपूर्ण रहा।

रामानन्द का उत्तर भारत मे जो भक्ति आन्दोलन चलाया गया उसके परिणामस्वरूप हिन्दू मतो की ईश्वरवादी प्रवृत्ति, सामाजिक समता का आंदोलन एवं स्वदेशी भाषाओं के साहित्य का उत्थान—ये तीन व्यापक परिणाम हुए। रामानन्द ने तमिल संतों की रहस्यवादी भक्ति विशिष्टाद्वैत, प्रपत्ति सिद्धांत और ईश्वर का आसक्तमुक्ति प्रेम व महत्ता पर विश्वास—इन्ह उन्होंने दक्षिण की संस्कृति से ग्रहण किया। किन्तु दक्षिण की जाति रूढिवादिता के खिलाफ आवाज उठायी। यह रूढिवादिता वहां आज भी कम नही है। जब कि कहने को भारतीय संस्कृति अब मुक्त होने लगी है। विविधता में एकता का समन्वय तथा रूढिवादिता का विरोध—कला साहित्य की अभिरुचि द्रविड संस्कृति की देन है।

उत्तर में हिन्दू धर्म और संस्कृति को मुसलमान आक्रमणकारियो न जितनी क्षति पहुचायी थी उसे देखकर रामानन्द की समन्वयात्मक बुद्धि फौरन जगी। भक्ति का संदेश जनभाषा मे रखा जाने लगा। संस्कृत से हिन्दी और मिली जुली भाषा का जोर बढ गया। राम भक्ति की पुनः स्थापना की। राम भक्ति शाखा, कृष्ण भक्ति शाखा और सहज नाथ सम्प्रदाय तीनो का प्रसार बढा। नाथ सम्प्रदाय ने कबीर के साथ मुसलमान और अछूतो को इस शाखा ने प्रभावित किया। इस दौरान कुछ महत्वपूर्ण सुधार हुए—समाज मे जाति पाति के बन्धन की समाप्ति, पुरोहितवाद का उन्मूलन, पारिवारिक जीवन मे एक विवाह-प्रथा, शरीर की परिशुद्धि। रामानन्दी परम्परा मे आगे चलकर म्लेच्छो ने भी शिष्यत्व स्वीकारा और

हिन्दू मुसलमान संस्कृति का परस्पर आदान-प्रदान भी इसी दौरान हुआ। रामानन्द के कारण भक्ति आंदोलन तमिलनाडु से उत्तर भारत मे तथा द्रविड समन्वयवाद का प्रभाव उत्तर भारत पर बढा।

गुप्त साम्राज्य के दौरान भारत मे जिस सास्कृतिक आदोलन का सूत्रपात हुआ वह फिर समाप्त नही हुआ। संस्कृति बौद्ध न रहकर ब्राह्मण हो गयी। दक्षिण के चालुक्यो, राष्ट्रकूटो और पल्लवो ने इस संस्कृति और कला की उपलब्धियो को आगे बढाया। इस काल की उपलब्धियां अजन्ता एलोरा, बादामी, ऐहोल, पट्टपटल तथा मामल्लपुरम् मे हैं। वहाँ मूर्तिकला मे दक्षिणी शैली मे शरीर और उसके अगो की सघनता है। दक्षिण भारतीय मूर्तिकला की चेतामय तरगीयता—अमरावती, सांची के दक्षिणी तोरणद्वार से मिलती है। गुप्त काल के पश्चात ब्राह्मण पुनरुत्थान मे अनेक स्तरो पर आर्य एव दक्षिणापथ की संस्कृतियो के सम्मिलन को ग्रहण किया गया है। इसमे लिंगम् और योनि, पशुपति रुद्र और माता देवी के प्राचीन मतो, योग की पवित्रता, वेदात के अद्वैत सब का समन्वय है। एलिफेंटा की उत्कृष्ट प्रतिमाए इन दोना संस्कृतियो की आध्यात्मिक व कलात्मक परम्पराओ के समन्वय की प्रतीक हैं। इनमे दक्षिणी रूपो की विशालता, भारीपन और सतत सक्षमता के साथ आर्यावर्त के मदिरो की प्रतिमाओ के उदात्तीकरण और सूक्ष्म बनावट का सम्मिश्रण है।

रूपविधान की दृष्टि से दक्षिणी कला की विशेषताओ ने गुप्तोत्तर काल की मूर्तिकला को विशेष प्रभावित किया। मध्ययुगीन भारतीय मूर्तिकला मे धार्मिक प्रतीकात्मक एव रूपात्मक मूर्तिकला सम्बन्धी मूल्य हावी हैं। उत्तरी एव दक्षिणी संस्कृति की अदभुत समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है। उमा सहित शिव प्रतिमाएँ पल्लव कला की विशेषता है। जिसका प्रभाव देवगढ तथा सुदूर इडोनेशिया मे भी मिलता है। शिव पार्वती के विवाह की मूर्तिया एलोरा एलीफेंटा मे भी मिलती हैं। शिव की बाई जघा पर बैठी देवी—दक्षिणी शैली की पवित्रता, मधुरता एव कमनीयता की द्योतक है। शकराचार्य की आनन्दलहरी मे शिव के अक मे बैठी त्रिपुर-सुन्दरी का चित्रण है। शिव नटराज की मूर्ति दक्षिणी संस्कृति की देन है। नटराज की अप्रतिम मूर्तिया उज्जैन मे, नीलकठ उदयेश्वर आदि उत्तर के मदिरो मे हैं।

गुप्त तथा गुप्तोत्तर कालीन चित्रकला एव मूर्तिकला को भगिमा और गत्यात्मक चेतना के गुण नृत्य कला मे मिले थे। नृत्यकला उस समय सारे देश मे, विशेषकर दक्षिण मे, लोकप्रिय रही। उसे सामाजिक उपलब्धि भी माना जाता था और मदिरो या उत्सवो मे धार्मिक संस्थाएं भी मान्यता देती रही। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि ने एक सौ आठ नृत्य मुद्राओ का वर्णन किया है। शिव नटराज के प्रख्यात आसन चिदम्बरम गोपात्राओ मे इन मुद्राओ की मूर्तिया हैं। खजुराहो, कोणार्क तथा भुवनेश्वर की मूर्तिकला मे इसी काव्यात्मक चेतना के दर्शन होते हैं। दक्षिण मे आर्य संस्कृति के प्रचारक अगस्त्य ने दक्षिणी संस्कृति से प्रभावित होकर तमिल का वृहत व्याकरण अगस्तायम ही नही बल्कि द्रविड संस्कृति मे नृत्य सगीत एव कला के महत्व से प्रभावित होकर प्रतिमा कार्य पर एक ग्रथ 'सकलाधिकारम' भी लिखा था।

सक्षेप मे भारतीय संस्कृति मे जो नमनीयता और उदारता मिलती है और उसे देश के भीतर व बाहर की संस्कृतियो को आत्मसात करने मे जो सफलता मिली उसका कारण यह समन्वयवाद है, जिसके तहत रूढिवादिता को नही बौद्धिक, आध्यात्मिक परम्पराओ तथा सामाजिक धार्मिक मूल्यो को बल मिला है। तमाम विभिन्नताओ के बावजूद आधारभूत एकता के प्रति दृढ विश्वास है। इसका इतिहास सिद्ध सास्कृतिक सयोजन जिसमे धर्म पुराण काव्य, मदिर, कला उत्सव, सगीत तीर्थयात्रायें है इसी दृढ विश्वास के आधार हैं। यहा का आदर्श शस्त्र प्रयोग द्वारा एक साम्राज्य की स्थापना नही बल्कि समृद्धि और अनु-

मिथक कथाएं : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

डॉ० उषा पुरी

हिन्दी मे 'मिथक' शब्द का प्रयोग स्व० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की देन है। यह अंग्रेजी के मिथ शब्द पर आधारित न रहकर संस्कृत के 'मिथ' से बना है। संस्कृत मे 'मिथ' का अभिप्राय प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये भी होता है, तथा दो तत्वो के परस्पर मिलन के लिये भी। 'मिथक' के रूप में भौतिक अर्थात प्रत्यक्ष ज्ञान तथा अध्यात्म तत्त्व का सम्मिलित रूप दिखलाई पड़ता है। अंग्रेजी का 'मिथ' कोरी कल्पना का द्योतक है। भारतीय मिथक साहित्य का अभिप्राय अलौकिकता का पुट लिये हुए लोकानुभूति बनाने वाली कथा से है।

प्रत्येक देश मे मिथक साहित्य विद्यमान है। लन्दन यूनिवर्सिटी के डा० पामेल एल० रोबिन तथा कलकत्ता के Geological studies की खोज के अनुसार यह मान लिया गया है कि आज से सात करोड़ वर्ष पूर्व ससार के समस्त महाद्वीप जुड़े हुए थे। तब सबने अनेक घटनाएं एक साथ झेली थी—जैसे प्रलय, सृष्टि रचना, आदि जिनका अकन प्रत्येक देश के मिथक साहित्य मे विद्यमान है। भले ही नोहा, मनु, नूह आदि अलग अलग नामो के साथ वे विख्यात हुई। धीरे-धीरे महाद्वीपो की भौगोलिक विलगता के साथ साथ प्राकृतिक परिस्थितियो से समझौता करते हुए सबकी सभ्यता, संस्कृति, रहन सहन मे अन्तर आता गया अत मिथको का रूप भी बदलता गया।

भारतीय मिथक परम्परा का श्रीगणेश ऋग्वेद से हुआ। वेदो की प्राचीनता सार्वभौमिक है। वेदो से लेकर उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण बौद्ध तथा जैन धर्म तक के साहित्य मे भारत के मूलभूत मिथक विद्यमान हैं। यह साहित्य मनुष्य को मृत्यु के भय से दूर रहकर कार्य करने का आदेश देता है। कर्मफल और भाग्यवादिता का सिद्धान्त मानव मात्र को निर्भीकता पूर्वक सुकर्म मे लगे रहने का उपदेश देता है—निष्क्रियता का नही। जो कर्मफल भाग्य मे लिखा है वह तो होगा ही फिर, भय के कारण गलत मार्ग की ओर बढने से क्या लाभ ?

प्रत्येक देश का मिथक साहित्य उसकी सास्कृतिक निधि को सजोकर रखता है। यहा संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करना परम आवश्यक है। बाह्य, आचार-विचार व्यवहार सभ्यता कहलाती है। किन्तु संस्कृति का अभिप्राय है—प्रकृति के विभिन्न तत्वो का अपनी इन्द्रियो हृदय और बुद्धि से परिष्कार करना। अत सामाजिक, व्यक्तिगत मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे जितनी विभूतिया हैं सब संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं। मनुष्य ही संस्कृति मे जुटता है—पशु पक्षी प्रकृति को ज्यो का त्यो भोगते है। मनुष्य, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि के विभिन्न क्षेत्रो मे जितना भी विकास करता है उसकी मिथक कथाओ मे उसकी झलक सदैव सुरक्षित रहती है। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम निधि होते हुए भी सबसे समृद्ध है। विदेशी संस्कृतियो का प्रभाव हमारी संस्कृति पर कई बार पड़ा किन्तु धीरे-धीरे वे सब हमारी संस्कृति मे ही डूब गई ऐसे उदाहरण किसी अन्य देश मे देखने को नही मिलते। भारतीय मिथक साहित्य म वे सब पूर्ण

औपनिषदिक साहित्य म अनेक कथाए दार्शनिक तथ्यावन करती हैं। पिप्पलाद की कथा (दे०-प्रश्नोपनिषद) ब्रह्म जीव जगत पर प्रकाश डालती है। नचिकेता भौतिक सुखो की नि सारता (दे० कठ०) पर। सुकेशा (प्रश्न०) के माध्यम से सोलह कलाओ से युक्त पुरुष का अकन है। वरुण और भृगु का वार्तालाप (दे० तैत्तिरीय) ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करता है। छादोग्योपनिषद मे अकित बृहस्पति की कथा इ द्रियो की नश्वरता को उजागर करती है। स्मृति ग्र थ जीवन के आचार विचार धमशास्त्र, आश्रम, वर्ण, राज्य और समाज परक अनुशासन का अकन प्रस्तुत करते हैं तथा वेद और उपनिषदो मे निगु ण परम सत्ता की मा यता है। महाभारत काल तक वैचारिक मतभेद बढ गया था।

चार्वाक जैन और दर्शनवादी कमकाड की अतिशयता को वैदिक मानकर हिंसावादी बलि इत्यादि का विरोध करने के कारण वेदो मे अनास्था प्रकट कर रहे थे। जैन और बौद्ध दर्शन जीवन को अहिंसा से जोडकर व्यावहारिक मोड देने के पक्ष मे थे—चार्वाक दर्शन म सुख पूवक जीवन व्यतीत करने का आदेश था—

यावज्जीवेत सुखजीवेत् ऋणम कृत्वा घृतम् पिबेत
भस्मो भूतस्य देहस्य पुनरागमनम कुत ।

ये तीनो दशन नास्तिक कहलाए—वद मे आस्था न होने के कारण। समाज का दूसरा वग वेदो मे आस्था रखे आत्मा परमात्मा की अलग अलग ढग से व्याख्या कर रहा था। उनकी सख्या छह थी अत वे षड्दर्शन कहलाए। शकराचाय ने अद्वैतवाद के रूप मे वैदिक परम्परा की पुनर्स्थापना की। फलस्वरूप शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा द्वैत नामक दर्शनो की स्थापना हुई। हि दी साहित्य के भक्तिकाल मे इन सबका विशेष प्रसार हुआ—सभी के रूप भारतीय मिथक साहित्य मे आरक्षित हैं। दाशनिक परपरा ने भारतीय समाज की चि ताधारा पर आध्यात्मिक अकुश लगाये रखने का काम किया और आज भी कर रही है। वह भी शाश्वत है।

दशन के आधार पर ही भक्ति का विकास होता है। **दशन के विविध रूपो के साथ साथ भक्ति के विविध रूपों का भी सु दर अकन प्रस्तुत साहित्य मे विद्यमान है।** जब मनुष्य अपनी शक्ति को सीमित मान लेता है—तभी वह असीम ब्रह्म का सहारा लेता है। मिथक साहित्य मे असीम ब्रह्म को अनेक रूपों मे अकित किया गया है। निगु ण भी वही है—सगुण भी वही है। भौतिक जगत मे उसका प्रतिनिधित्व देव और देवता करते है। वह निगु ण ब्रह्म सवव्यापक सर्वोपरि है। मानव भौतिक स्तर पर है। अत आत्मा से युक्त मानव तथा परमात्मा के मध्यवर्ती देवगण है।, विभिन्न देवता अनेक अवतार लेते हैं। कितने ही लोग सद्जीवन बिता कर देवता कहलाने लगे।

निगु ण ब्रह्म सूक्ष्म है—मानव भाव भी सूक्ष्म है। भावो की अभिव्यक्ति के लिये भाषा बहुत अशक्त माध्यम है। ज्यो ज्यो भावो की गहराई बढती जाती है भाषा को तरह तरह के साधन जुटा कर सशक्त बनाना पडता है। मिथक कथाए एसी सूक्ष्म भावनाओ को प्रतीको के माध्यम से उभारती हैं। अत मिथको मे देवताओ के रूप से लेकर क्रियाकलाप तक सभी कुछ प्रतीकात्मक है।

भारतीय समस्त देवताओ का रूप वाहन सभी कुछ प्रतीकात्मक है। आज के परिप्रेक्ष्य म भी उसकी महत्ता है। यदि हर क्षेत्र का एक एक उदाहरण दू तो अपना मत स्पष्ट कर पाऊ गी। देवताओ म सबसे विचित्र रूप गणेश का है।

गणेश

गणेश सब की बाधाओ का हरने वाले देवता माने गये हैं। उनका स्वरूप अद्भुत है। हाथी का मुख, छोटी छोटी आँखें, सू ड और बडे बडे काना से युक्त होने के कारण ही वे गजानन कहलाते हैं। हाथी

शाकाहारी होता है, गणेश भी शाकाहारी हैं। वह बुद्धिमान जानवर माना जाता है। हाथी के समान चौड़ा मस्तक गणेश की बुद्धिमत्ता का प्रतीक है। हाथी के समान बड़े बड़े कान इस बात की ओर संकेत करते हैं कि गणेश छोटी से छोटी पुकार को जरा सी आहट को, सुनने समझने मे समर्थ हैं। हाथी की आँखें बहुत दूर तक देख सकती हैं, सो गणेश भी दूरदर्शी हैं। हाथी की सूंड की यह विशेषता प्रसिद्ध है कि जिस सहजता से वह बड़ी बड़ी चीजें उखाड़ती है, उतनी ही सरलता से वह सुई उठाने मे समर्थ रहती है। साधारणत एक सशक्त पहलवान छोटी वस्तु को उठाने की सूक्ष्मकर्मी वृत्ति से वंचित हो जाता है किन्तु गणेश जिस दक्षता से सूक्ष्म कार्य करते हैं, उसी निपुणता से स्थूल कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। सूंड, लम्बी नाक बुद्धि की प्रतीक है। साथ ही वह 'नाद ब्रह्म' की प्रतीक भी है। गणेश की चार बाहु उनकी चारों दिशाओं की पहुँच की ओर संकेत करती है। देह का दाहिना भाग बुद्धि तथा अहम् से युद्ध युक्त रहता है जबकि बाईं ओर हृदयपक्ष की स्थिति मानी गयी है। गणेश के दाहिने ऊपर के हाथ का अंकुश इस बात का प्रतीक है कि वे सांसारिक विघ्नों का नाश करने वाले देवता हैं। दाहिनी ओर का दूसरा हाथ सबको आशीर्वाद देता दिखलाई पड़ता है। बाईं ओर के एक हाथ मे रस्सी है जो कि प्रेम (राग) का पाश है जिसमे बाँध कर गणेश भक्तों को सिद्धि के आनन्द तक पहुँचा देते हैं। आनन्द का प्रतीक मोदक (लड्डू) है जो कि उनके दूसरे बाएँ हाथ में रहता है। रस्सी को इच्छा और अंकुश को ज्ञान का प्रतीक भी माना गया है। उनका बड़ा पेट इस बात का प्रतीक है कि वे सब के रहस्य पचा लेते हैं। उनकी इधर से उधर बात करने की प्रवृत्ति नहीं है। उनका एक ही दांत है। वही हाथी के दांत जैसा दांत—समस्त विघ्न बाधाओं को नष्ट करने मे समर्थ है। मुख में एक ही दांत का रह जाने का कारण इस प्रकार विख्यात है। एक बार शिव पार्वती कन्दरा मे सो रहे थे। गणेश द्वार रक्षा का कार्य कर रहे थे। परशुराम शिव से मिलने वहाँ पहुँचे। गणेश के मना करने पर उन्होंने प्रहार कर उनका एक दाँत तोड़ दिया। किन्तु वे गुफा मे फिर भी नहीं जा पाये। गणेश प्रहार का उत्तर देना अनुचित समझते थे क्योंकि प्रहार करने वाले वृद्ध ब्राह्मण थे। यह तथ्य इसका प्रतीक है कि वे सिद्धान्त और कर्त्तव्य की सिद्धि के लिये हर प्रकार का कष्ट उठाने को तैयार रहते हैं। उनका श्वेत वर्ण सात्विक भाव का प्रतीक है। उनका वाहन चूहा है। चूहे की पहुँच व्यापक है—गणेश जी भी सर्वत्र पहुँचने मे समर्थ हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी देवताओं की स्वरूपगत प्रतीकात्मकता मिथक साहित्य की अभूतपूर्व निधि है।

मिथक साहित्य मे हीन प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करने के निमित्त राक्षस-चरित्रों की योजना की गयी है। दैवीय शक्ति मनुष्य की रक्षा और पालन करती है तो आसुरी शक्तियां उसके मार्ग की बाधा बनती हैं। वे शक्तियां काम, क्रोध, लोभ, मोह से प्रेरित हीन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती दिखलाई गई हैं।

राक्षसों के स्वरूप भय, क्रूरता, अनैतिकता और दंभ के प्रतीक हैं। अच्छाई और बुराई का समावेश तो सभी मे रहता है—चाहे वह देव हो या दानव। अन्तर केवल अनुपात का है। दस सिरों से युक्त होने के कारण लंकेश रावण दशानन नाम से विख्यात हुआ। रावण का जीवन सुन्दर ढंग से प्रारम्भ हुआ। पिता विश्रवस् से उसने चार वेद तथा छह वेदांगों की शिक्षा ली। जितनी निपुणता एक व्यक्ति एक मस्तक से एक जीवन मे प्राप्त करता है, उससे दसगुणी निपुणता दसों ग्रंथों मे रावण को प्राप्त थी—अतः उसके दस सिर उसकी दसगुना बुद्धि और ज्ञान के प्रतीक हैं। केवल बुद्धि का विकास व्यक्तित्व का अधूरा विकास होता है—वह हृदय पक्ष से अछूता ही रहने के कारण आत्मकेन्द्रित हो जाता है। अतः रावण के दस सिर दसों दिशाओं मे फैले उसके आतंक के प्रतीक भी माने गये हैं। उस आतंक के मूल मे

आत्मसुख केंद्रित राक्षसी वृत्ति थी जो दस रूपों में विकसित हुई (१) सुख, (२) सम्पत्ति, (३) सुत, (४) सैन्य, (५) सहाय (प्रभुत्व के लिये सगठन), (६) जय, (७) प्रताप (८) शक्ति, (९) बुद्धि, (१०) बडाई—इन सबके प्रतीक दशमुखी रावण (दशानन) के दस सिर थे। राम ने उसकी प्रत्येक वृत्ति एक एक सिर के रूप में नष्ट की। स्वरूप में योग सिद्धियों का प्रतीक उसकी अमृतकुंडी नाभि है। नाभि शरीर का केन्द्र मानी जाती है।

वाल्मीकि रामायण का प्रत्येक पात्र किसी न किसी भाव का प्रतिनिधित्व कर रहा है। राम कथा सम्बन्धी प्रतीकात्मकता इस प्रकार है —

कथा के पात्र	प्रतीक	कथा के पात्र	प्रतीक
राम	शुद्ध प्रकाश (आत्मा)	रावण	अहंकार
	(माया से असपृक्त)	सुमित्रा	शील
अयोध्या	देह	जनक	वेद
दशरथ	कर्म	जनकपत्नी	उपनिषद
कौशल्या	प्रारब्ध	वैदेही (सीता)	आत्म विद्या
लक्ष्मण	सतीत्व	अग्नि परीक्षा	ज्ञानाग्नि
भरत	सयम	अहिल्या	जडवृत्ति
शत्रुघ्न	नियम	गौतम	स्थिरता
विश्वामित्र	तप	सुग्रीव	विवेक
यज्ञ	एकाग्रता	हनुमान	प्रेम
मारीच	कपट	जामवत	विचार
सुबाहू	क्रोध	अगद	धैर्य
ताडका	कलह	नल-नील	शम दम
मिथिला	सत्सग	बाली	प्रमाद
परशुराम	चित्त	सपाती	निष्काम
कैकेयी	द्वैत भाव	मेघनाद	काम
मदोदरी	चातुर्य	वशिष्ठ	विज्ञान
राक्षसी सेना	आसुरी वृत्ति	सुतीक्ष्ण	धारणा
वानर सेना	दैवी वृत्ति	अगस्त्य	योग
वन	वैराग्य	सूपणखा	ईर्ष्या

एक बार देवताओं और असुरों ने शेष नाग को रस्सी और सुमेरु पर्वत को मथानी बनाकर समुद्र मथन किया। फलत उन्हें क्रमश कामधेनु वारुणी देवी, पारिजात, अप्सराएँ, चन्द्रमा, लक्ष्मी, धन्वन्तरी अमृत की प्राप्ति हुई।

यह कथा जनसाधारण की मानसिक गतिविधि का प्रतिनिधित्व करती है। समुद्र-मन्थन के लिये दूसरा नाम 'मानस मथन' है। मानस' का अभिप्राय है हृदय। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अच्छी और बुरी दोनो वृत्तिया विद्यमान होती हैं। जिस प्रकार की भावना अधिक हो, उसी प्रकार का मनुष्य बन जाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि देवता और दानव एक ही पिता की सतान थे—जिनका नाम कश्यप था। ठीक इसी प्रकार अच्छी बुरी दोनो प्रवृत्तिया किसी भी मनुष्य के हृदय में हो सकती है। जबतक वे

क्रियाशील नही होतीं हृदय की स्थिति शान्त क्षीरसागर की तरह रहता हैं। जब वे कुछ प्राप्त करना चाहती हैं तो हृदय की शांति भग हो जाती है और वह अनेको विचारों के थपेडो से मथा जाने लगता है। इस श्रम से जो खीझ, उद्वेलन, उत्पन्न होता है, वह उस विष के समान है जो शिव ने शान्त किया। *अर्थात काम मे लगी कल्याणकारी भावनाएँ कठिन परिश्रम की खीझ को, पी जाती हैं।* पहली उपलब्धि कामधेनु की होने से अभिप्राय है—अनेक इच्छाओ का जागृत होना तथा उन्हे तृप्त करना। कामधेनु इच्छाओ को तृप्त करने वाली मानी जाती है। मानसमथन से दूसरी वस्तु 'वारुणी देवी' नामक सुन्दर नारी, तीसरी वस्तु पारिजात पुष्प या वृक्ष, फिर अप्सराएँ प्रकट हुईं जो कि नृत्य और सगीत मे लीन थी। ये प्रतीक इस ओर सकेत करते हैं कि मानसमथन की प्रक्रिया मे आँख (सौन्दय) नाक (सुगन्ध पुष्प), कान (सगीत) त्वचा, (अप्सराएँ) आदि समस्त इन्द्रियो के विषय बार बार हृदय मे उद्वेलन उत्पन्न करते हैं। उद्वेलन की शाति के लिए कोई न कोई चन्द्रमा की तरह शीतलता प्रदान करने वाला व्यक्तित्व प्रकट होता है। मानसिक ऊहापोह के उन क्षणो मे शान्ति प्रदान करने वाले तत्व का स्वागत कल्याणकारी प्रवृत्ति ही करती है जैसे शिव ने चन्द्रमा को ग्रहण किया। विष उन बुरे विचारो का प्रतीक हैं जो सबका नाश कर सकता है। कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ उसका कडवा घूँट पीकर भी शान्त रहती हैं। ताकि विवाद और त्रास न बढे। किन्तु लक्ष्मी (धन) की चमक दमक भला किसे मोहित नही कर लेती, तो विष्णु और देवताओ के प्रतीक रूप मे मनुष्य की सुवृत्तिया धन की चकाचौंध म अपना कतव्य कम भुला बैठती हैं। ऐसे क्षणो म कुवृत्तिया अमृत (सार तत्व) का भोग करके पुष्ट होने का प्रयास करती हैं। दूसरो शब्दो मे कत्तव्यपथ से भटका हुआ मनुष्य जीवन के सार तत्व (अमृत) को खोता देख टेढी अगुली से घी निकालने के लिये तैयार हो जाता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण विष्णु ने सुन्दरी मोहिनी का रूप धारण करके किया। अमृत की प्राप्ति ने इतना मस्त कर दिया कि वे देवताओ के वेश मे छिपे हुए 'राहु' को भी कुछ बूँदें थमा गए। ज्ञान के प्रकाश से युक्त सूय और चन्द्रमा ने अज्ञान का अन्धकार हटाकर 'मोहिनी' रूपी विष्णु को बताया तो विष्णु ने राहु का सिर सुदर्शन-चक्र से काट डाला। पर अमृत पीकर वह भला कहा मर सकता था, अत उसका सिर राहु और धड केतु नामक राक्षस के रूप मे जाग उठे। उनकी सूय और चन्द्रमा से शत्रुता है।

तात्पय यह कि मनुष्य की कोई बुरी वृत्ति कभी कभी बहुत पनप जाती है। मनुष्य जागरूक हो तो उस वृत्ति को नष्ट करने का प्रयास करता है किन्तु—जो बुराई बहुत पनप चुकी हो, वह बार बार उभरती है, कभी कभी समझ और ज्ञान के प्रकाश को वैसे ही ढक देती है जैसे राहु केतु चन्द्रमा और सूय के प्रकाश को ढक लेते हैं—पर अच्छी वृत्तियों का विकास उन्हे बार बार दबा देता है, वैसे ही जैसे सूय और चन्द्रमा का प्रकाश अज्ञान के अन्धकार को बहुत देर तक टिकने नही देता।

मिथक साहित्य में सगीत का चरम विकास दर्शनीय है। आज भी हम सगीत के उस रूप से ऊपर नही उठ पाये हैं। भारतीय सगीत का प्रत्येक राग सूय की उभरती और डूबती किरण से जुडा है। किसी अन्य देश का सगीत इस विशेषता से युक्त नही है। इससे जुडी एक प्रसिद्ध कथा है। वतमान युग मे विद्यार्थी प्राय अपने गुरु से अपने को अधिक समझदार मानकर चलते हैं। नारद सगीतज्ञ थे। उनका चित्राकन खडताल तथा वीणा के साथ ही किया गया है। विख्यात है कि उन्होने तुम्बुरु ऋषि से सगीत शिक्षा प्राप्त की। अद्भुत रामायण मे एक कथा है।

'सगीत शिक्षा पाकर नारद अहकारी हो गये। उन्हे विश्वास हो गया कि वे पूण ज्ञानी हैं—वे विचारमग्न प्रसन्न चले जा रहे थे। रास्ते म उन्हे अनेक विकलाग लोग मिले। 'इतने विकलाग लोग क्यो

चले आ रहे हैं—इस उत्सुकतावश उन्होंने उनका परिचय पूछा। उन्होंने कहा—हम सब विकृत रागरागनिया हैं। नारद के अशुद्ध गायन से हमारी यह स्थिति हो गई है। हम लोग ऋषि तुम्बुरु की शरण मे जा रहे हैं। वे ही हमारा त्राण करेंगे। उनके वचन सुनकर नारद का मिथ्याभिमान नष्ट हो गया तथा वे सगीत की महिमा का गान करने लगे।

वास्तुकला का जो रूप मोहनजोदारो-हडप्पा, नालदा विश्वविद्यालय, एलोरा, अजता मे मिलता है वह अदभुत है। किन्तु इनसे भी अधिक निखरा हुआ रूप मिथक कथाओ मे उपलब्ध है।

भारत के दक्षिण मे बना 'नलसेतु' ही राम को लङ्का तक पहुचा पाया था। समुद्र पर बने उस पुल का कुछ अश आज भी विद्यमान है। महाभारत मे एक सन्दर्भ है कि कौरवो ने 'लाक्षागृह' मे पाडवों को जलाने का प्रयास किया था। लाख का वैसा घर बनाने की प्रक्रिया तो वतमान वैज्ञानिक युग मे भी सम्भव नही हो पायी है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे वनस्पति तथा आयुर्वेद का पुनरुत्थान दर्शनीय है। सस्कृति से जुडे भारतीय इस बात को जानते हैं कि प्रत्येक देवता का प्रिय पुष्प दूसरे देवता से भिन्न होता है। अत पूजा मे उनके प्रिय पुष्पो का ही प्रयोग किया जाता है। काटेदार फूल देवताओ की पूजा मे वर्जित हैं—उनका प्रयोग राक्षसो की पूजा मे होता है। प्रत्येक देवता की समिधा के लिये भी भिन्न भिन्न वृक्षो की लकडी का प्रयोग होता है। रवि के लिये मदार, सोम के लिये पलाश, मगल के लिये खदिर, अपामाग, बृहस्पति पीपल, शुक्र-उदुम्बर, शनि के लिये शमी, राहु—दूर्वा, केतु शमी अथवा व दूर्वा।

विज्ञान

महाभारत काल तक विज्ञान उन्नति के चरम शिखर पर पहुच चुका था। जो आज विश्व के अनेक अधुनातन आविष्कार कहलाते हैं उन जैसी वस्तुए उस काल मे भी थी।

'सजय दृष्टि' जिसके प्रयोग से सजय धृतराष्ट्र को महाभारत के युद्ध का हाल सुनाते थे—वह आधुनिक 'टेलीविजन' का ही दूसरा नाम था।

घटोत्कच के बताए शस्त्र तथा इन्द्र का वज्र आज प्रयुक्त होने वाले बमो के समान जान पडते हैं।

विष्णु के सुदर्शन चक्र की गतिविधि आस्ट्रेलिया के क्रीडा क्षेत्र मे प्रचलित बूमरग के समान थी। कौरवो का जन्म वतमान ट्यूब बेबीज के समान ही हुआ था।

उपचरित की एक विचित्र कथा है

'मत्स्यगधा' के जन्म की प्रक्रिया तक तो वतमान युग मे भी विज्ञान नही पहुच पाया है।

पाडवो तथा द्रौपदी को भगा देने के लिये विदुर ने एक नौका बनवायी जो कि यत्रचालित थी। अत वायु और जल के थपेडो को सहज ही सह सकती थी।[१] यम के वातानुकूल (एयरकण्डीशण्ड) कक्ष का वणन है जो न अधिक शीतल था न अधिक गम। उसकी रचना भी विश्वकर्मा ने की थी। उसे स्तम्भो के आधार से विहीन मणियो से इच्छानुसार प्रकाशित रखा जाता था।

आज के समाज मे जिस नियोग पद्धति को सन्तानोत्पत्ति के निमित्त अपना लिया गया है। महाभारत मे व्यास के माध्यम से पाण्डु धतराष्ट्र का जन्म भी वैसे ही हुआ था।

आज नारी के उत्थान की बात कही जाती है। वैदिक साहित्य मे नारी अबला नही थी उससे सम्बद्ध एक कथा है।

---

१ महाभारत-जतुगृह पव अध्याय १४०। ५-६

श्रुति, अनुश्रुति पुराण आदि ग्र थो के पारायण से स्पष्ट है कि मूलत देवत्रय की कल्पना सर्वाधिक मान्य रही है। वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश नाम से विख्यात हैं। ब्रह्मा सृष्टि का निर्माण करते हैं, विष्णु पालन तथा शिव सहार करते हैं। तीनो देवताओ के साथ शक्तिरूपा नारी का अकन भी मिलता है। पराशक्ति ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश को क्रमश सरस्वती, लक्ष्मी तथा गौरी प्रदान की। तभी वे सृष्टि-काय निर्वाह मे समर्थ हुए। जब हलाहल नामक दैत्यो ने त्रैलोक्य को घेर लिया था, विष्णु और महेश ने युद्ध मे अपनी शक्तियो से उनका हनन किया था। विजय के उपरान्त आदि देवत्रय आत्मस्तुति करने लगे तो उनका मिथ्याभिमान नष्ट करने के लिये उनकी शक्तियाँ अ तर्धान हो गयी, फलत व विक्षिप्त हो काय करने मे असमथ हो गये। मनु तथा सनकादि के तप से प्रसन्न होकर पराशक्ति ने उ हे स्वास्थ्य तथा शक्ति रूपा लक्ष्मी तथा गौरी पुन प्रदान की (दे० सती की कथा)। उनके सहारे ही वे अपना काय करने मे समथ हो पाये।

आज हम लोग जाति पाति का निब ध करना चाहते हैं। हमारे मिथक साहित्य मे कम के आधार पर जाति का उल्लेख का ज म से नही। इस तथ्य की पुष्टि विश्वामित्र की कथा है। उ होने जन्म से क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मणत्व का अजन किया था। कर्मानुसार जाति के विषय म स्पष्टीकरण है कि समस्त मानव समाज के मूल में सत, रज और तम् की विद्यमानता है। सात्विक भाव से युक्त मनुष्य ब्राह्मण, सत रज् से युक्त क्षत्रिय, रज् और तम से युक्त वैश्य तथा तमोगुण से युक्त शूद्र कहलाता था। आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे भी क्या मानव समाज इन गुणो से दूर रह सकता है ?

सासारिकता से त्राण पाने के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह,

काम	क्रोध	लोभ	मोह
अहल्या इन्द्र रावण	नचिकेता	शैव्य	धन का मोह जित

मद	और	मात्सय
नहुष		मथरा कैकेयी

दूसरे की कीर्ति से जलना तो चिरतन वृत्ति है। गौतम की कथा इस तथ्य को पुष्ट करती है।[१]

इन सब विरूपताओ का अकन करते हुए मिथकीय अवचेतना निरतर आदर्शवादी रही है। प्रत्येक व्यक्ति को कम के अनुसार फल प्रदान करके कथाएँ मानव समाज की नैतिकता के अकुश का कार्य करती है। कायव्य नामक 'दस्यु' व्यापारियों की चोरी कर स्वार्जित धन का व्यय अपने माता पिता, निधन लोगो तथा स यासी ब्राह्मणो पर करता था। जो उसे चोर जानकर उससे कुछ लेना पस द नही करते थे—उनके घर मे वह चुपचाप धन रख आता था। इस प्रकार के सेवा भाव निष्काम कम और धम का पालन करके उसने अनेक डाकुओ का उद्धार किया तथा सद्गति प्राप्त की।[२] जब पूजनी नामक चिडिया के बेटे को राजकुमार ने मार डाला तो पूजनी ने उसकी दोनो आखें फोड दी। राजा ब्रह्मदत्त पूजनी के इस कृत्य के मूल मे अपने बेटे के अपराध को देखकर पूजनी के प्रति मित्र भाव प्रदर्शित करता है।[३] इस प्रकार की नीतिकथाएँ भी अन त हैं।

---

१ दे०—गौतम (घ)
२ दे० कायव्य (कथा)
३ दे० ब्रह्मदत्त

कौशिक की कथा स्पष्ट करती है कि माता पिता की सेवा साधु धम से कही अधिक महत्वपूण है।

मदाध व्यक्ति का नाश अवश्यम्भावी है। नहुष, रावण, नलकूबर, मणि-ग्रीव इत्यादि के चरित्र इस तथ्य की पुष्टि करते है।[1] समाज मे बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। आज भी है। दशरथ के परिवार का नाश इसी समस्या से आरम्भ हुआ। चन्द्रमा के घटते बढते रूप के साथ भी बहुविवाह ज य विरूपता को जोड कर अत्य त कुशलता से प्रस्तुत किया गया है।

मानव समाज मे दान वत्ति के महत्व का प्रतिपादन नेवले की कथा करती है। पाडवो के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर यज्ञ, दान, दक्षिणा, आतिथ्य इत्यादि सुचारु रूप से सम्पन्न हुए। यज्ञ की समाप्ति पर एक नेवला वहाँ पहुचा और बोला—'यह दान क्या है—यह तो कुरुक्षेत्र निवासी उछवृत्तिधारी ब्राह्मण के सेर भर सत्तू के दान की बराबरी भी नही कर सकता। लोगो का ध्यान नेवले की ओर गया। उसकी आखें नीली थी तथा आधा शरीर सोने का था। नेवले ने ब्राह्मण की कथा सुनायी। वह निर्धन ब्राह्मण परिवार तीन दिन मे एक बार भोजन कर पाता था। अकाल पडने पर लघन या उपवास का समय और अधिक बढ गया। एक दिन ब्राह्मण को एक सेर जौ का सत्तू मिला। उसने घर आकर परिवार के समस्त सदस्यो म वह बाट दिया। अभी सत्तू परोसा ही था कि अतिथि ने घर मे प्रवेश किया। वह बहुत भूखा था। ब्राह्मण सबसे पहिले अपना हिस्सा उसे समर्पित किया—उसके तृप्त न होने पर धीरे धीरे सारे परिवार का समस्त सत्तू उसे सहष समर्पित कर दिया। अतिथि रूप मे धम ही वहा पहुँचा था। अत्य त प्रसन्न होकर वह उस पूरे परिवार को अपने विमान पर बैठाकर स्वगलोक ले गया। आतिथ्य मे गिरे सत्तू और जल का सम्पक मेरे शरीर के जिस किसी भाग से हुआ, वह स्वर्णिम हो गया। तब से मैं प्रत्येक वृहत यज्ञ मे आता हूँ—किन्तु कही भी दान का वह चमत्कारी रूप नही देख पाता।[2] यह कहकर नेवला अ तर्धान हो गया। अपनी सामथ्य के अनुसार किया गया दान समान रूप से महत्वपूण होता है। इस तथ्य को उजागर करने वाली इससे सु दर कथा किसी भी सस्कृति मे नही मिल सकती। आश्चय तो तब होता है जब आज के परिवेश मे प्रचलित परम्पराओ का उल्लेख हमे पुरा साहित्य मे भी मिलता है। गालव की कथा तो एकदम कलयुगी वातावरण की प्रस्तुति है।

राजनीतिक तत्र की विविधता अपूव है। एक त त्र राज्य की महिमा राम-राज्य के रूप मे दशनीय है। राजनीति की विडम्बना राजा को चैन से जीने नही देती। जब जनता सुख-निद्रा मे लीन होती है, राजा उनके दुखदद की खोज मे भटकता है। राम ने चौदह वष वन मे बिताकर राज्य पाया तो सीता के सान्निध्य से उसे हाथ धोना पडा। ब्राह्मण जाबालि नीतिनिपुण व्यक्ति थे। राम को माता पिता का विचार छोडकर राज्य ग्रहण करने का उपदेश देते रहे। उ होने कहा कि माता पिता का घर तो यात्रा करते हुए विश्रामस्थली होता है।

महाभारत मे एक त त्र की व्यवस्था के विरोध मे गणराज्यो की स्थापना हुई। कृष्ण का उद्देश्य गणतत्र की स्थापना था। उ होने यादववशी शासको का श्रीगणेश किया। महाभारत मे कामरूप (आसाम) कौरवो के पक्ष मे था। नरकासुर ने उसकी स्थापना की थी। बीरबभ्रुवाहन का राज्य मणिपुर पाडवो की ओर से लडा था।

---

१ दे० नहुष रावण, यमलाजु न (कथाएँ)

२ दे० अश्वमेध यज्ञ (कथा)

ग्रह नक्षत्रो से सम्बद्ध खगोल एव ज्योतिषशास्त्र की झाकी भी पुरा साहित्य म दिखलाई पडती है। यद्यपि उसकी वृहत व्याख्या आयभट्ट ने पाचवी शती मे की। आश्चय है कि वतमान युग मे वैज्ञानिक ग्रह नक्षत्र विषयक जिन तथ्या को स्वीकार करने लगे हैं, उनका उल्लेख पुरा साहित्य मे सहज उपलब्ध है। ज्योतिषशास्त्र मे शनि को वलयो से युक्त माना जाता रहा है। वतमान विद्वान बीसवी शती मे इसकी पुष्टि करन लगे हैं।

रामकथा से लेकर समस्त साहित्य मे तन्त्र मन्त्र के अनेक सूत्र मिलते हैं। लक्ष्मणरेखा, हनुमान का समुद्र लघन तथा इन्द्रजीत का माया युद्ध इसके प्रमाण है। महाभारत म अकित भीमसेन के पौत्र अजनवर्मा का मायावी युद्ध,[1] द्रौपदी को सूय से मिला अक्षय पात्र, जिसमे बना थोडा सा भोजन भी द्रौपदी के भोजन करने से पूव समाप्त नही होता था—तत्कालीन तन्त्र साधना के प्रतीक हैं। राम ने मन्त्रपूत कुशा से कौए के वेश म आए जयन्त को भगा दिया। ये सभी कथाएँ तन्त्र मन्त्र की विद्यमानता को सिद्ध करती हैं।

सास्कृतिक प्रहरी मिथक-कथाएँ जीवन के प्रत्येक पक्ष को समेटे रहती हैं। काल और वातावरण बाह्य स्वरूप को बदल सकते हैं किन्तु मानव समाज की अन्तवृत्ति मे परिवतन नही ला सकते। मिथको का निर्माण अनायास ही नही होता—वे चेतन और अवचेतन मन की क्रियाओ, प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति का माध्यम हैं। मिथक वीथिका के दूसरे छोर से लेकर वतमान प्रवेश द्वार तक आवरण, रङ्ग, स्वरूपगत परिवतनशीलता भले ही आभासित हो किन्तु वे निरन्तर मानव की मूल अन्तश्चेतना का द्योतन करती रही है। उन्हे देश, काल और वातावरण मे आबद्ध नही किया जा सकता। उनकी महत्ता सावभौमिक है क्योकि उनके स्वर की गूँज किसी भी सस्कृति से क्यो न जुडी हो—नैतिकता का प्रसार करती है। समय-समय पर जन्म लेने वाले मिथक जीवन के किसी भी अश को अछूता नही छोडते। अन्त मे यह कहना असगत न होगा—मिथक अनन्त, मिथक कथा अनन्ता। ●

---

१ दे० अजन पर्वा (कथा)

सुख एक चिन्तन

माधोदास मूंधड़ा

मनुष्य जीवन की सारी प्रवृत्ति सुख प्राप्त करने की ओर लगी रहती है साथ ही यह प्रयास भी रहता है कि प्राप्त सुख मे निरन्तर वृद्धि हो तथा दुख से निवृत्ति हो अथवा वह कम से कम हो। धर्म, अर्थ, और काम का भी यही उद्देश्य है। कुछ लोग कहते हैं जो हम इष्ट है वही सुख है तथा जो हमें नही चाहिये वही दुख है। इस बात को सम्पूर्ण रूप में ठीक नही माना जा सकता। इष्ट शब्द का अर्थ वस्तु या पदार्थ भी हो सकता है और ऐसा मानने पर हमे पदार्थ को भी सुख मानना पड़ेगा। जैसे प्यास लगने पर पानी इष्ट है लेकिन पानी को सुख नही कहा जा सकता। प्यास अपने आप मे दुख देती है लेकिन पानी पीने मे जो तृप्ति होती है, उसे ही सुख कहा जायेगा—इस बात की नैयायिको ने या व्याख्या की है —

'अनुकूल वेदनीय सुखम् प्रतिकूल वेदनीय दुःखम्'।

अर्थात जो वेदना हमारे अनुकूल है वही सुख है और जो प्रतिकूल है वही दुख है। सुख दुख की यह परिभाषा सामान्यतया तो ठीक प्रतीत होती है।

सुख एक चिन्तन पर विचार करने पर कई प्रश्न सामने उभर आते हैं। सुख किसे कहते हैं—सच्चा और नित्य सुख क्या है—सुख कैसे प्राप्त हो सकता है—प्राप्त होना सभव भी है या नही—क्या दुख का अभाव सुख है अथवा सुख एक स्वतन्त्र स्थिति है? यह ससार दुखमय है या सुखमय, यदि दोनो है तो किसकी मात्रा अधिक है। सुख और आनन्द मे क्या भेद है आदि। चिन्तन के धरातल पर भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो दृष्टिकोणो से विचार करना उचित होगा। भौतिक दृष्टिकोण से कतिपय भारतीय मनीषी तथा प्रमुखतया पश्चिमी विद्वानो ने इस पर जो सोचा और विचार किया है उनकी विचार धारा को लोकमान्य तिलक के अनुसार इन भागो मे विभक्त किया जा सकता है।

१ स्वार्थी	**२ दूरदर्शी स्वार्थी**
३ बुद्धिमान स्वार्थी	**४ मनुष्य मात्र का सुख चाहने वाला।**

स्वार्थी केवल स्वार्थी सुखवादियो का कहना है—परलोक, आत्मा, परोपकार सब निरर्थक हैं। पच महाभूतो के सयोग से आत्मा नामक एक गुण उत्पन्न हो जाता है जो देहाधार के नष्ट होने पर स्वत नष्ट हो जाता है। दुनिया मे स्वार्थ ही सब कुछ है। जिस उपाय से स्वार्थ सिद्ध हो अथवा भौतिक सुख की वृद्धि हो उसी को श्रेष्ठ समझना चाहिये। ससार के सारे पदार्थ मेरे उपभोग के लिए है अत जब तक मैं जीता हू उस समय तक 'येन केन उपायेन' सब कुछ अपने अधीन करके अपनी समस्त कामनाओ को तृप्त कर लू 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत'

दूरदर्शी स्वार्थी लेकिन इस तरह का स्वार्थ या सुख ससार म चलना सभव नही है। यह कि भौतिक सुख प्रत्येक को इष्ट होता है लेकिन यदि हमारा सुख अन्य लोगो के सुखो मे बाधा डालता है तो

इसमे लोग विघ्न उपस्थित किये बिना नही रहेंगे। इसलिये कुछ भौतिकवादी पण्डित कहते हैं कि अपना सुख या स्वार्थ साधन यद्यपि उद्देश्य है फिर भी दूसरो को रियायत दिये बिना अपने सुख का कायम रखना सभव नही है—इसलिये अपने सुख के लिये दूरदर्शिता के साथ अन्य लोगो के सुख की तरफ ध्यान देना उचित है। दृष्टात से यो समझाया जा सकता है कि अपने सुख के लिये यदि मैं लोगो को मारूंगा तो वे भी मुझे मारेंगे और परिणाम स्वरूप मुझे दुख ही प्राप्त होगा। हमे दुख हुआ तो हम रोते हैं और दूसरो को दुख हुआ तो हमें दया आती है तथा हमारे मन मे डर होता है कि हमारी ऐसी अवस्था न हो जाए। सुखवादियो का कहना है कि स्वय अपने ही सुख के लिये क्यो न हो, परन्तु भविष्य पर दृष्टि रख कर ऐसी नीति का पालन करना चाहिये जिससे दूसरो को दुख न हो।

बुद्धिमान स्वार्थी मनुष्य का स्वभाव केवल स्वार्थमूलक नही है—उसमे परोपकार की मनोवृत्ति भी पायी जाती है। व्याघ्र सरीखा हिंसक जानवर भी अपने बच्चो की रक्षा के हेतु प्राण देने के लिये तैयार हो जाता है, अत हम यह नही कह सकते कि प्रेम, परोपकार जैसे गुण स्वार्थ से उत्पन्न हुए हैं। भौतिकवादियों का मत है कि सासारिक सुख के पर यद्यपि कुछ भी नहीं है लेकिन इस मत के लोग भी स्वार्थवृत्ति के समान परार्थवृत्ति को भी स्वाभाविक मानते हैं। स्वार्थ अथवा स्वसुख और परार्थ अर्थात दूसरो का सुख। इन दोनो तत्वो पर समदृष्टि रखकर कार्य करना चाहिये।

मनुष्य मात्र का सुख चाहने वाला उपर्युक्त तीन वर्गों पर विचार के बाद आधिभौतिक सुखवादियो का एक पथ और भी है—उनका कहना है मनुष्य को सुखी रहने के लिये सारी मनुष्य जाति के सुख को ध्यान मे रखना चाहिये। लेकिन इसमे त्रुटि यह है कि कोई एक बात किसी को सुखकारक मालूम होती है तो वही दूसरो के लिए दुखदायक भी हो सकती है—अत 'सब लोगो के सुख' को अधिक लोगो का अधिक सुख करना पडता है। किन्तु विचार करने मे इसमे अपूर्णता नजर आती है। अधिक यानी कितना? जैसे पाडवो की सात अक्षोहिणी सेना थी और कौरवो की ग्यारह—इससे कौरवो का जीतना ही सगत होता। पर क्या यह उचित एव हितकर होता। साराश मे अधिक लोगो को अधिक सुख की बात पूरी तरह ठीक बैठती नही है क्योकि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अधिक लोगो का अधिक सुख किसमे है। इसके दूरगामी परिणाम सुखद ही हो यह भी आवश्यक नही है।

इन आधिभौतिक सुखवादियो का जो श्रेष्ठ पथ है उनका कहना है कि जब स्वार्थ और परमार्थ *मे विरोध उत्पन्न हो जाय तो स्वार्थ को त्याग कर परार्थ साधन के लिये यत्न करना चाहिये।* उनके अनुसार मनुष्य मे केवल परोपकार बुद्धि का ही उत्कर्ष नही हुआ है—उसमे प्रेम, वात्सल्य, शौर्य, न्यायबुद्धि, दया, समानता, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता, धृति, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि सात्विक सद्गुणो की भी वृद्धि हुई है—इसे हम मनुष्यत्व की सज्ञा देंगे। केवल परोपकार की अपेक्षा मनुष्यत्व श्रेष्ठ है। अत सुख के लिये केवल परोपकार की दृष्टि से कार्य न करके मनुष्यत्व की दृष्टि से कार्य करना वाछनीय है।

उक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि भौतिक सुखवादी केवल स्वार्थ सुख की कनिष्ठ श्रेणी से आगे बढते-बढते अन्त मे मनुष्यत्व की श्रेणी तक पहुचे हैं—परन्तु मनुष्यत्व के विषय मे भी प्राय सब लोगो मे बाह्य सुख पर भी अधिक विचार किया गया है। सच्चा और नित्य सुख क्या है? इस विषय पर गभीर रूप से विचार करने पर भी वे सर्वांगीण व चिरतन सुख प्राप्त करने का साधन नहीं बता पाये है।

प्रकृति जैसे त्रिगुणात्मक है उसी प्रकार सुख भी तीन प्रकार का है —

(१) राजस (२) तामस एवम् (३) सात्विक

राजस श्रीमद्भागवद गीता मे सुख को त्रिविध बताते हुए भगवान ने राजस सुख की मार्मिक व्याख्या की है —

विपयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम ।
परिणामे विपमिव तत्सुख राजस स्मृतम् ॥ (गीत

जो सुख विपय और इन्द्रिया के सयोग से होता है वह यद्यपि उस सम
है, परन्तु वास्तविकता मे वह विपवत ही होता है इसलिय इस सुख को गीत
यह सुख वल, वीय, बुद्धि, धन-उत्साह आदि को क्षीण करता है। रजोगुण मे
कोलाहल है, अशान्ति है, अहकार है, अतिशय लोभ है और अत म है—घोर दु ख

राजसी सुख म सारा प्रयास दैहिक एव ऐहिक सुख प्राप्ति तक सीमित है,
है लोभ मूलक है। वित्तैपणा, कामैपणा के साथ लोकैपणा भी इसम रहती है।
के कारण इसके द्वारा उत्पन्न सुखानुभूति राजसी सुख के अतगत आती है।

तामस गीताकार के शब्दो मे तामस सुख निम्न प्रकार स परिभापित है

यदग्रे चानुबन्धे च सुख मोहनमात्मन ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थ तत्तामसमुदाहृतम ॥ (गीता १८

अर्थात यह सुख भोग काल मे और परिणाम म भी आत्मा को अज्ञानाच्छन्न करने वाला है
और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।

आज के दृष्टिकोण से हम यो कह सकते हैं अपने सुख के लिये जब व्यक्ति दूसरो
पर तुल जाता है तथा समस्त मूल्या की अवहलना करता है तब यह सुख तामसी कहलाता है
के लिये मानवीय अथवा नैतिक मूल्य कोई अथ नही रखते। स्वाथ सिद्धि एव सुख प्राप्ति
किसी भी प्रकार का अपराध या अनिष्ट करने म सकोच नही करता। उसकी सभी प्रवृत्ति
है। उसका सुख अमानवीय होता है क्योकि उसके प्रेरक अहकार, दप, काम, क्रोध, लं
प्रमाद जैसे अवगुण होते हैं। यह अत्यन्त निम्न कोटि का सुख है। इसे सुख कहने मे
प्रतीत नही होता।

सात्विक सात्विक सुख वरेण्य सुख है। इसम व्यक्ति सुख की कामना तो करता
वह सुख मात्र अपने लिये नही होता। वह दूसरो के हित को ध्यान म रखकर अपने सुख
प्रयास करता है।

सात्विक सुख को गीता मे अमृतोपम वताया गया है और इसे आत्मबुद्धि का प्रसाद कहा

यत्तदग्रे विपमिव परिणामेऽमृतोऽमृतोपमम ।
तत्सुख सात्विक प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम ॥ (गीता १८।३७)

वह सुख प्रथम साधन के आरम्भ काल म यद्यपि विप के सदश भासता है परन्तु परिणाम मे
के तुल्य है, इसलिये आत्मविपयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न यह सुख सात्विक ता है। जैसे
मे आसक्त वालक को विद्या का अभ्यास, मूढता के का प्रथम विप के —वैसे ही वि
म आसक्तिवाले पुरुप को लोकमगल के शुभकार्यो क ने के विप के स
प्रतीत होते हैं—लेकिन अततोगत्वा दोना का परि द हो सम हो ज
हैं। इसे सात्विक सुख की सज्ञा दी गई है।

सुख एवम् सतोप कतिपय व्यक्ति कहते हैं
सव समय सतोप सुख का कारण नही सकता। है।
म विकास की प्रगति रुक जायगी।

अवरुद्ध हो जायेगा। वेदान्त शास्त्र मे मानसिक सुख को विशेष महत्व दिया गया है। बाह्य पदार्थों के ससग से इन्द्रियो को जो अनुभूति होती है उसे हम भौतिक या शारीरिक सुख कहगे और मानसिक सुखो व दुखो को आध्यात्मिक कहगे। मात्र शारीरिक दुख से निवृत्त होने पर सुख मिलता है, यह बात भी कभी-कभी भ्रमात्मक प्रतीत होती है। शारीरिक दुखो को सहते हुए भी अपने आदर्श के लिए मनुष्य उसम सुख की अनुभूति कर सकता है। दृष्टात स्वरूप बाढ मे सेवा काय के लिये जाने पर काफी दुख और कष्ट होता है लेकिन उस राहत काय मे मनुष्य को सुख और आनन्द की अनुभूति होती है। यदि यह सेवा काय शुद्ध सेवा भाव से है तो यह सुख सात्विक है और आनन्द मे परिणत हो जाता है। यदि यह कार्य यश की लिप्सा से किया गया है तो यह राजस है इसमे सुख तो मिलता है लेकिन आनन्द तिरोहित हो जाता है—किन्तु यदि यही सेवा काय लाभ की दृष्टि से किया जाय तब तो यह तामसी ही हो जायेगा।

एक मत यह है कि मनुष्य की सब सासारिक प्रवृत्तियाँ वासनात्मक या तृष्णात्मक है। जब तक सासारिक कर्मो का त्याग नही किया जायेगा तब तक वासना या तृष्णा की जड उखड नही सकती और तब तक सात्विक सुख और आनन्द का मिलना सभव नही है। अत जिस किसी को आत्यान्तिक सुख प्राप्त करना है उसके लिये यही उचित है कि जितनी जल्दी हो सके ससार छोडकर सन्यास ले ले। लेकिन मात्र सन्यास लेने से ही तृष्णाएँ एव एषणाएँ नष्ट नही हो जाती। हमने प्राय देखा है कि सन्यास लेने के पश्चात भी यशेषणा तो रहती ही है साथ ही इसके मूल मे अहकार भी कही न कही छिपा रह जाता है। भले ही वह सात्विक ही क्यो न हो। केवल इन्द्रियो को सयमित करने से मानसिक व्यापार या विभिन्न एषणाओ से निवृत्ति नही मिलती।

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ।। (गीता ३-३६)

अत सन्यास लेने मात्र से ही नित्य सुख की प्राप्ति हो जाती है यह मान्यता पूणरूपण ग्राह्य नही है। सब प्रकार के सुख-दुख हमारे मन पर ही अवलम्बित है। बृहदारण्यकोपनिषद मे वणन पाया जाता है —

अन्यत्रमना अभूव नादशम अन्यत्रमना अभूव ना श्रौतम्।

कहने का तात्पय मेरा मन दूसरी ओर था इसलिये मैं देख नही सका। मेरा मन दूसरी ओर था इसलिये मैं सुन नही सका। इस प्रकार यह बात प्रतीत होती है कि मन का इन्द्रियो के व्यापार के साथ विशेष सम्बन्ध है। मनोनिग्रह से सुख दुखो का निग्रह अथवा नियत्रण करना सभव है। मनु ने भी कहा है —

सव परवश दुख सवमात्मावश सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षण सुखदुखयो ।।

अर्थात बाह्य पदार्थो के वशीभूत होना ही पराधीनता है इसलिये दुख है और जो अपने अधीन है अर्थात् आत्मा के अधीन है वही सुख है। तुलसीदास जी भी कहते हैं — **पराधीन सपनेहुँ सुख नाही।'** हम यह कह सकते है कि सारे सुख दुख की अनुभूति मन को होती है अनुकूलता मे वह सुख अनुभव करता है और प्रतिकूलता मे दुख। यदि मन सुख दुख मे उद्वेलित नही होता है, यानी आत्मा के अधीन हो जाता है तो सुख की अनुभूति ही होगी।

क्या सुख दुख का अभाव है अथवा सुख-दुख अलग-अलग प्रवृत्तियाँ हैं या सुख कोई सत्तात्मक या भावात्मक स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस पर मेरी मान्यता है, सुख-दुख का अभाव मात्र नही है। उसका अपने आप मे स्वतन्त्र अस्तित्व है। जब इच्छित वस्तु जल्दी नही मिलती तब दुख होता है और उसे प्राप्त करने की इच्छा तीव्र होने लगती है। जब चाह अधिकाधिक बढने लगती है तब वह इच्छा तृष्णा मे बदल जाती है और वह दुख का कारण बनी रहती है। लेकिन एक ऐसी भी स्थिति होती है जहा कोई इच्छा अथवा तृष्णा नही होती है फिर भी सुखानुभूति हो सकती है। उदाहरण के लिये एक छोटे बच्चे के मुँह मे हठात एक मिश्री की डली डाल दी जाय तो उसे निश्चित रूप से सुखानुभूति होती है लेकिन यह स्पष्ट है कि इसके पूर्व बच्चे के मन मे कोई इच्छा अथवा तृष्णा नही थी जो उसे दुखी करती हो।

एक प्रश्न बार-बार सामने आया करता है कि यह ससार दुखमय है या सुखमय। बौद्धदर्शन ससार को दुखमय मानता है। दुख प्रथम आर्य सत्य है यह उनकी घोषणा है—क्योकि जरा, व्याधि, मरण इत्यादि दुख तो सबको लगे हुए ही हैं।

थोडी देर के लिये मान लें कि ससार केवल दुखमय है तो यह प्रश्न सहज ही उठता है कि निरतर दुख को सहने के बाद भी लोग आत्महत्या क्यो नही करते? सभी क्यो जीना चाहते हैं? जीने मे और सुरक्षित रहने मे उन्हे कही न कही सुख अवश्य है। व्यवहार जगत मे दुख भी है इससे इनकार नही किया जा सकता। लेकिन ससार मे दुख की अपेक्षा सुख ही अधिक प्रतीत होती है। ये त्यौहार, ये उत्सव, ये नाटक, ये सगीत अथवा नृत्य सभी ससार के सुखमय होने की अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवन मे दुख भी आता है और सुख भी आता है। प्राय यह देखा गया है कि हर दुख मे रहने वाले व्यक्ति को भी समय समय पर सुखानुभूति होती है। गरीबी मे रहने वाले आदिवासी लोग भी त्यौहारो मे खुशियाँ मनाते हैं और सुख सुविधाओ मे पलने वालो को भी चिन्ता इत्यादि झेलनी ही पडती है। आधिव्याधि जरा तो प्राणी मात्र को लगी हुई है अत यह सुख-दुख का चक्र ससार में चलता ही रहता है।

इन सारी बातो से सहज ही जिज्ञासा होती है कि सच्चा और नित्य सुख क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। ससार के पदार्थों मे या सासारिक उपलब्धियो मे जो सुख मिलता है वह स्थायी नही है। शुरू मे उसकी जो तीव्रता रहती है वह धीरे-धीरे मन्द होती जाती है और वह सुखाभास मे या मृगतृष्णा मे बदल जाता है। भोगो को भोगते-भोगते भोग ही हमे भोगने लग जाते हैं—

भोगो न भुक्त वयमेव भुक्त। (भर्तृहरि)

ययाति का दृष्टात हमलोगो के सामने ही है। इसके उत्तर के लिये भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर जाना पडेगा। आध्यात्मिक चिंतन मे जब हम समत्व स्थिति मे जाते हैं तो लौकिक सुख दुख 'लीला' मे बदल जाते हैं और हम अपने स्वरूप मे यानी नित्य सुख म लीन हो जाते हैं। ऐसे सुख को पाने का प्रथम सोपान है—सात्विकता सदगुणो का विकास, दया, करुणा, क्षमा, उदारता आदि दूसरा के सुख दुख के साथ अपने को जोड कर हिस्सा बँटाना जगत मे सभी वस्तुओ मे ईश्वर का दर्शन करना, वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के साथ मैत्री आदि सदवृत्तियो की तरफ अग्रसर होना निरहकार रहने की साधना और इसी के फलस्वरूप हम नित्य सुख म प्रवेश कर सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है कि यदि हम मन एव इन्द्रियो को आत्मा के अधीन कर सकें और अपनी चित्तवृत्तियो का निरोध कर सकें तो मन एव इन्द्रियाँ जो जीवन मे सुख दुख का द्वन्द्व उत्पन्न करती हैं वे कल्याणकारी एव नित्य सुख प्रदान करने वाली बन जायेंगी। क्योकि वे आत्मा से शासित हो जाती हैं।

सुख और आन्द गीता मे सुख दुख दोना को द्वन्द्व के रूप मे चित्रित किया गया है—इनके प्रति समत्व का भाव रखते हुए स्वधर्माचरण के मार्ग को प्रशस्त किया है —

सुख दु ख समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥ (गीता २।३८)

साधारणतया सुख एव आन्द को पर्यायवाची मान लेत है लेकिन ऐसा नही हैं—सुख मन की स्थिति की बात है, जहाँ कि आनन्द का सम्बन्ध आत्मा से है। एक दृष्टात से शायद यह बात स्पष्ट हो जाती है। वसन्त ऋतु मे प्रकृति जब चारो तरफ शोभायमान रहती है उस समय यदि हम वहा पर उपस्थित रहते हैं तो तीव्र सुख की अनुभूति होती है। यदि उसी वातावरण मे एक भक्त सुमधुर स्वर मे भगवद भजन गा रहा हो तो एक अन्य ही प्रकार की अनुभूति होती है जो हमारे अन्तस्तल को छू जाती है। कहने का तात्पय यह है कि प्रकृति की सुषमा हमे सुख का अनुभव तो कराती ही थी और फिर उसमे भगवद भजन के समावेश से हममे आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है। यह दृष्टात सुख और आनन्द के भेद को स्पष्ट करता है।

जब हम सुख को निरतिशय रूप मे पाने की आकाक्षा करते हैं या नित्य अक्षय सुख का रसास्वादन करना चाहते हैं, तब वह सुख-सासारिक सुख—दुखात्मक द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है और हम आनन्द के नित्य लोक मे प्रवेश करते हैं। यह मन-बुद्धि वाणी के अतीत का लोक है जहा आनन्द का आलोक ही आलोक है।

आनन्द आनन्द के लिये है। आनन्द का कोई और प्रयोजन नही होता। आनन्द स्वतन्त्र है। वह वस्तु सापेक्ष नही है। वह भूमा है। आनन्द का कोई विलोम नही होता। इन्द्रियो या पदार्थो के स्तर पर, मन के स्तर पर या बुद्धि के स्तर पर जो हमे अनुकूल वेदना होती है वह सुख है किन्तु उसमे मोह है, प्रमोद है, रजन है—ये सब आनन्दाभास मात्र है। आनन्द के स्वरूप को समझने के लिये उसे विविध रूपो म विवेचित किया गया है। दुनिया के सुखा म क्षणिकता है, नश्वरता है, किन्तु आनन्द नित्य, शाश्वत और सनातन माना गया है। दुनिया मे अशाति है, आनन्द शातिस्वरूप है। दुनिया मे मृत्यु है—आनन्द अक्षय है, वह रस रूप है यही वैष्णवो का नित्य लीला मे प्रवेश है। जैनो का कैवल्य है। बौद्धो का शून्य है, परिनिर्वाण है। सन्तो की सहज समाधि है। गीता का स्थितप्रज्ञ है, त्रिगुणातीत है भक्त है ज्ञानी है, निष्काम अनासक्त कर्मयोगी है। उपनिषद का भूमा तत्व है। वेदान्त का मोक्ष है।

सुख	आनन्द
सातिशय	निरतिशय
परिवर्तनशील, अस्थिर, क्षणभगुर	नित्य स्थिर
द्वन्द्वात्मक	द्वन्द्वातीत
इन्द्रियो एव अत करण से युक्त	आत्मा से सम्बन्धित
विषयात्मक	विषयातीत (अचिन्त्य)
अभ्युदय	नि श्रेयस्
प्रेय	श्रेय
व्यक्त	अव्यक्त

अत उपसहार करते हुए मैं कहूगा भौतिकवादी धीरे धीरे व्यक्तिगत सुख पाने की लालसा से समष्टि के सुख तक पहुचते है। लेकिन भौतिकवादी पदार्थो की प्राप्ति और उनके उपयोग एव वितरण

तब ही अपने को सीमित रखते हैं—पर तृष्णाओं का अन्त कहाँ ? 'तृष्णा न जीर्णायते' भौतिकवादी सुख सुविधा के साधन दे सकते हैं परन्तु संतुष्टि नहीं—यह द्वन्द्वात्मक है इसलिये इसमें निरन्तर संघर्ष ही चलता है।

सुख तथा संस्कृति 'संस्कृति' इस युग का अत्यन्त प्रिय एवं विविध आयामी शब्द है जिसे विद्वानों ने अनेक अर्थों में परिभाषित किया है। संसार की सारी भाषाओं में अनेक विद्वानों ने इस पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं—और परस्पर कभी-कभी विरोधी शब्दावली में परिभाषित किया है। साधारण लोगों के लिये ये परिभाषायें प्रायः दुरूह और अस्पष्ट हो जाती हैं। संस्कृति शब्द राजनीतिक विचारधारा से मुक्त है, इसमें सम्प्रदायों का विवाद नहीं है एवं दर्शन की वैचारिक शुष्कता नहीं है। इन सबसे अलग हटकर मानव मात्र को सम्मिलित होने, रसमग्न होने और सुखमय होने का इसमें मुक्त आह्वान है। देखने में आता है कि दो विरोधी विचारधारा रखने वाले राष्ट्र भी सांस्कृतिक रूप से ही प्रथम जुड़ने का प्रयास करते हैं। संस्कृति का सम्बन्ध एक ओर विचारदर्शन से है, दूसरी ओर आचार धर्म से है। संस्कृति में विचारों की शुष्कता मधुर होकर प्रवाहित होती है, जहाँ धर्म का आचार—कठोर विधि निषेधों की शृंखलाओं से बँधा हुआ है। संस्कृति उसे भी ललित कलाओं के माध्यम से उत्सवों, नृत्यों, गीतों में उमड़कर, लोकोत्सव और त्यौहारों में रूपायित करती है—यही कारण है कि हमारे उत्सव एवं त्यौहार धर्म से अनुप्राणित हैं। विचारों और आचारों की यही रसमयी अवतारणा संस्कृति की ही अभिव्यक्ति है। संस्कृति हमारे लौकिक जीवन को उदात्त बनाती है, रसमय बनाती है और सुख प्रदान करती है। ऐसा लगता है सुख और आनन्द दोनों एकाकार होकर संस्कृति को निखारते हैं। परिभाषा की जटिलता में न जाकर इसे समझने की कोशिश करें—तो स्वामी अखण्डानन्दजी ने संस्कृति की अत्यन्त सरल एवं मधुर परिभाषा की है, 'किसी वस्तु, कर्म और व्यक्ति को संवारने की क्रिया को हम संस्कृति कह सकते हैं।' सुसंस्कारित जीवन ही हम सब के जीवन को सार्थक बनाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति और सुख का काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन में सुख काम्य है, संस्कृति जीवन से सम्पृक्त है, अतः सुख के चिन्तन में संस्कृति का चिन्तन अनिवार्य है।

सुख एवं अध्यात्म अध्यात्मवादी भी मनुष्यत्व की बात को स्वीकार करते हैं लेकिन उनके दृष्टिकोण में मात्र शारीरिक सुख एवं भौतिक सुख ही प्रधानता नहीं रखती। उनकी मान्यता है जैसे—ईशावास्योपनिषद में कहा है—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'

उपनिषदकार का कहना है कि त्यागकर उपभोग करो—अर्थात प्राप्ति में नहीं त्याग में ही वास्तविक सुख है। यह हमारा सामान्य अनुभव है—दूसरों के हित के लिये किए गए त्याग में भी अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। लेकिन दोनों का हेतु अलग-अलग है। अध्यात्मवादी इन्द्रियजनित सुखों को नकारते नहीं है वे भी पुष्टि और तुष्टि की बात करते हैं प्रेयस और श्रेयस की बात करते हैं, केवल मात्र दृष्टिकोण का फर्क है। उनके लिये सुख का लक्ष्य मात्र देह केन्द्रित नहीं है वहाँ आत्मा केन्द्रित है।

सुख प्राप्ति के लिए हमें आत्मा की ओर चलना होगा। यहाँ हमें प्रेम, करुणा, सेवा, निष्कामना का क्षेत्र मिलता है। इसमें तृप्ति है, पूर्ण कामना है, संतुष्टि है। निष्कर्ष के रूप में कहेंगे अभ्युदय एवं निःश्रेयस को जिसके द्वारा हम प्राप्त कर सकें वही सुख का सच्चा मार्ग है। इसी का नाम धर्म है।

धम ही हमसब को एक सूत्र मे बांधता है या धारण करता है—'धारयति इति धम' यह सूत्र मानव निहित परस्पर प्रेम का भाव ही है। जो कुछ विवादी स्वर सुनाई देते हैं वे हमारे स्वार्थ एव सकीणता के ही परिणाम हैं। अत जब तक हम समस्त मानव जाति को परिवार के रूप मे अनुभव नही करते हम सच्चे सुख की अनुभूति नही कर सकते। यह व्यापक दृष्टिकोण ही मानव-मानव को जोडता है उसमे सामजस्य स्थापित करता है। इसलिये उपनिषद ने कहा —

यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति (छा० उ० ७-२३)

व्यापकता मे ही सुख है सकीर्णता मे नही। यह समस्त विश्व एक नीड है जिसमे मानवता पलती है।

'विश्वंक नीडम्'

हम सब इसी वृहद् परिवार के सदस्य हैं। इस विश्व बन्धुत्व की अनुभूति मे ही स्थायी सुख निहित है। धर्म के इस समन्वयात्मक प्रसाद से ही मानव के चारो पुरुषाथ, धर्म, अथ, काम, मोक्ष सिद्ध होते हैं—यही समवेत सुख प्राप्ति है।

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोना के समन्वय मे मानव जाति का चिरन्तन सुख निहित है। इसी मे हमारी भावना, हमारी प्राथना, हमारी आकाक्षा साकार होगी।

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामय ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख भागभवेत् ॥ ●

भारतीय संस्कृति के आख्याता जयशंकर प्रसाद

डा० एस० टी० नरसिंहाचारी

संस्कृति शब्द व्यापक और विशिष्ट दोनो अर्थों मे प्रयुक्त होता है। व्यापक अर्थ मे धर्म, दर्शन, सामाजिक संस्कार और मान्यताएं, पारिवारिक सम्बन्ध और आदर्श, प्रकृति सौन्दर्य और उसके प्रति प्रेम व्यक्ति-मन की चेतना और अनुराग करुणा और मानवता, मनुष्य की सृजनशीलता अर्थात् साहित्य और ललित कलाएं आदि सब को संस्कृति की परिधि मे लिया जाता है। इस व्यापक व्याख्या मे मानव जीवन का राजनीतिक पक्ष ही छूट गया है। ऐसे आलोचक भी हैं जो प्राचीन और मध्यकालीन संस्कृति की चर्चा मे शासक और शासित या राजा और प्रजा के सम्बन्धो पर विचार करते हैं। प्रगतिवादी आधुनिक सन्दर्भ में राजनीतिक चेतना को संस्कृति का निर्णायक तत्व मानते हैं। वास्तव मे संस्कृति मानव-जीवन के इन सब पहलुओ का पर्यायवाची न होकर उनके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली संस्कारिता है। विशिष्ट अर्थ मे संस्कृति व्यक्ति-मन की संस्कारिता है। वह युग-जीवन के परिवेश मे मन की चेतना की अभिव्यक्ति है। जीवन के विभिन्न सन्दर्भो मे मन की अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती रहती है। उसके संस्कार मन मे बद्धमूल होकर आदर्शोन्मुख व्यवस्थित रूप मे संस्कृति या सांस्कृतिक चेतना कहलाते हैं। इस तरह संस्कृति का केन्द्र बिन्दु अन्तर्मुखी व्यक्ति मन की चेतना है। उसकी अभिव्यंजना मानसिक-आध्यात्मिक धरातल पर भाव विचारो के माध्यम से होती है तो लौकिक धरातल पर बहिर्मुखी सामाजिक जीवन-चेतना और सम्बन्धो के द्वारा।

साहित्य का चरम लक्ष्य सामाजिक या आध्यात्मिक न होकर सांस्कृतिक चेतना का विकास है। साहित्यकार अपनी रचना मे मानव-जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हुए जीवन की संस्कारिता या सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त करता है। लौकिक स्तर पर संस्कृति व्यावहारिक जीवन म संस्कारिता है और मानसिक स्तर पर मन या आत्मा का उन्नयन है। प्रसाद-साहित्य मे संस्कृति की इस अवधारणा का ही आख्यान किया गया है। व्यक्तिवादी साहित्यकार होने के कारण उन्होंने सांस्कृतिक चेतना के विकास के मूल मे मन की चेतना को सर्वाधिक महत्व दिया है जो भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि के अनुरूप है। 'कामायनी' मे बार बार इस मानसिक चेतना के विकास के महत्व पर बल देते हुए उसी के द्वारा जीवन का पूर्ण विकास प्रसार सम्भव माना गया है—'पूर्ण हो मन का चेतन राज।'

संस्कृति देशकाल के अनुसार विशिष्ट रूप धारण करती है। देश का भौगोलिक स्वरूप और सामाजिक जीवन उसकी मूलभूत तात्विक सांस्कृतिक चेतना का निर्धारक होता है। कालक्रम मे सामाजिक सदर्भों के बदलने पर उसमे परिवर्तन हो जाता है। भारतीय संस्कृति की आधार भूमि प्राकृतिक सौंदर्य, उसकी गहरी अनुभूति और उसका उदात्त रूप है। उस प्राकृतिक परिवेश मे लौकिक सामाजिक जीवन से दूर आश्रमो और ऐकान्तिक तपोवनो की स्थापना हुई। उनमे दार्शनिक चिंतन और आध्यात्मिक साधना ने भारतीय संस्कृति को अन्तर्मुखी बनाया। आश्रम जीवन ने लौकिक और अलौकिक तत्वो का समन्वय करते हुए एक व्यापक मानवीय दृष्टि और संवेदना का विकास किया। भारतीय संस्कृति ने सार्वभौमिक

मानवीय रूप धारण किया। आध्यात्मिक और मानवीय चेतना ने लौकिक परिधि म पारिवारिक और सामाजिक मान्यताओ और आदर्शों को निर्धारित किया। पुरुषार्थों मे धम को प्रथम स्थान देकर अथ और काम का उससे अनुशासित होना आवश्यक माना गया। अथ प्रधान सामाजिक जीवन मे वर्णाश्रम धर्मों के आचरण पर बल देकर औचित्य, मर्यादा, सन्तुलन, उदात्तता आदि भावनाओ के माध्यम से बहिमु खी लौकिक जीवन मे सास्कृतिक चेतना के प्रसार का माग प्रशस्त किया गया। धर्माश्रित काम, दाम्पत्य भाव, सयुक्त परिवार के सात्विक अनुरागात्मक सम्बन्धो के द्वारा पारिवारिक जीवन मे सास्कृतिक गरिमा को स्थान मिला। सम्पूण जीवन मे ऐसी आदर्शोन्मुख व्यवस्था की गई कि सभी के लिये साधना के द्वारा सास्कृतिक उन्नयन सुगम हुआ। जातिगत और आर्थिक वगगत सस्कारों के कारण भारतीय सस्कृति मे स्तरीय अन्तर अवश्य था, लेकिन अन्तिम लक्ष्य एक ही था। प्रसाद-साहित्य म भारतीय सस्कृति की मूल चेतना प्रतिफलित हुई। पर आधुनिक परिस्थितियो के सन्दभ मे उसके व्यवस्थित सस्थापरक स्वरूप की या तो उपेक्षा की गई या परिवर्तित रूप मे स्वीकार किया गया।

कालक्रम मे विकसित और परिवर्तित भारतीय सस्कृति को चार युगा मे विभाजित कर सकते है—प्राचीन विकास युग (प्रागैतिहासिक से प्रथम शताब्दी तक), हिन्दू प्रशासन मे उत्कष युग (प्रथम से दशवी शताब्दी तक), मध्यकालीन ह्रासोन्मुख-युग (दस से उन्नीसवी शताब्दी तक) और आधुनिक नव जागरण-युग। प्राचीन सस्कृति प्रधानत वैदिक सस्कृति थी, लेकिन उसके विकास मे अनेक अनाय जातियो का विशेषत द्राविड और नाग जातियो का योग था। 'देवदासी कहानी मे द्राविड सस्कृति की ओर सकेत मात्र मिलता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक मे सास्कृतिक सघष का विस्तार से निरुपण है। 'कामायनी' और निबन्ध-सकलन से पता चलता है कि प्रसाद प्राचीन भारतीय सस्कृति को विविध जातियो और विभिन्न विचार धाराओ के योग से विकसित मानते हैं। जातियो मे देव, गन्धव, असुर का उल्लेख हुआ है[१] और विचारधाराओ मे आनन्दवादी तथा विवेकवादी दुखवादी का।[२] उत्कर्ष युग मे विकासशील सास्कृतिक चेतना को एक व्यवस्थित और निश्चित स्वरूप मिला और सम्पूण भारत मे उसका प्रसार हुआ। अपने ऐतिहासिक नाटका, कविताओ, कहानियो और उपन्यास मे हिन्दू प्रशासन काल को प्रधानता देकर प्रसाद ने भारतीय सास्कृतिक चेतना का ही नही, उसके बाह्य परिवेश का भी उज्जवल चित्र खीचा है। इस काल मे शक, हूण आदि जातियो का भारत मे प्रवेश हुआ, पर उनकी सस्कृति भारतीय सस्कृति मे अन्तर्लीन हो गई। मध्यकाल मे मुस्लिम सस्कृति के प्रभाव से भारतीय सस्कृति मे कुछ परिवतन हो गया। लेकिन शासको की उस सस्कृति की अलग स्वतन्त्र सत्ता भी बनी रही। शासको की सस्कृति होने के कारण उस का जितना प्रभाव और प्रसार उत्तर भारत मे हुआ उतना हिन्दू राजाओ के सरक्षण मे होने के कारण दक्षिण भारत मे सम्भव नही हो सका। विदेशी प्रभाव की बात छोड दें, स्वय मध्यकालीन भारतीय सस्कृति रूढ व्यवस्थागत होकर ह्रासोन्मुख हो गई। प्रसाद की कुछ कहानियो और कविताओ म विदेशी सास्कृतिक प्रभाव, सघष और रूढिवादिता की झलक मिलती हैं। नवीन चेतना के उन्मेष के साथ सास्कृतिक उत्थान परिलक्षित न होने के कारण प्रसाद इस काल की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए। ऐश्वय वैभव और भोग विलास मे डूबा हुआ यह समय सास्कृतिक विकास के लिए अनुकूल नही था। शक्ति की उपासना, (सूय, प्रकृति और आदि शक्ति की), धार्मिक-आध्यात्मिक दृष्टि और निष्काम कमयोग एव कर्तव्य भावना की उपेक्षा करके भारतीय जीवन भौतिक सुख के अन्वेषण म सलग्न हुआ जिससे मानसिक और लौकिक दोना धरातलो पर सास्कृतिक चेतना नाम मात्र के लिए अवशिष्ट रह गई। सुख के प्रतीक चाँद की उपासना करने वाली मुस्लिम सस्कृति ने सास्कृतिक दिशा परिवतन और पतन को बढावा दिया। इस

सन्दभ म 'स्वग के खण्डहर मे' कहानी और 'प्रलय की छाया' कविता द्रष्टव्य हैं। मध्यकालीन रुढ मानसिकता म राजपूतो, मराठो और सिक्खो ने नवीन चेतना भरने का प्रयत्न किया जिसे प्रसाद ने राष्ट्रीय और मानवीय परिप्रेक्ष्य म प्रस्तुत किया। लेकिन वैयक्तिक वीरता और धम के स्थान पर मजहबी प्रेरणा से परिचालित कर्म सच्ची सास्कृतिक स्फूर्ति और चेतना पैदा नहीं कर सका। आधुनिक काल मे आकर विदेशी यूरोपीय प्रभाव ने जहा भारतीय जीवन पद्धति और सभ्यता को एक हद तक अभारतीय कर दिया वहां पाश्चात्य चिन्तन के सम्पक और प्रभाव ने मध्यकालीन रूढ मानसिकता को दूर करके सास्कृतिक नवजागरण का अवसर प्रदान किया। प्रसाद ने पाश्चात्य चेतना को आत्मसात करके प्राचीन भारतीय सस्कृति का नया आख्यान किया और आधुनिक जीवन मे नई चेतना को उदबुद्ध करने का प्रयत्न किया। इस शताब्दी के विवेकानन्द, रवीन्द्र, अरविन्द, आदि सभी मनीषियो ने अपने अपने ढग से भारतीय सस्कृति की नयी व्याख्या करते हुए भारतीय जीवन मे उसके प्रसार की साधना की। आधुनिक नवजागरण ने भारतीय सस्कृति के लौकिक और आध्यात्मिक दोनो पहलुओ म समान रूप से नई चेतना का उन्मेष किया। राजनीतिक, सामाजिक, और पारिवारिक जीवन म स्वच्छन्दता, उदारता, मानवीय सवेदना, उन्मुक्त प्रेम आदि भावनाओ को जन्म दिया। मानसिक स्तर पर आध्यात्मिक भावना मे अन्धविश्वासो, मूढ, सस्कारो साम्प्रदायिक विचारो और मजहबी व्यवस्थाओ से मुक्त होकर अन्तमुखी साधना, अनुभूति और सचेतनता की ओर उन्मुख हुई। प्रसाद साहित्य मे सास्कृतिक चेतना की दोनो दिशाओ का निरूपण किया गया है। लेकिन भारतीय सास्कृतिक साधना के अन्तिम लक्ष्य को देखते हुए प्रसाद ने सास्कृतिक चेतना के आध्यात्मिक रूप पर ज्यादा बल दिया है। इस शताब्दी मे सास्कृतिक नवजागरण के साथ साथ, विशेषत परवर्ती काल में, आर्थिक भौतिक दृष्टि और मूल्य भी भारतीय जन-जीवन मे जमते गये और आज भी वे कम सक्रिय नही है। तकनीकी उन्नति, औद्योगीकरण और महानगरीय परिवेश मे वे अधिक पनप रहे हैं और धीरे-धीरे ग्रामीण जीवन म भी प्रविष्ट हो रहे हैं। सास्कृतिक विकास मे बाधक इन तत्वो की ओर भी प्रसाद का ध्यान गया है। वे भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यो मे सन्तुलन के साथ सास्कृतिक चेतना के विकास मे मानव जीवन की पूणता देखते हैं। वदिक, ऐतिहासिक और आधुनिक सभी प्रकार के जीवन परिवेशो मे वतमान सदभ को ध्यान मे रखकर उन्होने भारतीय सस्कृति का आख्यान किया है।

प्रसाद की सास्कृतिक चेतना प्रेरणास्रोत और पृष्ठभूमि

छायावादी कवियो के, विशेषत प्रसाद के, भारतीय सस्कृति की ओर उन्मुखता के अनेक कारण है। वे भारत की सास्कृतिक नगरी काशी के रहनेवाले थे जिसकी दीघकालीन धार्मिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक परम्पराओ ने उनके व्यक्तित्व को क्लासिकल रूप मे ढाला। धार्मिक और परम्परागत सस्कारो के अनुरागी वैश्य परिवार की जन्मजात भावनाओ ने परिवेशजन्य सास्कृतिक प्रेम को पुष्ट किया। उस समय की अग्रेजी शिक्षा के स्थान पर भारतीय धम, दशन, इतिहास और सस्कृति के गहन अध्ययन और चिंतन के कारण वे भारत की सास्कृतिक आत्मा को पहचानने मे सफल हुए। उनके भावनाशील कवि हृदय ने उस चेतना को उज्ज्वल रूप प्रदान किया। उनकी दृष्टि मे सौंदय चेतना का उज्ज्वल वरदान है[४] तो उस चेतना और उसकी रूपात्मक अभिव्यजना की आभा सास्कृतिक है। प्रसाद साहित्य की आन्तरिक चेतना और बाह्य रूप-परिवेश दोनो म भारतीय सस्कृति की प्राण प्रतिष्ठा हुई है। उनके साहित्य के दार्शनिक मनोवैज्ञानिक, मानवीय, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय अनेकानेक पहलुओ की चर्चा की जाती है, कुछ आलोचको की दृष्टि मे वे मूलत आध्यात्मिक दार्शनिक कवि हैं लेकिन वास्तव मे वे भारतीय

संस्कृति के आख्याता हैं। शेष समस्त पक्ष सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के साधन हैं या सहयोगी हैं। प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा के प्रति उन्मुखता के कारण ही हम उनको भारतीय संस्कृति के गायक नहीं कह रहे हैं। आधुनिक जीवन के निरूपण मे भी उनकी दृष्टि सांस्कृतिक विकास पर केन्द्रित है। प्राचीन और नवीन दोनो सन्दर्भों मे प्रसाद ने परम्परागत भारतीय संस्कृति को उसी रूप मे ग्रहण न करके उसकी विकासशील व्याख्या की है।

प्रसाद का युग सांस्कृतिक नवजागरण के लिए अनुकूल था। भारतीय जीवन और विचारधारा परम्परावादी, सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियो को पारकर नई दृष्टि और चेतना का अन्वेषण कर रही थी। राष्ट्रीय जागरण का प्रभाव केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित न होकर सामाजिक, पारिवारिक और मानवीय सभी क्षेत्रो पर व्याप्त था। उस नवजागरण मे आधुनिक जीवन सदर्भों के अनुरूप नये जीवन-मूल्यो का अन्वेषण हो रहा था। इस काय मे राजनीतिक उदारतावाद और दार्शनिक मानवतावाद ने पृष्ठ-भूमि प्रदान की। विज्ञान और मनोविज्ञान ने यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से भौतिक दृष्टि को प्रोत्साहित किया, उनके द्वारा मानव जीवन के अन्तर्दर्शन की जिज्ञासा भी पैदा हुई। उपनिषदो और बौद्ध दर्शन ने सार्वभौमिक, आध्यात्मिक एव मानवीय आधार भूमि दी। स्वच्छन्दतावाद ने साहित्य के क्षेत्र मे नवीन चिंतन के द्वार खोल दिये। इन सब के योग मे छायावादी सांस्कृतिक दृष्टि का विकास हुआ। छायावाद की मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवी शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।"१ छायावादी युग के साहित्यकारो मे प्रसाद ने आधुनिक भौतिक सभ्यता के परिवेश म सांस्कृतिक मूल्यो के महत्व पर सर्वाधिक विचार किया।

ऐतिहासिक परिवेश और नया सांस्कृतिक आख्यान

'प्रलय' 'चित्र मन्दिर' आदि प्रागैतिहासिक कहानियो मे जल-प्रलय और उसके बाद जीवन मे भूख एव काम सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति से धीरे-धीरे सभ्यता और संस्कृति के विकास की ओर सकेत मिलता है। 'कामायनी' मे मनु की कहानी को भी आदि मानव की गाथा कह सकते हैं। गुफा निवास, आखेट, चर्मवस्त्र धारण, नर-नारी साहचर्य, पशुपालन, कृषि, वस्त्र आविष्कार आदि सभ्यता के विविध चरणो के बाद बुद्धि की सहायता से सामाजिक व्यवस्था, भौतिक वैज्ञानिक उन्नति की स्थितियो को दिखाकर प्रसाद ने मनु के जीवन की कहानी को आध्यात्मिक-सांस्कृतिक आत्म-प्रसार पर समाप्त किया है। भारतीय जीवन म संस्कृति के विकास की पहली अवस्था वेदकालीन परिवेश मे दिखाई देती है जिसकी प्रतिनिधि रचनाएँ 'करुणालय' और 'कामायनी' हैं। उनमे वैदिक संस्कारो पर उतना बल नही दिया गया है, जितना प्राकृतिक रहस्यवाद, आध्यात्मिक चेतना, आत्म-प्रसार, मानवीय सवेदना, सार्वभौमिक समता आदि पर। स्पष्ट ही प्रसाद आर्य समाज आदि की तरह वैदिक संस्कारो का पुनरुत्थान नही चाहते, बल्कि आधुनिक सन्दर्भ मे सार्वभौमिक वैदिक आत्मा (स्पिरिट) के आधार पर मनुष्य की अन्तर्मुखी चेतना का प्रसार और सांस्कृतिक उन्नयन, उनकी साहित्य साधना का लक्ष्य है। वेदों की प्रवृत्तिमूलक विचारधारा, शैवागमो के समरसता एव आनन्दवाद के सिद्धात तथा आध्यात्मिक साधनो म श्रद्धा (आस्था, विश्वास और भावना) के महत्व का प्रतिपादन आदि जीवन म आत्मिक धरातल पर पहुचकर भारतीय जीवन दृष्टि के अनुरूप सांस्कृतिक उन्नयन मे सहायक हैं। आधुनिक बुद्धिवादी युग भौतिक सभ्यता के परिवेश मे लौकिक संस्कृति तक अपनी दृष्टि को सीमित रखता है तो प्रसाद भारतीय परम्परा के अनुरूप उसे मानसिक-आत्मिक संस्कारिता के स्तर पर ले जाना चाहते हैं।

पुराणो मे वैदिक संस्कृति का भाष्य किया गया है। स्थूल दृष्टि को अपना कर आम जनता म धार्मिक सांस्कृतिक संस्कारो का विकास करना उनका लक्ष्य है। पौराणिक मूल कथाएँ मिथकीय और प्रतीकात्मक हैं। उस रूप मे ग्रहण करने और समझने पर ही उनके द्वारा जीवन का विकास-क्रम और मनुष्य की मानवीय सांस्कृतिक चेतना बोधगम्य होती है। वाल्मीकि रामायण मे अवश्य ही आध्यात्मिक वैदिक संस्कृति के पूरक रूप मे सामाजिक और पारिवारिक जीवन मे भारतीय संस्कृति का आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया है। लेकिन मध्यकालीन मानसिकता ने पौराणिक चेतना को केवल स्थूल रूप में लिया है। इस परम्परा के कारण प्रसाद ने अपनी रचना मे पौराणिक कथाओं की प्राय उपेक्षा की है। उनकी कुछ आरम्भिक रचनाएँ ही पौराणिक आधार पर हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' की मूल कथा पौराणिक होने पर भी उसे दो भिन्न जातियो के सांस्कृतिक संघर्ष के रूप मे चित्रित किया गया है। छायावादोत्तर काल मे ही पौराणिक कहानियो को नवीन सांस्कृतिक सन्दर्भ मे प्रतीकात्मक रूप दिया गया है।

प्रसाद की कई रचनाएँ ज्ञात भारतीय इतिहास से सम्बन्धित हैं। ऐतिहासिक परिवेश मे उन्होने वीरता, साहस और प्रेम का ताना बाना बुनकर 'रोमासो' की सृष्टि नहीं की। न उनकी रचना का लक्ष्य वर्तमान जीवन संघर्षों से भागकर प्रतिक्रियावादी या पलायनवादी रूप मे अतीत के आकर्षक और मोहमय कल्पनालोको मे (यूटोपिया) पहुचाना है। प्रसाद के ऐतिहासिक नायक व्यक्तिगत प्रेम में असफल होकर भी नियतिवाद का सहारा लेकर जीवन मे कर्म के पथ पर अग्रसर होते हैं। यह नियतिवाद उनको निष्काम कर्म की प्रेरणा देता है। सुख दुखो मे विचलित न होकर कर्मयोग द्वारा मानसिक संतुलन भारतीय लौकिक संस्कृति की विशेषता है। प्रसाद की ऐतिहासिक रचनाएँ भारत का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करती हैं। इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण तात्विक और अत्यन्त स्वस्थ है। "वे इतिहास की सूखी रूपरेखा पर तत्कालीन व्यापक पद्धति, उन्नति या अवनति के कारणो और रहस्यो का रंग चढा देते हैं। व्यक्तियो और समूहो की वृत्तियो का ही नही उन विचारधाराओं का भी उल्लेख करते हैं जिनका सामाजिक जीवन के निर्माण मे हाथ रहा है। इस तरह जीवन की अन्त प्रेरणा दर्शन को और बहि विकास इतिहास को मानकर वे दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देते है।" भारत के गरिमामय सांस्कृतिक इतिहास के प्रति प्रसाद की श्रद्धा और अनुराग को अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन ऐतिहासिक परिवेश की रहस्यमयता और रसात्मकता पर ही उनकी दृष्टि नही है। उनकी ऐतिहासिक चेतना सशक्त और चेतन है जो नायक-नायिका परिकल्पना मे सांस्कृतिक उदात्तता के रूप मे प्रकट हुई है। आधुनिक संदर्भ मे उनकी ऐतिहासिक चेतना ने राष्ट्रीय भावना और नव जागरण का रूप ग्रहण किया है। जो राजनीतिक न होकर देश की मिट्टी और प्रकृति के प्रति प्रेम है। यहाँ तक कि विदेशी कार्नेलिया आदि भी उसकी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक गुण-गाथा गाते हैं—'अरुण यह मधुमय देश हमारा।' यह सांस्कृतिक चेतना भारत के इतिहास मे हिन्दू प्रशासन काल की है। प्रसाद ने परवर्ती मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना को मुस्लिम प्रशासन मे प्राय भोग विलास के कारण ह्रासोन्मुख माना है। कही कही स्वच्छन्द प्रेम (नूरी, दासी आदि कहानिया) और हिन्दू नव जागरण (शेर सिंह का शस्त्र समर्पण, पेशाला की प्रतिध्वनि आदि कविताएँ) की ओर भी संकेत मिलता है। आधुनिक दृष्टि से मध्यकालीन विलासिता के विरोध को प्रसाद की हिन्दू साम्प्रदायिकता समझनी नहीं चाहिये। उनकी सांस्कृतिक भावना स्वच्छन्द और मजहबी साम्प्रदायिक संकीर्णता से मुक्त भारतीय आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली है।

आधुनिक जीवन सन्दर्भ और सांस्कृतिक चेतना

प्रसाद-साहित्य मे जीवन के पारिवारिक सामाजिक पहलुओं का निरूपण प्रधानत आधुनिक भारतीय जीवन के सन्दर्भ मे हुआ है। वैदिक ऐतिहासिक प्राचीन भारतीय जीवन की अभिव्यक्ति मे केवल पारिवारिक सामाजिक चेतना की व्यजना करते हुए मानसिक या आध्यात्मिक सांस्कृतिक चेतना के विकास के साथ उसका सम्बन्ध जोडा गया है। बहिर्मुखी जीवन के सस्कारो और सम्बन्धो को तथा पाश्चात्य सस्कृति एव चिंतन के कारण उनमे परिवर्तन को आधुनिक जीवन की गति विधि से सबद्ध रचनाओ मे रूप मिला है। विधाओ की दृष्टि से काव्य-नाटको मे पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना और तात्विक चिंतन की प्रधानता है जबकि उपन्यास कहानियो मे रूढ परम्परा और नवीन चेतना का सघर्ष दिखाते हुए आधुनिक सदर्भ मे आदर्श पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था की ओर सकेत करते हुए नई सांस्कृतिक चेतना के विकास की आधारभूमि प्रस्तुत की गई हैं। पारिवारिक सामाजिक जीवन मे सांस्कृतिक सस्कारिकता का लौकिक रूप व्यक्त होता है जिसे आधार बनाकर मनुष्य भावात्मक और आध्यात्मिक साधना के द्वारा उदात्त तथा व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर पहुचता है।

रूढ भारतीय पारिवारिक व्यवस्था मे प्रेम के स्वच्छन्द प्रसार के लिये स्थान नही रह गया है। पति पत्नी सम्बन्ध ही नही अन्य पारिवारिक सम्बन्ध भी बिगड गए हैं जिनके प्रति 'ककाल' मे विद्रोह हुआ है। सभ्य समाज से दूर रहने वाले कजरो, इरानियो और बजारो के उन्मुक्त जीवन मे प्रेम के प्रसार का चित्रण कहानियो मे है। पारिवारिक जीवन और उसमे तेजस्विता नारी की भूमिका का चित्र 'तितली' उपन्यास प्रस्तुत करता है। नर नारी सम्बन्धो मे प्रसाद ने पाश्चात्य व्यक्तिवादी दृष्टि का विरोध करके भारतीय दम्पति भाव को ही स्वीकार किया है। लेकिन वैवाहिक व्यवस्था की अपेक्षा प्रेम के आधार पर दोनो के सहभाव को अधिक महत्व दिया गया है।

मध्यकालीन दृष्टि, मानसिकता और सस्कारो के कारण आधुनिक भारतीय सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त और विकृत हो गया है। उसमे मानवीय सवेदना के लिये स्थान नही रह गया। पाश्चात्य व्यक्तिवादिता ने उसे और एक धक्का दिया है। सामाजिक विकृति 'ककाल' मे प्रस्तुत है तो 'कामायनी' के इडा और सघर्ष सर्गो मे सामाजिक विषमता के कारणो पर विचार करते हुए समरसता की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। लौकिक स्तर पर बौद्धदर्शन का आधार लेकर करुणा, विश्व मानव प्रेम और मानवता के द्वारा सामाजिक जीवन की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। साधु सन्यासियो की कहानियो मे, बौद्ध धर्म और दर्शन से सम्बन्धित नाटकीय प्रसगों एव कहानियो मे यह बात देखने को मिलती है। यह सही है कि आर्थिक मार्क्सवादी दृष्टि से यह सामाजिक समस्याओ का समाधान नहीं है। प्रसाद की भारतीय दृष्टि उसे स्वीकारने के लिये तैयार नही है। इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यातव्य है कि प्रसाद ने नारी को चेतनामयी कहते हुए भी उसे करुणामयी और सेवामयी रूप मे चित्रित किया है और उसके द्वारा सामाजिक जीवन की समस्या का समाधान किया है—'आसू के भीगे अचल पर मन का सब कुछ रखना होगा।'[८] प्रसाद की नारी घर से बाहर निकलती है, पर सहगामिनी के रूप मे उसकी सामाजिक भूमिका स्पष्ट नही है। सामाजिक जीवन सघर्ष के आर्थिक आधार पर ध्यान न देकर उन्होने पाश्चात्य व्यक्तिवादी चेतना को अपनाकर भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि से उसे मिलाते हुए व्यक्ति और समाज मे समरसता स्थापित करने का प्रयत्न किया है—'चेतना समुद्र में जीवन लहरो सा बिखर पडा है, कुछ छाप व्यक्तिगत अपना निर्मित आकार खडा है।' 'सब मे घुल मिलकर रसमय रहता है, यह भाव चरम है।'[६]

प्रसाद की दृष्टि सामाजिक चेतना से, पारिवारिक सम्बन्धो से भी अधिक स्वच्छन्द प्रेम भावना पर केन्द्रित है। भारतीय सास्कृतिक भावना मे बहिर्मुखी जीवन की अपेक्षा मानसिक चेतना पर अधिक बल है। इसी दृष्टि से प्रसाद-साहित्य का अनुशीलन होना चाहिये। प्रसाद ने आधुनिक सदर्भो को भुलाकर भौतिक जीवन की उपेक्षा की हो, ऐसी बात नही है। उनका कहना है कि "तप नहीं केवल जीवन सत्य" है[१०] और "तू मननशील कर कर्म अभय"।[११] "यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन, तुम उसका पटल खोलने मे परिकर कसकर बन कर्मलीन।"[१२] लेकिन श्रद्धाहीन तामसी और राजसी कर्म से मनुष्य का कल्याण नही हो सकता।" बुद्धिवाद के विकास मे, अधिक सुख की खोज मे, दुःख मिलना स्वाभाविक है।"[१३] प्रसाद का आधुनिक बोध भारतीय सास्कृतिक साधना म निष्काम या श्रद्धामय कर्मयोग तक सीमित है। उससे आगे भौतिक सामाजिक सस्कारिता को वे स्वीकार नही करते। वह भौतिक सभ्यता मात्र है।

भारतीय सस्कृति का नया आख्यान प्रसाद का वैशिष्ट्य

सामान्य दृष्टि से देखने पर प्रसाद साहित्य की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक या आधुनिक प्रतीत होती है। उस पृष्ठभूमि पर चित्रित जीवन की गति-विधि की गहराई मे जाने पर स्पष्ट पता चलता है कि प्रसाद वस्तु और उसके बाह्री स्वरूप को साधन मान कर व्यक्तिवादी और आत्मवादी दृष्टि से सास्कृतिक चेतना और उसके विकास को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। जीवन बदलता जाता है। उसकी पहले की स्थिति, इतिहास की ओर जाने से ही कोई साहित्यकार परम्परावादी नही हो जाता। आधुनिक सदर्भ को समझने के लिए इतिहास का आकलन आवश्यक है। "है परपरा लग रही यहा, ठहरा जिसमे जितना बल है"[१४] कहते हुए अपने पात्रो के कर्मठ जीवन के द्वारा कर्ममय जीवन का सन्देश देनेवाला साहित्यकार कल्पना लोको मे विहार करनेवाला नही हो सकता। कर्म के द्वारा भौतिक मानव-जीवन का, उसकी सभ्यता का विकास होता है। साथ ही भौतिक परिवेश के अनुरूप मानसिक सस्कारिता या सास्कृतिक चेतना का विकास होता जाता है। इस सत्य को पहचानते हुए प्रसाद ने अपनी रचना मे सभ्यता और सस्कृति के विकास की कहानी प्रस्तुत की। प्रसाद की सास्कृतिक अवधारणा केवल प्राचीन भारतीय सस्कृति पर आधारित नही है और न आधुनिक जीवन मे उसका आग्रह करनेवाली पुनरुत्थानवादी है।

प्रसाद ने जीवन के बाह्य परिवेश और आन्तरिक चेतना का, सभ्यता और सस्कृति का स्पष्ट अन्तर किया है। सभ्यता का लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति है। प्रागैतिहासिकाल मे भूख और काम की आवश्यकताओ से आरम्भ होकर (चित्र मन्दिर) कालक्रम मे वे आवश्यकताएँ बढती गई। उनके कारण जीवन मे सघर्ष बढता गया और बार-बार प्राकृतिक प्रकोप और प्रलय हुए। मनुष्य की महत्वाकाक्षा की कोई सीमा नही रह गई। "अब तो भाव और भाषा मे कृत्रिमता आ चली।"[१५] इसलिए कवि कहते हैं कि "लौट चला उस नैसर्गिक जीवन की ओर, क्यो कृत्रिमता के पीछे दौड लगा रहे हो।"[१६] सभ्यता के कृत्रिम वातावरण मे सास्कृतिक चेतना के विकास की बहुत कम गुजाइश है।

आधुनिक सभ्यता के आडम्बरो के वातावरण मे सच्ची सास्कृतिक चेतना के ... के लिये प्रसाद ने प्रकृति की ओर पुन प्रस्थान और प्राकृतिक नैसर्गिक जीवन का आवाहन [illegible] ... मूल प्रेरणा रोमाटिक स्वच्छन्दतावाद से हो सकती है, लेकिन प्रसाद ने ... परिधि म, उसके अनुरूप ग्रहण किया। स्वच्छन्दतावाद ने मानव ज[illegible] ... को ... सकता और आधुनिककालीन औद्योगिक परिस्थितियो तथा [illegible] ... के

विरुद्ध विद्रोह करके मानव मन और जीवन के उन्मुक्त प्रसार के लिए आवश्यक अनुकूल चेतना भूमि दी। प्राकृतिक साहचर्य ने भाव-विचारों का नैसर्गिक विकास करते हुए सांस्कृतिक विकास का मार्ग सुलभ कर दिया। प्रसाद ने "ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे धीरे" कहकर प्रकृति की ऐकान्तिक गोद में पहुँचने की रोमांटिक भावना व्यक्त की तो सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन के संधिस्थल आश्रमों एवं आश्रम जीवन तथा आध्यात्मिक साधन के केन्द्र तपोवनों की भी बारबार चर्चा की। यहीं भारतीय संस्कृति पनप कर लौकिक पारिवारिक और सामाजिक जीवन की ओर प्रसरित हुई। व्यावहारिक धरातल पर उसने जीवन को धर्मबद्ध और संस्कृत बनाया। 'कामना' नाटक में प्रसाद ने सांस्कृतिक विकास में प्रकृति की सच्ची भूमिका को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। वह भोग विलास और प्राकृतिक पदार्थों के रूप में ऐश्वर्य की प्राप्ति का साधन नहीं है—"उदार प्रकृति बल, सौंदर्य और स्फूर्ति के फुहारे छोड़ रही है।"[१७]

प्रसाद ने आधुनिक भारतीय जीवन के सन्दर्भ में परंपरागत भारतीय संस्कृति का जो नया आख्यान किया, वह सन्तुलित और कालोचित है। उसमें परम्परा और नवीनता का सामंजस्य स्थापित हुआ है। एक ओर प्राचीन रूढ़िवादिता का विरोध है तो दूसरी ओर नवीन विश्रृंखलता का भी समर्थन नहीं है। मध्ययुग और आधुनिक काल में विदेशी और पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति का जो गहरा अबाधनीय प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा है, प्रसाद ने उसे नकारा है। यह प्रभाव भारतीय संस्कृति को भोग विलास और भौतिकता की ओर ले जाने वाला है।[१८] "सोने के लिये सब पागल हैं। अकारण कोई बैठने नहीं देता। जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य है।"[१९] आजकल सांस्कृतिक विकास के लिये जो घातक तत्व भारतीय जीवन में प्रविष्ट हुए हैं, वे इस प्रकार हैं—१ अतिवादी व्यक्ति स्वातंत्र्य जो सामाजिक जीवन में समरसता को समाप्त कर देता है। व्यक्तिवादी होकर वैयक्तिक चेतना, साधना और मूल्यों पर बल देते हुए भी उन्होंने व्यक्तिवादी विश्रृंखलता को अस्वीकार किया है। २ भारतीय दम्पति-भाव को ही आदर्श मानकर पाश्चात्य प्रभाव से विकसित नारी जीवन में वैयक्तिक विश्रृंखलता और स्वतन्त्रता की भावना का विरोध किया है। ३ संस्कृति मन को चेतन और स्पन्दनशील बनाती है। भोग विलास मन को दुर्बल करता है। ऐश्वर्य के वातावरण में प्रेम के नाम पर व्यक्ति का ही नहीं, जाति का भी पतन होता है। प्रसाद ने प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृति में, मध्यकालीन ह्रासोन्मुख जीवन और मुस्लिम संस्कृति में तथा आधुनिक जीवन में काम सम्बन्धों की विकृति के दुष्परिणामों को (कामायनी, स्वर्ग के खण्डहर में और कंकाल) दिखाते हुए भोग विलास को सांस्कृतिक विकास में सबसे अधिक बाधक तत्व माना है। ४ जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रसाद ने आधुनिक भौतिक विकास, अर्थ-प्रधान व्यवस्था और व्यापारी दृष्टि के कारण आधुनिक जीवन को दुखमय माना है। 'कामना' का प्रतिपाद्य भौतिक सभ्यता बनाम संस्कृति का द्वन्द्व है। कामायनी में बुद्धिवाद और वैज्ञानिक उन्नति का विनाशकारी रूप दिखाकर भौतिक सभ्यता और सांस्कृतिक चेतना में सन्तुलन पर बल दिया गया है।

'कामना' 'कामायनी' आदि कुछ रचनाओं में प्रसाद का रचनात्मक स्वर दार्शनिक या आध्यात्मिक हो सकता है, लेकिन उनके समस्त साहित्य का परिवेश और लक्ष्य प्रधानतः सांस्कृतिक है। उक्त दोनों कृतियों में जीवन-दर्शन और चिंतन के द्वारा वैचारिक धरातल पर संस्कृति के स्वरूप और महत्व का प्रतिपादन किया गया है तो अन्य रचनाओं में उसके आधारभूत तत्वों और पहलुओं की अभिव्यक्ति हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि को अपनाकर संस्कृति की विशिष्ट भारतीय धारा का आधुनिक संदर्भ में नया आख्यान प्रसाद साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। उसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं—(१) भारतीय संस्कृति

अह का इद के साथ समन्वय हो जाता है[२२] जिसे प्रसाद रहस्यवाद कहते हैं। व्यक्तिवादी और आत्मवादी प्रसाद की दृष्टि मे व्यक्ति-मन ही सास्कृतिक विकास का केन्द्र है। व्यक्तित्व का प्रौढ, सतुलित और समग्र विकास, सास्कृतिक विकास का—पूर्ण पुरुष होने का—द्योतक है। आत्मवादी दृष्टि मे व्यक्ति मन पदार्थ या परिस्थिति को अभीष्ट रूप मे ढालकर गतिशील और विकासशील होता है। मन की चेतना जीवन की नियामिका शक्ति है। उसके जाग्रत होने मे मनुष्य के सास्कृतिक और आध्यात्मिक विकास का रहस्य छिपा है। प्रसाद के अनुसार यह श्रद्धा अर्थात् आस्था, विश्वास और भावना के द्वारा ही सम्भव है।

प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति अनुराग रखते हुए भी प्रसाद रूढ परम्परावादी या पुनरुत्थानवादी नहीं हैं। भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और विकासवादी है। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के विकास को दिखाया है। उनके उत्थान और पतन की कहानी प्रस्तुत की है। भारतीय सास्कृतिक परम्परा को उन्होंने नये भावबोध के साथ आधुनिक सन्दर्भ म ग्रहण किया है। अपने आधुनिक परिवेश और उसम व्याप्त उदारवादी, व्यक्तिवादी, स्वच्छदतावादी, मानवतावादी और आत्मवादी विचारो से प्रभावित होकर उन्होंने भारतीय सस्कृति को नये रूप मे देखा, परखा और उसके नये विकास की प्रेरणा दी।

प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना के दो धरातल दिखाई देते हैं। एक लौकिक धरातल है जिससे व्यक्ति मन और जीवन की सस्कारिता पर बल दिया गया है। दूसरा आध्यात्मिक धरातल है। मन और जीवन के सुसस्कृत होने के बाद मनुष्य अन्तमुखी साधना के द्वारा आध्यात्मिक भाव भूमि पर पहुचता है और उसकी सास्कृतिक चेतना उदात्त रूप धारण करती है। प्रसाद की दृष्टि मे सास्कतिक विकास का चरम रूप आध्यात्मिक है।

सदर्भ सकेत

१ जयशकर प्रसाद कामायनी-श्रद्धा सग पृ० ५२, स० २०००।
२ वही पृ० ५०।
३ जयशकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबध पृ० ५०, स० २०१९।
४ जयशकर प्रसाद कामायनी—लज्जा सग पृ० ८३।
५ नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य पृ० ३१९, स० २०१३।
६ नन्ददुलारे वाजपेयी प्रसाद के 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध का प्राक्कथन, पृ० ५।
७ जयशकर प्रसाद चन्द्रगुप्त पृ० ४७, स० २००२।
८ जयशकर प्रसाद कामायनी – लज्जा सग, पृ० ८७।
९ वही, आनन्दसर्ग, पृ० २२९
१० वही, श्रद्धासग, पृ० ५०
११ वही, दर्शन सग, पृ० ११५।
१२ वही इडा सग, पृ० १४२।
१३ वही, आमुख, पृ० ७।
१४ वही, काम सग, पृ० ६४।
१५ जयशकर प्रसाद, कामना पृ० ५४, स० २००१।
१६ वही, पृ० ६८।

के धार्मिक आधार को तात्विक रूप देते हुए रूढ व्यवस्थाओ और बाह्य सस्कारो का विरोध किया गया है। हिदू, बौद्ध, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी धर्मो के गुण दोषो की आलोचना के साथ सच्ची मानवीय धार्मिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने का प्रयत्न किया गया। धार्मिक चेतना का एक पहलू मानवीय है तो दूसरा आध्यात्मिक दार्शनिक है। आधुनिक वैज्ञानिक युग के तत्वान्वेषण के अनुरूप प्रसाद ने धार्मिक भावना मे मानसिक चेतना और उन्नयन का आग्रह किया है। (२) भारतीय सस्कृति म प्रकृति प्रेम, सौदर्य प्रेम और देश प्रेम को आधुनिक राष्ट्रीय भावना और आन्दोलन के सदर्भ मे राष्ट्रीय सास्कृतिक नवजागरण का रूप दिया गया है। प्राकृतिक और मानवीय सौदय भावना उदात्त तथा उन्मुक्त रूप मे प्रस्तुत हुई। (३) आधुनिक चेतना के प्रभाव के कारण पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धो मे परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर उन्मुक्त प्रेम, सात्विक स्नेह और मानवीय सवेदना का आग्रह किया गया है। (४) प्रसाद की दार्शनिक विचारधारा के तीन प्रधान बिन्दु नियतिवाद, समरसता और आनन्दवाद यद्यपि मूल रूप म भारतीय दार्शनिक चिंतन से लिये गये हैं, उनकी नवीन व्याख्या भारतीय सस्कृति को नवजीवन प्रदान करने वाली है। नियति मानव जीवन की नियामिका शक्ति है। वह भारतीय निष्काम कम या कमयोग का पोषक सिद्धात है। नियति को अपनाकर मनुष्य व्यक्तिगत जीवन मे कमठ होकर आगे बढता ही है, राष्ट्रीय और मानवीय जीवन के विकास मे भी वह क्रियाशील होता है। प्रसाद का समरसता का सिद्धात केवल आध्यात्मिक नही है। वह मनुष्य के कममय जीवन को सन्तुलित रखनेवाला है। इसलिये प्रसाद ने जीवन के सभी पहलुओ मे—व्यक्ति मन, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, व्यक्ति और समाज, शासक और शासित सभी मे समरसता आवश्यक माना है। आनन्दवाद भी आध्यात्मिक होने के अतिरिक्त लौकिक भी है। "कम का भोग, भोग का कम, यही जड का चेतन आनन्द" है।२० जीवन मे आनन्द के स्रोत सौंदय, प्रेम और करुणा हैं। आध्यात्मिक दार्शनिक स्तर पर भी प्रसाद ने समरसता और आनन्दवाद के सिद्धातो मे रूढ मनस्थितियो और विचारो की अपेक्षा मानसिक चेतना को अधिक महत्व दिया है। नियतिवाद, समरसता और आनन्दवाद तीनो प्रवृत्तिमार्गी कम सिद्धात के प्रतिपादक हैं। आधुनिक दृष्टि निष्क्रिय आनन्द प्राप्ति का नही, सक्रिय जीवन या कम का समथक है। प्रसाद ने भारतीय सस्कृति का जो नया आख्यान किया है वह उदारतावाद, स्वच्छन्दतावाद, मानवतावाद और आध्यात्मिक चेतनावाद पर आधारित है।

प्रसाद की सास्कृतिक चेतना का एक विशिष्ट पहलू मन की सस्कारिता है। भारतीय सस्कृति मे ज्ञान, भक्ति, योग और निष्काम कम इस सस्कारिता के साधन माने गये है। प्रसाद ने उसे मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। कामायनीकार के अनुसार चिन्ता, वासना, ईर्ष्या आदि के द्वारा मन का पतन होता है और आशा, श्रद्धा, काम, लज्जा आदि के द्वारा मन का उन्नयन। मनु की कहानी के द्वारा स्पष्ट होता है कि अनुदात्त भाव विचारो के परिष्कार और उदात्त भाव विचारो के प्रसार मे ही सास्कृतिक विकास की आधार भूमि तैयार होती है। मन की इस सस्कारिता मे मानव मन क्रमश सभ्यता से मानवीय सवेदना, भावात्मक स्पदनशील्ता और सौंदय-चेतना की ओर अग्रसर होता है और सास्कृतिक विकास की नीव पडती है। मनुष्य के प्रत्येक कम मे सौंदय दृष्टि सभ्यता स सस्कृति की ओर प्रस्थान है—प्रसाद के शब्दो म 'सुन्दरता का कुछ बढे मान'।२१ 'कामायनी' के पूर्वार्द्ध मे मनु के मन के परिष्कार, विकास और प्रसार की कहानी है तो उत्तरार्द्ध मे उसके आध्यात्मिक उन्नयन की कथा है। अह कामवासना और स्वाथ से मुक्त होकर उन्मुक्त भावात्मक स्पदनशीलता मे मन के रागात्मक सम्बन्ध व्यापक बनते हैं। अपने और पराये के भेदभाव से ऊपर उठकर आत्मतत्व या सृष्टिव्यापी 'चिति' को पहचानने पर समस्त मानवता क साथ हीं नहीं, मानवेतर प्रकृति के साथ भी सम्बन्ध स्थापित होता है। जड और चेतन का अन्तर मिटकर

अह का इद के साथ समन्वय हो जाता है[22] जिसे प्रसाद रहस्यवाद कहते हैं। व्यक्तिवादी और आत्मवादी प्रसाद की दृष्टि मे व्यक्ति-मन ही सास्कृतिक विकास का केन्द्र है। व्यक्तित्व का प्रौढ, सतुलित और समग्र विकास, सास्कृतिक विकास का—पूर्ण पुरुष होने का—द्योतक है। आत्मवादी दृष्टि मे व्यक्ति-मन पदार्थ या परिस्थिति को अभीष्ट रूप मे ढालकर गतिशील और विकासशील होता है। मन की चेतना जीवन की नियामिका शक्ति है। उसके जाग्रत होने मे मनुष्य के सास्कृतिक और आध्यात्मिक विकास का रहस्य छिपा है। प्रसाद के अनुसार यह श्रद्धा अर्थात् आस्था, विश्वास और भावना के द्वारा ही सम्भव है।

प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति अनुराग रखते हुए भी प्रसाद रूढ परम्परावादी या पुनरुत्थान-वादी नही हैं। भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और विकासवादी है। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के विकास को दिखाया है। उनके उत्थान और पतन की कहानी प्रस्तुत की है। भारतीय सास्कृतिक परम्परा को उन्होंने नये भावबोध के साथ आधुनिक सन्दर्भ में ग्रहण किया है। अपने आधुनिक परिवेश और उसमे व्याप्त उदारवादी, व्यक्तिवादी, स्वच्छदतावादी, मानवतावादी और आत्मवादी विचारो से प्रभावित होकर उन्होंने भारतीय सस्कृति को नये रूप मे देखा, परखा और उसके नये विकास की प्रेरणा दी।

प्रसाद की सास्कृतिक चेतना के दो धरातल दिखाई देते हैं। एक लौकिक धरातल है जिससे व्यक्ति-मन और जीवन की सस्कारिता पर बल दिया गया है। दूसरा आध्यात्मिक धरातल है। मन और जीवन के सुसस्कृत होने के बाद मनुष्य अन्तर्मुखी साधना के द्वारा आध्यात्मिक भाव भूमि पर पहुचता है और उसकी सास्कृतिक चेतना उदात्त रूप धारण करती है। प्रसाद की दृष्टि मे सास्कृतिक विकास का चरम रूप आध्यात्मिक है।

सदर्भ सकेत

१. जयशकर प्रसाद कामायनी श्रद्धा सर्ग पृ० ५२, स० २०००।
२ वही पृ० ५०।
३ जयशकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबध पृ० ५०, स० २०१९।
४ जयशकर प्रसाद कामायनी—लज्जा सर्ग पृ० ८३।
५ नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य पृ० ३१९, स० २०१३।
६ नन्ददुलारे वाजपेयी प्रसाद के 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध का प्राक्कथन, पृ० ५।
७ जयशकर प्रसाद चन्द्रगुप्त पृ० ४७, स० २००२।
८ जयशकर प्रसाद कामायनी – लज्जा सर्ग, पृ० ८७।
९ वही, आनन्दसर्ग, पृ० २२९
१० वही, श्रद्धासर्ग, पृ० ५०
११ वही, दर्शन सर्ग, पृ० ११५।
१२ वही इडा सर्ग, पृ० १४२।
१३ वही, आमुख, पृ० ७।
१४ वही, काम सर्ग, पृ० ६४।
१५ जयशकर प्रसाद, कामना पृ० ५४, स० २००१।
१६ वही, पृ० ६८।

के धार्मिक आधार को तात्विक रूप देते हुए रूढ व्यवस्थाओ और बाह्य सस्कारो का विरोध किया गया है। हिन्दू, बौद्ध, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी धर्मो के गुण-दोषो की आलोचना के साथ सच्ची मानवीय धार्मिक चेतना को उदबुद्ध करने का प्रयत्न किया गया। धार्मिक चेतना का एक पहलू मानवीय है तो दूसरा आध्यात्मिक-दार्शनिक है। आधुनिक वैज्ञानिक युग के तत्वान्वेषण के अनुरूप प्रसाद ने धार्मिक भावना मे मानसिक चेतना और उन्नयन का आग्रह किया है। (२) भारतीय सस्कृति मे प्रकृति प्रेम, सौंदर्य प्रेम और देश प्रेम को आधुनिक राष्ट्रीय भावना और आन्दोलन के सदभ म राष्ट्रीय सास्कृतिक नवजागरण का रूप दिया गया है। प्राकृतिक और मानवीय सौंदय भावना उदात्त तथा उन्मुक्त रूप मे प्रस्तुत हुई। (३) आधुनिक चेतना के प्रभाव के कारण पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धो मे परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर उन्मुक्त प्रेम, सात्विक स्नेह और मानवीय सवेदना का आग्रह किया गया है। (४) प्रसाद की दार्शनिक विचारधारा के तीन प्रधान बिन्दु नियतिवाद, समरसता और आनन्दवाद यद्यपि मूल रूप मे भारतीय दार्शनिक चिंतन से लिये गये हैं, उनकी नवीन व्याख्या भारतीय सस्कृति को नवजीवन प्रदान करने वाली है। नियति मानव जीवन की नियामिका शक्ति है। वह भारतीय निष्काम कम या कमयोग का पोषक सिद्धात है। नियति को अपनाकर मनुष्य व्यक्तिगत जीवन मे कमठ होकर आगे बढता ही है, राष्ट्रीय और मानवीय जीवन के विकास मे भी वह क्रियाशील होता है। प्रसाद का समरसता का सिद्धात केवल आध्यात्मिक नही है। वह मनुष्य के कममय जीवन को सन्तुलित रखनेवाला है। इसलिये प्रसाद ने जीवन के सभी पहलुओ मे—व्यक्ति मन, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, व्यक्ति और समाज, शासक और शासित सभी मे समरसता आवश्यक माना है। आनन्दवाद भी आध्यात्मिक होने के अतिरिक्त लौकिक भी है। "कम का भोग, भोग का कम, यही जड का चेतन आनन्द" है।[२०] जीवन मे आनन्द के स्रोत सौंदर्य, प्रेम और करुणा हैं। आध्यात्मिक-दार्शनिक स्तर पर भी प्रसाद ने समरसता और आनन्दवाद के सिद्धातो मे रूढ मनस्थितियो और विचारो की अपेक्षा मानसिक चेतना को अधिक महत्व दिया है। नियतिवाद, समरसता और आनन्दवाद तीनो प्रवृत्तिमार्गी कम सिद्धात के प्रतिपादक हैं। आधुनिक दृष्टि निष्क्रिय आनन्द प्राप्ति का नही, सक्रिय जीवन या कर्म का समथक है। प्रसाद ने भारतीय सस्कृति का जो नया आख्यान किया है वह उदारतावाद, स्वच्छन्दतावाद, मानवतावाद और आध्यात्मिक चेतनावाद पर आधारित है।

प्रसाद की सास्कृतिक चेतना का एक विशिष्ट पहलू मन की सस्कारिता है। भारतीय सस्कृति मे ज्ञान, भक्ति, योग और निष्काम कम इस सस्कारिता के साधन माने गये है। प्रसाद ने उसे मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। कामायनीकार के अनुसार चिन्ता, वासना, ईर्ष्या आदि के द्वारा मन का पतन होता है और आशा, श्रद्धा, काम, लज्जा आदि के द्वारा मन का उन्नयन। मनु की कहानी के द्वारा स्पष्ट होता है कि अनुदात्त भाव विचारो के परिष्कार और उदात्त भाव-विचारो के प्रसार मे ही सास्कृतिक विकास की आधार भूमि तैयार होती है। मन की इस सस्कारिता मे मानव मन क्रमश सभ्यता से मानवीय सवेदना, भावात्मक स्पदनशीलता और सौंदर्य चेतना की ओर अग्रसर होता है और सास्कृतिक विकास की नीव पडती है। मनुष्य के प्रत्येक कम मे सौंदय दृष्टि सभ्यता से सस्कृति की ओर प्रस्थान है—प्रसाद के शब्दो मे 'सुन्दरता का कुछ बढे मान'।[२१] 'कामायनी के पूर्वार्द्ध मे मनु के मन के परिष्कार विकास और प्रसार की कहानी है तो उत्तरार्द्ध म उसके आध्यात्मिक उन्नयन की कथा है। वह कामवासना और स्वाथ से मुक्त होकर उन्मुक्त भावात्मक स्पदनशीलता मे मन के रागात्मक सम्बन्ध व्यापक बनते हैं। अपने और पराये के भेदभाव से ऊपर उठकर आत्मतत्व या सृष्टिव्यापी 'चिति' को पहचानने पर समस्त मानवता के साथ ही नही, मानवेतर प्रकृति के साथ भी सम्बन्ध स्थापित होता है। जड और चेतन का अन्तर मिटकर

अह का इद के साथ समन्वय हो जाता है[११] जिसे प्रसाद रहस्यवाद कहते हैं। व्यक्तिवादी और आत्मवादी प्रसाद की दृष्टि मे व्यक्ति-मन ही सास्कृतिक विकास का केन्द्र है। व्यक्तित्व का प्रौढ, सतुलित और समग्र विकास, सास्कृतिक विकास का—पूर्ण पुरुष होने का—द्योतक है। आत्मवादी दृष्टि मे व्यक्ति मन पदार्थ या परिस्थिति को अभीष्ट रूप मे ढालकर गतिशील और विकासशील होता है। मन की चेतना जीवन की नियामिका शक्ति है। उसके जाग्रत होने मे मनुष्य के सास्कृतिक और आध्यात्मिक विकास का रहस्य छिपा है। प्रसाद के अनुसार यह श्रद्धा अर्थात् आस्था, विश्वास और भावना के द्वारा ही सम्भव है।

प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति अनुराग रखते हुए भी प्रसाद रूढ परम्परावादी या पुनरुत्थान-वादी नही हैं। भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और विकासवादी है। उन्होने ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के विकास को दिखाया है। उनके उत्थान और पतन की कहानी प्रस्तुत की है। भारतीय सास्कृतिक परम्परा को उन्होने नये भावबोध के साथ आधुनिक सन्दर्भ मे ग्रहण किया है। अपने आधुनिक परिवेश और उसमे व्याप्त उदारवादी, व्यक्तिवादी, स्वच्छदतावादी, मानवतावादी और आत्मवादी विचारो से प्रभावित होकर उन्होने भारतीय सस्कृति को नये रूप मे देखा, *परखा और उसके नये विकास की प्रेरणा दी।*

प्रसाद की सास्कृतिक चेतना के दो धरातल दिखाई देते हैं। एक लौकिक धरातल है जिससे व्यक्ति-मन और जीवन की सस्कारिता पर बल दिया गया है। दूसरा आध्यात्मिक धरातल है। मन और जीवन के सुसस्कृत होने के बाद मनुष्य अन्तर्मुखी साधना के द्वारा आध्यात्मिक भाव भूमि पर पहुचता है और उसकी सास्कृतिक चेतना उदात्त रूप धारण करती है। प्रसाद की दृष्टि मे सास्कृतिक विकास का चरम रूप आध्यात्मिक है।

सदर्भ सकेत

१ जयशकर प्रसाद कामायनी-श्रद्धा सर्ग पृ० ५२, स० २०००।
२ वही पृ० ५०।
३ जयशकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबध पृ० ५०, स० २०१९।
४ जयशकर प्रसाद कामायनी—लज्जा सर्ग पृ० ८३।
५ नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य पृ० ३१९, स० २०१३।
६ नन्ददुलारे वाजपेयी प्रसाद के 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध का प्राक्कथन, पृ० ५।
७ जयशकर प्रसाद चन्द्रगुप्त पृ० ४७, स० २००२।
८ जयशकर प्रसाद कामायनी – लज्जा सर्ग, पृ० ८७।
९ वही, आनन्दसर्ग, पृ० २२९
१० वही, श्रद्धासर्ग, पृ० ५०
११ वही, दर्शन सर्ग, पृ० ११५।
१२ वही इडा सर्ग, पृ० १४२।
१३ वही, आमुख, पृ० ७।
१४ वही, काम सर्ग, पृ० ६४।
१५ जयशकर प्रसाद, कामना पृ० ५४, स० २००१।
१६ वही, पृ० ६८।

१७ जयशकर प्रसाद लहर पृ० १४, स० २००१।
१८ जयशकर प्रसाद कामना पृ० ३६।
१९ वही, पृ० ५९।
२० जयशकर प्रसाद कामायनी—श्रद्धा सग पृ० ५१।
२१ वही, ईर्ष्या सग पृ० १२४।
२२ जयशकर प्रसाद काव्य और कला तथा अ य निब ध, पृ० ६८। ●

राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय एकीकरण : लोक साहित्य का संदर्भ

डॉ० विद्याविन्दु सिंह

राष्ट्रीय एकीकरण की बात किये बिना यदि कही एक राष्ट्र की सत्ता का बोध होता है तो या तो खेती और खेती के साधनो मे या मागलिक उपादाना मे या फिर लोकसाहित्य के अभिप्रायो के वण्य विषय मे, बुनावट मे और लय विधान म। भले ही लोग कहे भोजपुरी लोकगीत अवधी लोकगीत, तमिल लोकगीत, कश्मीरी लोकगीत, परन्तु यदि व्याकरण का छिल्का उतार दें तो भीतर सब कुछ एक है। जो भी क्षेत्रीय रगत है, वह ऊपर है, भाव और आन्तरिक गठन के स्तर पर सब एक हैं। दूर से सुनें, भाषिक ध्वनियाँ न सुनें केवल धुन सुनें और देश के बाहर सुनें तो पहचान हो जाती है, मेरे देश का गीत है या कि दूसरे क्षेत्र का गीत भी यदि उसके अर्थ का विश्लेषण करें तो लगेगा, अरे इस अथ का गीत तो मेरे क्षेत्र मे गाया जाता है। यह एकता की पहचान बडे ही सहज और अचेत ढग से होती है और उसको अधिक होती है जो लोक मे रजित है, लोक से दूर नही है।

राष्ट्र का नाम भी कभी-कभी ही आता है, अन्यथा एक व्यापक देश के रूप मे देश की बात होती है। एक गीत है जिसका भाव है—'क्या उस देश मे कोयल नही बोलती, पपीहा पी-पी नही पुकारता, यदि कोयल बोलती, पपीहा पुकारता तो मेरे प्रवासी प्रिय को घर की याद कैसे नही आती, कैसे वे घर के लिए उत्कठित न होते।' लोक गीतो मे राष्ट्र की एकता की पहचान इसी प्रकार की सगुण पहचान है, कोरी शाब्दिक पहचान नही है, वहाँ कहने की जरूरत नही पडती कि राष्ट्र एक है, बल्कि वही भीतर अनुभव होता रहता है। जहाँ तक इस प्रकार के भाव हैं, वह सब एक हैं। दूसरे शब्दो मे—भावनात्मक स्तर पर एकता जब राजनीतिक होती है तो नही टिकती, भारतीय एकता कभी राजनीतिक नही रही। इस एकता की अवधारणा मे मानवीय सम्बन्धो मे निश्छल प्रेम की गहराई थी।

लोकगीतो मे राजनीतिक राष्ट्रीय एकता की बात भले ही स्पष्ट रूप मे मुखरित न हो पर उसकी एक देश की अवधारणा में भौगोलिक स्थानो का महत्व तो है, पर अधिक महत्व का नही। महत्व अधिक है तो पवित्र तीर्थों का है। तीर्थों की अवधारणा चारो धाम के रूप मे की गयी थी। भारत इन चारो धामो मे सिमट जाता था। सप्त नदियाँ उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारत के भू भाग मे प्रवाहित हैं, पवतो मे पश्चिमी घाट, सह्याद्रि, पूर्वी घाट, महेन्द्र, मलय पवत, सतपुडा पवत, विध्य की शृखला राजस्थान से शुरू होकर मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश से होती हुई बिहार तक फैली और ये पवत पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करते है तथा देश की एकता के प्रतीक हैं। तीर्थों की अवधारणा ही इसीलिए महर्षियो ने की थी कि सभी एक जगह से दूसरी जगह तीर्थाटन हेतु भ्रमण करें। आचाय और सत हर जगह घूमकर अपने आचरण का प्रसार करते थे और देश को एक सूत्र मे पिरोते थे। लोक मानस ने उन्हें सदा सम्मान दिया।

दूसरा भावना के स्तर का उदाहरण है समूची प्रकृति के साथ ओत प्रोत भाव, दूसरो को दुख न देने की भावना। एक लोकगीत का उदाहरण लें—

अब मन राम नाम गुन गाई ।
जगन्न जाव पात ना तूरब, ना बिरिछा के सताई ।
पात पात पर राम बसतु है वन्हहू का सीस नवाई ।
तीरथ जाव पांव ना धोउब, ना मूरति नहवाई ।
नदिया एक घाट बहु तेरे, काया के मल्नि-मलि धोवाई ।

किसी पत्ते को भी तोडकर न सताना, क्योंकि सबमे राम बसते हैं, यह व्यापक अनुभूति और तीर्थ मे जाकर पर न धोना, तीर्थो के प्रति सम्मान की पराकाष्ठा है । एक ही नदी, अनेको घाट हैं जिसमे काया के कलुष को मल मलकर धोना है । यह भावना ही एकता के भाव को अक्षुण्ण रखती है ।

दूसरो का दुख न देने की भावना का एक अन्य उदाहरण लें --

'निबिया के पेड जिन काटया ए बाबा, निबिया चिरैया बसेर
बिटियन जिनि दुख देउ मोरे बाबा, बिटिये चिरैयन की नाय ।'

चिडिया और बटियाँ एक सी है, इन्हे दुख न देने की सीख व्यापक मानवीय सवेदना की साक्षी है । लोक सस्कृति म गगा, वृक्ष, तुलसी आदि मनुष्य क जीवन के साझीदार हैं । सबके साथ ममता है तथा सबसे यह आशा है कि हमसे ममता करेंग । यहाँ तक कि विषैले जन्तुओ का भी आवाहन किया जाना है शुभ सस्कारो के अवसर पर । सृष्टि की एकता और जीवन की एकता के स्वरूप के इस प्रकार के उदाहरण लोक साहित्य में ही मिलते है ।

ऊपर से हर एक जनपदीय सस्कृति के रीतिरिवाज, अनुष्ठान भिन भिन्न लगते हैं, उनमें स्थानीय रगा की अलग-अलग छटा होनी है पर जब गहराई मे जायें तो भावना और अभिव्यक्ति दोनो ही स्तरो पर अद्भुत एकता दिखती है ।

हर क्षेत्र मे किसी भी शुभ काय से पूव देवी-देवताओ का आवाहन करके देवी-देवो के गीत गाये जाते हैं ।

देवी का सम्बन्ध सभी जगह किसी वृक्ष, पहाडी, टीला आदि से माना जाता है । निराकार रूप पर सवत्र बल दिया गया है, आकृति पर नही, भावना पर बल दिया गया है । पर सभी जगह लवग से, फूलों से, हल्दी की धार से उनकी पूजा की जाती है । दवी का आश्वासन देता हुआ रूप और भयावह रूप दोनो ही पूजा जाता है । जिसके आगे सभी बच्चे हैं । किसी प्रकार का भेदभाव नहीं । यह भी मात्र सयोग नही कि देश के हर भाग मे प्राय देवी की सेवा मे नियुक्त पुजारी ऐसे वग के होते हैं, जो पिछडे हुए वग के हैं । दवी की अराधना के माध्यम से लोक मानस उन्हे सम्मान दता आया है । इसी लिए लोक गीतो मे यह प्राथना बार-बार दुहराई जाती है कि जो आशीर्वाद तुमने मालिन नौटिन को दिया, जैसे उनको शीतल किया, वैसे ही सभी का करना । जैसे प्रकृति को तुमने फल से पूरित किया, वैसे ही मनुष्य को भी फल देना--

गहवर एपन मैया गहवर सेंदुर
घियना के धारि चढाओ मोरी माय ।
जैसे जुडवायू मइया मलिनी नौटिनियाँ,
वैसे सबै जन जुडायें मोरी माय ।
जैस फल मैया मोरी अमवा के दिहयू,
वैसे फल मनई के देहु मोरी माय ।

यहि कलयुग मा तीन अमर हैं,
पानी, पवन, गगा, धुरि मोरी माय ।।

पूरे देश के लोक साहित्य मे सद्भाव के प्रति मगलमय अप्रतिहत विश्वास है, मगल की अवधारणा भरे पूरेपन मे है। घर भरा हो धान से, चिडियाँ चहक रही हो, ऐसी कामना गीतो मे बार-बार की गयी है। विवाह सस्कार के अवसर पर भोर जगाया जाता है जिसमे कर्म की प्रधानता और सुख-समृद्धि की कामना की जाती है—

ऐ भोर भये भिनुसरवाँ, धरमवाँ के जुनियाँ,
चिरैया बन बोलइ मिरिग बन चूँगइ,
ऐ हर लैवें चले हरवहवा त बहुअरि जाते ।।
अरे जाई जगावा डिउहार बावा जासु दुहाई
ऐ मचियहि बइठी भवानी मइया दहिया बिलोरैं
ए दहिया त आवैं कमोरियन, दुधवा कै नारी बहैं ।।

भोर हो गयी, धर्म की वेला है। चिडिया वन मे बोलने लगी, पशु तृण चुगने लगे। हल लेकर किसान खेतो की ओर चल पडे, घर की बहुएँ चक्की पर बैठ गयी। जाकर सभी कुल देवताओ को जगा दो। माता भवानी मचिया पर बैठकर दही मथने लगी। कमोरे भरकर दही आ रही है, दूध की नालियाँ बह रही हैं।

जिस भरे पूरेपन की कामना की गयी है वह केवल भौतिक रूप मे ही नही मन से भी भरे रहने की कामना है। जिस घर मे स्वय अन्नपूर्णा हो, वहाँ तो समृद्धि होगी ही।

लोक साहित्य मे अन्याय के विरुद्ध सघर्ष करके सत्य की विजय होती है। केवल मगल का विश्वास ही नही है, पूर्ण सघर्ष करके मगल या अभ्युदय का अवसर आता दिखाया गया है।

अभिव्यक्ति के स्तर पर पूरे देश मे विभिन्न सस्कारो के अनुष्ठान, गीत एक से हैं। सर्वत्र मागलिक चिह्न जैसे कलश, हल्दी, आम्र पल्लव, पान सुपारी आदि एक से है, पूजन सामग्री जल, दूध, दधि, पुष्प, दूब, अक्षत, रोली, नारियल, हवन आदि एक से हैं। प्रादेशिकता और जातीयता से ऊपर उठकर सभी लोक गीतो मे एक सी व्यजना है, एक से बिम्ब हैं। लोकगीतो मे पुरइन पात सा फैलने और पान सा फेरा जाने का अभिप्राय सर्वत्र बार-बार व्यक्त हुआ है। पुरइन के पत्तो का फैलना समाज का फैलना है। पान के पत्ते सा फेरा जाना ऐसे स्नेह का सकेत है जो न अधिक ताप दे, न अधिक शीत।

परिवार को स्नेह सूत्र से जोडे रहने वाली बात तो प्राय प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतो मे व्यक्त हुई है। पारिवारिक सम्बन्धो की यह गूढ व्यजना परिवार से गाँव, गाव से जनपद, जनपद से प्रदेश और प्रदेश से देश तथा आगे चलकर पूरे विश्व को एक घेरे मे, एक सूत्र मे आबद्ध करती है। जीवन की सम्पूर्णता भी व्यक्त करने के लिए अनेक उपादानो, रिश्तो को एक जगह इकट्ठा करती है। भावना के स्तर पर बडे बूढो के प्रति आदर, पूर्व पुरुषो के प्रति कृतज्ञता के भाव आदि गुणो का विकास करने का अवसर देती है यह परपरा जिससे राष्ट्रीय एकता को अप्रत्यक्ष रूप से सहारा मिलता है।

सभी जगह के लोकगीतो म प्रश्नोत्तर शैली मिलती है। एक उदाहरण लें—

काहे बिनु सून अँगनवा ए बाबा, काहे बिनु सून लखराव,
काहे बिनु सून दुअरवा ऐ बाबा, काहे बिनु पोखरा तुहार
धिया बिनु सून अँगनवाँ ऐ बेटी, कोइलरि बिनु लखराव,
पूत बिनु सून दुअरवा ऐ बेटी, हसा बिनु पोखरा हमार ।।

यहाँ पुत्री पुत्र, आम का पेड, कोयल और हस पक्षी सभी मे एकात्म भाव को व्यक्त करते हुए सबके महत्व को उजागर किया गया है। पुत्री के बिना आँगन सूना, पुत्र के बिना द्वार। उसी प्रकार कोयल के बिना अमराई और हस के बिना पोखर सूना है।

प्रश्नोत्तर शैली मे ही एक दूसरा उदाहरण लें जिसमे पराय जीवन के लक्ष्य का स्वर गूँजा है—

पोखर, कुँआ खोदवाना, बाग लगाना, लोक-मानस पुण्य का कार्य समझता है क्योंकि इससे राहगीरो, पशु पक्षियो को सुख मिलेगा। स्त्री का जन्म तभी सार्थक माना है जब वह माँ बने। पुत्र का जन्म तभी साथक है जब उससे दुनिया आनन्दित हो—

तिरिया के जनमे कवन फल, हे मोरे साहेब हो।
पुतवा जनम जब लेइहैं, तबै फल होइहैं हो
पुतवा के जन्मे कौन फल है मोरे साहेब हो।
दुनियाँ अनन्द जब होइहैं तबै फल होइहैं हो।

लोक मगल की यह विराट भावना एकता की अवधारणा को पुष्ट करती है। पूरे देश की लोक कथाओ मे एक समानता यह भी है कि उसमे अधिकतर नाम या जाति का उल्लेख नही मिलता। किसी नगर या स्थान का नाम नही मिलता। बस एक था राजा, एक थी रानी या एक आदमी था और एक स्त्री थी। उस प्रकार उनसे मानवीय सवेदना का स्वर ही अधिक उजागर हुआ है।

लोक साहित्य मे एक देश की अवधारणा है, भारत देश की और उसके लिए उत्सग करने की भावना लोकगीतो मे सवत्र व्यक्त हुई है। एक भोजपुरी गीत लें—

बड-बड भइलें जतनवाँ, उपइया उपचरवा नु हो
ललना जब रे किरपा भई राम के, गोदिया बालक खेले हो।
पुतवा के देबा भारत मइया के, मतवा के सेउवा म हो।
ललना पूत करिहैं देसवा के काम त जनम सुफल हाइहैं हो।
मनवा म इहे अभिलाख, इहे एक साधि इहे एक सधिया नु हो।
ललना पूत होइहैं देसवा के सेवक, राम से बिनती करौ हो॥

बडे बडे उपचार जतन हुए, प्रभु की कृपा हुई तो पुत्र ने जन्म लिया। अब यह पुत्र भारत माँ का सेवक बने, यही राम से विनय है।

लोक-मानस में राष्ट्र की परिकल्पना सूक्ष्म रूप मे है, भौगोलिक ईकाई के रूप मे नही। वह राजनैतिक विभाजनो से भी ऊपर है। जहा जन्म लिया उस मातृ भूमि के लिए तो चिंता होती ही है, वहा पूरे विश्व की चिन्ता होती है। किसी की भी विवशता हो, मनुष्य पशु पक्षी या जीव-जन्तु, उसके प्रति लोक-मानस करुण हो उठता है। उसकी यह करुणा देश के निवासियो का एक दिशा देती है, जिसमे देश की भौगोलिक एकता या परस्पर सम्बद्धता की बात अधिक महत्व रखती है। यह परस्पर सम्बद्धता देश की भौतिक सस्कृति और आध्यात्मिक सस्कृति के बीच होती है तथा प्रदेश और देश व्यापी सस्कृति के बीच होती है। लोक साहित्य की कलात्मक सम्पत्ति की व्यापकता से भारत की एक अखण्ड सस्कृति का विश्वास मिलता है। इस अखण्ड सस्कृति म न तो हिन्दू मुस्लिम सस्कृति का और न ही अन्य जातियो, सस्कृतियो का भेद है। बुन्देली और ब्रज मे जाहरपीर की गाथा है तो अवधी भोजपुरी मे हसन हुसेन के बलिदान की मार्मिक कथा दाहा' गीतो मे गायी गयी है। इन गीतो में 'हसन हुसेन' की विधवा माग धोकर, चडी फोडकर विलाप करती है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

हसन बैठे चउकवा रे हाय, उपरा भँवर भहनाय
पाँच मुसाफिर बगिया म उतरैं।
दादी वनके पूछैं बाति, कह तू मुसाफिर करबले क हलिया,
हाल खबर नाही मिली।
का कहो, दादी करवले की हलिया, लासन के ढेर लगे।
हम तो दादी खबर जनावइ।
सिर जुदी मट्टी पडी, तीर चली है तरवार चली है,
बरछी चली जब सिर कटे हैं।
अतना सुनि कै दादी रोय पडी, दसइ दिनवाँ कै नान्ही दुलहिनियाँ
नवेली दुलहिनियाँ रे अल्ला, नन्हवइ से परिगैं बिपतिया रे हाय
मुडवा न बान्हे पायो, तेल न लगावैं पाया,
आई गई काफिर से खबरिया रे हाय।
सेन्हुरा न लगावैं पायों, मँगियो न भरैं पाया,
आई गई मरन कै हवलिया रे हाय।।

हसन विवाह के चौकपर बैठे, तभी भँवरा भनक उठा। हसन को चौक से उठकर युद्धभूमि मे जाना पडा। पाँच मुसाफिर आते हैं हसन की दादी उनसे करबला का समाचार पूछती हैं। वे युद्ध की विभीषिका और हसन के शहीद होने की खबर कहते हैं। दादी रो पडती है दस दिन की आई नहीं दुल्हन के सिर मे तेल भी न लगा सकी, सिर के बाल न सँवार सकी, सिन्दूर न पहना सकी और बिपत्ति पड गई।

हसन के दादी चउक धरि रोवै जरै मोर जमिन असमनवाँ रे हाय।
अगिया जो लागति जल से बुझवत्यो,
दूध से बुझवत्यो, कोखिया अगिन के बुझावै रे हाय।
दादी के रोउवे भीजैं अँचरवा, भरिगैं है, दरिया,
दादा के रोउवे धरती फाटे रे हाय।
बनवा मे रोवैं वन की हरिनियाँ, जगल के हरिनियाँ,
जल मे रोवै मैना मछरिया रे हाय।
मुहवाँ पटुक देके रोवैं हसन के अम्मा, सैयद के अम्मा
अइसन हसन नाही पउवैं रे हाय।
हसन के तिरिया लट छिटकाय रोवैं, माग सेन्हुर धोइ रोवैं,
हाथ मेहदी पोछि रोवैं,
अइसन हसन नाही पउवैं रे हाय।।

हसन की दादी चौक पकडकर रो रही है, मेरी जमीन और मेरा आसमान दोनो जल रहा है। और कोई आग हो तो वह जल से, दूध से बुझ सकती है पर कोख की अग्नि कैसे बुझे, कौन बुझाये। दादी के रोने से आँचल भीग गया, दरिया बह चली, दादा के रोने से तो धरती फट रही है। बन मे हिरनी रो रही हैं, जल मे मछली रो रही है, मुख पर वस्त्र डालकर हसन की मा रो रही है ऐसा पुत्र कहा पाऊँगी। हसन की स्त्री बाल बिखेरे सिन्दूर धोकर, चूडी तोडकर, हाथ की मेहदी धोकर रो रही है, ऐसे प्रिय को अब नही

पाऊँगी। औसान देवी की पूजा दोनो सस्कृतिया मे की जाती है। 'औसान' का अर्थ है सकट। सकटा देवी और औसान देवी दोना एक ही हैं।

औसान देवी की पूजा मुस्लिम स्त्रियो से हिन्दू स्त्रियो मे आयी। आज भी गावो मे ताजिए पर हिन्दू स्त्रिया चादर चढाती है। हिन्दू ताजिए का ढोल बजाते हैं, मुसलमान होली दशहरे का गाव मे दोनो की भाषा एक है। सारे मतभेद जो दिखते हैं ये बाहरी दबाव के कारण हैं। गाँव मे कहीं कोई सशय या अन्तर्विरोध नही है।

मैंने लखनऊ मे गोमती नदी के किनारे एक मजार देखी है जिसमे मृतक के नाम के पूर्व और अन्त मे खुदा है। 'ॐ श्री—बाबा की जै।' यह एकात्म भाव ही भारतीय सस्कृति की भीतरी पहचान है।

किसी भी वस्तु को प्राणवान भावनात्मक प्रवाह के रूप मे लोक साहित्य मे देखा जा सकता है। वहा तर्क की अपेक्षा भाव अधिक प्रबल है। देश की व्यापक अवधारणा के साथ समाज की अवधारणा जुडी है। लोक दृष्टि म समाज केवल आदमियो का समूह नही है, आदमी और आदमी के बीच रिश्तो का निरा सघटन भी नही है वह सम्पूर्ण चर अचर, जड चेतन ससार के सदस्यो को एक दूसरे से जोडने का भाव है। लोक की भावात्मक एकता की जो सहज दृष्टि है उसका व्यापक प्रभाव ही आज के समाज और देश की बिखर जाने वाली सस्कृति के भय को दूर कर उसे एक करने मे सहायक हो सकता है।

राष्ट्र को यदि जीवित सत्ता के रूप मे देखना है तो इन भावात्मक बिन्दुओ को उठाना चाहिए और भेदो को मनुष्य के स्वभाव की एकता की भिन्न रगतो के रूप मे देखना चाहिए।

इस सक्षिप्त निदर्शन से अपने आप यह बात रेखाकित होती है कि लोकगीतो की बडी ही जबर्दस्त भूमिका राष्ट्रीय एकता की भावभूमि तैयार करने मे हो सकती है। शर्त इतनी है कि लोकगीत भारतीय लोकगीत के रूप मे प्रस्तुत हो, केवल आचलिक सम्पदा के रूप मे नही। भारतीय लोकगीतो का अर्थ सहित ऐसा सकलन तैयार होना चाहिए और ऐसे कैसेट तैयार होने चाहिए जिनमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देश की प्रकृति और देश के मनुष्य के रागबोध और परस्पर कुटुम्ब भाव अभिव्यक्त हो और जिसमे एक दूसरे को आमन्त्रित करने का हृदयस्पर्शी भाव हो। इसका समूह सचार साधनो द्वारा यदि उचित प्रसार हो और इन पर विशाल और व्यापक दृष्टि से व्याख्यायें प्रस्तुत की जायें तो बहुत सी सकीर्णताएँ शमित होगी और देश की भावना जीवन का अग बनेगी। ●

राष्ट्रीय एकता में सन्त कवियों की भूमिका

डॉ० मिथिलेशकुमारी मिश्र

राष्ट्रीय शब्द बडा ही व्यापक है। यह वह शब्द है जो सम्पूर्ण देश की विविधताओ मे एकता की धारा स्थापित कर, इसे एकत्व के महापारावार मे अवगाहन करने का सुअवसर देता है। राष्ट्रीयता, व्यक्तियो की व्यष्टियो की बहुरूपता मे भी एकत्व की निर्मल भागीरथी प्रवाहित करती है। राष्ट्रीयता एक अभेद्य दुर्ग है जिसके बन जाने पर राष्ट्र, शक्तियो से सबल और धन धान्यो से प्रबल जीवन का शृगार बन जाता है। राष्ट्र का कलेवर दीर्घकाय हो या लघुकाय, राष्ट्रीयतारूप कवच से इसकी दीर्घकालीन सुरक्षा होती रहती है। दीर्घकाय राष्ट्र भी, राष्ट्रीयता के अभाव मे ननु-नच का आखेट बना रहता है। जन-जीवन की शान्ति, भू की सुरक्षा तथा भौतिक-आन्तरिक विकास के परिपूर्ण रूप तभी प्रोन्नत होते हैं जबकि राष्ट्रीयता की अमोघ कवच शक्ति राष्ट्र को प्राप्त हो।

राष्ट्र का निर्माण जिन तत्वो से होता है—वे तत्व हैं—सस्कृति, भू-भाग, जन-सख्या तथा स्वावलम्बिता। ये चारो तत्व यदा-कदा विशृखल होने की स्थिति मे आ जाते हैं—और विशृखल रूपो के समन्वयन के लिए समय-समय पर राष्ट्रीय प्रचेतको की अवतारणा होती है जो समय की प्रतिकूलता को, राष्ट्रीय एकता की सुरभियो से सुरभित कर, राष्ट्र को विहजता प्रदान कर, स्वस्थ मनोबल, सबल भुज बल तथा प्रशस्त ख्याति-बलों की अस्मिताओं से राष्ट्र को विभूषित कर, इसे महिमा, गरिमा और अरुणिमा का ख्यात बना देते हैं। ये तपस्वी होते हैं, सन्त होते हैं और होते हैं स्वार्थ की विभूति, परार्थ की प्राणवन्त प्रतिमा तथा परमार्थ की निश्छल अमल विमल ख्यातनामा सुमन सुरभि। पदो की वाछा, वैभवो की आकाक्षाओ से रहित ये महापुरुष मात्र स्वानुराग के समान देशानुराग को प्रस्फुटित करने की टेक मे तल्लीन रहते हैं। जीवन से पलायन नही,समस्याओ से कतराते नही, स्वार्थ की मजूषाओ मे आबद्ध होकर घुटन का अनुभव नही करते, सडाध जीवन बिताते, अपितु समता के महासागर मे, राष्ट्र के प्रतिव्यक्तियो को सम्प्रवेश का अवसर प्रदान करते हैं। एकता की अद्वैतता की धारा मे, सम्पूर्ण जन जीवन को समाहित करना ही सन्तो और तपस्वियो की साध होती है। जातियो के पैशाचिक ताण्डव-नर्तन, छूआछूत के घिनौने नारकीय अभिनय, ऊँच और नीच के क्रीडा पाश तथा वार्णिक विषम वैविध्यो के अन्तराल मे वे नही आते। लोक जीवन की सदाराधना ही सन्तो की उच्चतम आकाक्षा होती है।

मैं अपने ही राष्ट्र की बातें करती हू। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के परिवेशो मे यदा-कदा समस्याओ की तरगमालाएँ उठा करती हैं, उठा करती थी और उन तरगमालाओ के समाधान के लिए ही सन्त तपस्वी कृतसकल्पित होकर, राष्ट्रीय जीवन के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। वे सन्त और तपस्वी विभिन्न क्षेत्रों के थे—उनकी परिधियाँ भी विभिन्न थी, वे विभिन्न विचारो और मान्यताओ के मनस्वी थे। इन सारी मानसिक विविधताओ के होते हुए भी उनने राष्ट्रीय एकता के लिए जो आयास प्रयास किए वे हमारे आधुनिक जन-जीवन के प्राणवन्त उदाहरण हैं। उनकी चिरन्तन

भाव धाराओ के विमल वारि-प्रवाह मे, जो आज भी, मुखरित हैं, फल्गु की तरह प्रवाहित हैं, हम छद्म-छद्मों के द्वद्वात्मक अरि-निचयो को, इन धवल निमल प्रवाहो मे अवगाहन कर, मानसिकता के दौबल्यो को सबल राष्ट्रीय चैतन्य के बलाघातो से सबल बनाने का उपक्रम करें।

हिन्दी के आदश सन्तो की परम्परा का काल जयदेव से प्रारम्भ होता है। जयदेव कोमल कान्त-कमनीय पदावली के गायक थे। गीत गोविन्द के अमर रचयिता सत जयदेव ने जो भक्तिमूलक भाव धारा की तटिनी का वचस्वल उत्स उपस्थापित किया उसी के फलस्वरूप सन्त तपस्वियो की एक पृथक् एकात्मक भावधारा निर्गत हुई जो आगे चलकर राष्ट्रीय एकता की चेतनात्मक कारण बनी और अनेक प्रकार के सन्तो तपस्वियो के उद्गमन की उपादान बनी। इन सबकी एकात्मक भाव धाराओ के सबल प्रवाह मे जो राष्ट्र का विरुज कलेवर उपस्थापित हुआ वह हमारे राष्ट्रीय गौरव की अरुणिमा का पूण परिचायक है। हिन्दी के सन्तो की परम्पराए बडी उच्च और गरिमा मडित हैं।

इनके साहित्यो मे लोक-कल्याण की सजीव चर्चा-अर्चा सवत्र प्रमुखता से परिलक्षित होती है। सामाजिक जीवन मे जो वैषम्य के प्रबल वात्याचक्र थे, दुरभिसन्धिया थी और थे मति वैविध्य—इन सारी कुव्यवस्थाओ की कुहेलिकाओ के निराकरण के लिए सन्त कवियो, चिन्तको तथा तपस्वियो की भूमिकाएँ अतीव स्तुत्य रही। सन्तो की परम्पराओ की सबल धाराओ मे सर्वोच्च स्थान महात्मा कबीर का है। इनके स्वरो मे जो ओज और ऊर्जा थी, सस्कारिता थी और साहसिकता के सत् प्रयास थे—वे हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्राणाधार हैं। प्रस्तुत प्रसग मे तपस्वी और सन्त के अयक्त पार्थक्यों को समझ लेना आवश्यक है। तपस्वी वे हैं जिनने पठन-पाठन, चिन्तन-मनन, तपश्चरणों तथा पुरश्चरणो से आत्मा को निष्कलुष तथा निद्वन्द्व बनाने के आयाम कर, स्व को सस्कृत करने का प्रयास किया। तपस्वी वे हैं—जिन्होंने व्यक्तिगत आत्म हित, कामनाओ के हेतु,पावन आचरणो के सेतु निर्मित किए। सन्त वे हैं जिन्होंने तपस्या की सिद्धि के अनन्तर प्राप्त उज्ज्वल विचारो को जन-जीवन के कल्याण हेतु विसर्जित किया। बहुतो ने व्यक्तिगत आचरणो की पवित्रता पर बल दिया और अनेको ने प्राप्त ज्ञान का, समीहित प्राप्त पाथेय का, जन-कल्याण मे विसर्जित किया। अनेक तपस्वी बनकर ही रहे और बहुतो ने तपस्वी के रूपो को सन्त बनकर बिखेर दिया। इन सतो ने कथनी और करनी को, ज्ञान को और कम को, जिजीविषा और मानसिकता की सबल छवि को राष्ट्रीय उच्च एकता का ही स्वर नही दिया, अपितु एकात्मक भावात्मक अन्तर्जीवन की एक ऐसी सुरभित आलोक रश्मि भी प्रदान की—जहा न कोई उच्च है और नही लघुता की क्षुद्रता का उपहार है और न तो रूप, वण, नाम, गोत्र तथा छलना प्रपचो के स्वर निनाद हैं। मानवीयता के व्यापक पावन परिवेश मे केवल समता की स्वर-लहरिया ही हैं—नही हैं कटु-कटुक हनन-हत्याओ के स्वरनिनाद। मौलिकता और अभिव्यजना की दष्टियो से ये सन्त साहित्य अतीव प्रेरणादायक महिमावन्त भागीरथी जह्नुतनया के निमल-उपकूल हैं—जहाँ विचरण करने पर सत्कामनाओ के पुलकित सुमन सौरभ ही सम्प्राप्त होते हैं।

वे साधु सन्त परहित-चिन्तक थे। निजता और लघुता के द्वद्व-कलहो से दूर थे। उनकी सज्जनता और साधुता मे शालीनता थी। वे बाह्याडम्बर के अरि थे। वे कृत्रिमता के छल छद्मो के औपचारिक बन्धनो के विरोधी थे। भाषागत कट्टरता तथा जातिगत दुबलता उनमे न थी। वे भौगोलिक सीमाओ के बन्धनो को खण्डित कर, एक राष्ट्रीय भावधारा का निगमन चाहते थे। साधु सन्तो की वाणी वह वाणी थी—जिसमे उनकी अनुभूति, चिन्तन के महिमामय उपस्थापन तथा सुनिश्चित ज्ञान धारा की एकात्मक भावधारा थी। भारत की धरा पर पालित पोषित एव उत्पन्न होने के कारण उनमें भारतीय

सम्पूर्ण चराचरों के प्रति हार्दिकता थी। वे सर्वहितवाद में व्यक्तिवाद को विसर्जित करने के पक्षपाती थे। वे दोनों ही साधु और संत निर्भीकता के प्रखर पक्ष के पोषक थे। वे ईश्वर की एकत्व रूप परिधि के आवेष्टन में राष्ट्रीयता की एकात्मक भावधारा के पोषक थे। वे पार्थक्य की फूट-फाक से दूर थे। वे भारतीय मानसरोवर को एक ऐसी ज्योति प्रदान करना चाहते थे जिसमें सभी एकात्मक रूप में भासित हों।

संतों के रूप बड़े ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक हैं। रूपकों के आवेष्टना में स्वानुभूत विषयों को अभिव्यक्त कर, समाजकल्याण उनकी कामना थी। वे ऐसी किसी भी धारा के विरोधी थे जो राष्ट्रीय जीवन को क्षत-विक्षत कर दे। उनमें संकीर्णता की उभन-चुभन नहीं थी। वे खण्डन-मण्डन के कटुक स्पर्द्धाघातों से दूर थे। वे मात्र भक्ति, साधना, भावना और उपास्य के क्षेत्रों को एकात्मक बनाना चाहते थे। वे द्वैताद्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत के पूर्ववर्ती नानात्मक प्रवाहों को सबल एकात्मक प्रवाह देना चाहते थे—जिसमें मानवता पुलकित हो, पशुता खंडित हो और राष्ट्रीयता का एक भास्वर रूप निर्मित हो। सगुण और निर्गुण की भेदक ज्ञान धाराओं के मध्य वे एक ऐसी आंतरिक भावात्मक चेतनात्मक अद्वैतता की निर्मल ज्ञान धारा प्रवाहित कर सके जिसके कारण भारतीय विविधताओं की बहुरूपिणी धाराओं को एकात्मक ज्ञानधारा मिल सकी और राष्ट्र-शकट-यान द्वन्द्व के समस्त व्यवधानों से अलग होकर चलता रहा। साधु और संत धर्म की जटिलता नहीं चाहते थे, धर्म की विशालता चाहते थे। वे जीवन की कटुता और विषमताओं का निराकरण चाहते थे। उनमें मात्र तर्क-प्रधान होकर एक दूसरे के मतों का खण्डन करने की शक्ति न थी। उनने संत की ओर ही अपनी-अपनी दृष्टियाँ फैलाई थीं। सत् की वास्तविक प्रभा के कारण ही वे संत कहे गए। एक ही सत् को उन सबने अनेक नामों से सम्बोधित किया। उन सबने सत् को कभी ब्रह्म कहा और कभी खुदा। इसी एकत्व के वे परिचायक थे। इनमें मनोवांछित धारणाओं को जीवन में उतारने की अपूर्व क्षमता थी। वे महाकवि बनने की ओट में कथ्य को आवृत करना नहीं चाहते थे। वे सत् चित् आनंद की वास्तविकता को जीवन पर उतारना चाहते थे। वे उपदेशक थे। कुछेक ही ऐसे बन सके जिनके रचना-कलापों में काव्यत्व की छटा के भी दर्शन होते हैं। वे अनुभूत विषयों को वाणी के माध्यम से जनजीवन में बिखेर देना चाहते थे। साधु-संतों की वाणियों को तत्कालीन जन-जीवन ने पवित्र ईश्वरीय वाणी के रूप में स्वीकार किया। यही कारण हुआ कि तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन अत्यधिक वैचारिक विविध संक्रमणों के अंतराल में रहकर भी, स्वस्थता का अनुभव करता रहा। यह सर्वथा ध्यान रखने की बात है कि नीति हमारी मानसिकता की दुर्बल भावनाओं को परिष्कृत कर सदाशयता का बीज वपन करती है, किन्तु राजनीति शुष्कता के पटल पर अवस्थित होकर, हमारे भौतिक पक्षों के विविध वैषम्यों का निराकरण करती है और साधु संतों की वाणी—अंत पटी में अवस्थित समल दुर्बल कालुष्यपूर्ण वैषम्यों का शमन कर, एक ज्योतित भास्वर साम्यमूलक सदभावना की सामंजस्य पूर्ण आभा प्रदान कर, राष्ट्रीय चेतना को ऐसी सदाशयता का पयोधि प्रदान करती है—जिसमें न कहीं दुराव होता है, न कहीं फरेब होता है और न तो कुत्रापि खण्डक मनोभाव। अब मैं कतिपय उन संतों की ओर ध्यान आकृष्ट करती हूँ जिनके पावन आख्यान के कारण जीवन पुनीत वैभव बन सका। कबीर—स्वामी शंकराचार्य ने अपने काल के परिवेश में एक विलक्षण निनाद किया। उनके अद्वैतवादी विचारों के प्रकाश में परवर्ती कवियों और आचार्यों ने भी सहयोग दिया। वेदादि धार्मिक ग्रन्थों के प्रति इन सब की निरंतर आस्था बनी रही। बौद्धों एवं जैनों के सुधारक सम्प्रदायों तथा नाथ-योगी सम्प्रदायों के लोगों को वेदादि प्रामाण्य ग्रन्थों की आवश्यकता न रही। इस प्रकार सुधारक सम्प्रदायों के दो दल बन गये। कुछेक

पूव निर्दिष्ट विचारो के आवेष्टनो मे चलते रहे और बुद्धि स्वतन्त्ररूप से सवमान्य रूप देने का प्रयत्न करने लगे। द्वितीय ने रूढि, परम्परागत आदर्श और धार्मिक आडम्बरो का विरोध कर मानव शरीर को ही सत्य का सवश्रेष्ठ मन्दिर समझा। इस प्रकार मानव चेतना का स्वतन्त्र आत्म विश्वास, आत्म-गौरव तथा स्वावलम्बन की स्वाभाविक चेतनाओ का स्वस्थ विकास हुआ और परमुखापेक्षिता के प्रखर पाशो से सामाजिक जीवन को थोडी बहुत मुक्ति मिली।

स्वामी शकराचार्य तथा प्राचीनतापरक आचार्यों ने विचारो के अभिव्यजन में सस्कृत भाषा का ही आश्रय लिया, किन्तु सुधारवादी सन्तो ने तत्कालीन प्रचलित जन-भाषाओ का ही आश्रय लिया—अपने वैचारिक मन्तव्यो के अभिव्यजन मे। प्रथम ने अपने मन्तव्यो की पुष्टि के लिये प्रामाणिक एव मान्य ग्रन्थो के उद्धरण प्रस्तुत किए और द्वितीय ने स्वकीय अनुभव तथा साधारण सकेतो पर आधारित रूपको और उदाहरणो का ही उपयोग किया। इसी प्रकार के द्वन्द्वात्मक परिवेशो मे, साम्प्रदायिक प्रक्रियाओ से मुक्त होकर, कबीर ने मुक्त भावना का मुक्त होकर प्रचार-प्रसार किया जो राष्ट्रीय जीवन की एकात्मक प्रशस्ति का कारण बना।

कबीर के समय मे अनेक प्रकार के धार्मिक मत वैविध्य थे। हिन्दू, मुसलमान ही नही, अपितु, सन्यासी, शाक्त, जैन, शेख, एव काजी सवत्र अपनी अपनी विभुता की प्रभुता दिखाना चाह रहे थे। सामाजिक जीवन मे छूत-अछूत की समस्या विकराल रूप धारण कर रही थी। छलना प्रपच, आडम्बर, विद्वेष तथा स्वार्थपरता की पराकाष्ठा सी हो गई थी। कबीर ने उन सारे प्रपचात्मक अनल कणो से सामाजिक जीवन को बचाने का प्रयास किया जिनके कारण राष्ट्रीयता की सद्भावना की एकत्वमूलक सुरभि विकृत हो रही थी। कबीर ने अनुभव, अनुभूति, प्रज्ञा, शक्ति मेधा तथा स्वाभाविक मनीषा का आश्रय लेकर जो ज्ञान दिशा तथा कर्तव्य दिशा प्रस्तुत की उसी के फलस्वरूप सामाजिक जीवन मे एक शान्तिमूलक आशा का स्फुरण हुआ जो विश्वास, आस्था और निष्ठा का भव्य रूप प्रस्तुतकर राष्ट्र को सबल पाथेय दे सका। कबीर की वाणी स्वानुभूति पर आश्रित है। कबीर ने स्वानुभूति को ही बाह्याभिव्यक्ति का रूप प्रदान किया। कबीर की ज्वालामयी वेदना, आत्म तत्व के गहन शीतल जल-कणो को प्राप्त कर शान्त हो गई। कबीर की सहजात अनुभूति की वाणी देखिए —

तन भीतरि मन मानिया बाहरि कहा न जाई।
ज्वाला मे फिरि जल भया, बुझी बलती लाई।।

अनुभूति की तीव्रता की गहनता की आलोकमयी स्फूर्तियो की एक झलक और देखिए।

कहे कबीर यहु अकथ कथा है, कहता कही न जाई।
सहज भाई जिहि ऊपजै—ते रमि रहे समाई।।

कबीर ने अगम्य अगोचर एव ज्ञानातीत की गरिमा का आभास प्राप्त कर लिया था तभी तो वे कहते हैं

लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।

स्वामी रामानन्द—उत्तर भारत की सन्त परम्परा मे रामानन्द महाशय का उत्कृष्ट स्थान है। इनके व्यक्तित्व-पूर्ण मनुष्यत्व से तत्कालीन सामाजिक जीवन अत्यधिक प्रभावित हो उठा। सामाजिक जीवन की समुन्नति के लिये इनका प्रयास प्रशसनीय रहा। लोक मगल की भावनाओ की दृष्टियो से सयमशील साधुओ की टोली को सगठित कर उन्हे देश हिताय समर्पित भाव से काम करने की प्रेरणा देने वालो मे रामानन्द का स्थान सर्वोपरि है। रामानन्द पूर्ण विरक्त सन्त थे। रामानन्द के शिष्य बारह कहे जाते

हैं। कबीर, पीपा, रविदास, धन्ना, अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानंद, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द एवं गाल्वानन्द। इन सबने रामानन्दी विचारों के प्रचार-प्रसार द्वारा राष्ट्र का अत्यधिक हित किया। पीपा—इनके प्रधान गुरु कबीर ही थे। पीपा ने सामाजिक जीवन के कल्याण के लिये अत्यधिक कार्य किए। इनकी अवतारणा का काल सम्वत १४१७ है। पीपा साधुसेवी तथा पहुंचे हुए भक्त थे। इनकी रचनाओं का संग्रह पीपा जी की वाणी नाम का एक संग्रह है। पीपा ने छलना, छद्म, प्रपंच, माया, छूताछूत की घृणित भावनाओं से मानवों को दूर रहने का सन्देश दिया। ये बड़े ही निर्भीक संत थे। रैदास—ये सरलता के उपासक थे। बाल्यावस्था से ही राम जानकी के उपासक थे। अभी भी इनके अनुयायी महाराष्ट्र और राजपूताने में पाए जाते हैं। मीरा ने अपनी रचनाओं में रैदास को अपना गुरु स्वीकार किया है। इनका जन्म काल सम्वत १५३९ कहा जाता है इनकी भाषा में फारसी का प्रयोग है। ज्ञान और तत्वानुभूति आपके जीवन की आकांक्षा थी। जीव का स्थान सर्वोपरि रखने का संकेत आपने अपनी रचनाओं में दिया है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह रैदास की बानी नाम से प्राप्त है कबीर ने रैदास को सत्य पथ दिगदर्शक कहा है। रैदास अष्टांग साधन के स्वीकृत उपासक थे। इनने साधना की इन कोटियों का ही जीवन में प्रयोग किया—गृह, सेवा, संत, नाम, ध्यान, प्रणति, प्रेम और विलय। रैदास ने स्वस्थ विचारों का प्रचार-प्रसार किया। जीवन की कटुता विषमताओं से भिन्न होकर इनने तपस्या, साधना, सिद्धि और पवित्रता को ही जीवन का सर्वोच्च अवदान स्वीकार किया। राष्ट्रीय जीवन के हित साधन में रैदास का सर्वाधिक महत्व है। समता की एक विराट अनुभूति इनकी रचनाओं की खासी विशेषता है।

नानक—गुरु नानक सिखधर्म के प्राणाधार माने जाते हैं। इन्हीं के कारण सिखधर्म सर्वाधिक उत्कर्ष को प्राप्त कर सका। गुरुनानक का जन्म सम्वत् १५२६ में हुआ। इसके पिता का नाम कालूचंद था। नानक बाल्यावस्था से ही बड़े शान्त स्वभाव और भगवद भक्त थे। पंजाबी, संस्कृत, हिन्दी तथा फारसी का इनको सुन्दर ज्ञान था। धार्मिक सम्प्रयोग और आत्म चिन्तन इनके जीवन के परम लक्ष्य थे। जीवन के व्यावहारिक सुखों की ओर भी इनका ध्यान गया, किन्तु संसार की विनाशशीलता देखकर इन्होंने संकल्पित होकर अविनाशी के चरणों पर अपने को विसर्जित कर दिया। नानक भ्रमणशील व्यक्ति थे। इनने अनेक स्थानों का भ्रमण किया और भ्रमण के माध्यम से स्वकीय ज्ञान निष्ठा विचारों का सम्प्रसार किया। नानक अत्यधिक उदार थे। इनकी अनुभूति अत्यधिक प्राणवन्त थी। अहंकार, छलना और मायिक प्रपंचों से दूर रहकर सामाजिक जीवन का कल्याण ही इनकी कामना थी। नानकजी ने समय-समय पर बहुत से पदों की रचना की। ये सारे पद ग्रन्थ साहिब में संकलित हैं। ब्रह्म, जीव, जगत, माया, भक्ति, क्षणभंगुरता तथा चेतावनी इनके तपश्चरण के उद्देश्य थे। ये जीवन की मंगलकामना के सशक्त प्रहरी थे। ये लोक-कल्याण की कामनाओं की टेक लेकर निरन्तर साधना के पथ को प्रशस्त करते रहे। जिन सत्यों की इनने अनुभूति की उसको जन हित में बिखेर देना ही इनकी मनीषा थी। सम्पूर्ण राष्ट्रीयता के हित साधन की दिशा में—ना हिन्दू ना मुसलमान कहकर इनने स्वानुभूति को व्यापक दिशा प्रदान की। पवित्रता, समानता, सहनशीलता तथा साधना तत्परता—नानक की मंजिल थी। कूट से भिन्न, फरेब से दूर, दुरभिसन्धियों से अलग रहकर लोकहित साधन के माध्यम से राष्ट्र-हित चिंतन करना नानक की अभीष्टि थी। नानक, सेवा के मूर्त्तरूप थे। भाषाओं के जटिल जंजालों से पृथक थे। सहानुभूति इनकी आधार शिला थी। सौजन्य इनकी भित्ति था। स्वार्थ से भिन्न परार्थ और परमार्थ इनकी एकान्तत सर्वोच्च साधना की इयत्ता थी।

उदाहरण—इस दमदा मैंनू री वे भरोसा आमा आया, न आया न आया।
यह ससार रैनदा सुपना वहीं देखा-वहि नाहि दिखाया।

दादूदयाल—इनका ज म सम्वत् १६०१ है। इनका जीवन व्यावहारिक जीवन मे भी लगा, कि तु अतिशीघ्र ये विरक्त हो गए। ये यात्रा के बडे प्रेमी थे। अकबर ने चालीस दिनों तक इनकी सगत की। इनकी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। यात्रा प्रसग मे दादू ने परमार्थिक जीवन के महत्वपूर्ण उपदेश देकर लोक कल्याण की कामनाओं को अत्यधिक प्रश्रय दिया। दादू के पदो, साखियो और बानियो की सख्या सर्वाधिक है। दादू के विचारो की एक झलक देखिए —

घीव दूध मे रमि रहा व्यापक सबही ठौर,
दादू बकता बहुत है मथि काढे ते और।
केते पारखि पचिमुए—कीमति कही न जाइ,
दादू सब हैरान हैं गूगे का गुड खाइ॥

ये मोची जाति के थे। ये कबीर के अनुयायी थे। ये भ्रमणशील थे। इनका ज म गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान मे हुआ। राजस्थानी और पश्चिमी हि दी ही इनकी बानी की भाषा है। नाम की महिमा, जाति पाति का निराकरण, हि दू मुसलमानो की समानता, ससार की अनित्यता, इनके लक्ष्य के समीहित मनोबल थे।

सु दरदास—ज म जयपुर राज्य मे—१६५३ मे। दादूदयाल के शिष्य। अध्ययन के कारण विशेष पाण्डित्य, वेदा त की विशेष अभिरुचि। व्यक्तित्व और मनुष्यत्व का सामजस्य। अभिव्यजन म पाण्डित्य। लोक-धम के समथक। सु दर विलास नाम का प्रसिद्ध ग्र थ। भाषा आलकारिक। रचनाओं की एक झलक—

बोलिए तो तब जब बोलि को बुद्धि होय।
ना तो मुख मौन गहि चुप होय रहिए॥
तुक भग, छद - भग - अरथ मिलै न कछु।
सु दर कहत ऐसो बानी नहि कहिए॥

गुरु तेगबहादुर—२० माच १६६५ को गुरुगद्दी पर बैठे। इ हे अनेको प्रकार के जीवनगत सघर्षों का सामना करना पडा। ये भ्रमणशील व्यक्ति थे। थानेश्वर प्रयाग, मु गेर, मालदा, पटना और अनेको स्थानो का इनने भ्रमण किया। कालान्तर मे औरजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर ब दी बनाए गए—और भीषण यत्रणाओं को सहन करते हुए इ होने स० १७३२ सन् १६७५ को अपना शरीर त्याग किया। गुरु तेगबहादुर वीर, साहसी, धीर, गम्भीर और दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। ये सफल राष्ट्रीयतावादी चि तक मानव थे। इनकी सु दर रचनाएँ गुरु ग्र थ साहिब मे उपलब्ध है।

गुरु गोवि द सिंह—गुरुगोवि द सिंह की बाल्यावस्था पटना मे ही व्यतीत हुई। कुछ समय के बाद ये अपनी माता के साथ आन दपुर पहुचे। ये शारीरिक श्रम मे निपुण थे। लगनशीलता और त्याग-शीलता के कारण इनकी अत्यधिक ख्याति हुई। गुरुगोवि द सिंह ने सिखो मे वीरता, प्रतिशोध और साहस की भावनाओं का सचार किया। इ होने सिखो का सगठन करके इनकी जाति पाति की भावना विनष्ट कर, इ ह धार्मिक एकता के सूत्र म आबद्ध किया। इनने ही खालसा पथियो के लिए कटार, कघा, कच्छ, केश एव कडा पहनना अनिवाय कर दिया। राष्ट्रीय जीवन की सुरक्षा तथा खालसा-सम्प्रदाय के विकास मे

इन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। गुरुगोविन्द सिंह काव्यशास्त्र मे निपुण थे। इनके पावन आश्रय मे अनेक कविगण पलते थे। ये संस्कृत के कवि भी थे।

उदाहरण—

> दीनन के प्रतिपाल करे नित सन्त उबार गनीमन गारे।
> पच्छी, पशु नग नाग नराधिप सवसमै सब को प्रति पारे॥
> काह भयो दोउ लोचन मूंद के बैठि रह्यो बकध्यान लगायो—
> न्हात फिरो लिये सात समुद्रन-लोक गयो परलोक गँवायो॥

ये स्वतन्त्रता के अनन्य उपासक थे। इनमे विलक्षण प्रतिभा थी। स्व के प्रति उच्च कर्त्तव्यभाव जाग्रत कर, देशानुराग की भावना का जागरण करना इनके प्रमुख लक्ष्य थे। ये धर्मगुरु होने के नाते, पूज्य नेता होने के नाते श्रद्धेय तथा कवि होने के नाते प्रशंसनीय रहे। इनकी उदारता तथा साहसिकता ने सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित किया।

सन्त दरियादास— इनका जन्म संवत् १७३१ मे, बिहार प्रान्त मे हुआ। जन्म एक मुसलिम परिवार मे हुआ। इन पर कबीर का प्रभाव अधिक पडा। ये भ्रमणशील सन्त थे। इनकी रचनाओ के नाम हैं—दरियासागर एव ज्ञान दीपक। ये दोनो ग्रन्थ बडे ही उपयोगी हैं। इनके सिद्धान्त भी कबीर के समान ही हैं।

उदाहरण—

> *पेड को पकड जब डाल पाली मिलै-डार गहि पकड नहि पेड पारा।*
> देख दिव दृष्टि असमान मे चन्द्र है—चन्द्र की जोति अनगिनित तारा।

सन्तो की संख्या इतनी है कि उनके सारे उल्लेख सम्भव नही, केवल संक्षेपत यह संकेत करना है कि सन्तो ने मूलत राष्ट्रीय एकता का प्रयत्न नही भी किया हो, किन्तु गौणत उनसे धर्म कर्म, आचार विचार, भाषा व्यावहारिक जीवन के कटुक बाह्याडम्बर आदि अनिवार्य जो राष्ट्रीयता के पोषक तत्व हैं—इन सबके माध्यम से होते रहे। यही कारण हुआ कि विविधताओ का देश अपना राष्ट्र भारत एकता का रसात्मक अनुभव करता रहा।

सन्तो की भाषा विषयक धारणाएँ सर्वथा उदार थी। सन्तो की काव्य भाषा मे अनेक बोलियो का समन्वित रूप सम्प्राप्त है। उनकी काव्य भाषा मे अवधी, व्रज, राजस्थानी, मैथिली, बुन्देलखण्डी आदि शब्दो का आश्चर्यजनक समन्वय है। भ्रमणशील जीवन होने के कारण सन्तो ने सरल विविध भाषाओ के सम्पुटित रूप को ही अपने उपदेश और काव्यात्मक अभिव्यक्तियो का माध्यम बनाया। सन्तो ने सरल भाषा मे कठिन से कठिन भावो, दार्शनिक बिम्बों तथा उपदेश्य विषय वस्तुओ के प्रतिपादन का लक्ष्य अंगीकृत किया। कबीर ने तो भाषा की एकता की विशाल समन्वित गगरी ही प्रस्तुत की, जहाँ भोजपुरी की महिमा, व्रज की गरिमा, राजस्थानी की लालिमा, फारसी की धवलिमा, अरबी की अरुणिमा तथा खडी बोली का विकासशील रूप परिलक्षित होते हैं। नामदेव ने व्रज अवधी, खडी बोली का विकासशील रूप। रैदास ने संस्कृत के तद्भव शब्द, व्रज अवधी, खडी बोली, अरबी फारसी। नानक ने पंजाबी, गुरुमुखी, खडीबोली, दरिया साहब ने व्रज, भोजपुरी अवधी, एव इन सभी सन्तो ने भाषाओ की उदारता का एक व्यापक परिचय देकर, राष्ट्र का व्यापक हित-साधन किया।

अब मैं कतिपय सन्तो के काव्यादर्श प्रस्तुत कर रही हूँ। इनसे यह परिज्ञात होगा कि सन्तों ने किस प्रकार राष्ट्रीय जीवन का सर्वहित कल्याण किया। साथ ही सन्तो ने किस प्रकार शैव, शाक्त, वैष्णव

तथा अन्या य विविध मतवादो के व्यूहो मे अवस्थित राष्ट्र का बहुविध कल्याणकारी आयाम प्रस्तुत कर ऐसा उपकार किया कि भारतीय जन-जीवन मे विद्वेष के पावक, कटुता के घायक, तथा विविधता के खलनायको के शमन हुए और सम्पूण देश को विविध वाह्य छलन-खलन के मध्य भी, एकता की भागीरथ की प्रवाहित जल-धारा मे अवगाहन करने का शुभ अवसर मिला।

उदाहरण—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होसियारी क्या।
रहें बाजार या जग में-हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछडे हैं पियारे से-भटकते दर ब दर फिरते।
हमारा यार है हममे, हमन को इ तजारी क्या।

o o o

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ के बनल खटोलना तापर दुलहिन सूतल हो।
उठोरी सखी मोरी माग सवारो दुलहा मोसो रूसल हो।
आये जमराज पलग चढि बैठे—नैनन आसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन चहुदिशि धू-धू ऊठल हो।

'कबीर'

तत्र गहन को नाम है, भजि लीजै सोई।
लीला सिंध अगाध है, गति लखै न कोई।
कचन मेरु सुमेरु द्वय, गज, दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे नहिं नाम समाना।
जोग जग्य से कहा सरै तीरथ व्रत दाना।
औसे प्यास न भागि है—भजिये भगवाना।

'नामदेव'

रामहि पूजा कहा चढाऊँ फल अरु फूल अनूप न पाऊँ।
मनहि पूजा मनहि धूप मनही से सेऊँ सहज सरूप।
पूजा अरचा न जानूँ तोरी कह रैदास कौन गति मेरी।।
मलया गिरि वेधियो भुवगा विष-अमृत वराइ एक सगा।

'रैदास'

सब कुछ जीव को व्योहार।
माता, पिता, भाई, सुत बाँधव अरु पुनि गृह की नार।
तनते प्रान होत जब न्यारे टेरत प्रेत पुकार।
आध घरी कोऊ नहिं राखे घरतें देत निकार।
मृग तृस्ना ज्यो जग रचना यह, देखो हृदै विचार।
यह नानक भजु रामनाम नित, जाते होत उधार।।

'नानक'

प्रानी नारायन सुधि लेइ।
छिनु छिनु औधि घटै निसिवासर वृथा जात है देह।
तरुनायो विखियन स्पा खोयो बालापन अज्ञाना।
बिरध भयो अजहूँ नहि समझै कौन कुमति उरझाना।
मानुस जन्म दियो जेहि ठाकुर सोते क्यो बिसरायो।
मुक्ति होति नर जाके सुमिरे निमख न ताको गायो।

'गुरु तेगबहादुर'

दीनदयाल सुनी जबते तबते हिय मे कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाउँ कहाँ मैं तेरे हित की पट खेंच कसी है।
तेरोई एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो सी है।
एहो मुरारि कहो अब मेरी हँसी नहि तेरी हँसी है।
नाम हमारा खाक है—हम साकी बन्दे।
खाकहिते पैदा किए अति गाफिल गन्दे।
कबहु न करते बन्दगी—दुनिया मे भूले।
आसमान को ताकते छोडे चढि फूले।

'मलूकदास'

अजहू न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते रैनि गँवाई भोर।
अवधि गए अजहू नहिं आये कतहु रहे चितचोर।
कबहू नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहि आतुरि विरहिनि जैसहि चन्द चकोर।

'दादूदयाल'

केचित कहे सस्कृत बानी कठिन श्लोक सुनावहि जानी।
केचित वाद विविधमत जाने पढिए व्याकरण चातुरी आनी।
केचित कविता कवित्त सुनावे कुण्डलिया अरु अरिल बनावे।
केचित छन्द सवैया जोरैं जहाँ तहा के अक्षर चोरैं।
केचित वीण वेणु बदीता ताल मृदग सहित सगीता।।

सन्त सुन्दरदास

सुन्दर समुझि करि कहिए सरस बात।
तबही तो वदन कपाट गहि खोलिए।
सुन्दर सुवचन सुनत अति सुख होत।
कुवचन सुनतहि प्रीति घटि जात है।

'सन्त सुन्दरदास

कोई वार कहै कोई पार कहै उसका कहू वार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै उसका कहू मूल न डार है रे।

कोई सून्य कहै कोई धूल कहै यह सून्य है धूल निराला है रे।
कोई एक कहै कोई दोइ कहै नहिं सुन्दर द्वन्द लगाए है रे।।

'सुन्दरदास'

सठ तजि नाम जगत सग राचो।
जेहि कारन बहु स्वाग कछै है चौरासी ता करि करि नाचो।
गभ माहि जे जनम कियो थे एकहुबार भयो नहि साचो।
स्वारथ कोही उठि-उठि धावै राम भजन परमारथ काचो।
सन्तन की टकसाल चढोना, गुरु की हाट कबहु नहि जाचो।।

'सहजोबाई'

उक्त उद्धरणो और पावन उक्तियो के उद्धरण का तात्पय यह है कि सन्तो ने अखिल मानवात्माओं के कल्याण के लिये ही विचार, भाषा, वैविध्य और प्रपचो की वास्तविकता को परखकर एक ऐसे सामूहिक आदर्श की ओर सकेत किया जहाँ न कोई विषमता है और न दुरभिसन्धि। इन्हीं कारणो के प्रश्रय पर अपना राष्ट्र एक स्वस्थ प्राणवान स्वास्थ्य की अनुभूति करता रहा।

मेरी उक्त विचार परम्परा का तात्पर्य यह है कि सन्त चिन्तक-तपस्वी तथा साधुओ ने राष्ट्रीय हित साधन के जो स्वर निनादित किए, उन्ही के फलस्वरूप राष्ट्र अनेकताओ की व्यापक धाराओ के मध्य एक व्यापक एकता की धारा की अनुभूति करता रहा। इन धाराओ ने, जन जागरण के स्वर, विचारो के आलोक कर्तव्यबोध तथा शान्ति लाभ करने की एक आशा दिशा प्रस्तुत करने का ऐसा भगीरथ प्रयास किया कि प्राची, प्रतीची, उदीची, तथा समीची के व्यवधायक तत्व एव भाषा, धम, कम, मत-वैविध्यो के झझावात, राष्ट्र को क्षीणकाय नही कर सके और आन्तरिक एकता तथा बाह्य सुनीतता की व्यापक अनुभूति करता हुआ भारतीय जनपद, परमाथत अप्रतिहत गतिक होकर समुन्नत पथ का पथिक बनकर प्रशस्त गिरितुग शृग पर समारूढ होता रहा।

ये सन्त तपस्वी मात्र अनुभूति के ज्ञाता, कतव्य के साधक, विचारो के उद्गाता, कम के प्रचेतक, अनेकताओ के समन्वयक, राष्ट्र के चिन्तक तथा मानवता के सवविध पोषक थे—जिनने स्वार्थ की कलुषित वृत्ति, व्यष्टि की कृपणता, भाषा का झझट, काया के सकट, आराधना साधना के कटक सकट एव छलना प्रपच की सृष्टि वृष्टि कर राष्ट्र को बौना नही बनाया, अपितु राष्ट्र को ऐसी गरिमा महिमा प्रदान की कि मातृभूमि को क्रिया की एकात्मक सहजानुभूति के भास्वर-स्वर मिलि दो की झकृतियों की फुहारें मिलती रही और हम पारमार्थिक सुख, व्यावहारिक शान्ति सुख तथा एकात्मक स्वाभाविक सहजानुभूति करते रहे।

आज के सकीण विकीण परिवेश, क्षत विक्षत आवेष्टन, ध्वस्त त्रस्त स्थितियाँ तथा आपन्न परिस्थितियो के अन्तराल में भी, ऐसे ही सन्त साधुओ की आवश्यकता है जो पदो की आकाक्षा, स्वाथ की जिघासक वाछा तथा भाषा विवाद की दल-दली भूमियो की विकट शकट यात्राओ से दूर रह कर, मात्र जन-सेवा की भावनाओ से राष्ट्र की अर्चा करते रहें। ●

राष्ट्रीय एकात्मता में महिलाओं का योगदान

डॉ० सीता राठौर

हमारी सभ्यता के आरम्भ से और जो इस विश्व की सबसे पुरानी भाषा और साहित्य है और उस माध्यम से एक बहुत विकसित सभ्यता का स्वरूप उभरता है, उसी आरम्भिक बिन्दु से राष्ट्रीय एकात्मता में महिलाओं का योगदान समान स्तर पर स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। राष्ट्रीय एकात्मता के विविध कोण हैं, विविध बिन्दु हैं, हर बार राष्ट्र का नाम लेना आवश्यक नहीं है। मानवीय संवेदना, आदर्श अथवा वस्तुगत जीवन दृष्टि, ज्ञान, कर्म, साहित्य दर्शन आदि इसी क्षेत्र में आते हैं। ये चीजें मनुष्य से मनुष्य को जोड़ती हैं और राष्ट्र को भी एकात्म सूत्र में बांधती हैं। महिलाओं की रचनाएं और कार्य वैसे प्रकाश और प्रेरक स्तम्भ हैं जो हर अवस्था में मार्ग को आलोकित करते हैं और हीनता से मुक्त करके शक्ति तथा सामर्थ्य को इंगित करते हुए आगे बढ़ने को प्रेरित करते हैं। यह प्रकाश और प्रेरणा केवल महिलाओं के लिए ही नहीं, पुरुषों के लिए भी समान स्तर पर है क्योंकि दोनों (स्त्री-पुरुष) जीवन के हर क्षेत्र में एक दूसरे के पूरक हैं। इसकी सम्यक् पूर्ति से ही दोनों पूर्णता का अनुभव करते हैं तथा इससे वैयक्तिक जीवन के साथ सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन विकसित एवं समृद्ध होता है। भारत की यही दृष्टि थी। जब से यह दृष्टि क्षीण हुई, भारत भी क्षीण होता गया। फिर भी आलोक स्तम्भ बुझे नहीं, बीच-बीच में प्रकट आलोक से अपने जिन्दा होने का एहसास दिलाते रहे। इतना भी कम मूल्यवान नहीं है।

वेद पर भारत को बहुत गौरव है और इतना अधिक है कि भारतीय दर्शनों ने उसे आप्त वाक्य और स्वतः प्रमाण माना है। उसी के आधार पर भारत का विकास हुआ, वही भारत का मूलाधार है। वेदों में ऋग्वेद सर्वप्रथम है। उसमें सत्ताइस महिलाएं हैं जो ऋषि कोटि की (ऋषिका) हैं जिनमें कुछ मिथ की देवियां बन गई, कुछ मानवीकृत होकर भाव प्रतीक बन गई, शेष दस ग्यारह ऐसी हैं जिनके नाम से ऋचाएं हैं जिन्होंने ऋषियों के समान ऋचाओं की रचना की। कुछ ब्रह्मवादिनी हैं। वैसे तो सभी ब्रह्मवादिनी हैं किन्तु यहां तात्पर्य उनसे है जिन्होंने ज्ञान का साक्षात्कार तो तद्वत किया है किन्तु ऋचाओं की रचना नहीं भी की। आवश्यकता पड़ने पर शिक्षण निर्देशन अवश्य करती हैं।

जो देवी रूप बन गई और आगे चलकर जिनका प्रयोग मिथ की देवी रूप में होने लगा उनमें अदिति, जुहू, इन्द्राणी, सरमा, उर्वशी, रात्रि, सूर्या आदि मुख्य हैं। संभव है ये कभी वास्तविक भी रही होंगी।

कुछ जो मानवीय विचारों और भावों के प्रतीक रूप में अधिष्ठित हो गई उनमें श्री, मेधा, दक्षिणा, श्रद्धा आदि का नाम लिया जा सकता है।

जो हर हालत में मानवी हैं और जिन्होंने ऋचाओं की रचना की और जो ऋषि रूप में हैं, ब्रह्मवादिनी हैं उनमें लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, सिकता निवावरी, घोषा, गोरा, शश्वती, रोमशा,

मानधात्री और वाक के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी क्रम मे वाडवा प्रातिथेयी या भी नाम लिया जा सकता है। उपनिषद् की दो महिलाएँ वाचक्नवी गार्गी और सुल्भा मैत्रेयी बहुत महत्वपूर्ण हैं।

जो मन्त्रो के साक्षात्कार करनेवाली, ऋचाओ की रचयित्री, ब्रह्मवादिनी, कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठित है और जिनकी ऋचाएँ मिलती हैं उनमे वाक् इस दृष्टि से विशेष ध्यातव्य हैं कि उनका साक्षात्कार ज्ञान का चरम बिन्दु है और उनका सूक्त ही वह आधार है जिससे भारत मे शक्तिरूप—देवीरूप का इतना विकास हुआ। वाक् के पिता का नाम अम्भृण ऋषि था। इसलिए सूक्त को वागाम्भृणी भी कहते है। वाक के इस व्यापक आत्मबोध और शक्ति रूप म सब व्यापिनी अनुभूति के कारण यही वाक्, सभव है सरस्वती के रूप मे प्रतिष्ठित हुई हो। यह वागाम्भृणी सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ पच्चीसवा सूक्त है। सूक्त इस प्रकार है

अह रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवै ।
अह मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥

(मैं रुद्रो के साथ, वसुओ के साथ चलती हूँ, आदित्या और विश्वदेवताओ के साथ भी चलती हूँ। मैं मित्र तथा वरुण दोनों को उठाती हूँ, इन्द्र तथा अग्नि को और दोनो अश्विनो को भी उठाती हू।

अह सोममाहनस बिभर्म्यह त्वष्टारमुत पूषण भगम् ।
अह दधामि द्रविण हविष्मते सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते ॥

मैं समृद्ध सोम को वहन करती हू। मैं त्वष्टा को, पूषा और भग को वहन करती हू। हविप्रदाता को धन देती हू, सोमाभिषवण करनेवाले को, यजमान को और अच्छे होता को धन देती हू।)

अह राष्ट्री सगमनी वसूना चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
ता मा देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रा भूर्यावेशयन्तीम् ॥

(मैं शासक हूँ, धन को एकत्र करनेवाली। मैं ज्ञात्री हू, यज्ञार्हो मे प्रथम। देवताओ ने मुझे कई स्थानों म बाटा हैं, मेरे कई आवास हैं, मैं कई रूपो वाली हू।)

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति य प्राणिति य ई शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिव ते वदामि ॥

(मेरे द्वारा कोई अन्न ग्रहण करता है, देखता है, सास लेता है, कहे हुए को सुनाता है। अनजाने ही वे मुझ मे रहते हैं। बहुश्रुत! सुनो, मेरा कथन सत्य होने के कारण श्रद्धेय है।

अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभि ।
य कामये तततमुग्र कृणोमि तब्रह्माण तमृषि त सुमेधाम् ॥

(मैं कहती हू, जो देवताओ और मनुष्यो को प्रसन्न करता है, मैं उसका पोषण करती हू। मैं जिसे प्रेम करती हूँ उसे शक्तिशाली बनाती हूँ, उसे ब्रह्मा, ऋषि और सुमेधा बनाती हू।)

अह रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अह जनाय समद कृणोम्यह द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

(मैं रुद्र के लिए धनुष खीचती हूँ जिससे बाण मन्त्रद्वेष्टा का सहार करे। मनुष्यो मे मैं प्रतियोगिता उत्पन्न करती हू, मैं द्यावापृथिवी मे व्याप्त हूँ।)

अह सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्त समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामू द्या वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥

(मैं इस विश्व के उन्नतम स्थान मे पिता (द्यौ) का प्रसव करती हू । मेरा उद्भव जलो म है, समुद्र मे है । वहां मैं सभी भूतो मे फैल गई हू । मैं अपने सिर से आकाश का भी स्पर्श करती हू ।)

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।

परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना स बभूव ॥

(सारी सृष्टि को हस्तगत करती हुई मैं ही वायु की तरह बहती हू । आकाश से परे, पृथ्वी से अपनी शक्ति से मैं ऐसी हुई हू ।)

यह स्त्री-शक्ति के भाव विकास का अक्षय प्रकाश है । समग्र सृष्टि के साथ ऐसी एकात्मता की अनुभूति का यह उत्कर्ष है ।

घोषा, कक्षीवान् की पत्नी थी । ऋग्वेद के दशम मण्डल के उनतालीसवें और चालीसवें सूक्त उसके नाम हैं । उसने मन्त्र साक्षात्कार के बल पर अश्विन के अनुग्रह से अधिक उम्र हो जाने पर भी विवाह का सुख प्राप्त किया था । विश्ववारा भी विवाहिता है । उसने गृह-जीवन के हर्ष विषाद और नारी-जीवन के आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति दी है अपाला विवाहिता थी और चर्म रोग से पीडित हो गई थी, उसके शरीर पर रोम नहीं उग रहे थे तथा उसके पिता खल्वाट हो गए थे । उसका पति उससे प्रेम नहीं करता था । उसने इन्द्र के लिए सोम, तैयार किया और अपने दांतों के द्वारा तैयार किया । इन्द्र ने उसके होठो से सोम-पान किया । इन्द्र ने तीन वरदान दिए जिससे उसके रोग दूर हो गए, उसकी त्वचा बहुत सुन्दर हो गई, अगो पर रोम निकल आए, पिता के सिर पर भी केश हो गए । पति का प्रेम भी प्राप्त हो गया । ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक्यानवे सूक्त की रचना अपाला ने की है ।

गोधा और मानधात्री ने जो साक्षात्कार किए वे ऋचाएं इन्द्र से सम्बन्धित हैं । लोपामुद्रा, शाश्वती और रोमशा प्रख्यात ऋषिकाएं हैं । उन्होने दाम्पत्य जीवन मे पत्नी की आन्तरिक भावना और अपेक्षा की सूक्ष्म तथा अन्तरग अभिव्यक्ति दी है । लोपामुद्रा अगस्त्य की पत्नी थी । उसने पति की साधना मे बहुत सहयोग किया था । पति की नीरस साधना से कुछ ऊब सी गई थी और स्वाभाविक अपेक्षाओं की उपेक्षा से दुखी हो गई थी । इससे सम्बन्धित तथ्य उसने उदघाटित किए । अगस्त्य ने अनुभव किया और अपेक्षित कर्तव्य पूरे किए । ये सभी महिलाएं मन्त्र साक्षात्कार करने वाली ऋषिकाएं हैं । इसी कोटि म जुहू, माधवी, शशिप्रभा, अनुलक्ष्मी, रेवा पहायी, रोहा के नाम हैं जिनकी ऋचाएं हैं ।

ऋग्वेद म वीरता से परिपूर्ण महिलाएं भी हैं जिन्होने युद्ध म भाग लिया है । विश्पला और मुद्गलानी के नाम ऐसे ही हैं जिन्हाने युद्ध क्षेत्र मे अपने पतियो के साथ शत्रुओ से युद्ध किया था और उन्हें विजयी बनाया था ।

उपनिषद् काल मे मैत्रेयी और गार्गी दार्शनिक उपलब्धियो के लिए प्रसिद्ध महिलाएं हैं । वे अतिशय विदुषी और ज्ञान सम्पन्न थी । आध्यात्मिक और दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाना उनके लिए बहुत सहज था । मैत्रेयी मे तत्वज्ञान का तोष उतर आया था । वह महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी थी । महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थी मैत्रेयी और कात्यायनी । महर्षि ने अपने वार्धक्य मे व्यावहारिकता को देखते हुए दोनो के बीच बांट देना चाहा । मैत्रेयी ने कहा, जिस धन सम्पत्ति से अमरत्व नही मिल सकता उससे क्या लाभ ? उसे लेकर क्या करूंगी ? (येनाह नामृता स्याम किं तेन कुर्यामिति) ।

गार्गी उच्चस्तरीय और निगूढ दार्शनिक चर्चा के लिए प्रसिद्ध हैं । भरी विद्वत गोष्ठी मे अनेक तत्वज्ञानियो को उन्होने अपने तर्कों से निरस्त कर दिया था । महर्षि याज्ञवल्क्य से भी शास्त्रार्थ किया था और अपने तर्कों से चमत्कृत कर दिया था । वाडवा प्रातिथेयी भी ब्रह्मवादिनी हैं ।

वैदिक काल के आखिरी हिस्से तक महिलाएँ उपाध्याया और आचार्या के रूप मे पूर्ण प्रतिष्ठित थी। किसी की पत्नी होने के नाते उनका महत्व नही था अपितु स्वय के तत्त्वज्ञान और विद्या के कारण उनका महत्व और प्रतिष्ठा थी। वे शिक्षा देती थी, तत्त्व ज्ञान प्रदान करती थी। राष्ट्रीय विकास और एकात्मता मे उनका पर्याप्त योगदान था।

आगे के कालो मे—विशेषत महाभारत की गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी, शकुन्तला, सुलभा, विदुरा, दमयन्ती, सावित्री आदि, रामायण की अनसूया, शबरी, स्वयप्रभा, अहल्या, सरमा, मन्दोदरी, तारा, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, उर्मिला आदि, पुराण की मदालसा, देवहूति, उमा, शैव्या, शर्मिष्ठा, देवयानी, सुनीति आदि, विज्ञान और दर्शन क्षेत्र की प्रख्यात विदुषी लीलावती, क्षणा, उभभारती आदि तथा ऐतिहासिक प्रशासिकाओ मे वाकाटक वश की प्रभावती गुप्त, भौमकर राज्य की त्रिभुवन महादेवी, गौरी महादेवी, कश्मीर की दिद्दा, मुगल शासिका रजिया सुल्तान, पिछली शताब्दी की लक्ष्मीबाई आदि की चर्चा अपेक्ष्य होते हुए भी उनकी चर्चा यहा नही की जाएगी, यहा केवल रचना करने वाली कवयित्रियो की किंचित् चर्चा की जाएगी क्योकि इस लेख के सीमित विस्तार मे इतना ही सम्भव है।

यद्यपि वैदिक काल के बाद नारियो को वेद के अध्ययन से वचित कर दिया गया, नाना प्रकार के निरर्थक नियम-प्रतिबन्ध लगाकर उन्हे बाँधकर वन्दिनी बनाने का पूरा प्रयास किया गया, शिक्षा से सर्वथा दूर करके एक क्रीत पदार्थ की तरह उनके साथ व्यवहार किया गया, उन्हे वश-वृद्धि का साधन और सुख भोग की जीवित ललित सामग्री के अतिरिक्त और कुछ न माना गया और दीर्घकाल का आरोपित एव अभ्यस्त सस्कार स्वय उन्हे (नारियो को) भी लीलाओ की मूर्ति बना गया, फिर भी बीच-बीच मे शक्ति के स्फुलिंग दिखाई पडते हैं, जिससे इतना ही आभास होता है कि समाप्त होने पर भी स्पन्दन बचा है, बुझने पर भी अनल-कण कुछ शेष हैं।

सस्कृत साहित्य की सुदीर्घ परम्परा मे अनेक कवयित्रियो के नाम मिलते हैं, यत्र-तत्र बिखरी हुई कुछ रचनाएँ भी मिल जाती हैं किन्तु सुव्यवस्थित पुस्तकें नही मिलती। इसके कारण मे भी उक्त मान्यता का प्रभाव हो सकता है। धनदेव, राजशेखर आदि कवियो ने इनके विषय मे कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं तथा सुभाषित सग्रहो मे इनकी कुछ कविताएँ (श्लोक) सकलित हैं।

शारगधर पद्धति मे धनदेव की उक्ति है—

> शीलाविज्जामारुलामोरकाद्या,
> काव्य कर्त्तुं सन्ति विज्ञा स्त्रियोऽपि।
> विद्या वेत्तु वादिनो निर्विजेतु,
> विश्व वक्तु य प्रवीण स वन्द्य ॥

शीला, विज्जा, मोरिका, मारुला आदि स्त्रिया परम विदुषी और समर्थ कवयित्री है, इसलिए वन्द्य हैं। राजशेखर ने शीला भट्टारिका, विकटनितम्बा, विजया, प्रभुदेवी की बहुत प्रशसा की हैं। उपर्युक्त शीला भट्टारिका, विज्जका, मोरिका, मारुला, विकटनितम्बा, प्रभुदेवी, के अतिरिक्त फल्गुहस्तिनी, सुभद्रा, इन्दुलेखा, देवकुमारिका, मधुरवाणी, रामभद्राम्बा, तिरुमलाम्बा, गगादेवी चाण्डालविद्या, जघनचपला, प्रियवदा, वैजयन्ती उप्पाया, लखिना, त्रिवेणी, लक्ष्मी, सुन्दरवल्ली, ज्ञानसुन्दरी, अवन्तिसुन्दरी आदि कवयित्रियो के नाम मुख्य हैं।

यद्यपि इन कवयित्रियो की उपलब्ध रचनाओ का मूलभाव शृगार है, किन्तु शृगार महाभाव है। उसका मूल भाव-स्थायीभाव रति व्यापक है, वात्सल्य और भक्ति इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। यह मनुष्य से मनुष्य को जोडता है और दूर तक भावात्मक सामीप्य की अनुभूति से भरता है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण और दुखद बात है कि संस्कृत में इतनी कवयित्रियों के होते हुए भी आज उनके नाम से अपरिचय-सा है। एक तो उनकी रचनाएँ ही बहुत कम मिलती हैं, प्रायः खो गई किन्तु थोड़ी जो मिलती हैं उनका भी कोई सम्यक् संकलन नहीं निकला। यहाँ सभी का परिचय और उनकी रचनाओं का उल्लेख करना सम्भव नहीं, केवल कुछ का परिचय और कुछ एक के श्लोकों को उद्धृत करके सन्तोष करना पड़ेगा।

विज्जका

विज्जका आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और नवमी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की हैं। उनकी रचनाओं को आचार्य मम्मट, मुकुल भट्ट और धनिक ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। दण्डी ने काव्यादर्श के मंगलाचरण में सरस्वती के लिए 'सर्व शुक्ला सरस्वती' कहा था। इस पर विज्जका ने कहा है कि नीलकमल के पत्र के सदृश श्याम कान्ति वाली मुझे बिना जाने ही दण्डी ने व्यर्थ ही सरस्वती को सर्वशुक्ला कह दिया है।

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥

वह कवियों और भावकों के लिए कहती है कि सच्चे कवि का अभिप्राय अभिधा से व्यक्त नहीं होता अपितु रसार्द्र पदों के प्रयोग अर्थात् व्यंजना से होता है। भावक भी उसमें डूबकर मौन भाव से अंगों के रोमांच से हृदय के आनन्द की सूचना देता है।

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरंगैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

किसी मुग्धा के अतिशय सुन्दर मुख को देखकर कमल ने उस पर सदल-बल आक्रमण कर दिया पर कुछ न हुआ, वह हताश वापस लौट गया। उसका मुख, कमल की अपेक्षा सुन्दर ही बना रहा।

कोपं स्फीततरं स्पितानि परितः पत्राणि दुर्गं जलं,
मैत्रं मण्डलमुज्ज्वलं चिरमधो नीतास्तथा कण्टकाः।
इत्याकृष्टशिलीमुखेन रचना कृत्वा तदप्यद्भुतं,
यत्पद्मेन जिगीषुणापि न जितं मुग्धे! त्वदीयं मुखम्॥

हे चम्पक वृक्ष! तुम्हें यहाँ दुष्ट जनों के गाँव के पास वाली वाटिका में किसने रोपा है? तुम्हें शाक समझकर गाय से तोड़ी गई चहारदीवारी की तरह तुम्हारे पल्लवों को लोग नोच डालेंगे।

केनात्र चम्पकतरो बत रोपितोऽसि,
कुग्रामपामर जनान्तिक वाटिकायाम्।
यत्रप्ररूढनवशाकविवृद्धिलोभात
गोभग्नवाटघटनोचित पल्लवोऽसि॥

सुभद्रा

सुभद्रा के लिए कहा गया है कि जिस प्रकार सुभद्रा ने अपने अप्रतिम सौन्दर्य के कारण अर्जुन के मन में स्थान पाया था उसी प्रकार इस सुभद्रा ने अपनी कविता के वक्रोक्तिचातुर्य के कारण कवियों के हृदय में स्थान पाया है।

पायस्य मनसि स्थान लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया।।

सुभद्रा स्नेह से होने वाले कष्ट को एक रूपक में कहती है कि दूध को स्नेह (घी) के लिए क्या क्या नही झेलना पडता है।

दुग्ध च यत तदनु यत क्वचित ततो नु
माधुर्यमस्य हृतमुन्मथित च वेगात्।
जात पुनघृ तकृते नवनीतवृत्ति
स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्पराणाम्।।

मोरिका

मोरिका के विषय मे परिचयात्मक जानकारी नही मिलती। धनदेव की उक्ति मे आदर के साथ उसका नाम लिया गया है। वह काव्य-रचना मे बहुत निपुण थी। विदेश जाते हुए पति से उसकी प्रेमिका पत्नी जो कहती है वह मोरिका की सवेदनशीलता और कल्पना-वैभव को पहचानने के लिए पर्याप्त है।

मा गच्छ प्रमदाप्रिय प्रियशतैंर्यस्त्वमुक्तो मया
बाला प्रागणमागतेन भवता प्राप्नोति निष्ठां पराम्।
कि चान्यत कुचभारपीडनसहैर्यत्नप्रवृद्धै रपि
त्रुटयत्कञ्चुकजालकैरनुदिन नि सूत्रमस्मद्गृहम्।।

(प्रियतम ! सौ बार कहा, तुम मत जाओ। तुम जाने के लिए आँगन मे पाव रखोगे, अभी इतना ही सोचने पर किसी तरह स्तनो के भार का सहन करने मे समर्थ और प्रयत्नपूर्वक बाधी गई कचुकी टूटती जा रही है। उसके सीने के लिए घर मे सूत भी शेष नहीं है। अभी यह हाल है तो आगे क्या होगा।

मारुला

मारुला की प्रशसा भी धनदेव की उक्ति से प्राप्त होती है। इनमे कविता की प्रौढि और निपुणता अचानक नही आई होगी और विद्वत् जनो मे एक ही श्लोक के आधार पर इतनी प्रतिष्ठा नही मिली होगी। किन्तु एक से अधिक उपलब्ध नहीं है। मारुला ने नायिका की मुग्धता का सहज और मार्मिक चित्र खीचा है कि कोई सगदिल भी पानी पानी हो जाए।

कृशा केनासि त्व ? प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
मलधूम्रा कस्मात ? गुरुजनगृहे पाचकतया।
स्मरस्यस्मान् कच्चित् ? नहि नहि नहीत्येवमसकृत्
स्मरोत्कम्प बाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता।।

(नायक ने पूछा, तुम दुबली क्यो हो ? नायिका ने कहा, शुरू से ही शरीर ऐसा है। नायक—तुम मैली क्यो दिखती हो ? नायिका—ससुर के घर मे खाना पकाने के कारण। नायक—तुम मुझे कभी याद करती हो ? नायिका 'नही नही' कहती हुई स्मर-पीडा से कापने लगी और उसके हृदय से लगकर जोरो से रोने लगी।)

विकटनितम्बा

विकटनितम्बा काफी प्रतिष्ठित और ख्यात कवयित्री हैं। स्थान और समय का निश्चय नहीं किन्तु राजशेखर से पहले की हैं। राजशेखर ने कहा है कि ऐसा कौन मनुष्य है जिसे विकटनितम्बा की ललित वाणी को सुनकर अपनी कान्ता के मुग्ध-मधुर वचन फीके न लगने लगते हो।

के विकटनितम्बेन गिरांगुम्फेन रंजिता ।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुर वच ॥

कवयित्री ने भौंरे को सम्बोधित करके कहा है

अन्यासु तावदुपमदसहासु भङ्ग !
लोल विनोदय मन सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजस कलिकामकाले
व्यर्थ कदर्थयसि किं नवमल्लिकाया ॥

(भ्रमर ! तुम्हारे मदन को सहन करने वाली अन्य पुष्पलताओं मे तुम अपने चचल मन को रजित करो । इस नवमल्लिका की अनखिली कोमल कली को, जिसमे अभी केसर भी नहीं आया है, असमय मे व्यर्थ कष्ट क्या पहुचा रहे हो ?)

फल्गुहस्तिनी

फल्गुहस्तिनी अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न कवयित्री हैं । उन्होंने आकाश मे उदित प्रतिपद के चन्द्रमा के लिए कितने-कितने रूपको की उद्‌भावना की है ।

त्रिनयनजटा वल्लीपुष्प मनोभवकार्मुक
ग्रहकिसलय सन्ध्यानारीनितम्बनखक्षतम् ।
तिमिरभिदुर व्योम्न शृग निशावदनस्मित
प्रतिपदि नवस्येन्दोर्बिम्ब सुखोदयमस्तु व ॥

(यह शकर की जटा वल्ली का पुष्प है क्या, या कामदेव का धनुष है ? ग्रहो का नया रक्तिम पल्लव है या सन्ध्या-नारी के नितम्ब पर लाल नखक्षत है ? अँधेरे को खत्म करने वाला आकाश का शिखर है या निशा के मुख की मुसकुराहट है ? प्रतिपद का यह नया मनोहर चांद आप लोगो के लिए सुखद हो ।)

शीला भट्टारिका

शीला के लिए राजशेखर ने कहा है कि शब्द और अर्थ के समान और सगुफन को पाचाली रीति कहते हैं । ऐसी रीति यदि कहीं है तो शीला की कविताओ मे और बाण की उक्तियो मे । बाण के समकक्ष रखकर शीला की समता को स्वीकार किया गया है । उनकी कविताएँ भी निश्चित ही स्तरीय है ।

प्रियाविरहितस्याद्य हृदि चिन्ता समागता ।
इति मत्वा गता निद्रा के कृतघ्नमुपासते ॥

(प्रियतमा के वियोग मे मेरे हृदय म चिन्ता घुस आई । चिन्ता के आते ही यह सोचकर कि चिन्ता रूपी नायिका पास मे है तो निद्रा चुपचाप चली गई । कृतघ्न को भला कौन चाहता है ?)

एक प्रसिद्ध श्लोक जिसका उपयोग आचार्य मम्मट ने किया है । स्फुट अलकार न होने पर भी उत्तम काव्य के रूप मे इसे प्रस्तुत किया है ।

य कौमारहर स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा
ते चोन्मीलितमालतीसुरभय प्रौढा कदम्बानिला ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेत समुत्कण्ठते ॥

(वही मेरा प्रेमी पति भी है जिसने मेरा कौमार्य भंग किया था। वही चैत की चाँदनी रातें हैं। खिली हुई मालती की सुरभि से भरी हुई, कदम्ब की वही उन्मादक हवा बह रही है, और मैं भी वही हूँ, फिर भी नर्मदा के तट पर उस बेंत के पेड के नीचे उन काम-केलियो के लिए फिर मन उत्कण्ठित हो रहा है।)

इन्दुलेखा

इन्दुलेखा का भी परिचय ठीक-ठीक प्राप्त नही होता। वल्लभदेव ने उनका श्लोक अपनी पुस्तक सुभाषितावलि मे दिया है। सूर्य के अस्तगत होने पर कवयित्री ने कहा है—

एके वारिनिधौ प्रवेशमपरे लोकान्तरालोकन
केचित् पावकयोगितां निजगदु क्षीणेऽह्नि चण्डार्चिष।
मिथ्या चैतदसाक्षिक प्रियसखि प्रत्यक्षतीव्रातप
मन्येऽह पुनरध्वनीन रमणी चेतोऽधिशेते रवि॥

(कोई कहता है कि अस्त होने पर सूर्य समुद्र मे समा जाता है, कोई कहता है दूसरे लोक में चला जाता है, पुन कोई कहता है कि वह अग्नि मे चला जाता है। किन्तु प्यारी सखी! यह सब झूठ है। इसका कोई साक्षी नही है। मुझे तो मालूम पडता है कि अस्त होने पर सूर्य पथिको की पत्नियो के कोमल हृदय मे शयन के लिये चला जाता है, तभी तो उनके हृदय मे इतना ताप का अनुभव होता है।)

विजया

यह निश्चित नही हो सका है कि यह विजया और विज्जका एक ही थी या अलग अलग। इसे कर्नाटी कहा गया है और विज्जका भी दक्षिण की थी। दोनो की प्रतिभा पाण्डित्य और गर्वोक्ति समान स्तर की मालूम पडती है। राजशेखर कालिदास के बाद विजया को ही स्थान देते हैं।

सरस्वती व कर्नाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वास कालिदासादनन्तरम्॥

विजया स्वय को कर्णाट राजप्रिया बताती है और वह पूर्व के कवियो के प्रति तो अवश्य विनम्र हैं किन्तु गद्यपद्य की रचना मे स्वय को असाधारण मानती है।

एकोऽभून्नलिनात्ततश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापर
ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुमहे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरण कर्णाट राजप्रिया॥

गगादेवी

गगादेवी विजयनगर साम्राज्य के महाराज बुक्क के पुत्र कम्पण की पत्नी थी। उनमे असाधारण प्रतिभा थी। उन्होने कम्पण की विजय यात्राओ का सजीव चित्रण किया है। उनके काव्य मे साहित्यिक सौन्दर्य भी है और ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी। उनके दो काव्य मथुराविजय और वीरकम्परामचरित्र अधूरे रूप मे मिलते हैं। प्रकृति से भी उन्हें गहरा लगाव था। कमल के चारों ओर घूमते भौंरे और प्रहरी की तुलना करते हुए एक श्लोक है—

घटमान वलाररीपुर नलिन मन्दिरमिन्दिरास्पदम् ।
परिपालयति स्म निवयणन् परितो यामिकवन्मधुव्रत ॥

देवकुमारिका

यह उदयपुर के राणा अमरसिंह की पत्नी थी । इनका समय सतरहवी शताब्दी का उत्तराध और अठारहवी शताब्दी का पूर्वाध है । इन्होंने १७१६ मे वैद्यनाथ की प्रतिष्ठा की थी और उनकी प्रशस्ति मे काव्य लिखा 'वैद्यनाथ प्रासाद प्रशस्ति' । उस काव्य का ऐतिहासिक महत्व भी है । प्रशस्ति का एक श्लोक जो प्रार्थना परक है—

गुञ्जद्वद भ्रमत् भ्रमराजि विराजितास्य
स्तम्बेरमाननमहं नितरां नमामि ।
यत्पाद पङ्कज परागपवित्रितानां
प्रत्यूहराशय इह प्रशम प्रयाति ॥

प्रियंवदा

यह बगाल की सतरहवी शताब्दी की कवयित्री हैं । इनके पति का नाम रघुनाथ था । इन्होंने श्यामरहस्य लिखा है उसी का एक श्लोक—

कालिन्दीपुलिनेषु केलिकलन कसादिदैत्यद्विषम्
गोपालीभिरभिष्टुत व्रजवधू नेत्रोत्पलैरर्चितम् ।
बर्हालकृतमस्तक सुललितैरङ्गैस्त्रिभङ्ग भजे
गोविन्द व्रजसुन्दर भवहर वशीधर श्यामलम् ॥

लखिना

लखिना मिथिला की थी । उसने राशि चक्र के प्रतीक माध्यम से नायिका के रूप और स्थिति का बहुत सुन्दर चित्रण किया है—

आक्रान्ता दशमध्वजस्य गतिना सम्मूर्च्छिता निजले
तुयद्वादशमद्वितीयमतिमन्नेकादशमस्तनी ।
सा षष्ठी कटि पचमी च नवमभ्रूस्सप्तमीवर्जिता
प्राप्नोत्यष्टमवेदना त्वमधुना तूर्ण तृतीयो भव ॥

अवन्तिसुन्दरी राजशेखर की पत्नी थी । वह चौहान वश की थी । वह जैसी सुन्दरी थी वैसी विदुषी और कवयित्री भी थी । राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' मे उसके मत का तीन बार उल्लेख किया है । हेमचन्द्र ने अपनी 'देशीनाममाला' मे उसके तीन प्राकृत पद्य उद्धृत किए हैं । राजशेखर का समय दशवी शताब्दी है ।

राजशेखर चरित मे कामलीला, सुनन्दा कनकवल्ली, मधुरागी, ललितागी, विमलागी जैसी कवयित्रियो के नाम मिलते है किन्तु किसी की रचना नही मिलती ।

स्पष्ट है कि महिमा रचनाकारो की सख्या पर्याप्त है उनमे प्रतिभा एव क्षमता कदापि न्यून नही है उनके अनवरत योगदान को अस्वीकारा नही जा सकता, मूल्याकन की आवश्यकता है दूसरे-दूसरे क्षेत्रो मे आम्रपाली से लेकर शारदा देवी तक अनेको महिलाए हैं जिनका योगदान अक्षुण्ण है । आधुनिक काल को छोड दिया गया है क्योकि वह अभी की बात है और सख्या भी काफी है ।

भारत के विभिन्न भागो मे, जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में तथा यहाँ की विविध भाषाओं मे एक से एक स्तरीय महिलाएँ हुई हैं जिन पर भारत को गौरव है और जिनका राष्ट्रीय एकात्मता में योगदान अक्षय है, उनकी चर्चा की जानी चाहिए थी किन्तु यहाँ सम्भव नही है। अब कुछ एक हिन्दी कवयित्रियों की चर्चा करके विरमित होना होगा क्योकि लेख समापन-सीमा के समीप पहुच रहा है।

मीरा बाई का नाम इतना सुप्रसिद्ध और सुपरिचित है कि उनका विशेष परिचय देने की आवश्यकता नही। जोधपुर के सस्थापक राठौर राजा जोधा जी के पुत्र दूदा जी की वह पौत्री थी और दूदाजी के चतुथ पुत्र रत्नसिंह की एकमात्र सन्तान थी। इनका जन्म १४९८ ई० के आसपास हुआ था और देहान्त १५४६ ई० के करीब। बचपन से ही उनकी लगन गिरिधर-गोपाल से लग गई और ऐसी लगी कि कभी क्षीण नही हुई, और गहराती ही चली गई। उसी को वह बालपना की प्रीत कहती हैं। उनका विवाह १५१६ ई० मे मेवाड के महाराणा सागा के पुत्र भोजराज से हुआ था। वैसे मानसिक रूप म उन्होंने अपना विवाह श्रीकृष्ण से कर लिया था।

उन्हे कृष्ण की प्रेम-दीवानगी मे ससुराल के कितने अत्याचार सहने पडे, रोगटे खडे कर देने वाले हैं, किन्तु मीरा जरा भी नही डिगी। अन्धविश्वासो से जडित जड परम्परा की उन्होने जरा भी परवाह नही की और अन्तत मेवाड छोड दिया। फिर सारा देश, सारा ससार उनका घर था और उनके शाश्वत पति कृष्ण थे ही—मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोय।

प्रेम की ऐसी तन्मय गायिका मीरा के सिवाय दूसरी कोई नही हुयी। मीरा का पद जन जन तक पहुँचा और हृदय मे बस गया। पूरे उत्तर भारत मे आज भी मीरा के पद गाए जाते हैं, दूसरी भाषाओ मे अनुवाद के माध्यम से वह पढी जाती हैं। भावात्मक तन्मयता से जुडे उनके नाम का ऐसा असर है कि आदमी कही का हो क्षण भर एक हो जाता है। मीरा को भारत कभी नही भूल सकता।

पग बाध घूँघर्‌या णाच्यारी।
लोग कह्या मीराँ बावरी, सासु कह्या कुलनासाँ री।
विख रो प्यालो राणा भेज्याँ पीता मीरा हासाँ री।
तण मण वार्‌याँ परि चरणामाँ दरसन अमरित प्यासाँरी।
मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर, थारी सरणा आस्याँ री॥

x x x

मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरिधर म्हारा साँचो प्रीतम देखन रूप लुभाऊँ।
रैण पडे तब ही उठि जाऊँ, भोर गए उठि जाऊँ।
रैण दिना वाके सँग खेलू ज्यो त्यो वाहि लुभाऊँ।
जो पहिरावे सो पहरूँ, जो दे सो खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीत पुरानी, उण विण पल न रहाऊँ।
जहँ बैठावें तितही बैठू बेचे तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के बीच राष्ट्रीय आन्दोलन से जुडी हुई हिन्दी की प्रथम और सर्वाधिक प्रतिष्ठित कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान हुई। स्वतन्त्रता आन्दोलन मे भाग लेने के कारण जेल जाने वाली वह प्रथम महिला थी। उनका जन्म १९०४ म और देहान्त १९४८ मे हुआ। उन्होंने राष्ट्रीय

भावना से तादात्म्य स्थापित कर ऐसी कविताएँ लिखी कि रग का ठढा रक्त भी तप्त हो उठता था। इनके पति लक्ष्मण सिंह ने इनकी इच्छाओ मे, इनके विकास क्रम मे कही बाधा नही पहुचाई थी, अपितु सहयोग किया था। इन्होंने अपनी पुत्री सुधा चौहान का विवाह प्रेमचन्दजी के पुत्र अमृत राय से किया था। वह वस्तुत मिथ्या बन्धनो से परे केवल राष्ट्रीय थी।

'वीरो का कैसा हो वसन्त' 'सेनानी का स्वागत' 'झाँसी की रानी' आदि उनकी अमर कविताएँ हैं। अन्य प्रकार की रचनाएँ भी उन्होंने की हैं।

आ रही हिमालय से पुकार,
है उदधि गरजता बार बार।
प्राची, पश्चिम, भू नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग् दिगन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त।

(वीरो का कैसा हो वसन्त)

है सन्तप्त तदपि आशा से
स्वागत आज तुम्हारा।
एक बार फिर कह दो झडा
ऊँचा रहे हमारा।

(सेनानी का स्वागत)

सिंहासन हिल उठे राजवशो ने भृकुटी तानी थी,
बूढे भारत मे आयी फिर से नयी जवानी थी
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरगी को करने की सबने मन मे ठानी थी,
चमक उठी सन सत्तावन मे वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलो के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लडी मरदानी वह तो झासी वाली रानी थी॥

(झासी की रानी)

छायावाद काल मे महादेवी वर्मा एक ऐसी गरिमामय व्यक्तित्व से मण्डित कवयित्री हैं जिनका नाम लेते महिला-ससार गौरवान्वित हो उठता है। जिस वेद के पढने पर महिलाओ पर प्रतिबन्ध लगा था, महादेवी ने खास तौर से उस वेद को पढा था। उनमे अथाह करुणा भर गई थी और उस बिन्दु से फूटे उनके गीत चिर विरही की भाँति सतत जीवन्त और अमर हो गए। वह देश के प्राणो से जुडी हुई थी अमोघ प्यार के साथ, किन्तु उनके प्राण पखेरू १९८८ मे उड गए पर उनके रचनात्मक काय, उनका ललित गद्य और उनकी सासो की गध पिए उनके गीत सदा जीवित हैं।

मैं अनन्त पथ मे लिखती जो सस्मित सपनो की बातें।
उनको कभी न धो पाएँगी अपने आँसू से रातें॥

× × ×

ऐसा तेरा लोक, वेदना नही, नही जिसमे अवसाद,
जलना जाना नही, नही जिसने जाना मिटने का स्वाद।

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार॥

× × ×

वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात॥
जीवन विरह का जल्जात॥

और जीवन के हक के लिए अदम्य उत्साह से जूझने वाली मानवीय सच्चाइयों से वेहिचक रू-ब-रू होने वाली अमृता प्रीतम की पंक्तियों के साथ फिल्हाल विराम—

लाश को एक लाश की भूख होती है।
लाश की कोख बांझ नहीं होती।
और मेरी लाश की छाती में।
दूध की एक बूंद टपक पड़ती है।

× ×

दुनिया की रोशनी से
मंदिया शिकवा करती हैं
इस मुहब्बत के मौसम में
तुमने नफरत का कैसे बो दिया।

× ×

यह धरती एक खूबसूरत किताब है
चांद सूरज की जिल्दवाली
पर खुदाया!
यह भूख और गरीबी
सहम और गुलामी
क्या यह तेरी इबारत है?
या तेरे प्रकाशक से रह गई
प्रूफ रीडिंग की ग़लतियां? ●

प्रज्ञा-प्रासाद के प्रभा-लोक से भारत का भरत-वाक्य

प० अक्षयचन्द्र शर्मा

एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

ऋ० वे० १/१६४/४६

मत्र द्रष्टा ऋषियो ने अपनी स्वसवेद्य अनुभूतियो के प्रकाश मे एक विराट् सत्य का उद्घोष किया—एक सत्—वह एक ही सत् है—सत यानी नित्य, एक रस, दिक-काल की सीमा से अतीत, चरम परम सत्य-पर, सत्यवाक् विद्वानो से वह विविध रूपो मे व्याख्यायित होता है। भारतीय धम, दशन एव सस्कृति की यही मूल सचेतना है—जो विचित्र वैविध्यो, विरोधो, परस्पर वाद विवादो, शास्त्रार्थो, नित नूतन स्थापनाओ और निष्पत्तियो के बीच अभय रह कर सबका स्वागत करती रही है। भारतीय मनीषा ने हमेशा सबके अन्तराल मे अनुस्यूत एकता के सूत्र को ग्रहण कर अपनी सात्विक बुद्धि का और इस रूप मे अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया है। विचारो की उदारता, व्यापकता और स्वतन्त्रता के कारण भारत चिन्तन क्षेत्र मे अपने वैशिष्ट्य को विश्व के इतिहास मे सदैव रेखाकित करता आया है।

भगवान् कृष्ण ने गीता मे कहा है—

मत्त परतर नान्यत्किचिदस्ति धनजय ।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव ॥

—अध्याय ७/७

—हे अर्जुन ! मेरे सिवाय किंचित मात्र भी दूसरी वस्तु नही है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र मे सूत्र के मणियो के सदृश मेरे मे गुथा हुआ है।

भारतीय सस्कृति की दीर्घ प्रवाही सनातनता का रहस्य है—सीमा को लाँघ कर—असीम का सस्पश ! ज्ञात से अज्ञात की ओर, देह से आत्मा की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, भेद से अभेद की ओर—सतत गतिशील चरण !

य पश्यति स पश्यति

सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्त य पश्यति स पश्यति ॥

गीताकार की दृष्टि मे—उसी का देखना, सचमुच देखना है—जो विनाशशील पदार्थो के अन्तराल मे अविनाशी बैठा है, उसको निरन्तर दीखता है। सम्पूर्ण विभक्तो म वही एक अविभक्त—अखण्ड शोभायमान है। 'अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम।'

हमारा विश्वास रहा है कि सात्विक ज्ञान हमेशा पृथक् पृथक् मे किसी अपृथक् को—विभक्तो म किसी अविभक्त—को देखता है—

सवभूतेषु येनैक भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्विकम ॥

—गीता १८/२०

हमने हमेशा अनुभव किया चारो ओर शोर है, उसके भीतर मौन का देवता बैठा है, तरगाकुल सागर के भीतर कोई प्रशान्त भाव छिपा है। घट आदि नाम रूप—वाणी का विजृभण मात्र है—मृत्तिका ही सत्य है। यही मूल स्वर हमारे सन्तो की वाणी मे भी झकृत होता रहा है—

गहना एक कनक में गहना, तामे भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुइ कर थापे, इक नमाज इक पूजा ॥

'कनक कुण्डल न्याय' हमे पदे-पदे वैविध्यो के, भेदो के, घटाटोप मे उलझने नही देता।

हम दखते है—भिन्न भिन्न गिरि शिखरो से विविधनामा नदिया बहती हैं, कोई सीधी, कोई टेढी पर, सभी सागर की ओर—एक लक्ष्य की ओर प्रवाहित हैं। मूल मे उत्स एक, मध्य मे भेद, अन्त मे पुन अभेद—इस व्यापक एव समग्र दृष्टि के कारण हमारा दशन, हमारा धम एव हमारी सस्कृति—हमेशा समन्वयकारी, सहिष्णु, उदार एव गतिशील रहे हैं।

रुचीना वैचित्र्याद्दृजु कुटिल नानापथजुषा ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामणव इव ॥

—पुष्पदन्त

प्रज्ञा के प्रासाद से प्रभालोक

भारत ने चाहे भक्ति की कितनी ही महिमा को उजागर किया हो, चाहे स्वानुभूतियो की महत्ता को सादर सगव स्वीकारा हो और चाहे श्रद्धा के गौरव गान मे वह गदगद रहा हो पर, उसने प्रज्ञा के गौरव को भी अक्षुण्ण रखा है। मनुष्य जीवन मे सर्वोपरि स्थान ही प्रज्ञा का है, बुद्धि का है—शुद्ध बुद्धि का। समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ—भारत की साधना और सिद्धि का सर्वोच्च उत्तुग शृग है। गीताकार के शब्दो मे—बुद्धि के परे तो बस 'वह है'—केवल 'वह' "बुद्धे परतस्तु स ।"

भारतीय चिन्तन मे प्रज्ञा कोरी बुद्धि का विलास मात्र नही है, उस कोरी बुद्धि का जो शुष्क तक प्रवण, विश्लेषणात्मक या भावना विरोधी है—ऐसी बुद्धि प्रज्ञा से अभिप्रेत नही है। प्रज्ञा अथघन, भाव घन और सत् असत् को पृथक् करने वाली, नीर-क्षीर को विलगानेवाली राजहस की विवेक वृत्ति है जो मुक्ति-मौक्तिक को चुगती है। प्रज्ञा का हस तो 'मुक्ताफल निद्व द्व चुनेगा, चुन ले कोई शुक्ति ।'

योग भाष्य मे प्रज्ञा के स्वरूप की सम्यक विवेचना प्रस्तुत की गई है—

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सदभूतमय प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान,
कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुख करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते ।

महर्षि पतजलि ने योग सूत्र के समाधिपाद मे प्रज्ञा के स्वरूप का वणन करते हुए कहा है—

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद

निर्विचार समाधि मे प्रवीणता होने पर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निमलता होती है। बुद्धि मे जो प्रसन्नता या निमलता रहती है, यह अध्यात्म प्रसाद है। इस अवस्था मे रज तम रूप मल और आवरण का क्षय हो जाता है—इससे स्वच्छ स्थिरता रूप एकाग्र प्रवाह निरन्तर बहता रहता है—यही वैशारद्य है। श्री व्यासजी ने इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याशोच्य शोचते जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थ सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

प्रज्ञारूपी प्रासाद (महल) पर चढ कर शोकरहित प्राज्ञ शोक मे पडे जनो को ऐसे देखता है, जैसे पहाड की चोटी पर खडा मनुष्य नीचे पृथ्वी पर खडे मनुष्यो को देखता है।

प्रज्ञा—यह निर्मल शुद्ध प्रज्ञा—ऋतभरा होती है—अर्थात् इस प्रज्ञा मे केवल ऋत ही ऋत केवल सत्य ही सत्य धारण किया जाता है, इसमे भ्रान्ति, सशय या विपयय ज्ञान का सवथा अभाव होता है।

ऐसे प्रज्ञावान् मनीषियो ने प्रज्ञा की सप्तधा प्रान्त भूमियो को आयत्त किया है—ऐसी ही प्रज्ञा—उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित होने से चतुर्दिक् एक को ही विविध स्वरूपों में रूपायित देखती है।

तस्य सप्तधा प्रान्त भूमि प्रज्ञा

"निर्मल विवेक ख्याति द्वारा चित्त के अशुद्धि रूप आवरण-मल नष्ट हो जाने से दूसरे सासारिक ज्ञानो से उत्पन्न न होने वाली सात प्रकार की उत्कष आस्था वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

(१) हेयशून्य अवस्था—"परिज्ञात हेय नास्य पुन परिज्ञेयमस्ति" जो कुछ हेय था जान लिया, अब कुछ हेय शेष नही रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप और सस्कार दु खो तथा गुणवृत्ति विरोध से दु ख रूप ही है, इसलिये 'हेय' है।

(२) हेयहेतु क्षीण अवस्था—"क्षीणा हेय हेतवो न पुनरेतेषा हातव्यमस्ति" जो दूर करना था अर्थात द्रष्टा और दृश्य का सयोग जो 'हेय हेतु' है वह दूर कर दिया, अब कुछ दूर करने योग्य शेष नही रहा।

(३) प्राप्यप्राप्त अवस्था—"साक्षात्कृत निरोध समाधिना हानम्" जो साक्षात करना था वह साक्षात् कर लिया, अब कुछ साक्षात् करने योग्य शेष नही रहा।

(४) चिकीर्षाशून्य अवस्था—' भावितो विवेकख्याति रूपो हानोपाय ।" जो सम्पादन करना था वह कर लिया अर्थात् हान का उपाय निमलख्याति सम्पादन कर लिया, अब कुछ सम्पादन करने योग्य शेष नहीं रहा। यह प्रज्ञा पर वैराग्य की पराकाष्ठा है अर्थात् बुद्धि व्यापार की प्रान्त रेखा है।

(५) चित्तसत्त्व कृतार्थता चित्तविमुक्ति प्रज्ञा—"चरिताधिकारा बुद्धि ।" चित्त ने अपना अधिकार भोग अपवग देने का पूरा कर दिया है, अब उसका कोई अधिकार शेष नही रहा है।

(६) गुणलीनता "गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थाना स्व कारणे प्रलयाभिमुखा सह तेनास्त गच्छन्ति। नचैषा प्रविलीनाना पुनरस्त्युत्पाद प्रयोजनाभावादिति।" जिस प्रकार पवत की चोटी के किनारे से गिरे हुए पत्थर बिना रुके हुए पृथिवी पर आकर चूर-चूर हो जाते हैं इसी प्रकार चित्त के बनने वाले गुण अपने कारण मे लय होने से अभिमुख जा रहे हैं, क्योंकि अब इनका कोई प्रयोजन शेष नही रहा।

(७) आत्म स्थिति—"एतस्यामवस्थाया गुणसम्बन्धातीत स्वरूपमात्र ज्योतिरमल केवली पुरुष इति।" गुणा के सम्बन्ध से परे होकर पुरुष की परमात्म स्वरूप स्थिति हो रही है। अब कुछ शेष नही रहा।

(पातजलयोगप्रदीप, पृष्ठ ३३४-३३५)

इससे स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि प्रज्ञा को सम्बोधि तक, बुद्धत्व प्राप्ति तक, जीवन की कृतार्थता या कृतकृत्यता तक की प्रात भूमि तक ले जाती है—उस चरम सोपान बिन्दु तक—जिसके सघन सान्निध्य मे केवल—केवल 'वह' रहता है—वह भी नही—केवल का भाव 'कैवल्य।'

वाड्मय का तप

अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाड्मय तप उच्यते ॥

—गीता, १७/१५

भगवान कृष्ण ने वाड्मय के, वाणी के, आज की दृष्टि मे समग्र साहित्य की सजना के मूल मे तप को स्वीकारा है। तप पूत सृजन मगलोन्मुख होता है, वह सुरसरि सम स्वच्छ, स्वच्छन्द एव लोक हितकारी है। इस तप के निकष तीन बिन्दु हैं—'सत्य' [दर्शन], 'प्रिय' [सस्कृति] और हित [धर्म]। सत्य, प्रिय, हित आज की शब्दावली मे सत्य शिव सुन्दरम् के रूप मे अनेकधा चर्चित हैं और इन्ही को हम ब्रह्म के स्वरूप निवचन मे सत् [सत्य] चित् [ज्ञान, बोध या धर्म] आनन्द [सस्कृति] रूप मे हृदयगम करते हैं। पचदशी मे अस्ति [सत्], भाति [चित] प्रिय [आनन्द] नामो से आख्यायित हैं।

जीवन को हम अखण्ड प्रवाह के रूप मे समझने का प्रयास करते हैं अत हमारी दृष्टि विच्छिन्न न होकर समग्र सत्य को स्वायत्त करने मे अपनी सार्थकता मानती है। हम चेतना का भौतिक विभाग करना नहीं चाहते, क्योकि हम जानते हैं कि यह विभाग करने की खण्डदृष्टि हमे सत्य के लेश—अर्थात् असत्य की, मिथ्यामयी मरुभूमि की मृग मारीचिका में भटकाती रहती है। महाकवि 'प्रसाद' की शब्दावली मे—

चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाँट दिया विराग,
चिति का स्वरूप वह नित्य-जगत,
यह रूप बदलता है शत - शत,
कण विरह-मिलन-मय नृत्य-निरत
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत
तल्लीन - पूर्ण है एक राग,
झकृत है केवल 'जाग जाग।'

जीवन की धारा दर्शन, धर्म, सस्कृति को लिये निरन्तर प्रवाहमान है—कविमनीषी की इस ऋचा-गीति मे चिर झकृत है।

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत् सतत, प्रकाश सुखद अथाह।

दर्शन की गुरु शब्दावली मे जो सत, चित्, आनन्द है, वही ब्रह्म यहाँ जीवन मे पिघल कर—ब्रह्मद्रव—होकर 'जीवन' के श्लेष मे जीवन और जल को समेटे हमारे सामने एक चाक्षुष बिम्ब खडा करता है—जैसे किसी तुग गिरि-शिखर से उजली धारा आनन्द को, रस को लिये सतत प्रवाहमान है—चारो ओर है—सुन्दर, सुखद वातावरण—फिर भी 'अथाह' के रूप मे रहस्यमयी अगम्य तलस्पर्शिता जो आने वाली प्रखर प्रतिभा के लिये भी नित्य चुनौती बन प्रश्नात्मक रूप से खडी है।

दर्शन धर्म संस्कृति—स्पष्ट पार्थक्य

जब हम स्थूल दृष्टि से देखते हैं तो दर्शन, धर्म, संस्कृति भिन्न भिन्न मालूम होते हैं। इन तीनो का क्षेत्र, इनकी स्थिति, इनकी प्रणाली और इनकी परिणति या निष्पत्ति—इतनी भिन्न, कहना चाहिये इतनी विरोधिनी हैं कि तीनो पर युगपत् विचार करना भी असगत असमीचीन प्रतीत होता है। पर जब हम गम्भीरता से चिन्तन करते हैं तो इन तीनो मे परस्पर तादात्म्य, एक-दूसरे से जुडे हुए—एक दूसरे से पूर्वापर रहते हुए, एक-दूसरे के सहयोगी बन—पूरक बन खडे हैं। जब हम दर्शन की गुरु गम्भीर ऊहापोह-मयी विकट शब्दावली—यानी गिरि-कान्तारो मे उलझी, गुफाओ को गुजारित करती—हर हर करती उफनती तोडती जल की दुर्दम्य धारा—जहाँ हरेक की गम नही, पहुँच नहीं, पर वह दर्शन की गगोत्री मे रहने वाली, भगवान शिव के जटाजूट मे किल्लोल करने वाली आगे चल कर पुण्यतोया भागीरथी बन कर हरिद्वार की समभूमि पर उतरती है तो धर्म का तप मधुर स्वरूप हमे मुग्ध मोहित कर देता है। हम यदि धर्म के व्यापक अर्थ मे ग्रहण करें तो कहेगे विचार पक्ष दर्शन व आचार पक्ष धर्म है। यदि दर्शन को प्रमुखता देना चाहते हैं तो कहा जा सकता है—दर्शन की कठोरता, मृदुलता बन कर धर्म बन गयी या धर्म का मूल उद्गम दर्शन है। हमारी दार्शनिक चिन्तन सरणिया अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद प्रभृति—विभिन्न सम्प्रदायो के आचारो का मूल उत्स बनी है। हम किसी भी अपने धार्मिक अनुष्ठान की कल्पना ही नही कर सकते—जिसमे हमारे विचार पक्ष की, चिन्तन पक्ष की सुदृढ उच्चता या गम्भीरता न हो।

धर्म हमारे लिये केवल कर्मकाण्ड, केवल श्रद्धा विश्वास, या पारलौकिक पलायन या विधि निषेध का आचार शास्त्र मात्र नही है। हम धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस दोनो का सगम मानते हैं, वह हमे मुद-मगल देता है, वह हमे तप से सभी स्तरो पर समृद्ध समर्पणशील व्यक्तित्व के निर्माण की प्रेरणा देता है, वह 'दान' के रूप मे हमे समष्टि से—समाज से, सम्पृक्त करता है—यज्ञ के रूप से हम सारे ब्रह्माण्ड के प्रति अपने दायित्व को सँभालते हैं और अन्त मे बिन्दु-सिन्धु का एकाकार होना—यही हमारा लक्ष्य है। हम धर्म को चार पुरुषार्थों से ओत प्रोत पाते हैं।

कर्ण पर्व मे श्रीकृष्ण कहते हैं—

> धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा।
> यत्स्याद्धारण सयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥

"धर्म शब्द धृ (= धारण करना) धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिसमे सब प्रजा का धारण होता है, वही धर्म है। यदि यह धर्म छूट जाय, तो समझ लेना चाहिये कि समाज के सब बन्धन भी टूट गये, और यदि समाज के सारे बन्धन भी टूटे तो आकर्षण शक्ति के बिना आकाश मे सूर्यादि ग्रहमालाओ की जो दशा हो जाती है, अथवा समुद्र मे मल्लाह

के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। इसलिये उक्त शोचनीय अवस्था मे पडकर समाज को नाश से बचाने के लिये व्यासजी ने कई स्थानो पर कहा है कि यदि अर्थ या द्रव्य पाने की इच्छा हो तो 'धर्म के द्वारा' अर्थात समाज की रचना को न बिगाडते हुए प्राप्त करो, और यदि काम आदि वासनाओं को तृप्त करना हो तो वह भी 'धर्म से ही' करो। महाभारत के अंत मे यही कहा है कि—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते॥

"अरे! भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हू, (परन्तु) कोई भी नही सुनता! धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, (इसलिये) इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नही करते हो?"

[गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, पृष्ठ ६६-६७]

इससे स्पष्ट है कि धर्म एक ओर दर्शन मे जुडा है तो दूसरी ओर हमारे लौकिक सामाजिक जीवन से भी प्रगाढ भाव से सम्पृक्त है। समाज निरपेक्ष धर्म की हम कल्पना ही नही कर सकते—अभ्युदय धर्म का एक महत्वपूर्ण उपादान अंश है। 'सर्वभूतहितेरता' रहकर धर्म अपनी धन्यता और सार्थकता सिद्ध करता है। गीता के अथ मे 'धर्म क्षेत्रे' मे धर्म आता है और अन्त के श्लोक मे श्री, विजय, विभूति, ध्रुवानीति जैसे ऐहिक सिद्धियों या लक्ष्यों की पदावली विजडित है।

यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

गीता १८।७८

संस्कृति

जहाँ सत्य या शिव सुंदरता से ग्रंथ-बंधन करते है, वहीं संस्कृति की सुरभि चतुर्दिक व्याप्त हो जाती है। लावण्य जब अपने को तप्त स्वर्ण बनाता है यानी अपने को विशुद्ध करता है तब शिवत्व से एकाकार होकर अर्धनारीश्वर के रूप म चारुता प्राप्त करता है। संस्कृति म सामूहिक मोद-प्रमोद की छटा है, संस्कृति हमारे जीवन को सहज मधुर रूप मे, संस्कारित करने की, परिष्कृत करने की, माजने की एक मोहक प्रक्रिया है। ललित कलाओं के रूप मे, ध्वनि म, रगों म, नृत्य की चारियों मे, अगहारों में ऊर्मिल होकर सामूहिक स्वच्छन्दता को एक छन्द प्रदान करती है। ऐसा लगता है—जो सुरसरिता कभी गिरि शिखरो में हिमानी रूप मे थी जो प्रचण्ड प्रवाही थी, जिसके धरती पर, सम भूमि पर उतरते ही जीवन को मर्यादित करने वाले धर्म की गम्भीरता लिये व्यक्ति सापेक्ष थी—वही अब दूर दूर तक धरती को उर्वर, शस्य श्यामल या कर पुष्पराजि को पुष्पित और फलो को रस प्लावित कर रही है और धरती पुन गम्य का, शिव का भूल कर कृतज्ञता से भरा—आनन्द से मोद प्रमोद म भरा नाच उठा है—गीता म उमड़ता [illegible] हृदय म समा जाता है—यह आत्मिक हर्षोल्लास—संस्कृति का स्वारस्य है, माधुर्य है। मृण्मय जीवन के कण कण से उफनती चिन्मयी सुधा धारा। संस्कृति के रस पीकर छिटककर हम अपने जीवन म दर्शन तथा धर्म से ओतप्रोत करते है। न दर्शन की शुष्कता है और न धर्म की विधि निषेधमयी गूढ़ता—दोनों म गुण पर दोनों म मुक्त एक ऐसी तीसरी रसमयी अवधारणा है—जिसे हम संस्कृति नाम से अभिहित कर सकते है। ऐसा लगता है—वीणा के तार की झंकार पर आरोहण कर नाद विभाग, धर्म

धर्म, सभी शतरंगी रूपो मे धावा पृथिवी पर छा गये हैं। जो ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त रूप मे था, जो अवाङ्मनसागोचर था, जो मन वाणी से अगम्य अगोचर था, जो 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' के रूप में जो दुरभिगम्य, अलक्ष्य और अथाह था—वही 'रसो वै स' के रूप मे धरती पर उतर तरंगित होता है, जिसकी चारु चपल ऊर्मिमाला से जीवन-तट की शुष्क सिकता भूमि सिक्त हो जाती है।

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर
करुणा की नव अँगराई-सी,
मलयानिल की परछाईं सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।

o o o

तू भूल न री, पकज वन मे,
जीवन के इस सूनेपन मे,
ओ प्यार पुलक सी भरी ढुलक !
आ चूम पुलिन के विरस अधर।

(लहर)

अखण्ड महिमामय भारत

स्वर्गादपि गरीयसी भारत की एकात्मता अखण्डता और दिव्यता एक ओर प्रकृति ने अपने उपादानो से निर्मित की है तो दूसरी ओर मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने, क्रान्तद्रष्टा कवियो ने, सन्तो, मुनियो, भक्तों एव आचार्यों ने अपनी साधना, आराधना तपश्चर्या और मृत्यु जयी सुरभारती से, लोक भाषाओ के छन्दो से रची है। कैलाश पर योगमुद्रा मे आसनबद्ध भगवान शिव, दक्षिण म रामेश्वरम, भगवान राम की यश धवल पताका से शोभित सेतुबन्ध, क्षीरसागर मे योगनिन्द्रा मग्न शेषशायी विष्णु, द्वारकाधीश की लीलाओ से तरंगित, सिन्धुवेला पर स्थित द्वारका, पूर्व म जगन्नाथपुरी म विराजमान जगन्नाथ बलभद्र, सुभद्रा के विग्रह त्रय प्रतिक्षण भारत की भव्यता एव दिव्यता के सजग प्रहरी बन अटल स्थित हैं। सस्कारो मे उच्चरित होने वाले मन्त्र आसेतु हिमालय गुञ्जित करते हैं सर्वत्र एक ही स्वर, एक ही नाद। छोटे छोटे धार्मिक सकल्पो मे भी जम्बूद्वीप के साथ भरत खण्डे कोटि-कोटि कण्ठो से उच्चरित होता है। भगवान राम, भगवान कृष्ण—भारत के कण कण मे व्याप्त हैं। स्नान के समय थोडे से जल मे सभी प्रमुख नदियो का आह्वान किया जाता है।

भारत की सगीत नृत्य कला—मूलत धार्मिक-कथाओ से अनुप्राणित—भौतिकता से उठकर आध्यात्मिक अनन्त आकाश की ओर जाती है और ऊर्ध्व सतरण करती हुई—मेघमाला की तरह गिरि-शिखरो, वनो, कान्तारो, ग्राम-नगरो, खेतो खलिहानो मे अपना अमृत रस बरसाती भारत की एकता का सतत स्तवन करती है। अपसस्कृति से यदा-कदा विच्छिन्नता के बेसुरे स्वर सुनाई देते हैं—पर, तीर्थों पर एकत्र होने वाली जनमेदिनी—उसे धूलिसात करती निरन्तर राजपथो, रथ्यो, पगडण्डियो मे अपने तीर्थ-यात्रा निमित्त गतिशील चरण-चापो से अखण्ड भारत की उदघोषणा करती है।

भगवान राम के मुखारविन्द से निःसृत इन उद्गारो मे भारत का मानस स्पन्दित है—

नेय स्वर्णपुरी लङ्का रोचते मम लक्ष्मण।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

'विष्णु पुराण' भारत की महिमा को प्रात स्मरणीय बनाकर हमारे हृदय को प्रेम पीयूष से अभिषिक्त करता है—

गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तुते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्ग भूते भवन्ति भूय पुरुषा सुरत्वात् ॥

(२।३।२४)

सचमुच भारत भूमि की वैचित्र्यमयी एकता का वज्रलेपी निर्माण किया है, देवतात्मा नगाधिराज हिमालय ने, गभीर सागर ने, नितनीरा नदियो ने, आचार्यों की दार्शनिक चिंताधारा ने, सतो की तपश्चर्या ने, तपवनो ने, तीर्थों ने, तीर्थों को और अधिक तीर्थत्व प्रदान करने वाले भक्तो ने, प्रेम एकता-स्नेह के चिन्मय सेतु बनाने वाले सिद्ध वाक भारती के वरद पुत्रो ने, कीतनकारो और शिल्पियो ने। ऐसा भारत सदा भा (प्रकाश), रत रहता हुआ—विश्व को शांति का सन्देश देता रहे—यही भगवान का मौन मुखर आदेश है।

मध्यवर्ती बिन्दु-मानव

न हि शप्त प्रतिशपामि किंचिद, दम द्वार ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि, न ह मानुषाच्छ्रेष्ठतर हि किञ्चित् ॥

(शांति पर्व २७६/१२०)

"कोई मुझ पर रोष करे, मैं उस पर रोष नही करता। सब प्रकार अपने आप को वश में रखना—यही अमृत द्वार है। यह अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान तुमको कहता हू कि मनुष्य से बढकर और कुछ नही है।"

धम, दर्शन या सस्कृति—जो भी हमारी दीघकालीन तपश्चर्या से प्राप्त उपलब्धियाँ है—उनकी धन्यता मानव की मृत्यु जयी सृजनधर्मिता के पुष्ट प्रमाण हैं। मानव हृदय में जो रस है, वही मस्तिष्क मे प्रज्ञा है, आखों मे लावण्य है, व्यवहार मे नैतिकता है और आदश मे धम है।

हमारे दर्शन का उद्देश्य, धम का लक्ष्य, कला का प्रयोजन या सस्कृति का चरम शिखर—एक है—विश्व मगल, लोक सग्रह, सवभूतहित, भू भुव स्व पयन्त व्याप्त शांति! हमारे सभी सस्कार, हमारे उत्सव त्योहार, हमारे मोद प्रमोद-विनोद—सभी विश्व मगल की गुरु गभीर ध्वनि से आद्यन्त मुखरित हैं। क्षणिक सुख नही—शाश्वत आनन्द यही धम हैं, यही दशन हैं, यही सस्कृति है।

भरत वाक्य

सस्कृत नाटय वाडमय के समापन पर नाटककार जो अन्त म भरत वाक्य प्रकट करते हैं, उसम भारतीय सस्कृति के शुभ, मगलमय, स्वस्ति स्वन, शिव सकल्प और मनोराज्य से उद्भूत सवतोभद्रभाव प्रकट होते हैं—ऐसा लगता है—यह मात्र भरत वाक्य नही—भारत की आत्मा का शाश्वत उद्गीथ गान है, प्रणव नाद है या प्लुत ध्वनि से उच्चरित चतुष्पात् ओंकार है।

(अ) प्रवततां प्रकृतिहिताय पार्थिव सरस्वती श्रुति महती महीयताम्।

—अभिज्ञान शाकुन्तलम्।

शासक सदा अपनी प्रजा की भलाई मे लगे रहें। बडे बडे विद्वानों कवियो की वाणी का सब कही समादर हो।

लेखक परिचय

प्रो० कुबेरनाथ राय ' (१९३५) एम० ए० (अंग्रेजी) ललित निबन्धो पर उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पाच पुरस्कारो से सम्मानित। तेरह निबन्ध सग्रह प्रकाशित प्रिया नीलकण्ठी, रस आखेटक, गन्धमादन, पण मुकुट, महाकवि की तर्जनी इत्यादि। '*त्रेता की वृहत् साम*' निबन्ध सग्रह रामकुमार भुवालका पुरस्कार द्वारा सम्मानित।

डा० एन० के० देवराज (१९१७) एम० ए० डि० फिल, वेदान्त शास्त्री, अध्यक्ष एव निदेशक सेन्टर ऑफ एडवान्स स्टडी इन फिलोजोफी (बी० एच० यू०) साहित्य एकेदमी मे पुरस्कार (हिन्दी) प्रदान करने वाली निर्णायक समिति मे। बहुत से शोधकर्ता विद्वानो ने आपके निदेशन मे पीएच० डी० प्राप्त की। ३० पुस्तकें प्रकाशित Philosophy of culture An introduction to creative Humanism Philosophy Religion and culture etc हिन्दी मे काव्य सग्रह, निबन्ध सग्रह एव उपन्यास।

डा० सुधाकर गोकाककर (१९२०) एम० ए० बी० एड०, पीएच० डी० पण्डित (पुणे १९५५) पारगत (आग्रा १९५७) साहित्य रत्न (प्रयाग १९५९) उपाधिया से अलकृत।
साहित्य कृतियां ८ ग्रन्थ प्रकाशित, जिनमे दो पुरस्कृत। ४ पुस्तकें हिन्दी से मराठी मे तथा 'शोध विज्ञान कोश' मराठी से हिन्दी मे अनूदित।

डॉ० नारायण विनायक कारबेलकर (१९१५) एम०एस०सी० (फस्ट क्लास फस्ट), पीएच०डी०। विदभ एम०बी० के प्रोफेसर (केमिस्ट्री) चेयरमैन, बोड ऑफ स्टडीज, इन केमिस्ट्री, नागपुर विश्वविद्यालय **प्रकाशित ग्रन्थ** स्कूलो के लिए रसायन शास्त्र पर छह पुस्तकें, डिग्री के *विद्यार्थियो के लिये* नौ रसायन शास्त्र पर पाठ्य पुस्तकें, कई कहानियां, कवितायें, नाटक, उपन्यास। सम्पादक, विज्ञान तथा योग सम्बन्धी पत्रिकाओ के, पातजल योग सूत्र पर दो पुस्तकें।

डा० केशव रामराव जोशी (१९२८) एम० ए० पीएच० डी०, शास्त्री, काव्यतीथ, साहित्याचाय। सदस्य फैक्ल्टी आफ आर्ट्स, अकादेमिक कौंसिल, व सेनेट, नागपुर विद्यापीठ।
प्रकाशित ग्रन्थ सस्कृत साहित्य पर कई ग्रन्थ, पांच सस्कृत नाटिकाएँ, प्रवास वणन, चरित्र १०० सस्कृत निबन्ध, शोध पत्र, अनुवाद आदि।

प्रोफेसर के० एम० लोढा (१९२३) एम० ए० विद्यासागर (डिलिट) साहित्य वाचस्पति, जोधपुर विश्वविद्यालय के पूव उपकुलपति, कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनियर प्रोफेसर, हिन्दी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष (१९५९-१९७९), एशियाटिक सोसाइटी के पूव उपाध्यक्ष, अनेक विद्वत सस्थाओ मे अध्यक्ष, ट्रस्टी, भारतीय हिन्दी परिपद (इलाहाबाद) के अध्यक्ष।
प्रकाशित ग्रन्थ कामायनी, प्रज्ञाचक्षु सूरदास, बालमुकुन्द गुप्त, पुनमूल्याकन, सकल्प, भारतीय साहित्य मे राधा, आदि सम्पादित।

प्रो० भवानीशंकर उपाध्याय धम और मनोविज्ञान पर गम्भीर लेखन विशेष रूप से जुग और भारतीय चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन। प्रकाशित पुस्तक काल गुस्ताव युग विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान।

डा० जनार्दन राव चेलेर (१९२७) एम० ए० (हिन्दी, सस्कृत), पीएच० डी०। श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (आध्र) मे अध्यापक एव शोधकार्य।
प्रकाशन दो ग्रथ, ३ लेख। 'वृद और उसका साहित्य' पर उ० प्र० हिन्दी अकादमी का पुरस्कार।

डा० मारुति नन्दन पाठक (१९४५) एम० ए० (सस्कृत एव हिन्दी) पीएच० डी० (सस्कृत) मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (गया) मे सस्कृत विभाग के रीडर।
प्रकाशन डा० प्रभाकर माचवे की दृष्टिकोण, मालती माधव का साहित्यिक एव सास्कृतिक अध्ययन। (शोध प्रबन्ध)—भवभूति सास्कृतिक अवदान इत्यादि।

डा० श्रीमती वीणापाणि पाटनी (१९३२) एम० ए०, पीएच० डी०। शोध प्रबन्ध 'हरिवश पुराण का सास्कृतिक विवेचन' पुस्तक रूप मे प्रकाशित। अग्रेजी मे और सस्कृत मे भी पुस्तकें प्रकाशित। दिल्ली वि० वि० के जानकी देवी महाविद्यालय मे वरिष्ठ प्राध्यापिका।

डा० उमाशकर शर्मा 'ऋषि' एम० ए० पीएच० डी०।

श्री जयकिशनदास सादानी भारतीय सस्कृति ससद से सम्बन्धित। जयशकर प्रसाद के महाकाव्य कामायनी एव खण्ड काव्य 'आँसू' का अग्रेजी पद्यानुवाद एव सूरदास के पदो का पद्यानुवाद। धर्म, दशन ललित कलाओ पर कई निबन्ध प्रकाशित।

डॉ० विश्वनाथ शुक्ला (१९२८) एम० ए० सस्कृत हिन्दी, एल० एल० बी०, पीएच० डी०, डि० लिट० (हिन्दी) अनेक भाषाविद सस्कृत, हिन्दी, व्रजभाषा मे काव्य रचना, गुजराती, मराठी, बगला, तेलगू, उर्दू, अग्रेजी का विशेष अध्ययन, लका की भाषा सिगली का ज्ञान।
प्रकाशित १२ रचनाएँ शोधग्रन्थ हिन्दी भक्ति काव्य पर श्रीमद्भागवत पुराण का प्रकाशन, भक्ति मीमासा उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत, भावलोक-कविता सग्रह इत्यादि।

प्रो० ना० नागप्पा (१९२२) एम० ए० (हिन्दी), १९३८ से १९७७ तक मैसूर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग मे अध्यापन, शोध तथा शोध-छात्रो का मार्गदर्शन किया। अनेक विश्वविद्यालयो के पीएच० डी० के परीक्षक।
प्रकाशित ग्रन्थ "व्यवहारिक हिन्दी", "अभिनव हिन्दी व्याकरण" आदि अनेक ग्रन्थ, शोध पत्र आदि। दो अनुवाद ग्रन्थ (अग्रेजी से हिन्दी) और दो कन्नड से हिन्दी।—सम्पादक "भाषा पीयूष" — सदस्य "त्रिभाषा कोष समिति" (कन्नड, हिन्दी, अग्रेजी)।

श्री केशवराम काशीनाथ शास्त्री (१९०५) विद्यावाचस्पति, महामहोपाध्याय, शुद्धद्वैतालकार, पद्मश्री (१९७६) पुरस्कार साहित्य सेवा के लिए 'रजितराम स्वणपदक' द्वारा सम्मानित। शोधकर्त्ता, १० वर्षों तक 'अनुग्रह' का सम्पादन, 'गुजराती साहित्य की रूपरेखा' (दो खण्ड) तथा कई शोधपत्र प्रकाशित।

डा० इन्द्रसेन एम० ए० पीएच० डी० अरविन्द साहित्य के मूर्धन्य मनीषी व चिन्तक, पाडिचेरी आश्रम मे कार्यरत।

डा० जगदीश गुप्त (१९२६) एम० ए० डि० फिल० प्रयाग युनिवर्सिटी प्रधान हिन्दी अध्यापक। कवि, लेखक एव चित्रकार, कई काव्य सग्रह प्रकाशित गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्रागैतिहासिक चित्रकला, नई कविता स्वरूप और समस्याएँ, कविता गुच्छ, नाव के पाँव, शबुर, छन्दशती, गोपा गौतम, बोधिवृक्ष इत्यादि।

डा० श्यामप्रकाश एम० ए० पीएच० डी०।

श्री गणेश ललवानी (१९२३) एम० ए० (बगला भाषा) साहित्य, कला, सगीत, चित्रकला एव पत्रकारिता म विशेष काय, आप की कृतिया शान्ति विजय ज्ञान-पीठ एव जिनेश्वर पुरस्कार निधि द्वारा सम्मानित श्रमण एव जैन जनल के सम्पादक।

डा० प्रेमलता शर्मा एम० ए० पीएच० डी० उपकुलपति इंदिरा कला सगीत महाविद्यालय खैरागढ, मध्यप्रदेश।

डा० आर० सी० शर्मा (१९३६) इण्डिया म्युजियम, कलकत्ता मे डायरेक्टर—प्राचीन इतिहास तथा सस्कृति मे एम० ए०। १९६७-६८ मे पेरिस मे म्युजियोलाजी मे विशेष प्रशिक्षण। लखनऊ उ० प्र० राज्य म्युजियम के पूव डायरेक्टर।

प्रकाशित ग्रन्थ भारतीय कला, मास्टर मथुरा म्युजियम आदि अनेक शोध ग्रथ। उनका ग्रथ "बुद्धिस्ट आर्ट आफ मथुरा" इस क्षेत्र की सुप्रसिद्ध कृति है। भारत सरकार के सास्कृतिक शिष्टमण्डलो के प्रतिनिधि के रूप मे विश्व के अनेक देशो मे भ्रमण।

डॉ० प्रभाकर माचवे (१९१७) एम० ए० (दर्शन एव अंग्रेजी साहित्य) पीएच० डी० (हिन्दी)। हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लेखक, कवि, समीक्षक एव भाषाविद, १९७२ मे सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, हिन्दी साहित्य के लिए उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा दो बार पुरस्कृत, विसकासिन एव कैलिफोर्निया (अमरिका) मे अतिथि प्रोफेसर, केन्द्रीय साहित्य अकादमी में २१ वष तक सचिव के रूप मे, अंग्रेजी एव हिन्दी म शताधिक ग्रन्थो के रचयिता।

डा० सुमति अय्यर (१९५४) एम० ए०, पीएच० डी० हिन्दी अधिकारी कमचारी भविष्य निधि, कानपुर। प्रकाशित पुस्तकें कहानी सग्रह, १ कविता सग्रह और नाटक (प्रकाश्य)। तमिल और अंग्रेजी मे अनेक उपन्यास, कहानिया, कविताएँ, जीवनी अनूदित।

डा० उषा पुरी (१९३४) एम० ए०, पीएच० डी, विद्या वाचस्पति, प्रकाशित ३ उपन्यास एव कविता सग्रह प्रकाशित शोध ग्रथ रीति कालीन कविता मे भक्ति तत्व, बृजभाषा काव्य मे राधा एव मिथक साहित्य विविध सन्दभ (सम्पादित) ग्रह नक्षत्रो की आत्मकथा इत्यादि।

श्री माधोदास मूँधडा सस्थापक भारतीय सस्कृति ससद (कलकत्ता) सरक्षक भारतीय विद्या मन्दिर शोध सस्थान एव स्कूल (बीकानेर) विभिन्न सास्कृतिक एव सामाजिक सस्थाओ के ट्रस्टी, धम, दर्शन सस्कृति मे गहरी अभिरुचि।

डा० एस० टी० नरसिंहाचारी एम० ए०, पीएच० डी०, उपाचार्य एव अध्यक्ष के रूप मे (३७ वष अध्यापन के बाद) १९८७ मे श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त। प्राच्य विद्या सकाय के अधिष्ठाता।

ग्रन्थ 'सौन्दय तत्व निरूपण' ग्रन्थ पर बिहार सरकार का पुरस्कार।

डा० विद्याविन्दु सिंह (१९४७) एम० ए० (हिन्दी, भाषाविज्ञान), बी० एड०, पीएच० डी० डी० लिट० हेतु शोध कार्यरत। प्रकाशित पुस्तकें अवधी लोकगीत, समीक्षा, निबन्ध संग्रह, कविता संग्रह, अवधी लोकगीत संग्रह। ६ ग्रन्थ मुद्रणाधीन, ८ ग्रन्थ प्रकाशन की प्रतीक्षा में। उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ में उपनिदेशक पद पर कार्यरत।

डा० मिथिलेश कुमारी मिश्र (१९५२) एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (प्राकृत एवं जैन शास्त्र), आचार्य (साहित्य-संस्कृत), आचार्य (पुराणेतिहास), साहित्यरत्न, संस्कृत-रत्न, कोविद तथा सम्पादन कला विशारद। पीएच० डी०, डी० लिट्०। बिहार राष्ट्र भाषा-परिषद के अनुसंधान विभाग में कार्यरत।

प्रकाशित साहित्य हिन्दी नाटक, हिन्दी खण्ड काव्य, हिन्दी महाकाव्य, संस्कृत-काव्य, संस्कृत-उपन्यास।

डा० सीता राठौड़ एम० ए० पीएच० डी० प्राध्यापक मगध विश्वविद्यालय, बोध गया।

पं० अक्षयचन्द्र शर्मा संस्कृत एवं हिन्दी के प्राध्यापक, शोध-छात्रों के निर्देशक, नाथसाहित्य एवं मध्यकालीन हिन्दी साहित्य, एवं दर्शन के विशेषज्ञ। अनेक निबन्ध प्रकाशित। ●